ALOCHANA JAN-MAR 1970 G.K.U.

maj Foundation Chenn

Gurukul Kangri Co

ALOCHANA JAN-MAR 1970 G.K.U.

maj Foundation Chenn
Gurukul Kangri Co

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

029542

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Stock Verification-2[illegible]

Stock Verification-2[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

९२

आलोचना

त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह

079542

079542

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

...ारों से विदाई पर एक अभिभाषण
अशोक वाजपेयी १

...कविताएँ
मलयज ८

...प्रक्रिया
रामस्वरूप चतुर्वेदी १०

...तरह से देखो तो
विपिन कुमार अग्रवाल २२

...ाहित्य क्यों
नित्यानन्द तिवारी २७

लेखक और आलोचक : विकासमानता का प्रश्न
देवराज ३१

...भाषा और सृजनशीलता
रमेशचन्द्र शाह ३८

बिलकुल वही
प्रभात कुमार त्रिपाठी ४७

आधुनिक त्रासदी : बलिदान और क्रान्ति
रमेश कुंतल मेघ ४६

एब्सर्डिटी : संप्रत्ययात्मक विश्लेषण
देवकीनन्दन द्विवेदी ६२

ओसिप मेंदलस्तम की पाँच कविताएँ
कमलेश ६८

परिवर्तित नैतिक मूल्य और साहित्यकार की स्थिति
यशदेव शल्य ७२

वक्रोक्ति सिद्धान्त : आधुनिक परिप्रेक्ष्य
विजेन्द्रनारायण सिंह ७६

अमूर्त ज्यामिति से बाहर
मलयज ८७

विजय सोनी की चित्र-प्रदर्शनी पर
शमशेर बहादुर सिंह ९१

• मूल्यांकन :

अप्रासंगिकता के कगार पर — विष्णु खरे ९२

अधुनातन का प्राध्यापकीकरण — विष्णु खरे ९७

मध्यकालीन रसदर्शन और समकालीन सौन्दर्यबोध
आनन्दप्रकाश दीक्षित १००

आधुनिकता के संदर्भ में एक सार्थक 'सोच'
विजय मोहन सिंह १०६

भावुकता के बावजूद
नित्यानन्द तिवारी १०८

• विनिमय :

विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा
कर्णसिंह चौहान ११२

ऊँची शिक्षा के ताजमहल
नरेन्द्र प्रताप सिंह ११७

वर्ष १८ : नवांक १२, (पूर्णांक ४६) जनवरी-मार्च १९७०, मूल्य ३.००
वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १५.००
विदेशों में—१६.००

शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी॰ ई॰ वी॰/८/एस॰ ई॰ लायब्रेरी/मैग॰/१९६७-६८ दिनांक २०-१-६८ एवं उपनिदेशक, समाज शिक्षा, राजस्थान के पत्रांक पु॰ प्र॰/१/एफ/११-६८/ ५०५ दिनांक ६-९-६९ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञान महाविद्यालय पुस्तकालय
REFERENCE BOOK NOT TO BE ISSUED

विचारों से विदाई पर एक अभिभाषण

अशोक वाजपेयी

शायद इस बात से कोई असहमत न हो कि बीसवीं सदी में सारी दुनिया में विचारों का भीषण टकराव हुआ है। कुछ इस तरह का कि इस सदी में यह वैचारिक टकराव किसी भी रचनात्मक या बौद्धिक कर्म का एक स्थायी सन्दर्भ बन गया है। इसके सिर्फ बौद्धिक या रचनात्मक ही नहीं बल्कि मानवीय नतीजे निकले हैं क्योंकि इस टकराव ने संगठित राजनीति के माध्यम से रोज़मर्रा का और साधारण लोगों का जीवन भी प्रभावित और नियमित किया है भले ही उन्हें अक्सर विचारों का सीधा या सार्थक अहसास न रहा हो। अलग-अलग अनुशासनों में विचारों की अलग-अलग भाषाएँ भी विकसित हुई हैं और ऐसी स्थिति आ गई है कि इन भाषाओं में कोई आपसी संवाद लगभग असम्भव हो गया है। लेकिन भाषाओं की बहुलता और उनके बीच संवादहीनता का असर रचनात्मक भाषा पर पश्चिम में बहुत स्पष्ट और गहरा पड़ा है—इस हद तक कि रचनात्मक भाषा के लिए सतह पर आ जाना एक ट्रैजिक-सी बाध्यता हो गई है। शायद यह कहना अनुचित न होगा कि पश्चिम के समूह-समाजों में रचनात्मक भाषा में अभिव्यक्ति की कोशिश करना उस पर बढ़ते दबावों के रहते एक खतरनाक और ट्रैजिक निर्णय लेना है। शब्द का सतह पर अपनी जीवंतता के लिए जैसे चिपट जाना पश्चिम की भाषाओं के लिए जिस तरह की अनिवार्यता हो गया है उस तरह की अनिवार्यता या परिस्थिति हिन्दी में बल्कि भारत में पैदा हो गई है, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है।

हमारा सोच-विचार जो थोड़ा-बहुत होता है, हमारी भाषाओं में नहीं है और इसलिए चिन्तन की विशिष्ट शब्दावलियों का रचनात्मक भाषा पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं है। फिर इस सोच-विचार का हमारी रचनात्मक मानसिकता या संस्कारों पर भी कोई सीधा प्रभाव नहीं है। अगर पश्चिम में मनुष्य की हालत को ठीक-ठीक पहचानने और समझने की कोशिश करने का मतलब परिभाषाओं की बहुलता से जूझना है तो हमारे देश में ऐसी कोशिश करना वैचारिक अस्पष्टताओं और अपरिभाषित प्रसंगों का सामना करना है। इस स्थिति का एक नतीजा साफ़ है और वह है भारतीय जीवन में प्रायः हर स्तर पर विचार और कर्म के बीच कटाव और असम्बद्धता। सबसे खुले ढंग से यह संगठित राजनीति के क्षेत्र में है जहाँ विचारों को कर्म में बदलने की रसायन-भाषा अभी तक विकसित नहीं हो पायी है। एक हवाई और धुँधले ढंग से विचार को पकड़ने का एक हश्र हर पार्टी का समाजवाद का पल्ला पकड़ना और उसकी चीख-पुकार करना है। अगर लोक-जीवन में विचार और कर्म कटे हैं याने या तो विचारहीन कर्म है या फिर कर्मच्युत विचार, तो साहित्य में विचार और कर्म अगर असम्बद्ध होते गए हैं तो इसमें अचरज न होना चाहिए।

पर अचरज न सही, दुख तो होता ही है। क्योंकि विचार और कविकर्म की असम्बद्धता में रचनात्मक भाषा और भारतीय मनुष्य की हालत दोनों का एक भयावह सरलीकरण छुपा हुआ है। अगर यह मान लिया जाए कि साहित्य समकालीन मनुष्य की हालत की गहरी पहचान और समझ को चरितार्थ करता है तो यह स्पष्ट है कि इस असम्बद्धता के कारण यह पहचान कितनी धुँधली और यह समझ कितनी उथली हो सकती है।

यहाँ शायद यह स्पष्ट कह देना प्रासंगिक होगा कि यह बिल्कुल ज़रूरी नहीं है कि महान् विचार से महान् कविता पैदा ही हो। शायद बिना विचारों और विचारशीलता के कोई कविता महान् नहीं हो सकती। यह कहना ज़रूरी न होना चाहिए कि विचार को किसी विचार-प्रणाली से जोड़ना अनिवार्य नहीं है और यदि यह बिलकुल ज़रूरी नहीं है कि

CHECKED 1973

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्हीं विचारों का अपने सन्दर्भ को समझने के लिए इस्तेमाल करने वाला कवि किसी विचार-प्रणाली से प्रतिबद्ध हो ही। टी० एस० इलियट की दिलचस्पी पश्चिमी मनुष्य की आध्यात्मिक सचाई की खोज में थी और इसलिए उन्होंने रोमन कैथोलिक ईसाइयत, उसकी आस्थाओं और प्रतीक रूपकों का इस्तेमाल किया, लेकिन इसलिए उसे रोमन कैथोलिक कवि कहकर उसकी कविता का कलात्मक और मानवीय सन्दर्भ सीमित करना उस कविता की महानता और परिणतियों को अधूरा देखना होगा। ठीक इसी तरह मुक्तिबोध ने समकालीन सचाई की भयानकता को पकड़ने के लिए ऐसे औज़ारों का, जो अस्तित्ववादी जान पड़ते हैं और सचाई को समझने के लिए मार्क्सवादी विश्लेषण और धारणाओं का इस्तेमाल किया। लेकिन इसलिए उनके कृतित्व को मार्क्सवादी या अस्तित्ववादी या दोनों क़रार देना उचित नहीं है। कविता में विचारों का आत्यंतिक महत्त्व नहीं है—सवाल यह है कि क्या वे विचार कुछ प्रासंगिक उजागर करते हैं। अगर नहीं तो वे हस्तक्षेप होकर रह जा सकते हैं। लेकिन यह भी सच है कि बिना विचारों के याने बिना किन्हीं विचारों में जड़ जमाए कविता निरी ऐन्द्रिक फुरफुरी या तुच्छ खिलवाड़ भर रह सकती है। विचारहीन कविता कभी भी मनुष्य की हालत की कोई सार्थक पहचान या कोई समझ उत्तेजित नहीं कर सकती। यह इसलिए भी कि शुद्ध संवेदनात्मक स्तर पर, फिर संवेदना कितनी भी पैनी और धारदार क्यों न हो, आज के मनुष्य और उसकी ज़िन्दगी की जटिलताओं, तनावों और अन्तर्विरोधों को समझ पाना, बल्कि ठीक से पहचान भी पाना, असंभव है। अगर समकालीन दुनिया और सचाई का उनकी पूरी जटिलताओं के साथ साक्षात्कार साहित्य की मूल प्रतिज्ञा है तो यह साक्षात्कार बिना विचारों से उलझे और उन्हें जज़्ब किए न तो पूरा हो सकता है और न ही गहरा और प्रासंगिक। संवेदना की यों भी सीमाएँ हैं हर समय में, लेकिन आज की जटिल और अबूझ होती जाती सभ्यता में तो वे एकदम स्पष्ट और प्रखर हैं। दूसरे, कवि-संवेदना के बौद्धिक ही नहीं मानवीय सन्दर्भ का एक महत्त्वपूर्ण भाग विचार और उनका टकराव है। उनसे कोई सरोकार न रखना या इस टकराव को नजरन्दाज करना इस सन्दर्भ से कटना है, लगभग सन्दर्भहीन हो जाना है।

यह है वह व्यापक ढाँचा जिसमें मुझे आज के साहित्य के बारे में कुछ कहना है। अगर थोड़ी अतिरंजना का सहारा लेने को आप मुआफ़ करें तो मुझे लगता है कि युवालेखन का एक बहुत बड़ा अंश ऐसा है जिसे विचारहीन लेखन कहा जा सकता है। निश्चय ही एक ऐसा भाग भी है जो विचारहीनता की इस नयी दकियानूसी से अलग है और ऐसे भी कई लेखक हैं जिनमें किसी हद तक दोनों प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं—लेकिन पूरे दृश्य पर अधिक आतंक विचारहीन लेखन का है और वही सबसे मुखर है। इस विचारहीनता के पहलू कई हैं। कुछेक में यह इसलिए है, जैसे कि और लेखक, युवालेखक भी बौद्धिक काहिली का शिकार है। और उनमें न तो इतनी प्रतिभा और न ही इतना धीरज है कि वे अपनी स्थिति की बौद्धिक और नैतिक परिणतियों की पड़ताल कर सकें या उनका सामना करने का साहस कर सकें। तथाकथित अकवियों में से ज़्यादातर इसी कोटि के लेखक हैं। अन्यथा उनकी बेहद रूमानियत इतने किशोर-सुलभ बड़बोलेपन से व्यक्त न होती और न ही स्त्री को एक चीज़ भर मानने की मध्यकालीन हरकत आधुनिकता की एक परम विद्रोहमूलक मुद्रा के रूप में प्रस्तुत होती। अकवियों ने असंगति को भी अपने साहित्यिक दर्शन का एक मुद्दा बनाया है। इस मुद्रा की निपट दरिद्रता और अप्रासंगिकता बताने के लिए इतना ही कहना काफ़ी होगा कि उसके पीछे भारतीय मनुष्य की हालत का कोई बखान नहीं है और सारी बात एक समुन्नत समाज और समूह-संस्कृति के सन्दर्भ में ही समझ में आ सकती है। यह भले ही बड़ा खेदजनक हो, लेकिन सही है कि हमारा तात्कालिक सन्दर्भ न तो समृद्धि का है और न ही समूह-संस्कृति का। अकविता इसीलिए एक स्तर पर हमारे मध्यवर्गीय उठाईगीरपन की एक अभिव्यक्ति है जैसे कि पब्लिक स्कूलों में पढ़ रहे बच्चों का रहन-सहन, सोचने का ढंग और उनके खेल-तमाशे। एक दूसरे स्तर पर वह अकवियों के सामाजिक पिछड़ेपन की कुण्ठा को दुरुस्त करने का एक ज़रिया है क्योंकि उससे एक ऐसे अभिजात्य में शामिल हुआ जा सकता है जिसमें समृद्धि के सभी नये और उठाईगीर प्रतीक जमा हैं और जहाँ एक अतृप्त 'टीनएज', स्त्रियों के अभाव और ऐसी ही दूसरी ललकों को पूरा करने का कम-से-कम एक शाब्दिक छद्म बन सकता है। भारतीय जीवन की सबसे क्रूर विसंगतियाँ उस दुनिया की नहीं हैं जहाँ बड़े शहर और उनके रेस्तराँ, क्लब-डिस्कोथिक् हैं बल्कि उस दुनिया की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं जहाँ हर स्तर पर जाति-प्रथा का कड़ा होता शिकंजा है, साधारण मनुष्य को अपनी भाषा की दुनिया से काटने की अमानवीयता है, आदि-आदि। इन सचाइयों को अगर अकविता नज़रन्दाज़ करती है तो इसलिए कि इन्हें रचनात्मक स्तर पर खोजने के लिए जिस वैचारिक निष्ठा और बौद्धिक पड़ताल की ज़रूरत है उसके लिए आसानी से उपलब्ध समृद्धिमूलक विसंगतियों के आकर्षण के रहते न तो फ़ुरसत है और न ही उसके लेखे जरूरत ही। स्थापित व्यवस्था को इस बौद्धिक काहिली से मदद भी मिलती है और अन्यथा करने से उसे चोट पहुँच सकती है जो करना अकवि नहीं चाहते। स्त्री-पुरुष की एक अमूर्त दुनिया को ही अपना केन्द्र बनाने में एक स्पष्ट राजनीति है—उससे मध्यवर्गीय कुत्सा और सनसनीखेज़ी तुष्ट होती है और स्थापित व्यवस्था भी कोई आघात या आपत्ति महसूस नहीं करती। वैचारिक दलिद्दर और गड्डमड्ड आधुनिक स्थापित व्यवस्था के बहुत अनुकूल हैं और वैचारिक स्पष्टता के जो नैतिक और भौतिक निष्कर्ष निकलते हैं उनसे इस तरह साफ़ और सुरक्षित ढंग से बचा जा सकता है।

बौद्धिक काहिली के अलावा और अकवितावादियों से अलग भी युवा कवियों की एक बड़ी जमात ऐसी है जिसने अबुद्धिवाद या इर्रेशनल को अपनी रचना का मूल आधार बनाया है और एक नयी आदिमता प्रतिष्ठित करने की कोशिश की है। अगर कुछ समुन्नत-समृद्ध-समाजों में बुद्धिवाद के विरुद्ध ऊब या अरुचि हुई है तो इसलिए कि उस पर आधारित चिन्तन-भाषाओं ने उसे उसकी अन्तिम परिणतियों तक याने एक अन्धे अन्त तक पहुँचा दिया है। दूसरे, यूरोप में दूसरे महायुद्ध के रूप में बुद्धिवाद की एक भयानक परिणति, खासकर नाज़ियों द्वारा उसके कुछ प्रमुख औज़ारों, जैसे सूक्ष्मता और सक्षमता, के इस्तेमाल के रूप में, हुई और इसलिए बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। लेकिन यह अबुद्धिवाद सभ्यता और सवाल की जटिलताओं से कतराने का तरीका नहीं बल्कि उन जटिलताओं के लिए बुद्धिवादी औज़ार और धारणाएँ अपर्याप्त हो जाने के कारण बुद्धिवाद की सीमाओं से आगे जाने की कोशिश है। वह बुद्धि का नकार उतना नहीं जितना कि उसका अतिक्रमण है। लेकिन युवा कवियों का अबुद्धिवाद अक्सर इस किस्म का नहीं है—वह बुद्धिवाद का उसकी सीमाओं का नाकाफ़ीपन के कारण अतिक्रमण नहीं, बुद्धि-विरोध है। बुद्धि से अबुद्धि की ओर जाना कोई नयी या आधुनिक प्रक्रिया ही है ऐसा नहीं है। बल्कि एक माने में तो सारी महान् कला अबुद्धि में अपनी जड़ें फेंकती है। लेकिन हाल ही एक कवि मुक्तिबोध में इस प्रक्रिया को ज्यादा सीधे देखा जा सकता है। मुक्तिबोध के काव्य-संसार में बौद्धिकता के साथ-साथ अबुद्धि, अर्थात् बुद्धि से परे का दबाव बहुत गहरा है। मुक्तिबोध का चारित्रिक फार्म फेण्टेसी बुद्धि से अबुद्धि की ओर जाने का, दोनों के बीच अन्तर्क्रिया का ही माध्यम है। लेकिन इस अत्यन्त समृद्ध मानवीय कविता में कहीं भी बुद्धि से अपसरण या बुद्धि-विरोध नहीं है और यह भी एक कारण है कि इस कविता में सारे समकालीन तनाव जीवन्त और तात्कालिक होकर उसे जटिल बनाते हैं और बुद्धि-विरोधी कविता का आयासहीन सरलदिमाग़ीपन उसमें असम्भव है। लेकिन युवा कवियों का बुद्धि-विरोध सीधा, सपाट और सरलदिमाग़ी है। सौमित्र मोहन की लम्बी कविता 'लुकमान अली' और मणि मधुकर की 'खण्ड खण्ड पाखण्ड पर्व' इसी बुद्धि-विरोध और उससे निकलने वाले सरलदिमाग़ीपन के दिलचस्प उदाहरण हैं। उनके पीछे किसी तरह की वयस्क समझ नहीं है भले ही छिट-पुट सौन्दर्यमूलक आस्वाद के लिए कुछ विचारों को किशोर-उत्साह में इधर-उधर फेंक दिया गया हो। बल्कि लगता है कल्पनाशीलता को अविवेक का पर्याय मान लेने का ये कविताएँ सीधा नतीजा हैं। विचारों के प्रति ऐसे कवियों की दृष्टि का बखान कैलाश वाजपेयी के इन शब्दों में किया जा सकता है—

> पर जब सभी कुछ
> ऊल ही जलूल है
> सोचना फ़िज़ूल है···

यह एक दिलचस्प संयोग है कि स्थापित व्यवस्था के प्रायः सभी पक्षों में सोचने का फिज़ूलपन एक तरह से मूल प्रतिज्ञा है। जातिप्रथा, नौकरशाही, गोहत्या-विरोध, साम्प्रदायिक दंगे, इन सबकी पकड़ हिन्दुस्तानी नागरिक पर इसीलिए है कि उसने सोचना फिज़ूल मान लिया है—विवेक की ओर हलकी-सी कोशिश भी इन पर यानी स्थापित व्यवस्था पर चोट करती है। उस समाज में, जिसमें अधिकांश लोगों को सिर्फ अविवेक और अबुद्धि के कारण अमानवीय ज़िन्दगी बिताने, "मनुष्य से एक दर्जा नीचे"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहने को बाध्य होना पड़ता है, सोचने को फिजूल मानना (भले ही इस धारणा में कितना ही विद्रोही लटका हो) इस अमानवीयता का समर्थन करना है, स्थापित व्यवस्था को मुँहमाँगा सहयोग देना है। उस सबके प्रति सहानुभूति रखना है जो हमारे जीवन में मनुष्य-विरोधी है। इसी सिलसिले में यह बात भी उल्लेखनीय है कि पश्चिम की तरह भारतीय भाषाएँ चिन्तन और विचार का माध्यम नहीं बन पाई हैं। जो कुछ थोड़ा-बहुत सोच-विचार है वह अंग्रेज़ी में ही है—भारतीय भाषाओं में जो शुरुआत इधर हुई है उसे पकने और इस्तेमाल के योग्य बनने में अभी देर है। इसलिए एक भारतीय लेखक को ऐसे विचारों को पाने-खोजने के लिए स्वयं कोशिश करनी पड़ती है जो भारतीय मनुष्य की आज की हालत को समझने में सहायक हो सकें। भले ही इससे छद्म दार्शनिकता का खतरा काफ़ी वास्तविक बना रहा हो, भारतीय लेखक एक स्तर पर अपनी बौद्धिक समझ और पकड़ को प्रासंगिक और पैनी करने के लिए विचारक बनने को बाध्य है। युवा लेखक अगर सोचने को फिजूल मानते हैं तो रचनात्मक भाषा के इस आपद्कर्तव्य को तो बलाए-ताक रखते ही हैं, भारतीय मनुष्य की सच्ची स्थिति से अपना किसी भी तरह का सरोकार समझ के स्तर पर काट लेते हैं।

विचारों से कटाव, बुद्धि-विरोध और समझ के अभाव का ही एक नतीजा बहुत सारे युवालेखन का छिछोरापन और तुच्छता है। हिन्दी के रचनात्मक मुहावरे के साथ जुड़ी जो यादें, प्रतीक-ध्वनियाँ, चित्रमालाएँ, विन्यास हैं उनका तो युवा-संवेदना से कोई सम्बन्ध बाकी रहा नहीं है और विचारों से विदाई ले लेने के बाद तो इस लेखन का उस पूरे जातीय संसार से हिन्दी के मातृलोक से कोई सरोकार ही नहीं रहा है। कहीं-न-कहीं सपाटबयानी इसकी ही एक अभिव्यक्ति है— विचारों और अपने मातृलोक से कटी भाषा में जानबूझ-कर या किसी ट्रैजिक विडम्बना के स्तर पर नहीं, अपनी असमर्थताओं के कारण सपाटता और सतहीपन है। यही नहीं कि वह एक विपन्न भाषा है, वह एक चरम अर्थ में अनुत्तर-दायी भी है। अगर आप फिर अतिरंजना करने की मोहलत दें तो मुझे लगता है कि इस सिलसिले में यह कहना गलत न होगा कि यह लेखन मातृभाषा का या मातृभाषा में लेखन नहीं है।

भाषा को उसके मातृलोक से और उसकी जड़ों से काटने का मतलब अन्ततः उसे 'डिह्यूमेनाइज़' करना है। इसका सिर्फ एक पहलू उन कविताओं में उभरता है जो लीलाधर जगूड़ी, चन्द्रकान्त देवताले, सौमित्र मोहन, आदि से लेकर मंगलेश डबराल और त्रिनेत्र जोशी जैसे कवियों ने जनतंत्र, प्रजातन्त्र, संविधान, संसद, देश आदि शब्दों का इस्तेमाल करते हुए लिखी हैं। धूमिल, कमलेश, श्रीराम वर्मा और विनोदकुमार शुक्ल जैसे कवि भी, जिन्होंने उत्तरदायी कवि-कर्म की संभावना को अपने दूसरे कृतित्व द्वारा जीवंत रखा है, इसके शिकार हुए हैं। इन कविताओं में समझ और नैतिक विवेक दोनों का दिवालियापन ज़ाहिर होता है। इन शब्दों का इस्तेमाल इन्हें चीज़ों के रूप में, उनमें व्यंजित विचार-पद्धति या जीवन-पद्धति या मूल्य को बिल्कुल नज़रन्दाज कर रिड्यूस करके किया जा रहा है।

इक्कीसवीं शताब्दी को—
इस बेरौनक गोचर लोकतंत्र में जब जीना है तो
वेश्या की सार्वजनिक योनि से संभव करना है।
न्याय की सड़ी हुई गलियों में
वह सम्भोग और संविधान के बीच
चीज़ों के चेहरे मिटा देगा

(मंगलेश डबराल)

जिस पर कोई नहीं खाना चाहता
आज़ादी एक झूठी थाली है।

(लीलाधर जगूड़ी)

गोया मैंने ही हत्या कर दी है
राह चलते हुए उस एक निरपराध व्यक्ति की
वह राष्ट्रीयता भी हो सकती है
और गणतंत्र भी

(देवेन्द्रकुमार)

इन सब कविताओं में गणतन्त्र या संविधान या आज़ादी जैसे शब्दों का उपयोग सिर्फ़ 'चित्र' के रूप में किया गया है और युवा छिछोरेपन का एक और नमूना है। विचार के प्रति घोर ऊब किस तरह नैतिक असंवेदना की ओर ले जाती है—यह भी इन कविताओं में साफ़ दीख पड़ता है। दूसरे प्रजातन्त्र या संविधान या देश पर कुछ भी कहने का, लफ़्फ़ाजी करने या अपनी चुस्तबयानी आज़माने का अधिकार बिना किसी तरह के वैचारिक टकराव के सिर्फ़ भाषायी धौंस के दम पर पा लिया मान लेना न सिर्फ़ अतर्कित है बल्कि कवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के निकट अनुत्तरदायी या बाक़ी सबको बेवकूफ़ मानने का ही नतीजा हो सकता है। यह कविता हिस्सेदारी की कविता नहीं है: मेरा गणतन्त्र, मेरा देश, मेरी आज़ादी में 'मेरा' 'मेरी' शोभापरक विशेषण भर है अन्यथा ज्यादातर कविताओं में गणतन्त्र या देश कवि से बिलकुल अलग-थलग 'वहाँ' रखी हुई चीज़ें हैं जिन पर उसे किसी भी तरह का फ़ैसला देने की फ़ुरसत और हक़ किसी नैतिक विवेक के अनुपस्थित होने के कारण सहज प्राप्त है।

यह आकस्मिक नहीं है कि ऐसी अधिकांश रचनाओं का स्वर या तो पैग़म्बराना है या शहीदाना। दोनों ही स्थितियों में कवि लोकतंत्र या देश से नैतिक दृष्टि से बेहतर प्रगट होते हैं। सारे देश और प्रजातंत्र को, राजनीति, संविधान और संघ संसद को शूद्र और अधम करार देते हुए ये कवि-लेखक नये ब्राह्मण हैं जिन्हें शास्त्र से शूद्रों का भाग्य-निर्णय करने का असीम अधिकार है। अगर अकवियों की कविताएँ तथाकथित पिछड़ेपन के संदर्भ में अपने सामाजिक उन्नयन का इज़हार है तो कहीं-न-कहीं श्रीकान्त वर्मा जैसे कवियों की कविताएँ अपनी नैतिक श्रेष्ठता का वक्तव्य बन जाती हैं—

कुछ लोग मूर्तियाँ बनाकर
फिर
बेचेंगे क्रान्ति की (अथवा षड्यन्त्र की)
कुछ और लोग
सारा समय
कसमें खाएँगे
लोकतन्त्र की।
मुझसे नहीं होगा।

इस पैग़म्बराना अन्दाज़ में "मैं सब-कुछ जानता हूँ" की मुद्रा भी छिपी हुई है। मणि मधुकर और धूमिल की 'खण्ड खण्ड पाखण्ड पर्व' और 'पटकथा' जैसी कविताओं में यह मुद्रा बहुत स्पष्ट है। चूँकि इस मुद्रा का कोई वैचारिक आधार कविताओं में उपलब्ध नहीं है उन्हें भीषण नैतिक अनुत्तरदायित्व के अलावा कुछ और कहना सम्भव ही नहीं है। यह नैतिक अनुत्तरदायित्व सिर्फ़ सामाजिक सचाइयों तक सीमित नहीं है। जिस तरह की क्रम-परम्परा संविधान गणतंत्र को लेकर है, कुछ उसी तरह की परम्परा स्त्री को लेकर भी है। गणतंत्र की तरह स्त्री को भी एक अधम चीज के स्तर पर रिड्यूस किया गया है और यहाँ भी अपने कल्पित-अकल्पित पुरुषत्व की 'इमेज' में गिरफ़्तार युवा लेखकों ने स्त्री पर कुछ भी कहने और उसके साथ कुछ भी करने का अधिकार हथिया लिया है। यहाँ भी पुरुष को स्त्री से श्रेष्ठ मानने-दिखाने का जतन किया गया है।

शहीदाना अन्दाज़ के कवि वे हैं जो अपने को 'लोकतंत्र के शहीद' दिखाने की कोशिश करते हैं जैसे लीलाधर जगूड़ी:

लोकसभा से संयुक्त राष्ट्र संघ तक
हमारी कोई उपयोगिता नहीं
विश्वयोनि में बहुत दिन तक
हम चरित्र की तरह खुजला नहीं सकते

ऐसे कवियों में भी हिस्सेदारी का भाव नहीं है जैसा मसलन् मुक्तिबोध में था। जो कुछ हो रहा है उसका दोष प्रजातंत्र या दूसरों पर डालकर अपने को शहीद बताना न केवल नाबालिग़ समझ है बल्कि एक भयानक नैतिक संवेदनहीनता है।

इस नैतिक संवेदनहीनता का भी कुछ खुलासा ज़रूरी है। नैतिक से मुराद भद्राचार से नहीं, अच्छे-बुरे के भेद से है। अपने को छोड़कर बाकी सबको एकषड्यंत्र में भागीदार समझना, जो हुआ है उसके लिए दूसरों को, फिर दूसरे गणतंत्र हों, भीड़ हो, स्त्री बल्कि स्त्रियाँ हों, दोषी ठहराना और कभी-कभार सौजन्यवश अपने को भी कुछ उत्तरदायी मान लेना नैतिक विवेक का प्रत्याख्यान है। बल्कि यह अपने और दूसरों के बीच के रिश्ते को नीतिहीन अर्थात् अमानवीय बना देना है। इस तरह की 'अमानवीयता' से एक खास तरह का दम्भ और 'हीरोइज़्म' टपकता है। यह आकस्मिक नहीं है कि ऐसे कवियों का मूल स्वर 'हीरोइक' है। कैलाश वाजपेयी जैसे कवियों में तो यह हीरोइक्स उपलक्षित ढंग से किसी 'हीरो' की प्रतीक्षा ही बन जाती है:

कोई भी। नहीं बताना तुम्हें
इस सुअर सभ्यता का
मल ढोते हुए
तुम्हें कहाँ जाना है।

या दूसरी ओर ईसा की तरह का 'हीरोइज़्म' है:

दुनिया भर के आधे पागलों
लफंगों, धूर्तों, सत्तान्धों को लेकर
शर्मिन्दा हूँ।

मुख़्तसर यह कि पैग़म्बराना और शहीदाना दोनों ही स्वर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक-दूसरे से घुल-मिलकर एक तरह का 'हीरोइक रिटारिक' बनाते हैं। हालांकि कभी-कभार "संशय की भाषा में बड़-बड़ाने" की बात भी एकाध कवियों ने की है लेकिन ज़्यादातर यह 'रेटोरिक' अत्यन्त आश्वस्त 'रेटोरिक' है और इन कवियों में अपने ग़लत होने की सम्भावना का कोई क्रियात्मक एहसास नहीं है जो कि बौद्धिकता और विचारशीलता का मूलाधार होता है। भारतीय मनुष्य की पीड़ा से इस रिटोरिक का क्या रिश्ता है ? लेकिन उसके पहले यह पहचानना ज़रूरी है कि साहित्य से अलग जानकारी के सूत्रों से पता चली यह पीड़ा और अन्तःसंघर्ष क्या है। जाति-प्रथा और नौकरशाही में समायी अमानवीयता, अहमदाबाद के दंगे, आन्ध्र प्रदेश में हरिजन बालक को जलाने की घटना, नरबलियाँ आदि लोक-जीवन में उनकी कुछ अभिव्यक्तियाँ हैं। यह 'रिटोरिक' अधिक-से-अधिक इनका अपने काव्य-संसार को विचित्र या रंगारंग बनाने के लिए दृश्यपट के रूप में तो इस्तेमाल करता है लेकिन रचनात्मक स्तर पर इनकी कोई गहरी या सार्थक पड़ताल नहीं करता। हमारे प्रजातंत्र की सही विसंगतियाँ सम्भोग और संविधान के चतुर द्वन्द्व में नहीं शायद ऐसी घटनाओं में हैं। यह 'रेटोरिक' इन विसंगतियों को चरितार्थ नहीं करता—शुद्ध वक्तव्य के स्तर पर ही उनका महत्त्व युवा कवि के लिए तिरोहित हो जाता है। दरअसल यह रिटोरिक और उसके पीछे सक्रिय काव्य-संवेदना में मानवीय पीड़ा के वास्तविक प्रसंगों से प्रतिकृत होने की कोई क्षमता और उत्सुकता नहीं है। जैसाकि जार्ज स्टाइनर ने कहा है कि जो हमें उदासीन छोड़ता है हम उसमें भागीदार हैं। सच्ची अमानवीयता और पीड़ा के सम्मुख उदासीन युवा कविताएँ अपने फलितार्थों में इस अमानवीयता की भागीदार बन जाती हैं।

यह एक दिलचस्प संगति है कि इस लेखन की कुछ विशेषताएँ हमारी राजनैतिक-सामाजिक ज़िन्दगी में व्याप्त वैचारिक गड्डमड्ड, नाबालिग़पन और दृष्टिहीनता से सीधा मेल खाती हैं। शायद इस मेल में यह विडम्बना भी छुपी हुई है कि जो लेखन राजनीति, विचार और संगठन का विरोधी है वह उसी गड्डमड्ड और उठाईगीरपन का इज़हार हो या शिकार हो जिनसे हमारे यहाँ बहुत सारी राजनीति और संगठन ग्रस्त हैं। शायद इसकी और पड़ताल अलग से ज़रूरी होगी कि किस हद तक यह संगति आकस्मिक है और किस हद तक इन दोनों की जड़ें हमारे सामाजिक जीवन के मूल से कहीं पोषण पाती हैं।

लेकिन यह दृश्यालेख अधूरा रहेगा अगर युवालेखन के उस पक्ष की चर्चा न की जाय जिसने विचार-विरोध की इस दकियानूसी से अपने को अलग रखा है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि कुछ ऐसे भी कवि हैं जिन पर इस दकियानूसी का खिंचाव कभी-कभी पड़ा है और वे उसके शिकार भी हुए हैं, लेकिन कुल मिलाकर उन्होंने वयस्क और विवेकपूर्ण ज़िम्मेदारी से लिखना जारी रखा है। दरअसल इस दकियानूसी का इतना आतंक है कि यह ज़रूरी था कि विस्तार से उसके कुछ पहलुओं का विश्लेषण किया जाए।

धूमिल, कमलेश, रघुवीरसहाय, विनोदकुमार शुक्ल, ऋतुराज और श्रीराम वर्मा के नाम लिए जा सकते हैं। धूमिल और रघुवीरसहाय की कविताओं में, फिर वे 'मोची राम' या 'उस औरत की बगल में लेटकर' हों या 'आत्महत्या के विरुद्ध' और 'गिरीश की मृत्यु' हों, वयस्क विचारशीलता है और भले ही इन दोनों कवियों से ही जनतंत्र, संसद वाले चालू मुहावरों का सूत्रपात हुआ हो उन्होंने स्वयं ज़्यादातर उनका 'शब्दीकरण' या उन्हें निरी चीज़ों के रूप में रिड्यूस कर उनकी मानवीयता और मूल्यवत्ता को अवमूल्यित नहीं किया है। धूमिल, कमलेश और विनोदकुमार शुक्ल की ज़्यादातर कविताओं में किसी तरह का 'हीरोइक्स' नहीं है और उनकी भाषा अपने मातृलोक से कटी नहीं है बल्कि मसलन् कमलेश में अपनी जड़ों की ओर उत्कटता से जाती है। इन कवियों में आत्मस्फूर्ति और बड़बोलेपन का लटका भी प्रायः नहीं है। धूमिल की 'मोची राम', कमलेश की 'जरत्कारु', विनोदकुमार शुक्ल की 'उदरस्थ' या 'राजनैतिक बहस' में ऐसी कविताएँ हैं जिनमें एक सूक्ष्म पर स्पष्ट नैतिक चेतना है और वे कैलाश वाजपेयी के 'रुख', 'हर दिमाग़ एक चकला है' में व्याप्त सरलीकरण और चुस्तबयानी से साफ़ बचकर खोज और तलाश, टटोल के मुहावरे की कविताएँ हैं। रघुवीरसहाय, कमलेश और धूमिल की कविताओं में भी 'मीड़े' हैं लेकिन वे इस बहाने सामाजिक संघर्ष और समाज को सरलीकृत नहीं करते। सरलीकरण से मुक्त रहने का ही एक नतीजा है कि जहाँ पहले किस्म के कवियों की बड़बोली विद्रोही रचनाएँ ज़्यादा-से-ज़्यादा चौंकाती हैं, विनोदकुमार शुक्ल की अबोध—मासूम लगती कविताएँ बेहद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शान्त होते हुए भी विचलित करती हैं। धूमिल ने कहा है, "मुझे अपनी कविताओं के लिए दूसरे प्रजातंत्र की तलाश है। यह हमारी प्रजातांत्रिक व्यवस्था की अपर्याप्तता को पहचान कर प्रजातंत्र को शब्दछद्म न मानकर एक सचाई के रूप में स्वीकार करना है और भारतीय मनुष्य की समकालीन तलाश का, उसकी नयी आक्रामकता का सीधा और नाटकीय वक्तव्य भी। अगर आप एक सामान्यीकरण करने की इजाज़त दें (सामान्यीकरण की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए) तो मैं इन दूसरे कवियों को, दूसरे प्रजातंत्र की तलाश के कवि कहना चाहूँगा। विकल्प की खोज हमेशा मानवीय है और वयस्क कर्म भी। उसमें न पैग़म्बर होने का भाव है और न शहीद होने की आत्मदया। यह खोज सोचने को व्यर्थ नहीं मानती बल्कि सचाई को समझने-बूझने और बदलने के लिए सोचना अनिवार्य समझती है, वह सोचने का संकल्प करती है यही खोज साक्षात्कार की खोज है।

अन्त में विचारहीनता वाले लेखन की ओर फिर लौटा जाए जैसे रचनात्मक स्तर पर बुद्धि और विवेक की आवश्यकता और मूल्य में विश्वास समाप्त हो रहा है वैसे ही आलोचना के क्षेत्र में यह भरोसा धीरे-धीरे खतम हुआ जा रहा है। किसी भी धारणा या स्थापना का प्रतिकार बौद्धिक या तर्क के स्तर पर किया जा सकता है। दूसरे से नैतिक श्रेष्ठता की मुद्रा ही कुछ लेखकों को दूसरों की नीयत पर शक करते रहने की ओर ले जाती है। इन दिनों ज़्यादातर आलोचना नीयत पर शक करने का व्यायाम-भर रह गयी है और विचारों की वहाँ भी बेइज्ज़ती होने लगी है। चरित्र-हत्या, छिछोरेपन और रेटारिक ने आलोचना-कर्म की जगह ले ली है। पूरा वातावरण ऐसा हो गया है कि बौद्धिक चुनौतियों की कोई गुंजाइश ही नहीं रह गयी लगती। बहुत-कुछ अजब बिरादरीपने के भाव से तर्क के बल पर नहीं, उग्र रिटोरिक की धौंस पर चलने लगा है। कुछ लोग तो विचारों का विरोध या सवालों का निपटारा बौद्धिक धरातल और भाषा से दूर सड़क पर करने की बात भी करने लगे हैं।

बुद्धि-विरोध, युवा उग्रता, बिरादरी-भाव और आदिमता इन सबका मेल भयंकर ऐतिहासिक परिणतियों तक पहुँच सकता है। नैतिक श्रेष्ठता का भाव, हीरोइक रिटारिक वास्तविक मानवीय पीड़ा के प्रति उदासीनता, विरोधी के प्रति अनादर अगर हमारे युवा लेखन के एक बड़े और मुखर भाग की विशेषताएँ हैं तो इस साहित्य की राजनैतिक-सामाजिक परिणतियों को नज़रन्दाज नहीं किया जा सकता। चूंकि ऐसा साहित्य स्पष्ट रूप से राजनैतिक-सामाजिक तथ्यों और कुछेक सचाइयों का (भले ही शुद्ध ऐच्छिक धरातल पर) उल्लेख करता है, वह स्वयं ऐसी परिणतियों की बात उठाने की ओर उकसाता है। अगर हमारे देश में अधिनायकवाद या किसी तरह की तानाशाही सिर उठाती है और प्रजातांत्रिक व्यवस्था नष्ट होती है तो शायद ऐसी तानाशाही को, भले ही वह स्वतंत्रता और रचनात्मकता की घोर शत्रु हो, ऐसे साहित्य में अपना समर्थन प्राप्त होगा। केदारनाथ सिंह ने कहा है कि "बहस किस बात पर हो रही है, यह जानना व्यर्थ है।" यह एक खतरनाक बात है, ऐन इस समय यह जानना बिलकुल सार्थक है जैसे कि यह पूछना भी दो टूक कि विचारों को विदाई देने के लिए खुले दरवाज़े से कौन आ रहा है। ●

['आलोचना' की गोष्ठी में १६ जनवरी '७० को पठित।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाँच कविताएँ

मलयज

: १ :

खरोंच पर मज़ाक की धूल डाल
स्टेज-फ़र्श की धप् धप्
और फालतू दर्शक की कुर्सी के तीन पायों से
अपने को बचाकर चलता हुआ मैं
सिर के गंजा होने
और नाई की दुकान पर
मुफ़्त नाख़ून न कटा पाने के दुख से
प्रमुख हो गया हूँ।

एक सीधा सच
कि मुझे आलू पसंद है कहते
तमाम सारी डालियों में उलझे चिमगादड़ों को
तकता कवि क्यों याद आता है ?

देर से भुना हुआ मन
फजीहतों में सिर्फ़ सोंधा हुआ जाता है।

: २ :

कहानी-कविता की पत्रिकाएँ एक सुई
एक रिकार्ड के पृष्ठभूमि-संगीत पर अटक गईं
एक संतरा जिसे स्वतंत्रता-दिवस पर छीलना शुरू
किया
पहले निकले बीज फूल पत्तियाँ
फिर पेड़ ठिठक सोचता सा
सारा देश हो जायेगा सोख्ता सा

एक नंगी डालों वाला अंतरा
घी में डूबी कलम पकड़े
टेढ़ी अँगुलियोंवाले लोग
उसके नीचे बैठ कर कहते हैं :
'दो और दो चार'
परस्पर सहमत हो जाने के बाद
सभा विसर्जित कर देते हैं।

: ३ :

एक अध-लिखा खत
उड़ कर आया और कहने लगा
मुझे पढ़ो
उसने सिगरेट सुलगा ली
और अँधेरे में हँसने लगा
मुझे समझो और सिर धुनो
सब शराबों के नाम उसे याद थे
पर ईमानदारी को वह 'आनेस्टी' कहता था
फुटपाथ पर सैकड़ों लोग बैठे थे
और हाथों के सिग्नल की तरह उठाये किसी के
चले जाने की इंतज़ारी में थे
उनके उठे हाथों बीच
अँसुवन जल सींच भींच होंठों को
दोनों हाथों को
जोड़ वह सैकड़ों को नमस्ते कर रहा था
कहाँ है कहाँ है कह
प्रेम-बेल बो रहा था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ४ :

गंदे फ़र्श, अस्त-व्यस्त बिस्तर, बिखरे कपड़े मैले
हत्थे-टूटे प्याले, मसले अखबारों
तकाज़ों, इलाजों और पार्कों में चरते गधों के बगल
से ही निकालनी है

जाड़े के दिन आज खूब घनी बदली है और आज
ही इतवार है
किसी स्वप्न को देखती नहीं सोचती हुई आँखों में
गुबार है, दिल में नहीं
चार दोस्त बैठे हैं बुखार के इंतज़ार में
मुर्दनी है लिखी हुई कविता
जो छपी नहीं

छुरा भोंक कर एक गहरा जख़्म करता हूँ रात
निकलती है कटी हुई फाँकों में एक-एक कैद
फाँद कर दीवार बाइस साल बाद टप् से गिरता है
पक कर भाषा की ज़मीन पर आतंक
चक्खेगा कौन इतराते हुए इरादों में ?

निकालनी है जूते के तालू में गड़ी हुई कील मुँह में
दबी हुई चीख एक सूरत है कम कम मरते हुए को
मारने की
मेज़ के नीचे बढ़ी हुई मुट्ठी में कुछ धर आने की
कटी हुई जीभ को ले कर तमाशे में ग़ायब हो
जाने की।

: ५ :

कुछ नया नहीं पहले के
पेंसिल-निशानों को महज़ और गहरा किया है
'सिर कटाने के लिए प्रस्तुत'-जैसी स्थितियों में
हथियार पैने किये हैं पत्थर पर बस—
ट्रेजिडी का पथ इतना लम्बा है
कि उसे तय करने में साहस की नहीं
डर की ज़रूरत है सफ़ेदपोश आत्मा पर
जो रेंग रहा है सिर्फ़
एक अदवी कीड़ा है
और दोनों पक्षों के झंडों पर
मसौदों के जाले लटके हैं
मेरे प्राण नहीं।

एक दस्तखत किया हुआ सादा कागज़
रोज़ सलाखों में से बाहर गिरता है मय उस हाथ के
जो रोज़ अपना गरेबाँ चाक करता है
सब-कुछ जो कड़ुआ है उसे दवा
की घूंट समझने का दिलासा देता हुआ
पर खून इतना पारदर्शी है कि
सच की तस्वीरें आँखों की पट्टियाँ बन गयी हैं
और पकड़ में आने वाली सब दिशाएँ शुरू से अंत
की ओर
चिरी हुई हैं
मैदान की लूट में दो बित्ता नाक
और पुछल्ले के साथ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिम्ब-प्रक्रिया

रामस्वरूप चतुर्वेदी

इधर बिम्ब-सम्बन्धी कई विवेचन प्रकाशित हुए हैं; कुछ पुस्तकाकार और कुछ लेख-रूप में। इनमें कई जगह तो बिम्ब-जैसी संश्लिष्ट प्रक्रिया के अधिक-से-अधिक वर्गीकरण का आग्रह है, कहीं चिन्ता इस बात की है कि बिम्ब का विभावन पारम्परित भारतीय काव्यशास्त्र में से कैसे खोज निकाला जाए ! यह देखा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र में दो अंतर्धाराएँ साथ-साथ चलती हैं—एक ओर जितना सूक्ष्म तात्त्विक विवेचन है, दूसरी ओर उतना ही स्थूल ब्यौरेवार वर्गीकरण है (रचना-प्रक्रिया की समझ कई बार दोनों जगह, खास तौर से दूसरे ढंग में, उपेक्षित रह जाती है)। हिन्दी समीक्षा में संस्कृत का सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तन तो विरल हो गया है, पर सरल वर्गीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती पर है, जिससे बिम्ब-जैसी विशिष्ट रचना-प्रक्रिया को समझना संभव नहीं हो पाता।

'काव्यभाषा का स्वरूप' के अंतर्गत इस विषय की कुछ आरम्भिक मान्यताओं को उपस्थित किया गया है। प्रस्तुत विवेचन में बिम्ब की अपनी प्रक्रिया के विश्लेषण का अधिक अवसर होगा। प्रतीक और बिम्ब काव्यभाषा की निर्माण-प्रक्रिया के विशिष्ट तत्त्व हैं। ये दोनों ही विभावन मूलतः पश्चिमी समीक्षा के हैं। भारतीय साहित्य-चिन्तन का अलंकार-विधान प्रस्तुत और अप्रस्तुत को प्रायः साथ-साथ ले चलने के कारण रचना-शिल्प या रचना-कौशल का अंग तो है, पर काव्यभाषा के विकास में पर्यवसित नहीं हो पाता। प्रतीक और बिम्ब अप्रस्तुत होते हुए भी भाषिक प्रक्रिया में प्रस्तुत के स्थानापन्न हो जाते हैं, अतः भाषा के अत्यन्त संवेदनशील स्तर पर रूपांतरित हो जाते हैं, भाषा हो जाते हैं। जबकि अलंकार अपने नाम से भी और अपनी स्थिति में अतिरिक्त सजावट के रूप में देखे जा सकते हैं, भाषा की रचना-प्रक्रिया का अभिन्न अंग नहीं बन पाते।

प्रतीक किसी सूक्ष्म भाव की अभिव्यक्ति के लिए एक अपेक्षया स्थूल तत्त्व का चुनाव है। जैसे सूर्य ज्ञान का प्रतीक है, अँधेरा विभ्रम का प्रतीक है, कमल स्निग्धता और मंगल का प्रतीक है। कालांतर में प्रतीक भाषा की सामान्य शब्दा-वली की तरह बहुप्रचलित और स्वीकृत हो जाते हैं, जैसे कि उपर्युक्त प्रतीक हो गए हैं। फिर कविता के विकास-क्रम में नये प्रतीक बनते हैं और क्रमशः स्वीकृत होकर रूढ़ बन जाते हैं। प्रतीक-विधान का यह रूप काव्यभाषा के विकास का पहला स्तर है। अगला और अधिक विकसित स्तर बिम्ब-प्रक्रिया का है। बिम्ब या भावचित्र की प्रक्रिया अधिक संश्लिष्ट होती है। वह कई तत्त्वों से निर्मित होने के कारण स्थिर न होकर गतिशील होता है, और उसका प्रतीक की तरह पूर्व-स्वीकृत अर्थ नहीं होता। इसलिए कविता में अर्थ को स्वायत्त तथा विकसनशील बनाए रखने का मुख्य दायित्व बिम्ब पर होता है।

अधिकतर आधुनिक पश्चिमी समीक्षक (आर्किबाल्ड मैकलीश-जैसे रचनाकार समीक्षकों को अपवाद मानना होगा) बिम्ब का महत्त्व उसके चाक्षुष संवेदन के कारण मानते हैं। बिम्ब में चित्र का भाव आता ज़रूर है, पर चित्र का दृश्य भाव यहाँ प्रधान नहीं है, वरन् चित्र का संश्लिष्ट रूप—'कम्पोज़ीशन'—होना प्रमुख बात है। इस तरह चाक्षुष पक्ष यानी कि एक दृश्य प्रतिमा का निर्माण कर सकना वस्तुतः बिम्ब-विधान का एक प्राथमिक और गौण स्तर है। मुख्य बात यह है कि संश्लिष्ट गठन होने के कारण बिम्ब में उसके विभिन्न तत्त्वों के बीच संपर्क और टकराहट से एक द्वन्द्वात्मक (डाइलैक्टिक) प्रक्रिया परिचालित होती है, जो अर्थ को विकसनशील बनाती है। इस तरह बिम्ब प्रधानतः और अनिवार्यतः एक अर्थ-संश्लेष है और इसलिए रचना में काव्यभाषा या कि काव्य बनने की मुख्य प्रक्रिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा के सामान्य प्रयोग में बात, और जिस भाषा में वह बात कही जा रही है, उनके बीच शाब्दिक स्तर पर साम्य होने पर भी अनुभवगत अंतर होता है। पर कविता की भाषा में, यानी अधिकतम सर्जनात्मक भाषा में, यह अंतर नहीं रह जाता, बात और भाषा में अभेद रहता है। प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने अभिधा और व्यंजना का जो लक्षण निर्धारित किया है, उसमें स्थिति इसके कुछ विपरीत है। वहाँ बात और भाषा में, व्यंजना शब्द-शक्ति के अंतर्गत सीधा सम्बन्ध नहीं रह जाता। वस्तुतः ऐसा मानना व्यंजना के चमत्कारी पक्ष पर अधिक बल देना है। यों व्यापक रूप में कविता की अर्थ-प्रक्रिया के लिए 'व्यंजना' बहुत उपयुक्त शब्द है। पर पारिभाषिक रूप में शास्त्रीय लक्षणकारों ने व्यंजना को अच्छे ढंग से उपस्थित नहीं किया। यह सारी पड़ताल शब्दशः अर्थ की दृष्टि से की गई है, अनुभव की दृष्टि से नहीं। अधिकतम सर्जनात्मक काव्यभाषा में—जो व्यंजना से अभिप्रेत है—'मुख्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ' की अलग-अलग परिकल्पना नहीं रह सकती। वहाँ तो समूचा अर्थ समरस और संश्लिष्ट है, और 'व्यंग्यार्थ' के ही सूक्ष्म स्तरों की टकराहट से व्यंजना परिचालित होती है, 'मुख्यार्थ' का स्वयं कोई अलग रूप नहीं रह जाता। पश्चिमी साहित्य-चिन्तन में कहीं यह ठीक ही कहा गया है कि कविता का कोई अर्थ नहीं होता, कविता स्वयं होती है। आधुनिक रचना-प्रक्रिया तथा साहित्य-चिंतन के सन्दर्भ में जब हम बात और भाषा के अभेद और अद्वैत की बात कहते हैं तो हम तनाव पर उतना ही बल देते हैं जितना कि अभेद पर। अनुभव और अर्थ का यह सम्बन्ध समझना कविता और सर्जनात्मकता की प्रक्रिया को संभवतः अधिक गहरे और प्रकृत रूप में समझना है। यही भाषा और संवेदना का अद्वैत है, जहाँ दोनों एक नहीं हैं, पर अलग-अलग होकर भी एक हो जाते हैं। साहित्य के क्षेत्र में इस अद्वैत का परिचालन प्रतीक और बिम्ब-जैसे भाषिक-रचनात्मक तत्त्वों की अपनी प्रक्रिया से होता है।

रचना में अर्थविकास-प्रक्रिया की यह समझ आधुनिक पश्चिमी तथा भारतीय, साहित्य-चिंतन के दोनों क्षेत्रों में अभी नयी है। इलियट—जो बिम्बवादी आन्दोलन से भी सम्बद्ध रहे हैं—का प्रख्यात विभावन 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव', उदाहरण के लिए, अर्थ की इस सूक्ष्म, सुकुमार प्रक्रिया को अनदेखा कर जाता है। आधुनिक कविता ने यह क्षमता विकसित की है कि यहाँ पूरी रचना का अर्थ एक ओर सीधा नहीं है, पर रीतिकालीन शिष्ट काव्य की तरह दो अलग-अलग अर्थ भी नहीं हैं, वरन् एक ही अर्थ के दो सूक्ष्म स्तर अपने तनाव और संश्लेष से एक वृहत्तर अर्थ की सृष्टि करते हैं। रचना में अर्थ का यह अद्वैत भाव शरीर-संभोग और ब्रह्म-साक्षात्कार जैसी सृजन-प्रक्रियाओं के समानान्तर देखा जा सकता है। 'झरना' में संकलित प्रसाद की प्रसिद्ध कविता 'विषाद' ("किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत वह सुख का कण है। उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है") में हृदय में विषाद और बाहर छाया मानो एक ही अनुभव के अंग हैं। इलियट छाया को 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' कहता, आंतरिक विषाद के भाव को व्यक्त करने के लिए। पर इस विश्लेषण से प्रसाद की कविता के संश्लिष्ट अनुभव के साथ न्याय नहीं हो सकता। वस्तुतः विषाद और छाया (अथवा संध्या) एक ही समग्र अनुभव के अंग हैं, एक ही अर्थ के दो सूक्ष्म स्तर हैं, जो अपनी टकराहट में अर्थ की गहरी क्षमता विकसित करते हैं। बिम्ब-रचना द्वारा परिचालित अर्थ की यह प्रक्रिया आधुनिक काव्य-विधान का अभिन्न अंग है, और जटिलतर होते अनुभव-अर्थ-संश्लेष को उसकी समग्रता में पकड़ने तथा व्यक्त करने का अचूक माध्यम है। साहित्य यदि बिखरे और खंडित जीवनानुभवों और यथार्थ की पुनर्रचना है तो बिम्ब-विधान इस पुनर्रचना-प्रक्रिया का मुख्य अंग है। काव्य जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करता है, और आधुनिक काव्य की सूक्ष्म अर्थवत्ता बिम्ब से निर्मित होती है।

जैसा पहले कहा गया, समीक्षा के क्षेत्र में बिम्ब की उद्भावना मूलतः पश्चिम की है। वहाँ यह उद्भावना प्रसिद्ध दार्शनिक हुल्म तथा कवि पाउण्ड के सहयोग से बीसवीं शती के आरम्भ में क्रमशः आन्दोलन के रूप में परिणत हुई, और फिर शीघ्र ही, प्रायः १९१७ ई० के आसपास उसकी विरोधी प्रतिक्रिया भी हुई। पर बिम्ब के इस पक्ष और प्रतिपक्ष के बीच, और इन विवादों के परिशमित होने पर, समझ का एक ऐसा स्तर बराबर रहा है जहाँ बिम्ब-विधान को कविता भाषा की समूची प्रक्रिया में केन्द्रीय स्थान दिया जाता है। इस रूप में बिम्ब-प्रक्रिया का महत्त्व आधुनिक समीक्षा में प्रायः अक्षुण्ण रहा है। पर बिम्ब की समझ में पश्चिम के अधिकतर रचनाकार और समीक्षक अधिकतर दृश्यमयता के तत्त्व को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक महत्त्व देते रहे हैं। हिन्दी समीक्षा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बिम्ब-विधान का बढ़िया विश्लेषण और उपयोग किया है। बिम्ब-विधान के सन्दर्भ में उन्होंने 'संश्लिष्ट' शब्द का प्रयोग करके रचना-प्रक्रिया के इस रूप को अच्छी तरह समझा। पर हिन्दी के परवर्ती समीक्षक अपने पश्चिमी स्रोतों की तरह बिम्ब की दृश्यमयता की ही चर्चा करते हैं, और इस दृश्य तत्त्व के आधार पर बिम्ब-विधान का विश्लेषण फूलों से बने बिम्ब और पशु-पक्षियों से बने बिम्ब के वर्गीकरणों में करते-कराते हैं। शुक्लजी द्वारा संकेतित बिम्ब-विधान के संश्लिष्ट रूप को वे आसानी से भूल गए।

बिम्ब का दृश्य पक्ष उसका आरम्भिक स्तर है, और शास्त्रीय समीक्षक प्रायः उसी में उलझे रहे हैं। बिम्ब के माध्यम से कविता में अर्थविकास की सूक्ष्म और स्वायत्त प्रक्रिया को उन्होंने परिलक्षित नहीं किया। दृश्य पक्ष या शिक्षण-शास्त्र में जिसे 'विजुअल एड्स' कहते हैं, ज्ञान के माध्यमों में प्राथमिक सीढ़ी है। सामान्य बातचीत में, अलंकारों में और विविध शास्त्रों में 'दृष्टान्त' के प्रयोग के पीछे इस दृश्य पक्ष को ही उभारने की चेष्टा रहती है। उदाहरण के लिए काव्य और दर्शन की भाषा में तुलना की जा सकती है। अनुभव-स्तर की समानता होने पर भी दोनों की भाषिक सर्जन-प्रक्रिया अलग-अलग है। दर्शन की भाषा में, बहुत-कुछ विज्ञान की तरह, शब्दों के निर्दिष्ट और चौकस प्रयोग पर बल है। काव्य में शब्द का समूचा अर्थ न लेकर उसके अर्थ-विस्तार की सजगता उत्पन्न करते हुए भी उसकी किसी आंशिक, वैकल्पिक छाया की ओर संकेत किया जाता है। आधुनिक कविता में एक शब्द की मिलती-जुलती अर्थछायाओं के बीच तनाव उत्पन्न करके अर्थ और अनुभव को विकसित किया जाता है। काव्य में अर्थ का निश्चित-निर्दिष्ट रूप इसीलिए काम्य नहीं है कि वह ग्रहण किए जाने में एकबारगी खत्म न हो जाए। वहाँ अर्थ की एक दिशा है, जिस ओर वह गतिशील होता रहता है। इसीलिए जीवन की ही तरह काव्य में अर्थ की अनन्त सम्भावना है।

अन्य शास्त्रों की तरह दर्शन की भाषा में अर्थ का निश्चित रूप ग्रहण करने के लिए दृष्टान्त का प्रयोग होता है, काव्य में अर्थ और अनुभव को विकसनशील बनाए रखने के लिए बिम्बयोजना का केन्द्रीय महत्त्व है। कभी-कभी तो एक ही प्रकार के उपकरणों से दर्शन का दृष्टान्त और काव्य-बिम्ब दोनों बनते हैं। कुम्हार का घड़ा दर्शन में दृष्टान्त है, कविता में बिम्ब है। दर्शन में जहाँ वह दृष्टान्त है, वह उक्ति का एक माध्यम भर है, जिससे जीवन के किसी एक पक्ष पर प्रकाश डाला जा रहा है। दर्शन ग्रंथों के अन्तर्गत मनुष्य-जीवन या संसार के घड़े से तुलना में घड़े का उपयोग ज्ञान के संवर्द्धन के लिए दृश्य-उपकरण (विजुअल एड्स) की तरह हो रहा है। पर जब कबीर कहते हैं—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहिर भीतरि पांनीं।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समांनां यहु तत कथौ गियांनीं॥

तो यहाँ घट का बिम्ब अनुभव को समृद्ध करता है, और अर्थ के 'स्पष्टीकरण' का साधन न बनकर स्वयं में ही अर्थ के 'विकास की प्रक्रिया' हो जाता है। इस माने में बिम्ब काव्य का दृश्य-उपकरण न होकर अर्थ की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है, जो क्रमशः अद्वैत की ओर उन्मुख होती है।

भारतीय काव्य-परम्परा तथा शास्त्र में सांगरूपक का दृश्य-विधान के लिए प्रयोग कवियों ने प्रभावशाली ढंग से किया है। तुलसी की रचना-प्रक्रिया में सांगरूपक का केन्द्रीय महत्त्व है। 'रामचरितमानस' के अनेक श्रेष्ठ प्रसंग इसी माध्यम से निर्मित हुए हैं। अयोध्याकांड में कैकेयी का क्रोध, प्रयाग और चित्रकूट के वर्णन, जनकजी की सेना का राम के आश्रम में आना आदि प्रसिद्ध दृश्य अपने पूरे विस्तार और वैविध्य में सांगरूपक के सहारे अंकित हुए हैं। इस दृष्टि से 'संश्लिष्ट' वर्णन के लिए सांगरूपक का विशिष्ट महत्त्व है। पर अर्थ के सूक्ष्म और स्वायत्त विकास की दृष्टि से बिम्ब की तुलना में सांगरूपक कमज़ोर पड़ जाता है, क्योंकि सांगरूपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का उल्लेख साथ-साथ चलता है :

दोउ बर कूल कठिन हठ धारा।
भँवर कूबरी बचन प्रचारा॥
ढाहत भूपरूप तरु मूला।
चली बिपति बारिधि अनुकूला॥

यहाँ एक ओर 'बर', 'हठ', 'कूबरी बचन', 'भूप', 'बिपति' का उल्लेख होता है, और दूसरी ओर 'कूल', 'धारा', 'भँवर', 'तरु' और 'बारिधि' का दृश्य खड़ा किया जाता है। प्रस्तुत का साथ-साथ चलने वाला यह उल्लेख अप्रस्तुत विधान की सूक्ष्म व्यंजनाक्षमता को कमज़ोर कर देता है। इसी स्थिति को यदि बिम्ब-रूप में विकसित किया जाता तो केवल कैकेयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की बात कहकर फिर उसके लिए बढ़ती-उमड़ती नदी का बिम्ब बनता, कैकेयी प्रसंग का ब्यौरा न दिया जाता। यह ब्यौरा दृश्यमयता भले बढ़ाता हो अर्थप्रक्रिया को समृद्ध नहीं करता, स्थूल स्तर पर साहृश्य को स्थापित करता है पर सूक्ष्म अर्थ-स्तरों के विकास को बाधित करता है। सांगरूपक का दृश्य विधान पाठक की कल्पना-शक्ति को कुछ उत्तेजित तो करता है, पर एक सीमा के बाद वह उस दृश्यमयता में ही उलझ जाती है, और अर्थ की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को परिचालित नहीं होने देती।

अर्थ-वैविध्य के प्रसंग में यहाँ बिम्ब-प्रक्रिया के स्पष्टीकरण के लिए श्लेष-विधान से तुलना की जा सकती है। संस्कृत और मध्यकालीन हिन्दी काव्य में श्लेष के सहारे एक शब्द के कई-कई अर्थ सम्भव किए जाते थे। इस प्रक्रिया में बल अधिकतर चमत्कार और कौशल पर था, अर्थ को सघन और विकसनशील बनाने पर नहीं। चमत्कार की कसौटी यही थी कि कितने असम्बद्ध अर्थ एक शब्द के सहारे जुटाए जाएँ। पर कुशल कवि लाक्षणिक अर्थों की भावात्मक अन्विति पर ध्यान देते थे। "कहै कबीर गुर दिया पलीता सो झल बिरलै देखी", यहाँ 'झल' में प्रकाश और आध्यात्मिक अनुभूति के अर्थ परस्पर संबद्ध हैं। इसलिए यहाँ चमत्कार प्रधान नहीं, वरन् अर्थ को प्रशस्त करने का गहरा उपक्रम है।

सहज श्लेष प्रयोगों के सहारे रत्नाकर ने 'उद्धव शतक' में अपना प्रसिद्ध सांगरूपक बाँधा है—"रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगिन के जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।" इस कवित्त में गोपियों का कठोर विरह और विषम ज्वर तुलनीय हैं, और श्लिष्ट शब्द समान संगति और उपयुक्तता के साथ दोनों सदृश सन्दर्भों में अर्थ ध्वनित करते हैं। कहीं भी दूरारूढ़ अर्थ की आवश्यकता नहीं होती इस दृष्टि से आधुनिक काल के आरम्भ में रचित यह श्लेषयुक्त लम्बा सांगरूपक रीतिकाल की अपनी कला को भी समृद्धतर बनाता है। पर श्लेष के दोनों पक्षों में समाकर अर्थ समाप्त हो जाता है।

आधुनिक रचनाकार के बिम्ब-प्रयोग श्लेष के भिन्न अर्थों को न लेकर एक ही शब्द की मिलती-जुलती अर्थ-छायाओं में हल्का तनाव उत्पन्न करते हैं, और इस तरह अर्थ को सूक्ष्म स्तर पर गतिशील रखते हैं। 'कामायनी' के श्रद्धा की मुस्कान के अंकन के लिए प्रयुक्त किसलय पर अलसाई किरण का बिम्ब बहुचर्चित है :

और उस मुख पर वह मुसक्यान !
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।

यहाँ 'अलसाई' शब्द में थकान का जितना आलस है, उतना ही सौंदर्य और मद का आलस है, और साथ ही अलसाने की संक्षिप्त अवधि भी व्यंजित होती है। इसी तरह अलसाने में जितनी थकन की व्यंजना है उतनी ही ताज़गी की भी। एक सामान्य नामधातु की इन विविध संबद्ध छायाओं के परस्पर तनाव से वैसा ही सूक्ष्म और सुकुमार प्रभाव निर्मित होता है जैसा श्रद्धा के सौंदर्य अनुभव के लिए कवि रचना-स्तर पर उचित मानता है। एक कुशल कवि के लिए कहने और न कहने के बीच सही अनुपात साध पाना कितना जरूरी है, यह ऐसे ही संवेदनशील अंकनों में समझा जा सकता है।

काव्य-रचना में सामान्यतः भाषा के दो स्तर परिलक्षित किए जा सकते हैं—सामान्य वर्णन की भाषा और बिम्बों की भाषा। कविता के रचना-विधान में बहुत बार बिम्बात्मक भाषा अपने आन्तरिक संस्पर्श से वर्णन की सामान्य भाषा को भी आलोकित करती है। यह तो स्पष्ट है कि कविता का अधिकांश वर्णन की सामान्य भाषा में होता है, जबकि कविता का पूरा रचना-संघटन कुछ विशिष्ट प्रयोगों से समग्रतः दीप्त हो उठता है। उदाहरण के लिए प्रसाद का एक प्रसिद्ध और संक्षिप्त गीत लिया जा सकता है :

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी।
अधरों में राग अमन्द पिये
अलकों में मलयज बन्द किये—
तू अब तक सोई है आली !
आँखों में भरे विहाग री !

इस गीत के रचना-संघटन का यदि हम विश्लेषण करें तो जो बात आसानी से समझ में आ जाती है वह कविता का नाद-सौंदर्य है। पर यह भी स्पष्ट है कि अकेले नाद-सौंदर्य का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता की रचना-प्रक्रिया में निर्णायक महत्त्व नहीं है। गीत के पूर्वार्द्ध में प्रातःकाल का जो रूप अंकित हुआ है वह प्रधानतः वर्णनात्मक है। इन पंक्तियों में यद्यपि दो बिम्ब भी आते हैं—'ऊषा नागरी' तथा 'मधु मुकुल नवल रस गागरी', पर ये दोनों बिम्ब इतने बहुप्रयुक्त अप्रस्तुत विधान पर आधारित हैं (ऊषा की युवती, और कली की रस-गागर) कि इन्हें काव्य-बिम्ब संकोच के साथ ही कहा जा सकता है। खग-कुल और और किसलय वाली पंक्तियाँ तो सीधे ही इतिवृत्त-प्रधान और वर्णनात्मक हैं। अतः यहाँ तक कविता में नाद-सौन्दर्य के अतिरिक्त कोई शक्ति विकसित नहीं होती।

पर अंतिम चार पंक्तियाँ कविता की सारी भंगिमा को बदल देती हैं। यहाँ कवि ने दो सर्वथा नये और सूक्ष्म बिंब विकसित किए हैं—'अलकों में मलयज बन्द किये' तथा 'आँखों में भरे विहाग री'। दोनों बिंब—'मलयज', 'विहाग' एकशब्दीय हैं, और यदि उनका वैसा सूक्ष्म रूप न होता तो उन्हें बिंब कहना कठिन था। पर अपने सूक्ष्म और अमूर्त स्तर पर वे अर्थ की गहरी छायाएँ विकसित करते हैं। 'मलयज' से कोमलता, सुगंधि, आकर्षण, सलज्ज भाव, मादकता और इनसे मिलती-जुलती न जाने कितनी व्यंजनाएँ संभव होती हैं। यों सामान्यतः एक शब्द से बिंब-रचना कम होती है, हाँ प्रतीक का रूप बनता है। पर 'मलयज' के सूक्ष्म-अमूर्त रूप ने एक अकेले शब्द से ही एक समूचे बिंब का निर्माण होने दिया है। दूसरा बिंब आता है 'विहाग' का, जो वैसा ही सुकुमार, सूक्ष्म और अमूर्त है जैसा कि 'मलयज' का बिंब, और इसी-लिए उतना व्यापक और संश्लिष्ट भी है। रात्रिकालीन राग 'विहाग' देर रात तक जागरण, खुमार, अलस भाव और संगीतात्मकता की विविध छायाओं को व्यंजित करता है। फिर दोनों बिंबों की भाव-प्रक्रिया परस्पर संबद्ध है। इसी स्तर पर आकर कविता का आरंभिक प्रातःकाल-वर्णन सौंदर्य और यौवन के उन्मुक्त अनुभव में रूपांतरित हो जाता है। इस प्रकार गीत में कविता बनती है अन्त के इन दो बिंबों के सहारे, जो क्रमशः पूरे गीत में परिव्याप्त हो जाती है पूर्व-प्रभावी—रेट्रस्पेक्टिव—ढंग से। इन बिंबों के अभाव में पूरी कविता का नाद-सौन्दर्य बेकार होता, और यह गीत प्रातः-काल का इतिवृत्तात्मक वर्णन मात्र होकर रह जाता।

बिंब-विधान को जगह-जगह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'संश्लिष्ट' कहा है। इसका एक अच्छा उदाहरण प्रसाद का काव्य प्रस्तुत करता है। व्याकरणिक भूलें जो उनके काव्य में जगह-जगह मिलती हैं, उनके बिंब-प्रसंगों में नहीं के बराबर हैं। इससे समझा जा सकता है कि बिंब और उसका अनुभव समग्रतः विकसित होता है। उसमें यदि भूल होगी तो पूरे संश्लेष में, न कि अलग-अलग टुकड़ों में। यथार्थ अनुभव को उसकी संपूर्णता और गतिमयता में पकड़ने के लिए बिंब-रचना साक्षात्कार का दक्ष उपाय है। साधारण शब्द अनुभव को जड़ और निःशेष कर देता है, पर बिंब अनुभव को न केवल उसकी वर्तमान स्थिति में वरन् उसकी संभावना में भी उसकी पूरी जटिलता और सूक्ष्मता के साथ अंकित करता है। श्रद्धा के सौन्दर्य-वर्णन के अन्तर्गत उसकी मुस्कान का बिंब-परक अंकन फिर से स्मरण करना होगा। यहाँ यदि श्रद्धा की मुस्कान की तुलना केवल किरण से की जाती तो एक प्रतीक बनता (मुस्कान=किरण), और वह मुस्कान के अनुभव को ऐसे समग्र और सूक्ष्म रूप में व्यंजित न कर पाता। पर यहाँ एक पूरा बिंब रचा गया है—नये सूर्य की दूर से आती हुई किरण, जो कुछ थक गई है और एक रक्तिम, कोमल किसलय को पाकर क्षणभर के लिए—क्षणभर के लिए ही क्योंकि उसे दूर जाना है—विश्राम की मुद्रा में अलस भाव से लेटी हुई है। यह पूरा बिंब या भावचित्र कई तत्त्वों से निर्मित हुआ है, और उनका आपसी सम्बन्ध और टकराहट मुस्कान के रूप को अधिकाधिक गहरे और सूक्ष्म स्तर पर विकसित करते हैं, जहाँ उसकी ताज़गी, सूक्ष्मता, अलस भाव और सौन्दर्य सब मिलकर एक संश्लेष बन जाते हैं। मुस्कान जितनी सूक्ष्म है उतनी ही कलापूर्ण और भावात्मक है। कवि ने अनुभव के इसी वैशिष्ट्य को अंकित करना चाहा है, और बिंब-रूप में अंकित करते-करते न केवल उसे अभिव्यक्त किया है, वरन् मानो स्वयं भी उसे और अच्छी तरह समझा है। भाषा इस स्तर पर आकर अभिव्यक्ति ही नहीं, अभिव्यक्ति और अनुभव दोनों एक साथ हो जाती हैं।

हिन्दी कविता के विकास-क्रम में मध्यकालीन कवियों ने अधिकतर प्रकृति-वर्णन के समय बिंब-विधान का एक खास रूप में प्रयोग किया है, पर उनका ध्यान दृश्यमयता के तत्त्व पर अधिक है। वस्तुतः हिन्दी तथा अंग्रेज़ी कविता की रचना-प्रक्रिया में उतना अंतर नहीं जान पड़ता जितना कि भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र की प्राथमिकताओं के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीच है। बिंब भारतीय काव्य-शास्त्र में न हो, कविता में है। जायसी और सूर की बिंबग्राहिणी शक्ति की आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सही सराहना की है। जायसी ने प्रकृति-वर्णन के अतिरिक्त विरह-दशा के संदर्भ में भी कुछ मार्मिक बिंब विकसित किए हैं। जहाज़ टूटने पर मूर्च्छित पद्मावती बहते-बहते किनारे जा लगती है, जहाँ समुद्र की बेटी लक्ष्मी की एक सहेली उसे देखती है। पद्मावती की दीन दशा का वर्णन वह इस प्रकार करती है—

जो देखा, तिवइ है साँसा। फूल मुवा, पै मुई न बासा।

मूर्च्छित पद्मावती के लिए मुरझाया फूल, पर निर्गंध नहीं—यह बिंब सटीक और मार्मिक है। जाग्रत होने पर पद्मावती प्रिय को स्मरण करती है, और प्रिय के न होने पर अपनी 'निरवलंबता' के बारे में कहती है—

आवा पवन बिछोह कर, पाट परी बेकरार।
तरिवर तजा जो चूरि कै, लागौं केहि के डार ?

इस बिंब-विधान की व्याख्या आचार्य शुक्ल ने इस प्रकार की है—"विरह-दशा के भीतर 'निरवलंबता' की अनुभूति रह-रहकर विरही को होती है। देखिए कैसा परिचित और साधारण प्राकृतिक व्यापार सामने रखकर कवि ने इस 'निरवलंबता' का गोचर प्रत्यक्षीकरण किया है—" (जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ४३)। यहाँ स्पष्ट है कि शुक्लजी 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' पर अधिक बल दे रहे हैं, जो इसलिए ठीक भी है कि 'बिंब' में 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' से आगे 'अर्थ संश्लेष' का भाव तो आधुनिक छायावादी काव्य में विकसित हुआ है। भारतीय काव्यशास्त्र में 'बिंब' की परिकल्पना भले न हो, पर भारतीय काव्य में 'बिंब', या उससे मिलते-जुलते प्रयोग बराबर देखे जा सकते हैं। कहीं ये उत्प्रेक्षा हो सकते हैं, और कहीं सांगरूपक। पर मध्यकालीन काव्य में ऐसे बिंब-प्रयोग 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' के लिए ही हैं, अर्थ की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का परिचालन वहाँ अकल्प्य है। इस प्रसंग में बिंब-विधान से संबद्ध शुक्लजी की मान्यता उद्धृत करना उचित होगा—"काव्य में बिंब-स्थापना (Imagery) प्रधान वस्तु है। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों में यह पूर्णता को प्राप्त है। अंग्रेज़ी कवि शेली इसके लिए प्रसिद्ध है।" (जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ११७)

कबीर के लिए प्रकृति-वर्णन का विशेष अवकाश नहीं, पर उन्होंने भक्त की विविध मनःस्थितियों के अंकन के लिए कहीं-कहीं अच्छे बिंब विकसित किए हैं। भक्त के लिए बालक और ईश्वर के लिए पिता या माता की उपमा पुरानी है। कबीर ने इस सादृश्य को लेकर एक सरल और मार्मिक बिंब रचा है—

हरि जननी मैं बालक तेरा।
काहे न अवगुन बकसहु मेरा॥
सुत अपराध करत है केते।
जननी के चित रहैं न तेते॥
कर गहि केस करै जो घाता।
तऊ न हेत उतारै माता॥
कहै कबीर इक बुद्धि बिचारी।
बालक दुखी दुखी महतारी॥

माँ और बेटे के सम्बन्धों की स्नेहपूर्ण सरलता पूरे बिंब में परिव्याप्त है। कबीर, जैसा कि जन-विश्वास है, पढ़े-लिखे भले न हों, और परंपरित काव्यशास्त्र में बिंब की धारणा भी भले न हो, पर यह पूरा छन्द 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' की दृष्टि से बढ़िया बिंब है।

सूरदास की कला प्रकृति और मानवीय सौन्दर्य के विविध दृश्यों को अंकित करने के कारण बिंब-रचना के अपेक्षया अधिक निकट है। सौन्दर्य के दृश्य-विधान में कवि का प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा है, 'जिसमें भेद-ज्ञानपूर्वक उपमेय में उपमान की प्रतीति होती है'। बिंब की विशेषता है कि वह भेद-ज्ञान को नहीं उभरने देता, इसीलिए वहाँ 'जानो'-'मानो' (उत्प्रेक्षा के चिह्न) जैसे प्रयोग विशेष अपेक्षित नहीं हैं। इस दृष्टि से उत्प्रेक्षा बिंब की निकट स्थिति में होने पर भी अपनी 'बलपूर्वक संभावना' के कारण विधान में बिंब-जैसी सहज प्रवाह-युक्त नहीं होती। अपने रचना-संगठन की इस सीमा के बावजूद सूरदास की उत्प्रेक्षाएँ दृश्य-विधान में बेजोड़ हैं। रासलीला का दृश्य है, प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण नृत्य कर रहे हैं—

मानो माई घन-घन अन्तर दामिनि
घन दामिनि दामिनि घन अन्तर सोभित हरि ब्रज-भामिनि

कृष्ण और गोपी के अनेक युग्मों के लिए काले बादल और चमकती बिजली की घनिष्ठता के चित्र बहुत उपयुक्त हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि पद का आरम्भ उत्प्रेक्षा से हो जाता है, प्रस्तुत का हल्का-सा उल्लेख बाद में होता है। कृष्ण के लिए बादल और युवती के लिए बिजली का उपमान पुराना हो सकता है, पर दोनों की पारस्परिक स्थिति की इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में परिकल्पना उत्प्रेक्षा की विशेषता है। इन तत्त्वों के आपसी सम्बन्ध पर बल देना—'कम्पोज़ीशन' को उभारना—जैसे बिंब-प्रक्रिया के विकास की आरम्भिक स्थिति हो! कृष्ण-लीला और उससे सम्बन्धित अनेक चित्रों में सूर की उत्प्रेक्षाएँ जीवन को एक विराट् उत्सव के रूप में प्रस्तुत करती हैं।

सूर के लिए जैसी प्रिय उत्प्रेक्षा है, तुलसी के सन्दर्भ में वही स्थिति सांगरूपक की है। उन्होंने ये सांगरूपक भी प्रायः उत्प्रेक्षा के सहारे विकसित किए हैं (अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ीं। मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी), और इस प्रकार इन दोनों का योग एक खास ढंग से बिंब की समीपवर्ती स्थिति में आता है। सांगरूपक अपनी प्रकृति से विस्तृत और ब्यौरेवार अधिक होता है, फलतः उसमें चित्रमयता अधिक होती है। पर जैसा कहा जा चुका है, सांगरूपक में प्रस्तुत का साथ-साथ ब्यौरेवार उल्लेख होना, बिंब की तुलना में, अप्रस्तुत विधान की व्यंजनाक्षमता को क्षीणतर बना देता है। इन अलग-अलग उल्लेखों के कारण चित्र की संश्लिष्टता भी आहत होती है। कुल मिलाकर अपने ब्यौरे के कारण सांगरूपक में चित्रण की समग्रता तो हो सकती है, पर अनुभव की सूक्ष्मता विकसित नहीं हो पाती।

बिंब-विधान की वास्तविक शुरुआत आधुनिक काल में खड़ीबोली काव्य के विकास के साथ होती है। मैथिलीशरण गुप्त, जो सामान्यतः अपनी इतिवृत्तात्मकता के लिए प्रख्यात हैं, जगह-जगह इस नये ढंग के बिंब-विधान में रुचि लेते दिखते हैं। 'साकेत' के आठवें सर्ग में राम अपनी माँ को सहसा वैधव्य वेष में देखते हैं—

जिस पर पाले का एक पर्त-सा छाया,
हत जिसकी पंकज-पंक्ति, अचल-सी काया।
उस सरसी-सी, आभरणरहित, सितवसना,
सिहरे प्रभु माँ को देख, हुई जड़ रसना।

अपेक्षया स्थूल सादृश्य पर आधारित होने पर भी यह बिंब प्रसंग की असहाय करुण-भावना को भलीभाँति व्यक्त करता है। सादृश्य सटीक होने में बिंब की सफ़ाई है, पर उससे बड़ी सफलता दृश्य की जड़ता के प्रभाव को व्यंजित करने में है। दोनों स्थितियों की सफ़ेदी जीवन के जड़ हो जाने, जम जाने की द्योतक है। और यहीं बिंब की अपनी द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया गति पकड़ लेती है। ब्रजभाषा से खड़ीबोली में रूपांतरण का समय ही उत्प्रेक्षा-सांगरूपक के बिंब में रूपांतरण का भी समय क्यों और कैसे है, यह एक महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प, पर स्वतंत्र खोज का विषय है। इसके पूर्व का रीतिकाव्य तो शास्त्रीयता के समानान्तर चलने के कारण परम्परित अलंकार विधान पर ही बल देता रहा।

फिर आधुनिक बिंब-प्रक्रिया छायावादी कवियों—विशेषतः प्रसाद में आरम्भ होती है। अनुभव की सूक्ष्मता, जटिलता और समग्रता पर बल बढ़ता है, और इसकी अभिव्यक्ति के लिए बिंब-विधान को अधिकाधिक दक्ष बनाने की कोशिश होती है। प्रसाद की बिंब-प्रक्रिया का वैशिष्ट्य कई रूपों में देखा जा सकता है। रचना के स्तर पर सबसे अधिक चिन्ता कवि को इस बात की है कि उसके बिंब अनुभव के सूक्ष्म और जटिल तराशों को भलीभाँति रूपायित कर सकें। इसके लिए उसने मानवीय सौन्दर्य के रीतिकाल, और फिर द्विवेदी-युग में प्रचलित स्थूल अप्रस्तुत विधान को निरस्त करके बिंबों को नये सूक्ष्म स्तर पर विकसित किया है। स्थूल पदार्थ बाहरी और स्थिर सादृश्य को ही अधिकतर प्रस्तुत करते हैं, जबकि सूक्ष्म स्तरों से लिये गए बिंब प्रभाव और अनुभव-प्रक्रिया को व्यंजित करते हैं। प्रसाद के प्रसिद्ध बिंबों की बनावट में इन्द्रजाल, चाँदनी, सौरभ, मलयज, किसलय पर अलसाती किरण, शून्य, ज्योत्स्ना-निर्झर, सिंधु की हिलकोर, दक्षिण का समीर-विलास, जल चुकी अगरबत्ती का हल्का सुगन्धित धुआँ-जैसे अपेक्षया अमूर्त तत्त्वों का प्रयोग अधिक हुआ है। जहाँ बिंब-विधान के परंपरित तत्त्व को लिया भी गया है, वहाँ उसे सर्वथा नया सन्दर्भ देने का प्रयत्न कवि ने किया है। श्रद्धा के सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंग में शरीर के अधखुले अंग को रूपायित करने के लिए कवि ने फूल का बिंब लिया है, पर यह फूल साधारण नहीं है—

खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।

बादलों के वन में 'बिजली का फूल' कितना सूक्ष्म होगा, उसमें कितनी तड़प और चमक होगी, इसका अनुभव यह बिंब भलीभाँति संप्रेषित और विकसित करता है। ऐसा ही एक अन्य प्रसंग तब आता है जब काम अपनी पुत्री का सौन्दर्य-वर्णन मनु की अंतश्चेतना में करता है—

रंगों ने जिनसे खेला हो
ऐसे फूलों की वह डाली

यहाँ भी बिंब का आधारभूत तत्त्व फूल है, पर 'रंगों ने जिनसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खेला हो' कहकर कवि ने फूलों की आकृति को पीछे करके रंग-वैभव और उसके उल्लास को सूक्ष्म स्तर पर संप्रेषित किया है। ऐसे अनेक प्रसंग मिलेंगे, जहाँ कवि अपेक्षया स्थूल उपकरण को लेकर भी उसके सूक्ष्म रूप और अनुभव को ही अभिव्यक्ति देता है।

इस प्रसंग में प्रसाद के सूक्ष्म और अमूर्त बिंब-विधान के दो-एक उदाहरण देना समीचीन होगा। 'कामायनी' में मनु प्रेम और उसके आकर्षण की मादकता का पहला अनुभव कर रहे हैं। यह स्मरणीय है कि यह मानवीय सृष्टि का प्रथम प्रणयानुभव है, क्योंकि देव सृष्टि में तो स्थूल भोग-विलास था, काम का अनंग रूप और सूक्ष्म प्रणय-स्तर मानवीय सृष्टि में ही विकसित होता है। इस प्रथम प्रणयानुभव की मादकता और बेचैनी काम-सर्ग में मनु के स्वगत में व्यक्त होती है—

है स्पर्श मलय के झिलमिल-सा
संज्ञा को और सुलाता है

पहले प्रणय-स्पर्श का सूक्ष्म अनुभव वैसे ही सूक्ष्म बिंब-विधान में विकसित हुआ है। 'मलय' अपने में अमूर्त तत्त्व है, उसे और सूक्ष्म तथा अमूर्त बनाने के लिए कवि 'झिलमिल' का प्रयोग करता है, और फिर एक सामान्य-सा अव्यय 'सा' उस झिलमिल की प्रकृति को और अनिर्दिष्ट बना देता है। एक-एक शब्द व्याकरणिक और काव्य रचनात्मक दृष्टि से सावधानी के साथ प्रयुक्त हुआ है, 'सा' का प्रयोग जिसका अच्छा उदाहरण है। 'मलय के झिलमिल' की बिंब-प्रक्रिया पहले मानवीय प्रणय की सूक्ष्म और जटिल अनुभूति को कला के स्तर पर वैसे ही अस्पष्ट रूप में व्यंजित करती है, जैसी अस्पष्ट और अनिर्दिष्ट वह मनु के लिए रही होगी।

मनोविकारों का रूप अपने में सूक्ष्म है, फिर आदिम मानव के क्रमशः जटिल होते हुए मनोविकारों की पकड़ और कठिन है। मनु के प्रणय-निवेदन को सुनकर और यह समझ कर कि मनु पहली बार श्रद्धा को नारी के रूप में पहचान रहे हैं, श्रद्धा के मन में प्रणय के प्रतिदान और उससे उत्पन्न क्रीड़ा और अनिश्चय का जो प्रथम अनुभव होता है उसका सूक्ष्म कलात्मक अंकन कवि इस प्रकार करता है—

धूम लतिका-सी गगन तरु पर न चढ़ती दीन
दबी शिशिर निशीथ में ज्यों ओस भार नवीन।
झुक चली सव्रीड़ वह सुकुमारता के भार,
लद गई पाकर पुरुष का नर्ममय उपचार;

पुरुष और नारी के लिए वृक्ष और लता का बिंब पुराना है। पर इस अतिपरिचित बिंब के भीतर आकाश के वृक्ष, और शिशिर की रात में ओस के भार से दबती किंतु ऊपर उठने का यत्न करती धुएँ की लता का रूप, पुरुष तथा नारी के नये और कोमल संबंधों को एक नये अनुभव-स्तर पर विकसित करता है। जिसे प्राचीनों ने 'भाव शबलता' या मिलते-जुलते शब्दों से अभिहित किया है उससे व्यापकतर अनुभव-संश्लेष की अभिव्यक्ति के लिए 'बिंब में बिंब' के ऐसे प्रयोग बड़े दक्ष और सार्थक सिद्ध होते हैं।

तरह-तरह के जटिल बिंब-विधान पर प्रसाद का असाधारण अधिकार है। एक का उल्लेख अभी हुआ। यहाँ एक प्रचलित स्थूल बिंब के भीतर एक अन्य सूक्ष्म बिंब को विकसित किया गया है। ऐसे भी स्थल हैं जहाँ कवि ने दो सूक्ष्म बिंबों को एक-दूसरे पर संयुक्त और आरोपित करके (व्याकरण की संयुक्त क्रियाओं की तरह) अनुभव को व्यक्त करना चाहा है। 'आँसू' और 'कामायनी' में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। देव सृष्टि के विनाश पर श्रद्धा सर्ग के आरंभ में मनु को सारा जीवन अर्थहीन और निःसार लगता है, इसकी अभिव्यक्ति उन्होंने एक पूरी बिंब-माला से की है—

क्या कहूँ, क्या हूँ मैं उद्भ्रांत ?
विवर में नील गगन के आज
वायु की भटकी एक तरंग,
शून्यता का उजड़ा सा-राज

बिंब-माला फिर आगे बढ़ती है, तथा उसमें 'विस्मृति का स्तूप' और कई अन्य बिंब विकसित होते हैं। उद्धृत पंक्तियों में 'शून्यता का उजड़ा सा-राज' आरोपित बिंब-प्रक्रिया का अच्छा उदाहरण है। शून्य अपने में ही जीवन की निःसारता को व्यक्त करने के लिए प्रचलित प्रतीक या बिंब—जिस भी रूप में प्रयुक्त किया जाए—है। उसे और सूक्ष्म बनाने के लिए 'शून्यता' का प्रयोग किया गया। फिर 'उजड़ा राज' भी विनाश और निःसारता का द्योतक है। यहाँ 'शून्यता' के बिंब पर 'उजड़ा राज' के बिंब को आरोपित करके अनुभव को अधिक सूक्ष्म धरातल पर उतारा गया है। 'उजड़ा-सा' में 'सा' उजड़ने के भाव को कम न करके और फैला देता है। इस प्रक्रिया में कवि ने बिंब को सूक्ष्म करके उसे अधिक संश्लिष्ट बनाया है। यदि सूक्ष्म, और फलतः संश्लिष्ट न बनता तो अपने अकेले रूप में 'शून्य' एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीक रह जाता।

प्रसाद की काव्य-भाषा में प्रतीकों के माध्यम से बिंब को विकसित करने की सूक्ष्म प्रक्रिया भी देखी जा सकती है। इड़ा सर्ग का प्रसिद्ध गीत है—'जीवन निशीथ के अंधकार!' यहाँ अंधकार मनु के अपने ही मन के विभ्रम का प्रतीक है। इस अंधकार के समूचे अनुभव को अधिक यथार्थ तथा जटिल स्तर पर प्रेषणीय बनाने के लिए कवि एक बिंब-माला की रचना करता है। इन बिंबों में कच्ची इच्छाओं के जलने का धुआँ है, 'यौवन मधुवन की कालिंदी' है, मायाविनी युवती के नेत्रों का अंजन है, और अतीत के धुंधले चित्रों का संकलन है। इस पूरे छंद में एक प्रतीक तथा उसके लिए प्रयुक्त कई बिंबों का परस्पर गठन इतना संश्लिष्ट है कि अर्थ की प्रक्रिया बड़ी सघन और भारी, यद्यपि निर्मल लगती है। रचना में अर्थ कैसे अशेष रूप में रहता है, और कभी पूरी तरह खत्म नहीं किया जा सकता, यह प्रसाद के बिंब गठन में अच्छी तरह समझा जा सकता है। बिंब और बिंब, तथा प्रतीक और बिंब के ऐसे विविध संघटन छायावादी काव्य की श्रेष्ठतम उपलब्धि हैं। रूप के अभिमान में उन्मत्त होकर फिर चूर-चूर हो जाने वाली कमला की अनेक मनःस्थितियों के तनाव का अंकन प्रसाद ने अपनी लंबी कविता 'प्रलय की छाया' में इन अचूक विधानों से किया है। उदाहरणार्थ एक बिंब प्रस्तुत है, जिसके विश्लेषण का प्रयत्न अब नहीं होगा—

कृष्णागुरुवर्तिका
जल चुकी स्वर्ण पात्र के ही अभिमान में
एक धूम-रेखा मात्र शेष थी;
उस निस्पन्द रंग मंदिर के व्योम में
क्षीण-गंध निरवलंब।
किंतु मैं समझती थी, यही मेरा जीवन है।

निराला में प्रसाद जैसा बिंबों का वैभव नहीं है, यद्यपि अपनी सूक्ष्म परिकल्पना में वे पीछे नहीं हैं। 'राम की शक्ति पूजा'—जो अपने रचना संघटन में बेजोड़ है—में विशिष्ट बिंब-प्रयोग अपेक्षया कम हैं। युद्ध से लौटे राम के शरीर पर जटा-जूट खुल जाने से बालों की लटें बिखरी हैं। यहाँ कविता की पंक्तियाँ हैं—

दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार;

इन पंक्तियों में बिंब का रूप प्रस्तुत से कुछ आक्रांत होने पर भी राम के दृढ़ चरित्र और उनकी वर्तमान अस्थिर मनःस्थिति को एक साथ और उनके द्वन्द्व में अंकित करता है। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात यह समझी जानी चाहिए कि बिंब के प्रयोग से ही श्रेष्ठ कविता रची जाए, यह आवश्यक नहीं है। रचना के अन्य उपकरण भी हैं, बिंब-प्रक्रिया आधुनिक कविता के संदर्भ में शायद सबसे विकसित है। यों बिंब की व्यापक परिकल्पना के अंतर्गत निराला की 'संध्या सुन्दरी' 'जुही की कली', 'बादल राग' और 'स्नेह निर्झर बह गया है' जैसी प्रसिद्ध कविताओं का विधान आता है। उनके काव्य 'तुलसीदास' के अनेक छंदों में बिंबों का बड़ा सटाक और सुकुमार प्रयोग हुआ है। महिमाशाली बुन्देलखण्ड मुगल काल में कैसा श्रीहत हो गया है, इसका अंकन निराला ने यों किया है—

निश्चल अब वही बुंदेलखण्ड, आभा गत,
निःशेष सुरभि, कुरबक-समान
संलग्न वृंत पर, चिंत्य प्राण,
बीता उत्सव ज्यों, चिह्न म्लान, छाया श्लथ।

यहाँ दो बिंब परस्पर जुड़े हुए हैं—'निःशेष सुरभि कुरबक' और 'बीता उत्सव'। पहला मूल बिंब है, और दूसरा उसमें संलग्न है। दोनों मिलकर मुगल काल में हिंदी क्षेत्र के जातीय मानस और संस्कृति के विघटनशील और निष्प्राण-से होते रूप का सजीव (?) चित्र प्रस्तुत करते हैं। 'संलग्न वृंत पर' बड़ा सावधान पर्यवेक्षण है, जो गिरने और न गिरने के बीच की स्थिति है, एक तरह से न गिरने की प्रक्रिया है। ऐसी सूक्ष्म स्थितियों और मनःस्थितियों के अंकन में बिंब की रचना-क्षमता अच्छी तरह प्रमाणित होती है।

छायावादी कवियों में सुमित्रानंदन पंत आरंभ से ही अपने लाक्षणिक प्रयोगों के कारण आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। लाक्षणिक प्रयोग या 'मैटाफर' सारे अप्रस्तुत विधान की पहली कड़ी है, क्योंकि दो भिन्न अर्थ-संदर्भों को वह परस्पर संपर्कित करके इस प्रक्रिया में एक नये अर्थ-संदर्भ को उद्भासित करता है। पंत के प्रतीक और बिंब-विधान आरंभिक लाक्षणिक प्रयोगों से विकसित होकर प्रकृति तथा मनुष्य के एक नये समीकरण की तलाश में संलग्न हैं। उनकी प्रसिद्ध लम्बी कविता 'परिवर्तन' में बिंबों की रचना कोमल तथा कठोर के संयोग से हुई है, जिनमें से होकर कविता की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल वस्तु विकसित होती है। यों कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए विख्यात कवि की रचना में अधिक प्रभावशाली बिंब जीवन और प्रकृति के कठोर-उग्र पक्षों से लेकर रचे गए हैं। इनमें से वासुकि नाग का लम्बा बिंब सांग-रूपक के सहारे चलता है। फिर नृशंस नृप और शतदल कमल के बिंब आते हैं। और इनके बाद एक प्रलय-चित्र है जो कई बिंबों से बना है। इसमें क्षुब्ध सागर और आकाश का चित्रण इस प्रकार है—

आलोड़ित अंबुधि फेनोन्नत कर शत शत फन,
मुग्ध भुजंगम सा, इंगित पर करता नर्तन !
दिक् पिंजर में बद्ध, गजाधिप सा विनतानन,
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन !

सागर का मुग्ध सर्प और आकाश का मतवाला हाथी एक ओर बिंब-प्रक्रिया को परिचालित करते हैं, और दूसरी ओर पुराण-कथा के सांकेतिक रूप में उभारते हैं, इतिवृत्तात्मक रूप में नहीं। आकाश, सागर और पवन की यह टकराहट मानो मानवीय तत्त्वों का ही सूक्ष्म द्वन्द्व है, यथार्थ की असली बनावट है।

छायावादोत्तर परिदृश्य पर प्रयोगवादी तथा नयी कविता का बिंब-विधान जीवन के व्यापकतर क्षेत्रों से विकसित होता है। अज्ञेय के बिंब अधिक जटिल हुए संसार में सामान्य और अकिंचन क्षेत्रों से आते हैं। 'नदी के द्वीप' जैसी प्रभावशाली कविता का बिंब एक स्तर पर सामान्य प्रकृति-क्षेत्र से लिए जाने पर भी स्वयं प्रकृति के अपने संघटन को एक नये स्तर पर परिभाषित करता है, और जिस स्थिति के लिए यह बिंब है वह तो अपने में एक नयी जीवन-समस्या है ही। व्यक्ति और समाज की अंतर्प्रक्रिया, जो आज के जीवन की एक मुख्य चिंतना है, इस कविता में मानवीय अनुभव के रूप में व्याख्यायित होती है।

अज्ञेय और नयी कविता के अन्य कवियों के बिंब-विधान में क्रमशः प्रस्तुत पक्ष का उल्लेख कम होता जाता है, फलतः रचना की निर्भरता बिंब-प्रक्रिया पर बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए अज्ञेय की 'बावरा अहेरी' में पहली पंक्ति में 'भोर' का उल्लेख आता है, उसके बाद तो भोर का बावरा अहेरी बिंब-रूप में समूची कविता में परिव्याप्त हो जाता है। एक दूसरी छोटी कविता में प्रस्तुत सिर्फ़ शीर्षक में है, कविता बिंब से बनी है। शीर्षक है—'दूज का चाँद'—

मेरे छोटे घर-कुटीर का दिया
तुम्हारे मंदिर के विस्तृत आँगन में
सहमा-सा रख दिया गया।

छोटे-छोटे बिंबों से बनी ऐसी प्राकृत कविताएँ 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में मिलकर एक विराट् पर आत्मीय प्रकृति-चित्र उपस्थित करती हैं। इस शृंखला की एक कविता है 'धूप'—

सूप-सूप भर
धूप-कनक
यह सूने नभ में गई बिखर।
चौंधाया
बीन रहा है
उसे अकेला एक कुरर।

अज्ञेय के ऐसे सामान्य-साधारण जीवन से लिए गए बिंब (जो प्रसाद के सूक्ष्म सौंदर्य-विधायक बिंबों से साफ़ तौर पर अलग देखे जा सकते हैं) साधारण मानव-जीवन की प्रक्रिया और अनुभव को अर्थवत्ता प्रदान करते हैं, जो उनकी रचना की मूल वस्तु है।

नयी कविता की इस बिंब-प्रक्रिया का बड़ा सुकुमार विकास शमशेर की कविताओं में होता है, जिसमें कहीं-कहीं प्रसाद से अधिक सूक्ष्म विधान और अज्ञेय से अधिक मित-कथन देखा जा सकता है। प्रकृति और मानवीय अनुभव की अंतर्प्रक्रिया उनका मूल स्वर है, जिसे वे अपने बहुत-से स्पष्ट, और कुछ कलात्मक रीति से अस्पष्ट बिंबों के सहारे परिचालित करते हैं। वस्तुतः शमशेर में बिंब से कविता नहीं बनती, वरन् बिंब और कविता एकाकार हो जाते हैं—

एक नीला आइना
बेठोस-सी यह चांदनी
और अन्दर चल रहा हूँ मैं
उसी के महातल के मौन में।
मौन में इतिहास का
कन किरन जीवित, एक, बस।

और कविता का अंत होता है—

रह गया सा एक सीधा बिंब
चल रहा है जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शान्त इंगित सा
न जाने किधर।

यहाँ काव्य-अनुभव की शुरुआत और परिणति बिंब में ही होती है। दोनों में अन्तर यह है कि शुरू का बिंब व्याख्यायित है, जबकि अंत में एक अज्ञात-अनाम बिंब का अनुभव मात्र शेष रह जाता है। कुछ कविताओं के अंश और उद्धृत हैं—

अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आंसू
सांध्य तारक-सा
अतल में। (एक पीली शाम)

चाँदनी की उँगलियाँ चंचल
क्रोशिये से बुन रही थीं चपल
फेन-झालर बेल, मानो। (सागर-तट)

दूसरी कविता के ठीक अंत में 'मानो' की स्थिति देखकर लगता है कि बिंब जैसे उत्प्रेक्षा को मुँह चिढ़ा रहा हो।

नयी कविता के अपने विकास में बिंब का क्षेत्र आसमान से लेकर घर के खपरैल तक व्याप्त हो जाता है। गजानन माधव 'मुक्तिबोध', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और लक्ष्मीकांत वर्मा के प्रयोग नयी कविता की भंगिमा को निखारते हैं। यों प्रगतिवादी दौर में केदारनाथ अग्रवाल के ऐसे प्रयोग विशेष रूप से आकर्षक रहे हैं—

धूप चमकती है चांदी की साड़ी पहिने
मैके में आई बेटी की तरह मगन है

मुक्तिबोध, सर्वेश्वर और लक्ष्मीकांत का बिंब-विधान रचनात्मक दृष्टि से बहुत अलग न होने पर भी संवेदनात्मक विस्तार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। मुक्तिबोध के बिंबों में भय और आत्मीयता का एक विचित्र मिश्रण है, जो उनके लिए आज की औसत भारतीय निम्न-मध्यवर्गीय जिंदगी का असली रूप है। उनके काव्य की शक्तिमत्ता अधिकतर इस बिंब-विधान से उपजती है और 'गरवीली गरीबी' के समूचे वैविध्य को रूपायित करती है। सर्वेश्वर और लक्ष्मीकांत में भय के विस्तार की जगह व्यंग्य का तीखापन विकसित होता है। मध्यवर्गीय जीवन का अंकन वे सामान्य व्यक्ति के सामान्य अनुभवों में करते हैं। घास काटने की मशीन या लैटरबाक्स या राख का स्तूप में नयी कविता के साधारण जीवन की पहचान साफ़ देखी जा सकती है। इन कवियों के बिंब-प्रयोग आत्मीय बोध के साथ-साथ मानवीय अनुभव के समकालीन तनाव और बेचैनी को पूरी क्षमता के साथ अंकित करते हैं। पर कहीं-कहीं बिंबों का फैलाव रचना का संतुलन बिगाड़ भी देता है।

रचनात्मक स्तर पर बिंब-विधान के कुछ नये रूप रघुवीरसहाय की कविताओं में विकसित हुए हैं। अपनी भाषा के रचाव में उन्होंने वर्णन और बिंब के भेद को क्रमशः मिटाया है। कविता की भाषा को सही अर्थ में बोलचाल और अखबार की भाषा से संबद्ध करने में वर्णन और बिंब का अन्तर डूब जाए, यह स्वाभाविक है। इस प्रक्रिया में सामान्य भाषा की रचनात्मक क्षमता का बिलकुल नया और प्रीतिकर अहसास रघुवीरसहाय के संकलन 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं में होता है, वे कविताएँ चाहे राजनीति के अनुभव-क्षेत्र से संबद्ध हों या कि प्रेम के अनुभव-क्षेत्र से, अथवा प्रकृति के मानवीय चित्र हों। अंग्रेज़ी में एक परिभाषा दी गई है कि कविता उत्कृष्ट शब्दों का उत्कृष्ट क्रम है, पर आधुनिक कवि की रचना सामान्य शब्दों के सामान्य क्रम से बनती है। रघुवीरसहाय की कविताओं में वर्णन-बिंब का अभेद कैसे संभव होता है, यह समझने के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

सिंहासन ऊँचा है सभाध्यक्ष छोटा है
अगणित पिताओं के
एक परिवार के
मुँह बाये बैठे हैं लड़के सरकार के
लूले काने बहरे विविध प्रकार के
हल्की-सी दुर्गन्ध से भर गया है सभाकक्ष।
(मेरा प्रतिनिधि)

एक ग़रीबी, ऊबी, पीली, रोशनी, बीबी
रोशनी, धुंध, जाला, यमन, हरमुनियम अदृश्य
डब्बाबंद शोर
गाती गला भींच आकाशवाणी
अन्त में टड़ंग
(आत्महत्या के विरुद्ध)

पहले उद्धरण में किसी सामान्य सभाकक्ष का वर्णन भी है, और किसी विशिष्ट सभाकक्ष का बिंब भी है। वर्णन और बिंब के स्तरों की टकराहट अर्थ को असाधारण विस्तार देती है। यही स्थिति दूसरे उद्धरण के 'वर्णन-बिंब' की है। और यह संभव होता है कविता में बोलचाल की भाषा के प्रयोग के कारण, जो रचना को विशिष्ट बनाते हुए भी उसे सच्चे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन से प्रजातांत्रिक रखती है। वर्णन और बिंब, प्रजातांत्रिक और विशिष्ट को एक साथ समोने में रघुवीरसहाय की कविताओं का रूप साधारण अर्थ और अनुभव को एक विराटता देता है; उनकी कविताओं में बहुप्रयुक्त शब्द 'लोग'—'लोग लोग लोग चारों तरफ है मार तमाम लोग'—में ये दोनों (तथा अन्य भी!) व्यंजनाएँ साथ-साथ चलती हैं। छोटी कविताओं के विधान में यह प्रक्रिया कुछ भिन्न और सुकुमार ढंग से समझी जा सकती हैं—

बच्चा गोद में लिए
चलती बस में
चढ़ती स्त्री
और मुझमें कुछ दूर तक घिसटता जाता हुआ।

(चढ़ती स्त्री)

प्रार्थना में नमित रहकर
जरूरत भर
जब
सिर उठाया
तब
सुबह हो गई
डाल पर ठहरा हुआ है खिचा फूल गुलाब का।

(खिचा गुलाब)

इन कविताओं का विधान जापानी 'हाइकू' का स्मरण दिला सकता है, और तब अनायास ही ध्यान जाता है कि जापानी भाषा की वर्णमाला और उसकी चित्रलिपि एक-दूसरे में कैसे घुल-मिल गए होंगे! इन कविताओं में वर्णन और बिंब का अभेद, अद्वैत बहुत-कुछ उसकी समानांतर प्रक्रिया जैसा है।

यदि सांगरूपक और उत्प्रेक्षा को बिंब की एक पूर्व-स्थिति के रूप में स्वीकार किया जाए तो देखा जा सकता है कि हिन्दी कविता में बिंब के विकास में प्रस्तुत का उल्लेख क्रमशः क्षीणतर होता जाता है, और रचना की व्यंजना-क्षमता के लिए अप्रस्तुत पर बल बढ़ता जाता है। समकालीन कविता तक आते-आते एक तरह से प्रस्तुत का लोप हो जाता है, या यों कहें कि आधुनिक बिंब-प्रक्रिया में प्रस्तुत-अप्रस्तुत अभेद हो जाते हैं। मानव-जीवन और अनुभव अपने में जटिल, संश्लिष्ट तथा गतिशील प्रक्रिया है, इस अनुभव को खंडित होने दिए बिना कविता उसकी पुनर्रचना करती है। और यह संश्लिष्ट पुनर्रचना सबसे अधिक संभव होती है बिंब-प्रक्रिया से, जो अपनी प्रकृति में अर्थ के द्वन्द्व को परिचालित करती हुई भी अर्थ और अनुभव के अद्वैत की ओर उन्मुख है।

पुस्तकालय
०२९५४२
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार
R
C 4
दि ३६ आ
जन. मार्च. 60
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक तरह से देखो तो

विपिनकुमार अग्रवाल

कविता के महान् होने का यदि कोई एक निश्चित माप है तो सूरदास और रघुवीरसहाय दोनों महान् कवि नहीं हो सकते। यदि तुलसीदास या सुमित्रानंदन पंत को महान् कवि माना जाता है, तब साफ है कि लक्ष्मीकान्त महान् कवि नहीं हैं। लेकिन अगर लक्ष्मीकांत महान् कवि नहीं हैं तब तो न कबीर हैं और न ही श्रीकान्त। पर जो भी हो, यद्यपि रघुवीरसहाय महान् कवि नहीं हैं, तुलसीदास और कबीर दोनों हैं। अतः कविता महान् होने का कोई एक निश्चित माप नहीं हो सकता। और जिस तत्व का निश्चित माप नहीं हो सकता उसकी चर्चा करना बेकार है क्योंकि उसके सहारे हम किसी निश्चित नतीजे पर नहीं पहुँचेंगे।

कविता की भाषा में, नाटक की भाषा में, उपन्यास की भाषा में, अखबार की भाषा में और ज्ञान की भाषा में अन्तर होता है। इस अन्तर का कारण यह है कि जो एक में अनकहा रह जाता है वह दूसरे में व्यक्त हो जाता है। हर विद्या में भाषा का रंग और ठाठ बदल जाता है। जिन्हें जो अच्छा लगता है वे उसके हो जाते हैं।

मुझे अगर कविता पढ़ने में मज़ा आता है तो मैं कवि हूँ। कविता की भाषा में जो अनुभव उपयुक्त ढंग से ढल सकता है उसका मैं साझीदार हूँ। मुझमें और कवि में कविता के लिख जाने के बाद कोई अन्तर नहीं रह जाता। कविता के लिखे जाने के पहले मुझमें और कवि में महज़ इतना अन्तर है कि जहाँ वह अनुभव के उपयुक्त भाषा को ढूंढ़ लेने की समस्या का हल निकाल लेने की तरकीब जानता है और इस इच्छा से पीड़ित है, वहाँ मैं पिछड़ जाता हूँ या कोशिश ही नहीं करता। मैं एक तरह का बेहद आलसी कवि हूँ। पर कविता के लिखे जाने के बाद मैं उसे सही ढंग से पढ़ सकता हूँ, उसकी खूबियों और कमियों के प्रति आगाह हो जाता हूँ। यदि कविता अच्छी है तो मुझे सहज ही पूर्णरूप से कवि बना देती है, अन्यथा अधूरा। इस अधूरेपन को अपने से पूरा कर लेने की क्षमता मुझमें नहीं है। पर कविता पढ़कर कवि के समक्ष आ जाने की चाह मुझमें मौजूद है। मैं कविता रचते या / और पढ़ते समय अपने साझे के अनुभव के कच्चे माल को ढाँचा प्रदान करता हूँ, या नयी व्यवस्था प्रदान करता हूँ। अनुभव के उस पहलू को उजागर करता हूँ जो ढँका-मुँदा या अनखोजा रह जाता यदि भाषा को खास ढंग से तैयार करके इस पहलू को परखा न जाता।

यदि बार-बार कविता की प्रकृति के अनुसार भाषा ऐंठा कर अनुभव को परखने और व्यक्त करने के लिए तैयार नहीं की जाती तो पूरा समाज एक प्रकार के अनुभव को प्राप्त करने की क्षमता ही खो बैठता है। अतः अनुभव के विभिन्न पहलुओं को बनाए रखने और बनाते रहने के लिए मेरे लिए कविता (या अन्य विद्या, या साहित्य) रचते या / और पढ़ते रहना ज़रूरी है। इसमें इत्तफ़ाक बस इतना है कि यह भार मेरे ऊपर पड़ा है, मेरे पड़ोसी पर नहीं।

अगर हमें कविता लिखते या / और पढ़ते रहना है तो प्रश्न उठता है, कैसी? संक्षेप में और सरल-सा उत्तर देना चाहें तो कहेंगे कि हमें ऐसी कविता से सरोकार रखना है जो हमारे अनुभव के दायरे को विभिन्न दिशाओं में बढ़ाने की संभावना प्रदान कर सके। उस कविता द्वारा दिखायी गई नयी दिशा या यथार्थ की नयी व्यवस्था में भले ही हम अपने अनुभव को न ढालने का निर्णय लें, पर महज़ इससे कि हमारे चुनाव की संभावनाओं में वृद्धि हुई हम कह सकते हैं कि हमने अपने को जड़ स्थिति से मुक्त कर लिया। इस चुनाव की संभावना का अज्ञान ही हमें पिछड़ेपन में क़ायम रखता। चुनावों की संभावना को बढ़ाना ही आधुनिकता है। युग में अन्तर चुनावों में गुणात्मक परिवर्तन का आना है।

नवीनतम होना आधुनिक होना नहीं है। हमने भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में जब अपनी मोटर बनाई तो कैडिलैक या रोलसरॉयस के बाद बनाई। हमारा मॉडल नवीनतम है पर आधुनिक नहीं है, क्योंकि विज्ञान मोटर बनाने में आज जो सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है उनका पूरा उपयोग कैडिलैक में ही उपस्थित है। पर अपना मॉडल बनाकर हम अपने पूर्वजों से आधुनिक अवश्य हो गए जो केवल बैलगाड़ी बना सकते थे। हम दोनों बना सकते हैं। अपना मॉडल बना लेने के पहले हमारे बुद्धिजीवी इस बात से आगाह थे कि दुनिया में बैलगाड़ी भी है और मोटर भी। पर हम आधुनिक हैं क्योंकि न केवल हम मोटर के प्रति आगाह हैं बल्कि हमने उसे बना लेने का निर्णय भी ले लिया है। इसलिए सिर्फ़ संभावनाओं के प्रति आगाह हो जाना और उन्हें नुमाइश में लगी वस्तुओं की तरह देखना काफ़ी नहीं है। जब हम सम्भावना को ठोस रूप देते हैं तभी आधुनिक होते हैं। रेगिस्तान के बीच अगर हमें किसी स्थान पर पहुँचना है तो आज हम रेगिस्तान के किनारे तक मोटर से जा सकते हैं और रेगिस्तान के अन्दर ऊँट से। ऊँट रेगिस्तान में अब भी उचित सवारी है इसलिए उस पर तय करके चढ़ना आधुनिक है। आधुनिकता इस पर निर्भर नहीं है कि हम मोटर पर चढ़ते हैं या बैलगाड़ी पर, बल्कि इस पर कि लक्ष्य पर पहुँचने की समस्या पर विचार करते समय हम सभी साधनों के प्रति आगाह हैं, उनमें से उपयुक्त या सार्थक को चुनते हैं और चुनकर उसका निर्माण और उपयोग कर सकते हैं। सिर्फ़ इतने से कि हमारे पूर्वज मोटर की कल्पना नहीं कर सकते थे और हम उसके आगाह हैं, उसे सैद्धान्तिक ढंग से जानते हैं, उसकी तस्वीर देखी है, या उसे अपना भर सकते हैं आयात करके, हम आधुनिक नहीं हो जाते। मोटर और ऊँट दोनों खड़े हों तो अपने से वे हमें नहीं बता सकते कि क्या उपयुक्त और सही है। मोटर का होना आवश्यक है हमें आधुनिक बनाने के लिए, पर काफ़ी नहीं। क्योंकि जो मोटर बनाना और चलाना नहीं जानता है वह वास्तव में मुक्त होकर चुनने की स्थिति में नहीं है। वह बेबस है ऊँट ही को चुनने के लिए। जीवन में बुद्धिजीवी और साहित्य में कवि, सब तरकीबें जानता है और चुनाव करता है। भले ही वह मोटर को त्याग करके ऊँट को चुने। पर मोटर का उपयोग करने की सामर्थ्य होते हुए, उपस्थित समस्या की माँग के अनुकूल ऊँट को चुनना आधुनिक होता है। मोटर के आ जाने से चुनाव में संख्यात्मक अन्तर आया, और इन सब चुनावों के बीच किसी एक का, ऊँट का, या साइकिल का, या मोटर का, चुनाव करना एक गुणात्मक भिन्न स्थिति का सृजन करना है, इसलिए संभावना को बढ़ाना है। एक देश, एक साहित्य आधुनिकता के भिन्न स्तरों पर आकर रुक जा सकता है। वह महज़ संसार में संभावनाओं के पैदा हो जाने की बात सुनकर संतुष्ट हो जा सकता है, रुचि नहीं लेता। रुचि ले तो उसे स्वीकार मात्र करने तक की या सिर पर आ पड़े तो उसे सह लेने तक की। या बनाने की बात सोचे या निर्णय ले तो उतना भर जितना ग्रहण आसानी से हो जाए, बिना पूर्व में कोई अन्तर डाले। वास्तव में वह आधुनिक तब होता है जब सब संभावनाओं के प्रति जागरूक होकर, समकालीन समस्या के अनुरूप उपयुक्त ढंग को चुनता है, उसे कार्यरूप में परिणत करने का खतरा मोल उठाता है, और इस सिलसिले में जो अन्तर आना आवश्यक हो जाता है उसे सहज स्वीकार करता है।

इस सिद्धान्त को अगर हम कवि पर लागू करें तो पूछेंगे कि कबीर, तुलसी, भूषण, भारतेन्दु, मैथिलीशरण, प्रसाद, पंत आदि के बीच यदि उसे आज के 'जटिल' जीवन से प्राप्त अनुभवों को व्यक्त करने का ढंग चुनना है तो कौनसा ढंग सबसे उपयुक्त या सार्थक होगा। यदि इनमें से कोई ढंग उपयुक्त नहीं है, तब तो उसे सर्वथा नया ढंग ढूंढ़ना ही पड़ेगा।

किसी एक ढंग को चुनने के माने यह नहीं होंगे कि वह उसी प्रकार उसे उपयोग में लाए जैसे वह पहले लाया जाता था। आज की आवश्यकता के अनुसार वह उसे बदलेगा, लचाएगा अधिक दक्ष बनाएगा और कुल मिलाकर वह उस ढंग को विकसित करेगा। यह भी मुमकिन है कि इस क्रिया में वह ढंग को बिल्कुल बदल डाले। जब वह ऐसा कर रहा हो तब परम्परा के नाम पर उसे रोकना परम्परावादी बनना होगा।

अब देखा जाए कि आज के माने गए जटिल संदर्भ में उस कविता के क्या गुण हैं जो अनुभवों की बनावट को भाषा के माध्यम से उपयुक्त ढंग से परख सके और व्यक्त कर सके। इसके लिए जटिल होने के क्या माने हैं, तय कर लेना उचित होगा। आज के जीवन को देखें तो गति, एक ही समय में एक स्थान पर बहुत से दबावों की उपस्थिति, हर दिशा में प्रगति की अति की खोज, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म का साक्षात्कार और उसमें भी संरचना की उपस्थिति, आदि जटिलता के लक्षण मिलते हैं। ऐसे में किसी समाकलित अनुभव की आशा करना समस्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को न समझना होगा। सब उलझा है, किसी घटना को देर तक अलग करके समझना मुमकिन नहीं है, और हर दिशा में (अक्सर विपरीत दिशाओं में जैसे परमाणविक और खगोली) एक साथ सीमाएँ लाँघी जा रही हैं। ऐसे में यदि किसी व्यवस्था का आभास, किसी स्थिति की समझ, या किसी राह का संकेत पाना है, तो जिस संकेतक या निर्देशक का सहारा लें, उसमें खुद का कोई बहुमुखीपन नहीं होना चाहिए। यदि हुआ तो घपला और बढ़ जाएगा।

साहित्य में हमारा मुख्य निर्देशक कवि है। कवि का उपकरण भाषा है। अतः कवि के अन्तर को बहुसंयोजकता से और भाषा को अस्पष्टता से मुक्त रखना नितान्त आवश्यक है। ये दोनों बातें हमें मैथिलीशरण गुप्त में प्राप्त होती हैं। मैथिलीशरण अपने को एक विनयशील सरल, और प्रभाव-ग्रहण-इच्छुक प्रेक्षक के रूप में रखकर बाह्य जगत् का निरीक्षण करते हैं। वे इसके लिए अपने को तैयार करते हैं जब कहते हैं :

हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी ॥

समस्याओं के बीच घिरे होने की जागरूकता उन्हें प्रेरित करती है कम-से-कम अपनी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए। इसके विपरीत, कवि जब स्वयं अपने अन्तरमन में जटिल होने का रास्ता अपनाता है तो उसे अपनी बात दक्ष तरीके से कह लेने के लिए यथार्थ को सपाट और सरल बना लेना पड़ता है। इस मजबूरी का कारण यह है कि जब वह अपने अन्तरमन की जटिलता का बखान करने बैठता है, तब जिस यथार्थ के सहारे वह बात कहता है, उसकी जटिलता का मिश्रण हो जाने पर जो कहना चाह रहा था वही विकृत हो जाता है। अभाग्यवश, जब अन्तरमन की जटिलता को सपाट बाह्य के सहारे (जो कि उपयुक्त ढंग है इसके लिए) व्यक्त करने बैठता है तो उसकी कविता हमें यथार्थ के अनुभव से कही हुई लगती है, नकली लगती है, क्योंकि हमें बाह्य संसार सपाट दीखता नहीं। जो दीख रहा है उसे झुठलाकर कवि के अन्तरजगत् को थाहने के लिए मन तैयार नहीं होता। अब और भी नहीं जब संचार और यातायात के साधन बाह्य जगत् को तीव्र गति से पास लाते रहते हैं, बदलते रहते हैं, और उनसे जूझने के लिए हमें मजबूर करते रहते हैं।

सबके जाने-बूझे उलझे अनुभव में से जब कवि अपने को सपाट और भाषा को सरल करके एक व्यवस्थित, चाहे पुनः-संयोजित, संसार हमें दिखलाता है तब हम उसके साथ सहज ही कवि बन जाते हैं। वह तुरन्त हमारा विश्वास जीत लेता है। कविता लिखने का यह अन्दाज़ हमें मैथिलीशरण में मिलता है। उनकी कविता में अविश्वसनीय आन्तरिक ज्वालाओं के बजाय हमें बाहर की स्थितियों की परतों के खुलने का आभास मिलता है। इसको हासिल करने के लिए उन्हें अपनी भाषा को ठंडा और खास ढंग से कसा हुआ बना लेना पड़ता है :

निधि खोले दिखला रही प्रकृति निज माया
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया
कहता है कौन कि भाग ठगा है मेरा ?
वह सुना हुआ भय दूर भगा है मेरा
कुछ करने में अब हाथ लगा है मेरा
वन में ही तो गार्हस्थ्य जगा है मेरा।

इन पंक्तियों में सीता की स्थिति की समझ की परतें एक के बाद एक खुलती चली जाती हैं। स्थिति की विडम्बना के बीच से ही सीता का चरित्र अन्तिम पंक्ति में निखर आता है, छलकता नहीं। भाषा का भी कविता के संगठन की माँग के अनुरूप उपयोग है। 'कुटिया' और 'राज-भवन', 'भाग ठगा' और 'हाथ लगा', 'भय' और 'गार्हस्थ्य' ऐसे शब्द पास-पास आकर एक-दूसरे के अर्थ को पैना और गहरा बनाते चलते हैं। शब्दों और स्थितियों के अन्तर-तनावों को एक सीमा तक पहुँचाकर मैथिलीशरण आगे आने वाले कवियों के लिए एक नयी चुनौती की स्थिति पैदा करते हैं।

इस चुनौती को स्वीकार किया लक्ष्मीकांत और सर्वेश्वर ने। नमूने के लिए लूँ तो मैथिलीशरण की तरह इन्हें भी अपनी स्थिति के बारे में प्रश्न पूछ लेने की जरूरत हुई :

कहाँ हूँ मैं
कहाँ है अर्जुन
ओ कुरुक्षेत्र
कहाँ हूँ मैं···? (लक्ष्मीकांत)

अक्सर सोचता हूँ
मैं कहाँ खड़ा हूँ !
··· ··· ···
मैं कहाँ खड़ा होऊँ !
··· ··· ···

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कैसी विचित्र है यह ज़िन्दगी
जिसे मैं जीता हूँ ! (सर्वेश्वर)
मैं हूँ अपने ही लघु अस्तित्व से जन्मा
व्यापक परिवेश का साक्षी और साक्ष्य ।
(लक्ष्मीकान्त)

इस अपरिचित नगर में
जहाँ भी मैं खड़ा होता हूँ
चारों ओर के रास्ते
डायनामाइट से उड़ते दिखाई देते हैं । (सर्वेश्वर)

खुद न व्यापक और विचित्र होकर, जो आसान है, ये कवि अपने को लघु और सरल इकाई मानकर संसार को, जीवन को, यथार्थ को, अजीब, रणस्थल-सा और उड़ते-बदलते रूप में देखते हैं, देखने का जोखिम उठाते हैं । इसमें हम सहज ही अपने साझे के अनुभव की बैसाखी का सहारा ले इनके साथ यात्रा पर निकल पड़ते हैं । इनके साथ हम भी कवि बन जाते हैं और बाह्य दबावों को महसूस करते हैं :

तुम्हारे साथ रहकर
अक्सर मुझे ऐसा महसूस हुआ है
कि दिशाएँ पास आ गयी हैं
हर रास्ता छोटा हो गया है
दुनिया सिमट कर
एक आँगन-सी बन गयी है
जो खचाखच भरा है
कहीं भी एकान्त नहीं
न बाहर, न भीतर । (सर्वेश्वर)

मैथिलीशरण की परम्परा को आगे बढ़ाकर ये कवि इस आपत्तिकाल में उलझे बाह्य को समझने के लिए अपने को परिभाषित कर, स्थिरांक या इकाई मान, यथार्थ के कुछ हिस्सों को लचाकर आकार दे देते हैं, या उसे परखते हैं :

एक बहुत बड़ा नक्शा है
... ...
उन करोड़ों के साथ-साथ
मैंने देखा है—
उन्हीं में से एक मैं हूँ
यानी करोड़ों का अन्तिम करोड़वाँ हिस्सा
यानी एक अकेली इकाई
... ...
शाम को थका-मांदा
... ...
मैं किसी स्थिति का पूरक हूँ । (लक्ष्मीकांत)

हर चीज़ का आकार घट गया है
पेड़ इतने छोटे हो गए हैं
कि मैं उनके शीश पर हाथ रख
आशीष दे सकता हूँ
आकाश छाती से टकराता है
मैं जब चाहूँ बादलों में मुँह छिपा सकता हूँ । (सर्वेश्वर)

अतः मैथिलीशरण की सीता की तरह इन कवियों का 'मैं' भी इस बदली हुई स्थिति में आश्रय की, अपने को पुनः पाने की, कोशिश करता है ।

मुझे एक स्थिति दो
उस स्थिति का वातावरण दो
मैं उसके अनुकूल
उस प्रवाहित क्षण के दायित्व को
वहन कर लूँगा । (लक्ष्मीकांत)
तुम्हारे साथ रहकर
अक्सर मुझे महसूस हुआ है
कि हर बात का एक मतलब होता है
... ...
तुम्हारे साथ रहकर
अक्सर मुझे लगा है
कि हम असमर्थताओं से नहीं
सम्भावनाओं से घिरे हैं । (सर्वेश्वर)

सीता को गार्हस्थ्य घेर लेता है, मैं को दायित्व और सम्भावनाएँ । पर नये कवियों का ढंग अधिक विकसित है, अधिक सधा हुआ है, अधिक पका हुआ है । उनमें प्रथम अन्वेषी का अटकाव, जो मैथिलीशरण में था, अनुपस्थित है । मैथिलीशरण से लेकर श्रीराम वर्मा तक की पृष्ठभूमि में ही हम नयी कविता के महत्त्व को, तरीके को, समझ सकते हैं ।

अब देखा जाए कि नयी कविता एक दौर है या नहीं और इस दौर में बने रहने की कितनी क्षमता है । एक दौर की उत्पत्ति कैसे होती है ? इस प्रश्न के सब पहलुओं पर विचार करना मुश्किल है । पर कुछ छोटी-मोटी बातें कही जा सकती हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक दौर सिर्फ इसलिए नहीं पैदा होता कि परम्परा बदल जाती है, या ईश्वर के बारे में भावना बदल जाती है, या यातायात के साधन बदल जाते हैं। जिस परम्परा से पंत उधार लेते हैं उसी से लक्ष्मीकांत भी, जितना ईश्वर को पंत मानते हैं उतना लक्ष्मीकांत भी (इधर शायद ज्यादा ही), जिस रेल पर पंत अपनी जवानी में चढ़ते थे उसी पर लक्ष्मीकांत भी। प्रकृति जितनी पहले थी उतनी अब भी है। अन्तर इसलिए आया कि प्रश्न दूसरे पूछे गए। जिज्ञासा की दिशा में परिवर्तन आ गया, जैसे भीतर से बाहर की ओर। यथार्थ का भिन्न हिस्सा दृष्टि के केन्द्र में लाकर फ़ोकस किया गया। इसके अलावा, ऐसे प्रश्न, ऐसी जिज्ञासा, ऐसी दृष्टि रखने वाले लोग इत्तफ़ाकन एक जगह मिल गए। कम-से-कम इतना सामान जुटने पर ही एक दौर का पैदा होना मुमकिन होता है। नयी कविता को यह सब प्राप्त हुआ।

यदि एक दौर को दूर तक प्रभावशील बने रहना है तो कम-से-कम उसमें दो गुण होने चाहिए। एक यह कि उसे पूरा एहसास होना चाहिए कि हर दौर में भाग लेने वालों के सम्पूर्ण अनुभवों का एक दायरा होता है या एक क्षितिज होता है। जब इसे अस्वीकार करके, सीमित को सारा मान करके, दौर आत्मसंतोष महसूस करने लगता है और अपनी उम्र को बड़प्पन समझने लगता है, तभी उसकी जिज्ञासा बुझने लगती है, प्रश्न दुहराए जाने लगते हैं और यथार्थ का स्थान 'यथार्थ की तस्वीर' ले लेती है।

दूसरा आवश्यक गुण पहले गुण से सम्बन्धित है। समकालीन क्षितिज पर भविष्य की घटनाओं की आहटें आती रहती हैं। यदि दौर में लोच अभी बाकी है तो वह नए प्रभावों को ग्रहण करने के लिए तत्पर रहेगा। दूसरे शब्दों में, यदि क्षितिज का आभास है तो नए प्रभावों के आने की संभावना के प्रति सजगता भी होगी, और यदि सजगता है तो इन प्रभावों को स्वीकार करके अधिक तनावदार और जटिल बनने की लियाकत भी होगी। पर यहाँ एक खतरे की ओर ध्यान आकर्षित करना भी ठीक होगा। जिन्हें क्षितिज का आभास नहीं है, जो अपनी सीमा को अस्वीकार करके सारे इतिहास, सारे वर्तमान और सारे भविष्य को आत्मसात करने की रूमानी प्रवृत्ति के शिकार हो जाते हैं, उनसे भी अक्सर अपने दौर को बनाए रखने के लालच में नए प्रभावों को आश्रय देने का रोग पैदा हो जाता है। यह बहुत घातक स्थिति होती है क्योंकि तब दौर स्वयं तो निस्तेज हो ही जाता है पर साथ ही नए दौर के आने के लिए आवश्यक रोक-टोक वाली ज़मीन भी तैयार नहीं करता। यदि क्षितिज का भान हो, पर सीमित दृष्टि से लगाव पैदा हो जाने के कारण नए प्रभावों से बचने की आदत बन जाए, तो बहुत बुरा नहीं है, क्योंकि नए प्रभावों की वर्जना में नए दौर के पैदा होने के बीज पड़ जाते हैं।

नयी कविता में दौर के दोनों गुण (१) समकालीन क्षितिज का एहसास, और (२) नए प्रभावों की सजगता और उन्हें स्वीकार करने की लोच, मौजूद थे; और लगता है आज भी मौजूद हैं। नए भाग लेने वालों की दृष्टि में यथार्थ का भिन्न हिस्सा (जैसे, देह का) फ़ोकस में आ गया हो तो अलग बात है। यथार्थ की जगह तस्वीर ने नहीं ली है यही मुख्य बात है।

* परिमल पर्व (फरवरी '७०) पर एकत्र लेखकों के सम्मुख इस निबंध का प्रारूप पढ़ा गया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य क्यों ?

नित्यानंद तिवारी

मानवीय प्रयत्न की संस्कृति-विरोधी दिशा को आज आमतौर पर इन्कार नहीं किया जा सकता, जबकि इसके पहले इस तरह का दबाव इतने गहरे और व्यापक रूप में मस्तिष्क और संवेदना को प्रभावित नहीं करता रहा। इसका सीधा परिणाम खीझ, तनाव, संघर्ष और मखौलपूर्ण व्यवहार में होता है। जब सारे-के-सारे युग के व्यवहार का मिज़ाज इस तरह का हो तब वह मिज़ाज अपने-आपमें चुनौती का रूप ग्रहण कर लेता है। आज जीवन और विद्या के हर क्षेत्र में यह चुनौती उभर आई है।

अगर हम मान लें कि साहित्य का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में जीवन से है ही, तो जीवन के अनुरूप साहित्यिक हल्के में भी चुनौती को स्वीकार करना ही पड़ेगा। जिस तरह यह प्रश्न उठाया जाता है कि जीवन ही क्यों? उसी तरह साहित्य के लिए भी यह प्रश्न उठ सकता है, जिसे आज उठाया गया है। इसलिए जीवन और साहित्य का यह अस्तित्वपरक प्रश्न बिल्कुल एक है।

इसके अलावा इस तरह भी बात को उठाया जा सकता है कि जीवन तो हमें मिल गया है, उसे जीना-ढोना है ही, लेकिन इस अनिवार्यता के साथ साहित्य का भार भी क्यों ढोया जाय? तब साहित्य का अस्तित्व अवश्य विवादात्मक हो जाता है। या फिर जीवन को भी न ढोकर आत्महत्या कर ली जाय, ऐसी हालत में किसी भी अस्तित्व के बारे में चिन्ता करने को नहीं रह जाता। लेकिन जो आत्महत्या की बात करते हैं, वे भी जीवन की चिन्ता करते हैं और आत्महत्या का विचार उनकी चिन्ता का ही परिणाम है।

जीवन के साथ-साथ हम साहित्य को भी इसलिए ढोएं कि वह जीने को बेहतर बनाता है और हमारी योग्यता और क्षमता को संगठित कर दिशा देता है तो आज के तमाम सम-सामयिक साहित्य के प्रमाण और साक्ष्य पर इस प्रतिज्ञा को अस्वीकार करने में कठिनाई नहीं होगी। अर्थात् **आज गहरे-से-गहरे उपयोगपरक अर्थ में भी साहित्य की सार्थकता प्रमाणित करने का प्रयत्न असंगत लगने लगता है।** इसलिए उपयोग (चाहे वह नैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक किसी भी प्रकार का हो) से अलग किसी तात्त्विक बिन्दु से यह अस्तित्व-मीमांसा शुरू करनी होगी।

तात्त्विक बिन्दु से क्यों? क्या ऐतिहासिक परिवर्तन में नई विकसित वास्तविकता की पहचान से यह उत्तर नहीं दिया जा सकता? हमारा पिछला अनुभव और इतिहास साक्षी है कि उस पहचान से उत्तर दिए-पाए जाते रहे हैं। तो क्या उसी तरह आज भी हम अपने उत्तर की तलाश कर कर सकते हैं? क्या परिवर्तन केवल स्वरूप को चुनौती देता है, अस्तित्व को नहीं? क्या कलिदास और तुलसी जिस तरह अपने साहित्य की प्रयोजनीयता का उत्तर पाते हैं उसी तरह आज का साहित्यकार भी अपने 'क्यों' का जवाब पा सकता है? अगर पा सकता है तो सिर्फ स्वरूप को चुनौती मिली है उस 'तरह' को नहीं। हो सकता है कालिदास का उत्तर हमारी सहायता न करे लेकिन 'तरह' तो फिर भी सहायता करेगा। लेकिन ऐतिहासिक परिवर्तन 'तरह' को भी बदलता है, बदल सकता है। 'तरह' तब बदलता है जब मौलिक और मूलभूत परिवर्तन हो जाता है। यही नहीं, ऐतिहासिक परिवर्तन की धारणा भी बिल्कुल भिन्न हो जाती है जो ऐसे बिन्दु पर ले जाकर छोड़ देती है, जहाँ लगता है कोई भी क्रम-प्रक्रिया हमारी सहायता नहीं कर पायेगी। ऐसी हालत में एक नई शुरुआत के सामने हम खड़े हो जाते हैं और अस्तित्व के मूलभूत बिन्दु से हमारे सवाल उभरते हैं।

'किसी' भी 'कुछ' के लिए—अगर वह 'कुछ, अनुपस्थित हो तो भी—जीना हमारी मौलिक क्रिया और बाध्यता है (निश्चय ही जब तक आत्महत्या का निर्णय न कर लिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय)। अब हमारी जीने की यह क्रिया किस तरह के संदर्भों में घिरी है ? क्यों बार-बार ये संदर्भ मानवीय संस्पर्शों को उपहासास्पद और असंगत बना देते हैं ? बार-बार लोगों ने इस तथ्य को लक्षित किया है कि बनाने और रचने के विशेष प्रयत्न के साथ जो जीवन जिया जाता है उसे आज की तकनीकी सभ्यता ने स्वचालित, सामान्य और समानुरूप क्रिया में परिवर्तित कर दिया है, अर्थात् मनुष्य की सर्जक और विशिष्ट प्रकृति स्वचालित सामान्य सांस्कृतिक परिवेश में घिरी हुई है। मानवीय प्रकृति और सांस्कृतिक परिवेश का इतना गहरा विरोध और इतनी गहरी खाई मानव-जीवन ने अपने इतिहास में इस तीखेपन और तात्त्विक रूप में कभी महसूस नहीं की। ऐसी हालत में जीना अगर निर्विशेष सामान्य में बह जाना है तो उसका अस्तित्व कहाँ रहा ? वह जीना केवल मूलप्रवृत्यात्मक है और ऐसे जीवन के लिए 'अर्थ' अर्थहीन हो जाता है। इसके विपरीत जीवन का अस्तित्व कायम रखना आदमी की अपनी प्रतिभा, महत्वाकांक्षा और जिज्ञासा पर निर्भर करता है, जो अपने प्राकृतिक परिवेश से आगे निकल जाना चाहता है और इसलिए उसके प्रयत्न विविध प्रक्रियाओं में प्रतिफलित होने लगते हैं। उसके प्रयत्न की यह विविधता सभी क्षेत्रों में प्रायोगिक विधियों और प्रायोगिक मस्तिष्क की माँग करती है। प्रश्न यह है कि क्या तकनीकी और वैज्ञानिक प्रयोगक्षमता के साथ जीवन के हर क्षेत्र में यह प्रयोगक्षमता उतनी ही तेजी से प्रतिफलित हुई है या हो रही है ? असल में तकनीकी स्वचालन और समनुरूपता और मनुष्य के सर्जक रूप का यह संघर्ष उतना भयानक नहीं है, जितना मस्तिष्क की अप्रायोगिकता और प्रायोगिकता की कशमकश। इस प्रकार सबसे भयानक संकट अप्रायोगिकता का है। दुनिया में सब जगह आधुनिक और आधुनिकतावादी कहे जाने वाले चिन्तकों और साहित्यकारों ने इस अप्रायोगिकता के ही कारण जीवन को असंगतिपूर्ण और निरर्थक घोषित करने का साहस किया—ऐसा मुझे लगता है। मुझे तो कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि अपने प्रायोगिक और गत्यात्मक मस्तिष्क के सहारे वे किसी आत्यन्तिक मूल्य की भी खोज करने लगते हैं और चूंकि अन्तिम स्वयंपूर्ण अर्थ देना इस पद्धति का स्वभाव नहीं और इसलिए भी शायद उन्हें जीवन अर्थहीन लगने लगता है। खैर यह तो उनकी परिणति की कथा है, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि मस्तिष्क के इन दोनों स्वभावों और अनुशासनों की विरोधी प्रतिक्रियाओं के कारण जीवन में बड़ी व्यापक और सर्वग्रासी विसंगति उपजी है; यहाँ तक कि आदमी, उसके आसपास और चीज़ों में कोई रिश्ता ही नहीं रह गया है। बिना रिश्ते के जीना आज की सबसे बड़ी हक़ीकत हो गई है और बिना रिश्ते के किसी तरह की पहचान संभव नहीं है—

मैंने एक बड़े आदमी से पूछा
'तुमने यह कोट कहाँ से पाया'
उसने मुझे घूरकर देखा
और कोट उतारकर फेंक दिया
मैंने उससे पूछा 'तुमने यह चश्मा कहाँ से पाया'
उसने चश्मा भी उतारकर फेंक दिया
और अंधा हो गया !
जब मैंने पूछा
'बड़े आदमी तुम आदमी तो हो न !'
तो वह नंगा हो गया और मर गया।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

आदमी से पूछना कि 'तुम आदमी तो हो न !' इससे सीधा सवाल और क्या हो सकता है ! लेकिन यह छोटा-सा सवाल उसे बेपर्द कर देता है। बड़बोले दर्शन और वाचाल व्यवस्थाएँ इस छोटे-से सवाल से दरक जाती हैं और आदमी अनस्तित्व में घुलने लगता है। फिर या तो जीवन विसंगति के सामने (विरोध में भी) खड़ा हो और अपने अस्तित्व को प्रमाणित करे या फिर अमानुषिक बर्बर संदर्भों में खो जाये, जिसके लिए उसे कोशिश करने की जरूरत ही नहीं है। सामने खड़ा होना और अस्तित्व की मीमांसा और प्रमाण देना आदमी की निरन्तर प्रायोगिकता पर निर्भर है क्योंकि स्थापित प्रमाण और मीमांसा अपने तमाम रिश्तों के साथ अर्थहीन हो चुके हैं। यह संदर्भ किसी ख़ास देश या कि कुछ लोगों का ही नहीं तमाम दुनिया के लोगों का है। उसके उत्पन्न होने के विवरण अलग हो सकते हैं और दिए जा सकते हैं, लेकिन इससे प्रश्न के स्वरूप और विश्लेषण में कोई बहुत बड़ा फ़र्क नहीं पड़ने वाला।

आखिर इस विसंगति में जीने की कोशिश की जाये या नहीं ? अगर नहीं तो हम जी लिए जाएँगे और एक पुर्जे या कि पत्थर के टुकड़े से अलग जीवन की कल्पना असंभव होगी। इस तरह भयानक विसंगति में भी जीने की हरकत और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोशिश संभवतः उसकी अपनी आन्तरिक प्रकृति और प्रक्रिया के लिए जरूरी है न कि अंतिम और स्वयंपूर्ण अर्थवत्ता पाने के लिए।

मान लीजिए यह कोशिश अगर शुरू होती है तो कहाँ से और कैसे होगी ? आदमी जिन छोटी-बड़ी, अच्छी-बुरी, कुरूप-सुन्दर परिस्थितियों में घिरा है उनके भीतर से गुजरने के अलावा वह और क्या कर सकता है। ऐसी हालत में एक-एक परिस्थिति और अनुभव को वह जितना निचोड़ सकता है, निचोड़ ले। लेकिन वह कैसे और क्या निचोड़ेगा सिवा इसके कि तटस्थ सचेतनता के साथ उन्हें झेलने की एक मानसिक तैयारी कर ले। यह मानसिक तैयारी, मेरा खयाल है, बहुत दूर तक परिस्थितियों को बदल देती है और आदमी के गौरव को उभारने लगती है जो निश्चित रूप से उपदेशित और आरोपित गौरव और सार्थकता से भिन्न होती है। आज जीवन की यह बुनियादी शर्त और मौलिक क्रिया है। सवाल यह है कि इस बुनियादी शर्त और मौलिक क्रिया में साहित्यिक क्रियाएँ कहाँ तक उसकी अंगभूत हैं। इस बिन्दु पर जीवन और साहित्य जो अपने-अपने प्रतिमानों के साथ प्रमाणित और भिन्न सत्तात्मक प्रतीति थे उनका अंतर नहीं रह जायेगा और कला और साहित्य अपने बने-बनाये मानदण्डों को लेकर अपनी सार्थकता खोजने का यत्न करेंगे तो वह हास्यास्पद और असंगत क्रिया मात्र होगी।

क्या कारण है कि आज की सारी कला और सारा साहित्य अमानवीय बर्बरतापूर्ण हरकतों में ही संगत और प्रभविष्णु लगता है ? वास्तविकताओं को विरूप और व्यंग्यात्मक पुट देकर गैर-जिम्मेदाराना अंदाज में उछालता है ? उसे क्यों लगता है—

तमाम किताबों के बीच
घिरा हुआ
मैं जानवर सा चुप हूँ।

—गोविन्द उपाध्याय

क्या कारण है कि ज्ञानरंजन की कहानी का आदमी थोड़ी-सी शराब के लिए एक तथाकथित सभ्य आदमी का घंटा बनता है और एक मामूली-सी हँसी आ जाने के कारण बेहद अपमानित होता है और पिटकर रेस्तराँ से नीचे उतर आता है। हँसी जो उसका निजत्व, उसकी जिन्दगी है, पिटकर, अपमानित होकर ही क्यों प्रभावित करती है ? रवीन्द्र कालिया की कहानी का 'छोटा' क्यों बकरा बनता है ? क्या है जिससे उसे यह करना और कहना पड़ता है "तुम्हें कैसे समझाऊँ उससे मेरा कोई ताल्लुक नहीं है। मेरी बात पर यकीन करो और रुक जाओ। वह केबिन की प्रेमिका है। मैं तो सिर्फ बकरा हूँ। मैं केबिन के बाहर के दाँत हूँ। इसी नाटक के लिए पिछली बार मुझे डबल इन्क्रीमेण्ट मिला था। मैं इस नाटक में हिस्सा न लेता तो काला रजिस्टर मुझे खा जाता। मेरा कोई कसूर नहीं, यकीन मानो मैं सिर्फ बकरा हूँ।" और "हालत इतनी बकवास हो गई/कि हर किसी को/आजादी के नाम पर/अदालत जाने की लत पड़ गई है/आदमी की जात कहीं से भी दबोचो/ढीली पड़ गई है/"—लीलाधर जगूड़ी। ये सारे एहसास कविता और साहित्य नहीं हैं क्योंकि "किताबों के भीतर/नजरों का खेल खत्म हो जाने के बाद/कुछ नहीं मिलता है/" इसलिए "तुम्हारे माथे पर/कविता नहीं हाथ रखूँगा/"—लीलाधर जगूड़ी।

जीने की क्रिया और इन पंक्तियों में कोई अन्तर नहीं है और यद्यपि यह जल्दीबाजी हो सकती है, फिर भी कहा जा सकता है कि **आज साहित्य लिखना सिर्फ जीने की मौलिक क्रिया और एहसास है** (यह मूल प्रवृत्त्यात्मक नहीं सचेत प्रयास का प्रतिफलन है) जिसमें इनसे अलग अर्थ कहीं से नहीं आयेगा—

अर्थ उगते हैं/गोया तुमने इन्हें नहीं बोया/
जरूर कहीं कोई छेद है/जो तुम्हारी आँख से होकर उतना नहीं/
जितना तुम्हारे अण्डरवीयर और बनियान से है/

—लीलाधर जगूड़ी

अपने आस-पास की परिस्थितियों में आदमी जिस तरह आज जीता है, ये पंक्तियाँ उस जीने की आंतरिक प्रकृति और प्रक्रिया की अंगभूत हैं। इसके अलावा न उनका कोई उपयोग है न कोई सार्थकता—ऐसा मुझे लगता है। वह हमारी और जीवन की सत्ता का स्वयं प्रमाण है।

साहित्यिक कृतियाँ हमारे पृथक्-पृथक् आचरण हैं। जिस तरह आचरण और कार्य हर व्यक्ति के लिए भिन्न हैं उसी प्रकार वे भी अनन्य और अद्वितीय हैं। जीवन का प्रत्येक क्षण हमारे कर्तृत्व के लिए अवसर देता है और सवाल खड़े करता है। उसका सामना करना हमारे अपने विवेक और प्रयोगधर्मी साहसिकता पर निर्भर करता है। यह अवश्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि ऐसी हालत में जीवन सिर्फ तात्कालिक और साथ-साथ अवधिहीन भी बन जाता है। हमारी समय की धारणा अव्यवस्थित हो जाती है। जीने की शक्ति क्षरित होने लगती है। आदमी अपनी नितान्त निजता में इतना संसक्त हो जाता है कि वह भावनाशून्य हो जाता है और वास्तविकता के प्रति बहुत अधिक शंकालु। तब केवल यही एक चारा रह जाता है कि हम भविष्य में और गतिक्रम में विश्वास रखें, क्योंकि इस विश्वास के बिना हमारी प्रायोगिकता चरितार्थ ही नहीं हो सकती। अक्सर ऐसा होता नहीं, लेकिन लोग अक्सर जीते ही कहाँ हैं?

'अर्थ' या 'क्यों' का जवाब अनुभवों के भीतर से ही दिया जा सकता है और हर-एक की जीवन की भिन्नता के अनुसार उसका उत्तर भिन्न होगा। यह उत्तर सर्वथा निजी और बिना किसी की सहायता के खुद खोजना होता है। हम लोगों का 'क्यों' का प्रश्न उठाना अपने-आप में इस बात का प्रमाण है कि आदमी इसके बिना शायद रह ही नहीं सकता। डॉ० फ्रैंकल ने 'मैन्स सर्च फॉर मीनिंग' में नाज़ियों के कंसेण्ट्रेशन कैम्प की भयंकर यंत्रणाओं का विवरण दिया है और मौत तथा यंत्रणा के भयंकर क्षणों के भीतर से गुज़रते हुए उनके अनुभवों का सार है—"इन मनोवैज्ञानिक स्थितियों के विवरण से ऐसी धारणा बनती है कि मनुष्य संभवतः परिस्थितियों का दास है। तो क्या आदमी में संकल्प जैसी कोई चीज नहीं? क्या उसे अपना रास्ता चुनने का अधिकार नहीं? अनुभव बताता है कि मनुष्य के पास यह अधिकार है। मुझे याद है, ऐसे भी लोग कैम्प में थे, जो दूसरों को सांत्वना देते थे और २४ घंटे में मिलने वाली एक ही रोटी के टुकड़े भी दूसरों को दे देते थे। भले ही ये मुट्ठी-भर ही हों लेकिन ऐसे एक आदमी का अस्तित्व भी इस बात का प्रमाण है कि आदमी का सब-कुछ छीना जा सकता है किन्तु परिस्थितियों के प्रति वह क्या मनोवृत्ति अपनाए यह स्वतंत्रता उससे नहीं छीनी जा सकती।" यही स्वतंत्रता किसी भी चुनौती के सामने आदमी को खड़ा कर सकती है और कुरूप, भदेस, अमानवीय होकर भी आज का साहित्य इसका प्रमाण है, कम-से-कम मुझे ऐसा ही एहसास होता है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक और आलोचक : विकासमानता का प्रश्न

देवराज

'आलोचना—९' में प्रकाशित श्री विष्णु खरे द्वारा की गयी 'जो बँध न सका' की समीक्षा पढ़कर मन में कुछ प्रश्न उठे, जिन पर, एकालाप के रूप में ही सही, विचार करने की प्रेरणा हुई। यों स्मरण होता है कि प्रस्तुत लेखक ने एक बार 'आलोचना' के वर्तमान सम्पादक को यह सुझाव दिया था कि वह 'लेखकीय विकास' के प्रश्न पर अपनी पत्रिका में लिखित परिसंवाद का आयोजन करें। सम्भवतः माननीय सम्पादक को वह सुझाव पसन्द नहीं पड़ा—शायद इसलिए कि उक्त प्रश्न को एक उत्तेजक बहस का रूप नहीं दिया जा सकता था। या फिर यह कि ऐसे प्रश्नों का अनुचिन्तन आलोचना-प्रत्यालोचना की प्रचलित शैलियों के अनुकूल नहीं पड़ता। श्री विष्णु खरे की समीक्षा जिस स्वर और तर्ज में लिखी गई है वह वाद-विवाद की प्रचलित शैलियों का कम-बढ़ प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए उसके द्वारा उकसाये गये प्रश्नों का सम्बन्ध आधुनिक हिन्दी के, समग्र नहीं तो अधिकांश, समीक्षात्मक लेखन से हो सकता है।

श्री खरे के संक्षिप्त समीक्षा-लेख का शीर्षक है, 'आदतन लिखते रहने की नियति'। उनका कहना है कि : 'गिरिजा-कुमार तथा उनके हमउम्र कवि के सामने उनकी वरिष्ठता एक विचित्र समस्या उपस्थित करती है। वह इकट्ठे तीन चीजें होना चाहते हैं—अग्रणी, समसामयिक तथा जैसे वह वास्तव में हैं।' श्री खरे द्वारा प्रयुक्त पदावली के अनुसार समस्या बहुत-कुछ मनोवैज्ञानिक है—तथाकथित वरिष्ठ लेखक कुछ 'होना' चाहते हैं। इस मनोवैज्ञानिक अथवा विशिष्ट जीवनियों से सम्बन्धित (बायोग्रैफिकल) प्रश्न में—जिसके एक समीक्षात्मक लेख में उठाये जाने के औचित्य में शंका की जा सकती है—हमें एकदम ही रुचि नहीं है। हम यह भी नहीं मानना चाहेंगे कि प्रश्न केवल 'सामयिक' या 'समसामयिक' है। किसी सांस्कृतिक परिवेश में कौनसे प्रश्न 'सामयिक' या 'समसामयिक' समझें जायेंगे—यह मुख्यतः इस पर निर्भर करता है कि संस्कृति-विशेष के लेखकों और प्रवक्ताओं का स्तर क्या है। मनुष्य-जीवन के चरम अर्थ अथवा नियति का प्रश्न, एक तरह से, चिरन्तन प्रश्न है; वह चिर-सामयिक प्रश्न भी है, इस अर्थ में कि—विशेषतः ऐसे युगों में जब धर्मग्रन्थों में आस्था खत्म हो चुकी हो—हर बड़े लेखक और (दार्शनिक) विचारक को किसी-न-किसी रूप में, उससे उलझना पड़ेगा। सच यह है कि मानव-संस्कृति के इतिहास में समझदार लेखकों-विचारकों द्वारा पूछे गये अधिकांश प्रश्न, कमोबेश परिवर्तित रूप में, आज के लिए भी महत्त्वपूर्ण बने हुए हैं। यह दूसरी बात है कि किसी वर्तमान संस्कृति या समाज मे, कुछ मानसिक ऊर्जा की कमी या सीमित मात्रा के कारण, कुछ फैशनपरस्ती या गतानुगतिकता के प्रभाव से, और कुछ युगीन रुचियों की एकांगिता के सबब से, सिर्फ कुछ प्रश्नों को ही महत्त्वपूर्ण करार देकर विवाद और विमर्श का विषय बनाया जाय। उदाहरण के लिये पिछले दशक (१९५१-६०) में हिन्दी जगत् के समीक्षात्मक चिन्तन का एकमात्र विषय था—प्रयोगवाद; वर्तमान दशक (१९६१-७०) के समीक्षकों के बीच एक प्रच्छन्न-सा समझौता रहा है कि 'प्रयोग' का विषय उतना महत्त्वपूर्ण या उल्लेखनीय नहीं है। क्लॉसिकी लेखकों एवं चिन्तकों पर लिखनेवालों की एक उपयोगिता यह भी होती है कि वे पुराने या पिछले प्रश्नों की ओर वर्तमान पीढ़ी का ध्यान दिलाएँ; लेकिन, सौभाग्यवश, नई पीढ़ी के हिन्दी-लेखक इस तरह के किसी बोझे को ढोते हुए चलना पसन्द नहीं करते। एक दशक में सिर्फ एक प्रश्न, एकाध वाद (जैसे रसवाद या छायावाद) अथवा लेखक (अज्ञेय, मुक्तिबोध) की बुराई-भलाई पर बहस करते हुए वे अपनी बौद्धिक जिज्ञासा और ऊर्जा दोनों के प्रति पूरा-पूरा न्याय कर लेते हैं। दूसरी दृष्टि से यह कहा जा सकता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि, विशेषतः हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं का क्षेत्र, उस तरह के प्रश्नों को छेड़ने के लिए उपयुक्त नहीं होता जो उक्त सीमित अर्थ में 'समसामयिक' नहीं है।

हमारा निवेदन है कि 'आदतन लिखते रहने की नियति' एक लेखक की भी हो सकती है, और समीक्षक की भी; दूसरे वह नियति किसी भी युग के लेखक-समीक्षक की हो सकती है। इसलिए श्री खरे द्वारा उठाया गया प्रश्न सिर्फ 'समसामयिक' नहीं है, और उसका सम्बन्ध एक या दूसरे लेखक से जोड़ा जाना भी उचित प्रतीत नहीं होता।

वरिष्ठ होने की नियति, जीवधर्म के नाते, सभी के हिस्से में पड़ती है। यहाँ एक रोचक प्रश्न उठता है: एक लेखक को किस उम्र तक लिखना चाहिए? कब वह इतना वरिष्ठ हो जाता है कि उसका लेखन 'युग के लिए अनुपयोगी' होने लगता है? कालिदास आदि के बारे में हमारे पास ठीक सूचना नहीं है (संभवतः सूर-तुलसी के बारे में वैसी सूचनाएँ उपलब्ध हैं। या नहीं हैं?), लेकिन मेरा अनुमान है कि विश्व के अनेक बड़े लेखक—प्लेटो, अरस्तू, कान्ट, हेगेल, गेटे, बर्गसाँ, हाइडेगर, ह्वाइटहेड, आदि—काफी उम्र तक लिखते रहे; इनमें से कुछ के काफी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बड़ी अवस्था में लिखे गये। सार्त्र और रसेल अभी तक लिख रहे हैं—रसेल की महत्त्वपूर्ण 'हिस्टरी ऑफ़ वेस्टर्न फिलासफी' संभवतः ७६ वर्ष की अवस्था में लिखी गयी थी और उसकी आत्मकथा कुछ ही वर्ष पहले निकली है।[1]

कुछ लोगों की दृष्टि में एक अन्य प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है। दुनिया के साहित्य को कुछ देने की आकांक्षा रखनेवाला लेखक किस उम्र में, लेखन का प्रश्न छोड़ भी दें तो, अपनी कृतियों का प्रकाशन शुरू करे? एक रईस लेखक अपनी स्कूल की उम्र में लिखी गई कृतियों का प्रकाशन कर सकता है; लेकिन यह देखते हुए कि देश की कागज़ आदि सम्पत्ति सीमित होती है, वैसे प्रकाशन को प्रोत्साहन देना उचित नहीं कहा जा सकेगा। (यों हमारी कम उन्नत भाषाओं में स्थिति उलटी ही है; यहाँ घटिया जासूसी उपन्यास और 'आवारा' तथा 'गुलशन नन्दा' जैसे लेखकों की रचनाएँ धड़ल्ले से प्रकाशित होती और बिकती हैं।) मेरा संकेत एक ज्यादा बड़े प्रश्न की ओर है: कब, किस निम्नतम अवस्था तक पहुँचने पर, हम किसी लेखक से सही तौर पर यह आशा कर सकते हैं कि वह हमारे साहित्य को कमोबेश प्रौढ़ कृतियाँ दे सके? माना जा सकता है कि विभिन्न लेखकों में प्रतिभा का योग कम-बढ़ होता है; बुद्धि और जिज्ञासा के अनुपात में उनकी 'सीखने' की रफ्तार भी अलग-अलग हो सकती है। फिर भी, यह देखते हुए कि आज के मनुष्य को, ज्ञान-विज्ञान और हर तरह के साहित्य के अपार विस्तार के कारण, अपने को सुशिक्षित बनाना एक लम्बा काम है, इस सम्भावना को स्वीकार किया जा सकता है कि एक खास उम्र तक पहुँचे बिना कोई लेखक सचमुच ऐसी कृति का प्रणयन नहीं कर सकता जो समझदार पाठकों को आकृष्ट कर सके। या कर सकता है? हिन्दी में—पता नहीं इसे सौभाग्य कहा जाए या दुर्भाग्य—अभी तक रोमांटिक साहित्यशास्त्र की यह धारणा प्रचलित है कि सर्जनशील प्रतिभा को विशेष शिक्षा-दीक्षा की ज़रूरत नहीं है। सिद्धान्त में नहीं तो व्यवहार में—इसके बावजूद कि आज के अधिकांश लेखक छायावादी मनोवृत्ति के विरोध को अपना पवित्र और क्रान्तिकारी कर्तव्य मानते हैं—हिन्दी साहित्य-जगत् की यह प्रचलित धारणा है कि अच्छा लेखन करने के लिए इतना काफी है कि लेखक-विशेष, जन्म-तिथि और ज़िन्दगी की परिस्थितियों के हिसाब से, तथाकथित नई पीढ़ी का सदस्य हो। जहाँ तक शिक्षा का प्रश्न है, यह काफी समझा जाता है कि उसने एम० ए० की डिग्री ले ली हो (पी०-एच० डी० की उपाधि नौकरी के लिए ज़रूरी समझी जाती है, न कि लेखन के लिए)। इसके अलावा उदीयमान लेखक का अस्तित्ववाद, बीटनिक साहित्य आदि से चलताऊ परिचय होना आवश्यक माना जा सकता है। यदि आइन्स्टाइन, विटगैन्सटाइन जैसे कुछ नामों से परिचय हो तो, रौब जमाने की दृष्टि से, उपयोगी है। इस सबके अलावा सिर्फ इतना और अपेक्षित है कि उसका लिखने और बोलने का एक खास अन्दाज़ हो—वह 'वस्तुतः' की जगह नियम से 'दर-असल', 'रचना' या 'संरचना' की जगह रचाव, बनावट या बुनावट जैसे शब्दों का प्रयोग करे; वगैरह-वगैरह। पता नहीं नया और महत्त्वपूर्ण लेखक बनने के ये नुसखे अंग्रेज़ी, फ़्रैन्च आदि भाषाओं के साहित्यकारों को अभी तक ज्ञात हो सके हैं या नहीं। कम-से-कम इस मामले में हिन्दी के युवा लेखक विश्व के साहित्यिकों को बहुत-कुछ

१. बर्ट्रैंड रसेल की ६७-६८ वर्ष की अवस्था में ३ फ़रवरी, १९७० को मृत्यु हो गयी। सार्त्र की अवस्था इस समय ६५ के लगभग होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिखा सकते हैं।

इधर नयी पीढ़ी से नये अनुभव पर विशेष ज़ोर दिया दिया जाने लगा है। चूंकि तथाकथित वरिष्ठ लेखकों का अनुभव अपने समय की नयी पीढ़ी के समान नहीं होता, इसलिए उन्हें लिखते रहने का अधिकार नहीं रह जाता। हमारी सम्मति में इस तरह की मान्यता एक अर्ध-सत्य है। हर लेखक और हर पीढ़ी का लेखक, स्वभावतः अपने अनुभव को अभिव्यक्ति का विषय बनाता है; इसमें शिकायत की बात क्या है? देश के इतिहास में कुछ वर्ष और दशक अन्न की कमी या बेकारी के हो सकते हैं और कुछ अपेक्षाकृत ज्यादा अच्छी स्थिति वाले। निश्चय ही इन स्थितियों का समसामयिक मनोवृत्ति, नैतिकता और दृष्टि पर असर पड़ता है। यों, अपनी-अपनी आर्थिक-सामाजिक स्थिति के हिसाब से, हर लेखक का अनुभव और मनोवृत्ति भिन्न हो सकती है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि किसी खास अनुभूति को शब्दबद्ध करने वाला साहित्य आवश्यक रूप में अच्छा या बुरा होता है। आज हम कालिदास, शेक्सपियर और टॉलस्टाय को इसलिए पढ़ना और सराहना बन्द नहीं कर देते कि उनकी अनुभूतियाँ हमारे युग के अनुभव से भिन्न थीं। यदि नई पीढ़ी के इस तर्क को छोर तक पहुँचाया जाए तो निष्कर्ष यह होगा कि एक दशक या पीढ़ी का लेखन सिर्फ उसी दशक या पीढ़ी के लिए होता है, और यह कि उसका सही मूल्यांकन उसी दशक या पीढ़ी में हो सकता है। सम्भव है आज के कुछ लेखकों की महत्त्वाकांक्षा इतनी सीमित हो, लेकिन हम उस महत्त्वाकांक्षा को स्वस्थ और दाद देने लायक मनोवृत्ति का सूचक नहीं कह सकेंगे। किन्तु हम श्री खरे से इस बात में पूर्णतया सहमत हैं कि किसी लेखक को उस अनुभूति को प्रकट करने का दावा और कोशिश नहीं करनी चाहिए जो उसकी अपनी नहीं है।

हमारी मान्यता है कि किसी भी लेखक को तब तक लिखते रहने का अधिकार है जब तक, एक शब्द में, वह विकासशील है। असली महत्त्व का प्रश्न यह है कि इस विकासशीलता का स्वरूप और पहचान क्या है।

एक अर्थ है जिसमें किसी व्यक्ति या लेखक की अनुभव-क्षमता एक खास उम्र तक ही सक्षम और क्रियाशील बनी रहती है। साहित्य-सर्जना की दृष्टि से अर्थवान् एवं महत्त्वपूर्ण अनुभव वह है जो हमारे समूचे अस्तित्व को झकझोरता या संसक्त बना लेता है।

शुरू उम्र के अनुभवों में कुछ आवेग प्रधान रहते हैं; तब शायद प्रकृति, और खास उम्र के स्त्री-पुरुष ज्यादा दिलचस्पी जगाते हैं। लेखक की अपनी और आसपास की संघर्षमूलक आर्थिक स्थितियाँ और विषमताएँ भी आक्रोश और गुस्से से भरी प्रतिक्रियाएँ उकसाती हैं। शुरू की जिन्दगी में हर लेखक, शायद, द्रष्टा की अपेक्षा भोक्ता अधिक होता है। यों तो साहित्यकार सदा ही जीवन में आसक्ति रखनेवाला व्यक्ति होता है, पर एक तरह की आसक्ति है जो क्रमशः द्रष्टा की अनासक्ति से सम्पृक्त हो जाती है। उस स्थिति में लेखक स्वयं अपने भोगे हुए जीवन को मनुष्यमात्र के जीवन का प्रतीक मानते हुए देखना, आँकना और चित्रित करना सीखता है। सम्भवतः यहीं से उस प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है जो लेखक को प्रौढ़ता के धरातल पर ले जाती है। जीवन को आँकने की क्रिया में जैसे-जैसे विकास होता है, वैसे-वैसे लेखक उसे इतिहास और संस्कृति के व्यापक परिवेश में रखकर देखने का अभ्यस्त बनता है।

संक्षेप में, लेखकीय विकास के क्रमों के आयाम नैतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक या दार्शनिक हैं। इन आयामों में समुचित प्रवेश पाने के लिए यह ज़रूरी है कि लेखक गहरे अर्थ में पृच्छाशील और अन्वेषी हो—वह सहज ही किसी नये-पुराने वाद या फ़ैशन के प्रति आत्मसमर्पण कर देनेवाला न हो। अन्ततः बड़ा लेखक प्रखर और गहरे व्यक्तित्व-सम्पन्न लेखक होता है। इस तरह का व्यक्तित्व जहाँ लेखक को केवल सामयिक फ़ैशन या आन्दोलन की बाढ़ में बह जाने से रोकता है, वहाँ वह उसे इतना आत्म-विश्वास भी देता है कि वह तरह-तरह के विरोधों और विरोधी आलोचनाओं की ज्यादा परवाह न करके, चुपचाप, अपने अनुभव को गठित करते हुए, उपयुक्त अभिव्यक्ति के माध्यमों की खोज करता रहे।

जो लेखक जितना ही बड़ा होता है, वह अपने और विगत युगों के ज्ञान-विज्ञान, चिन्तन और लेखन का उतना ही ज्यादा ऋणी होता है। एक महत्त्वपूर्ण लेखक का व्यक्तित्व, उसकी चेतना और दृष्टि, जिन अनगिनत प्रश्नों और समाधानों, उलझनों और द्वन्द्वों की कशमकश में गुज़रकर प्रौढ़ता प्राप्त करती है उनकी गहरी पकड़ और परिचय सिर्फ चन्द लेखकों, दो-चार आन्दोलनों और साहित्यिक इतिहास के दस-बीस वर्षों की सीमा में बँधे रहकर नहीं हो जाता। उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए लेखक को मानवीय जीवन और संस्कृति का लम्बा लेखा-जोखा लेना पड़ता है। अन्ततः युग-युग का द्रष्टा बनने लायक जीवनी शक्ति और योग्यता से (जो प्रतिभा और परिश्रम का यौगिक है) सम्पन्न लेखक ही युग का महत्त्वपूर्ण लेखक बन सकता है। जिन्हें लेखकीय विकास की ये शर्तें ज्यादा सख्त जान पड़ें, उनसे निवेदन है कि वे ठीक-ठीक अन्दाज़ा लगाने की कोशिश करें कि कालिदास और भवभूति, सूर और तुलसी, दान्ते और वर्जिल, टॉल्स्टाय, जेम्स ज्वायस, इलियट—वे कोई भी लेखक जो इतिहास पर थोड़ी-बहुत छाप छोड़ सके हैं—कहाँ तक अपने समय के प्रबुद्ध सांस्कृतिक बोध से सम्पन्न थे, और कहाँ तक जीवन की महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक समस्याओं का गहराई से अनुभव कर सके थे।

श्री खरे ने चलते-चलते टी० एस० इलियट के 'फोर क्वार्टेट्स' और उसकी प्रसिद्धि का संकेत किया है। निःसन्देह, उन्हें पता होगा कि इलियट की 'संस्कृति' 'इतिहास' और 'अध्यात्म' (विशेषतः ईसाई धर्म) में गहरी अभिरुचि थी। निश्चय ही इलियट की मान्यता का श्रेय दसवर्षीय आन्दोलनों और दससाला लेखन का ख्यापन करने वाले हिन्दी-समीक्षकों की विवेक-बुद्धि को नहीं दिया जा सकेगा। यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिस देश में रहकर इलियट ने अपना लेखन किया वहाँ 'इतिहास' की सस्ती (यानी जोशीली) अवज्ञा का चलन नहीं था; वहाँ ट्वायनबी जैसे लेखक बारह जिल्दों में इतिहास की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। स्मरण होता है कि श्री गिरिजाकुमार माथुर ने, धर्मयुग में प्रकाशित अपने किसी लेख में, दो-तीन पंक्तियों में 'मानववाद' को असामयिक या कुछ ऐसा ही कहकर बरखास्त कर दिया था। अपने देश में साहित्य और चिन्तन की प्रगति के लिये शायद यह बिलकुल ही ज़रूरी नहीं है कि किसी विचार या प्रश्न को संजीदगी से लिया जाय। हिन्दी-जगत् में प्रचलित होनेवाले वाद भी बहुत-कुछ जटिलताओं से मुक्त और एकांकी होकर रह जाते हैं; किसी मसले को इतनी गंभीरता से लेना कि उस पर, भूल से भी, कोई छोटी-मोटी 'क्लासिक' कही जा सकनेवाली पुस्तक तैयार हो जाय, यह हमें सह्य नहीं है। उदाहरण के लिए, हमने पिछले दशक में प्रयोगवाद पर पूरे ज़ोर-शोर से चर्चा की, लेकिन प्रयोग के विभिन्न रूपों और आयामों को उद्घाटित करनेवाली एक सौ पृष्ठ की सुचिन्तित एवं सुसंघटित पुस्तिका तैयार करने की भूल नहीं की। हम, शायद विनम्रतावश, यह महत्त्वाकांक्षा पालने की धृष्टता नहीं करते, कि हमारे अपने दशक में चलनेवाले बहस-मुबाहसे की कोई ऐसी यादगार रह जाय जो हज़ार-पाँच सौ नहीं तो सौ-दो सौ वर्ष बाद तक भी जातीय मस्तिष्क को किसी तरह की उत्तेजना या प्रेरणा दे सके। हमारी अधिकांश शक्ति पिछले दशकों को कोसने और अपनी परिपूर्ण आधुनिकता का राग अलापने में खत्म हो जाती है।

हम कह रहे थे कि लेखकीय व्यक्तित्व के विकास का अर्थ उसकी नैतिक-आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चेतना का विकास और परिष्कार है। लेखक के लिए विकासशीलता का अर्थ है सांस्कृतिक सम्पन्नता और निजी जीवन-दृष्टि के निर्माण की ओर उन्मुखता। लेखन के लिए अनुभव आवश्यक है, लेकिन केवल अनुभव का महत्त्व सीमित है। जिन्हें दुनिया का ज्यादा अनुभव है, वे आवश्यक रूप में बड़े लेखक बन जायँ, यह जरूरी नहीं है। इसके विपरीत अक्सर देखा जाता है कि खासतौर से वे लेखक जो अपने समाज में फैले तरह-तरह के भ्रष्टाचार से—बड़े व्यवसायियों, नेताओं, सरकारी कर्मचारियों, पुलिस आदि की कुटिलताओं से—ज्यादा घना परिचय रखते हैं, अपने में एक तरह की 'सिनिसिज़्म' पैदा कर लेते हैं, जो उन्हें मूल्यों-सम्बन्धी सूक्ष्म विभेद देखने में अक्षम बना देती हैं। अच्छा लेखक सिर्फ तात्कालिक जीवन की परिस्थितियों को ही नहीं देखता, वह उन उच्च प्रवृत्तियों की उपेक्षा भी नहीं करता जिनकी सिर्फ झलकें ही दिखायी पड़ती हैं। व्यक्तिगत या जातीय जीवन द्वारा उकसायी जाने वाली सब तरह की कटुता या 'सिनिसिज़्म' से ऊपर उठकर अच्छी और ऊँची प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना—पाठकों में उस तरह का विवेक पैदा करना जो भलाई-बुराई, ऊँचाई-नीचाई के सूक्ष्म प्रभेदों को देख सके—लेखक का विशेष दायित्व होता है।

लेखक की सांस्कृतिक सम्पन्नता—उसकी नैतिक-आध्यात्मिक-बौद्धिक दृष्टि की जटिलता—उसके साहित्य को कई तरह से प्रभावित करती है। सच यह है कि वह उसकी रचना में प्रकट होनेवाली अनुभूति के प्रत्येक अवयव और उसकी समग्रता को विशेषित करती है। लेखक की सांस्कृतिक अवगति का पहला और सीधा प्रभाव यह होता है कि वह जीवन की विभिन्न स्थितियों और उनसे सम्बद्ध अनुभवों को कम-बढ़ महत्त्व देना सीखता है। कोई स्थिति या घटना वहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक महत्त्वपूर्ण होती है जहाँ तक वह किसी मनोवैज्ञानिक, नैतिक या दूसरे वैसे तथ्य या मूल्य का वहन और उद्घाटन करती है। मतलब यह कि लेखक की चयन-क्रिया लगातार उसकी सांस्कृतिक दृष्टि से नियन्त्रित रहती है। आज के युग में शास्त्रीय अन्वेषणों की विविधता और व्याख्या-प्रकारों तथा दृष्टियों की अनेकता व आपसी विरोध के कारण एक ही स्थिति या घटना अनेक, कभी-कभी विरोधी, मूल्यों के संकेत दे सकती है। तात्पर्य यह कि आज के सजग साहित्यकार का मूल्य-बोध अनेकरूप और जटिल है; यह जटिलता लेखक के समूचे अनुभव को, उसकी सांस्कृतिक सम्पन्नता के अनुपात में, उलझा हुआ और तनावपूर्ण बना देती है। अनुभव की यह विविधरूपता जहाँ लेखकीय प्रतिक्रियाओं की संभावनाओं में वृद्धि करती है, वहाँ वह उसकी अपने अनुभवों को समेटने और संघटित करने की क्रियाओं को कठिन भी बना देती है।

सांस्कृतिक दृष्टि के दबाव से जहाँ हमारे अलग-अलग होनेवाले अनुभव जटिल और विविध रूप अख्तियार करते हैं, वहाँ जीवन की समग्रता—उसकी अर्थवत्ता और नियति से सम्बन्धित प्रश्न—लेखक के सामने उपयुक्त गौरव और, उसके प्रतिबिम्बभूत शिल्प की, दूसरी समस्याएँ खड़ी कर देते हैं। इन दूसरी कोटि की समस्याओं से उलझता हुआ लेखक माध्यम और शिल्प के तरह-तरह के प्रयोग करने को बाध्य हो जाता है।

जिसे हम सांस्कृतिक सम्पन्नता या दृष्टि और चेतना की जटिलता कहकर पुकार रहे हैं वह लेखक के सर्जन-प्रयत्नों को मुख्यतः दो रूपों में नियन्त्रित एवं प्रभावित करती है। प्रथमतः वह लेखक की चयन-क्रिया को निर्धारित करती हुई उसे समझदार पाठकों के लिए अधिक रोचक बनाती है। एक बड़े आकार के उपन्यास को प्रस्तुत करने वाला लेखक यदि सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न मूल्य-चेतना से सम्बन्धित उलझनों, विसंगतियों और शब्दों या तनावों की पर्याप्त अवगति रखने वाला नहीं है, तो वह स्तरीय पाठकों की दिलचस्पी को कायम नहीं रख सकेगा। प्रेमचन्द के, और उनके ढंग पर लिखने वाले दूसरे कई लेखकों के, अधिकांश उपन्यास यदि आज के पाठक को रोचक नहीं जान पड़ते तो उसका प्रमुख कारण उनमें सन्निहित मूल्य-बोध और बौद्धिक अवगति की सरलता या सादगी है। 'गोदान' के कुछ अंश भी, जैसे मेहता और मालती से सम्बन्धित प्रसंग—इस सादगी से आक्रान्त हैं। यों 'गोदान' में ग्राम्य-जीवन का चित्रण उसकी पूरी सांस्कृतिक जटिलता में हुआ है, जिसके कारण वह उपन्यास स्तरीय बन सका है। एक प्रकार से कालिदास के मूल्य-बोध में भी उलझन और तनाव के तत्त्व नहीं हैं—वैसे तत्त्व इधर के युगों की सांस्कृतिक चेतना की निजी चीज़ हैं—किन्तु कालिदास का भारतीय संस्कृति-बोध के जटिल और ऊँचे रूपों से पूरा-पूरा परिचय है।

ऊपर के विवेचन का एक निष्कर्ष यह है कि संस्कृति-सम्पन्न लेखक की रचना में अनावश्यक विस्तार नहीं होता; वहाँ अर्थपूर्ण और आवश्यक विस्तार ही रहता है। एक जटिल भाव-बोध वाले लेखक को, ठीक और स्पष्ट गौरव देने की कोशिश करते हुए, इतना-कुछ कहने को रहता है कि वह, कदम-कदम पर, मितभाषी होने को बाध्य होता है।

भाव-बोध की जटिलता, और अपनी जीवन-सम्बन्धी संवेदना और दृष्टि को अनेक सन्दर्भों में उचित गौरव के साथ प्रकाशित करने की बेचैनी, लेखक को लगातार सृजनशील बने रहने की प्रेरणा देती है। इसके विपरीत, अपनी लेखन-यात्रा के दौरान में, जो साहित्यकार अपनी सांस्कृतिक चेतना को विकासशील नहीं रख पाता, वह कुछ वर्षों के बाद, अपने को चुका हुआ पाने लगता है। जैसा कि हमने पहले संकेत किया था वरिष्ठ साहित्यकार से हम नयी अनुभूतियों की आशा नहीं करते; उससे हम यह ज्यादा बड़ी अपेक्षा करते हैं कि वह हमें जीवन-स्थितियों और उनमें अनुस्यूत मूल्यों के जटिलतर क्रिया-प्रतिक्रियामूलक सम्बन्धों की अवगति देते हुए पाठकों और जातीय परम्परा के सांस्कृतिक बोध को समृद्ध करें।

अन्ततः चेतना के विस्तार और गहराई के आयाम परस्पर सम्बद्ध और अन्योन्याश्रित होते हैं। ज्यादा महत्त्वपूर्ण बोध या अवगति वह है जो, कुछ पात्रों द्वारा युगजीवन को और युगबोध के द्वारा इतिहास में फैले मानवजीवन को उद्भासित करती है। हमारे लिए गहरे अर्थ में प्रभावशाली या महत्त्वपूर्ण वह है जो सम्पूर्ण मानव जाति और उसके इतिहास के लिए सार्थकता रखता है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य का इतिहास सिर्फ उसका राजनैतिक और आर्थिक इतिहास ही नहीं है; वह उसकी आस्थाओं, उसके सौन्दर्य-बोध और नीति-बोध, उसकी नियति-सम्बन्धी धारणाओं और सम्भावनाओं का इतिहास भी है। साहित्यकार की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टि में मनुष्य का इतिहास मुख्यतः उसके सुख-दुख की संभावनाओं और उसके मूल्य-बोध का इतिहास है। साहित्यकार के समस्त प्रयत्न, उसका समूचा कृतित्व, इस इतिहास की कड़ी बनने और उसे आगे बढ़ाने के लिए होता है।

अन्ततः लेखक और आलोचक दोनों के विकास की दिशाएँ वही होती हैं। विकसित साहित्य या साहित्यकार अनुभव और मूल्यबोध के जिन आयामों को अभिव्यक्ति देता है—और ऐसा करते हुए जिन उलझनों और जटिलताओं से जूझता है—उनका संश्लिष्ट विश्लेषण और अभिव्यक्ति देने वाले शिल्प का उद्‍घाटन और मूल्यांकन, यही आलोचक के मुख्य कार्य हैं। इसका एक निष्कर्ष यह है कि संस्कृति-सम्पन्न समीक्षक ही वैसे साहित्य की माँग करते हुए उसका समुचित विश्लेषण और मूल्यांकन कर सकते हैं। यह भी सही है कि, अन्ततः, बड़ी कृतियों की समुचित परीक्षा-समीक्षा कर सकने और करनेवाला आलोचक ही अपने कृतित्व को आपेक्षिक स्थायित्व दे पाता है। यों, समीक्षा के इतिहास में, चिन्तक समीक्षक ही—जिनमें अधिकांश स्वयं लेखक थे, यानी साहित्यकार या दार्शनिक—क्लासिकों की श्रेणी में पहुँच पाये हैं।

हम लेखकीय विकास के आयामों की चर्चा कर रहे थे। पुराने युगों में विविध मूल्यों—मूल्य-बोधों—का आकलन और उनका सर्जनात्मक (रचनात्मक) विस्तार महज़ बुद्धि, प्रतिभा और परिश्रम की अपेक्षा रखता था; आज द्वन्द्व-मूलक तनाव उसकी आवश्यक शर्त बन गया है। इधर कविता के नये प्रतिमानों में तनाव की अक्सर चर्चा होती रही है। यहाँ हम सिर्फ एक बात पाठकों के विचारार्थ रखेंगे। तनाव के लिए प्रतिबद्धता या उसकी ओर नैसर्गिक रुझान एक आवश्यक स्थिति है। जिस लेखक में ये वृत्तियाँ जितनी गहरी होंगी, वह, विपरीत साक्ष्य या दबावों की उपस्थिति में, उतना ही ज्यादा तनाव महसूस करेगा। साधारण लेखक तनावहीन रूप में आदर्शवादी होते हैं; कुछ का तनाव अखबारी स्तर की समस्याओं को लेकर होता है। ऐसे लेखकों की रचनाएँ जल्दी ही समझदार पाठकों के लिए बासी पड़ जाती हैं। ज्यादा बड़े प्रश्नों में एक तरह की चिरन्तनता, चिरनवीनपन, रहता है; उन पर केन्द्रित तनाव भी सदाबहार रूप में दिलचस्प लगता है।[1]

लेखकीय विकास के प्रश्न की उपेक्षा के खराब परिणाम मुख्यतः लेखकों को ही झेलने पड़ते हैं, विशेषतः प्रतिभा-संपन्न लेखकों को। शुरू यौवन में किसी आन्दोलन के अंग बनकर सहज प्रशंसा पाते हुए ये लेखक क्रमशः उस साधना से विरत हो जाते हैं जो लेखक-चेतना के बहुमुखी विकास के लिए जरूरी है। 'डिबंकिङ्' और छिछले विद्रोही नारों के साथ ज़िन्दगी का प्रारम्भ करते हुए युवा लेखक बड़ी समस्याओं से गंभीरता के साथ उलझने की मनोवृत्ति बनाने के अयोग्य बन जाते हैं, फलतः दस-बारह वर्ष के भीतर ही उनके सर्जन-प्रयत्न शिथिल और रचनाएँ आवृत्ति-परक होने लगती हैं। लेखक को वरिष्ठ होकर, अपने देखे-सोचे को नई, सशक्त अन्विति में ढालने के प्रयत्न में, ज्यादा प्रौढ़ सृष्टि कर सकनी चाहिए—यह अपेक्षा हिन्दी जगत् में नहीं की जाती। आन्दोलनों का कोलाहल युवा लेखक को, फिर चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो, एकांकी दृष्टि के घेरे में खींच कर जीवन और इतिहास की उन अनगिनत भंगिमाओं और

---

१. इधर के दो महत्त्वपूर्ण हिन्दी उपन्यासों—'मैला आँचल' और 'राग दरबारी'—के लेखकों में प्रतिबद्धता-मूलक तनाव नहीं दीखता। फणीश्वर रेणु समस्त जीवन को विनोदपूर्ण स्वीकृति देते जान पड़ते हैं, श्रीलाल शुक्ल सब-कुछ पर व्यंग्य कसते हुए। यों दोनों उपन्यास प्रखर रूप में बौद्धिक हैं। 'राग दरबारी' में दूसरी तरह का तनाव है—अर्थात् पाठकों की प्रत्याशाओं—पक्षपातों और चित्रित परिस्थितियों के बीच। (ऐसा ही कुछ तनाव शरच्चन्द्र के 'शेष प्रश्न' में है।) 'मैला आँचल' में, शायद, मूल्यों के तारतम्य को नकारने की, सब-कुछ को समान भाव से, विनोद की मुद्रा में, देखने की-प्रवृत्ति पाठक की चेतना को झकझोरती है। संभवतः तनाव-हीन, एकरस दृष्टि इस कोटि के लेखकों द्वारा दूसरी, भिन्न कोटि की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत किये जाने में बाधक हो जाती है। (आधा पढ़ जाने पर 'राग दरबारी' की एकरसता भी खलने लगती है।) प्रश्नों और चरित्रों के सरलीकरण की प्रवृत्ति और कमोबेश अखबारी (आर्यसमाजी ?) स्तर का नैतिक तनाव एवं द्वन्द्व प्रेमचन्द तथा उनके समानधर्मा लेखकों में पाया जाता है। मूल्यों की अपेक्षा में गहरी प्रतिबद्धता सुचिन्तित आस्था और विकसित व्यक्तित्व की माँग करती है—वह कच्चे मस्तिष्क की हठवादिता मात्र नहीं है। तनाव की सशक्त अभिव्यक्ति के लिए यह जरूरी है कि लेखक या उसका प्रमुख पात्र (नायक या नायिका) विरोधी तथ्यों और स्थितियों का दूर तक साक्षात्कार और मुकाबला करे, न कि उनकी अनदेखी। शायद कमजोर भावुकता और दृढ़ आस्था-मूलक प्रतिबद्धता में यही मुख्य अन्तर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जटिलताओं को देखने के अयोग्य बना देता है जिनकी तीखी अवगति लम्बे मानसिक विकास की भूमिका तैयार करती है। युवा अवस्था ज़िन्दगी और उसे देखने के कोणों की विविधता से परिचित होने का समय है, न कि कठमुल्लापन की स्पिरिट में किसी एकांगी वाद को पकड़ बैठने का; विद्रोह और क्रान्ति, सन्देह और अनास्था की आबहवा से गुज़रते हुए युवा मानस को, महापुरुषों और बड़ी कृतियों के निकट संपर्क में, क्रमशः सौन्दर्य, शुचिता, निष्ठा और श्रद्धा की वृत्तियों से परिचय करने की कोशिश करनी चाहिए। उनमें इतिहास के प्रति अपने दायित्व की चेतना और उसे आगे बढ़ाने की महत्त्वाकांक्षा भी जागृत होनी चाहिए। इन मनोवृत्तियों से संपन्न लेखक ही बड़ी सृष्टि के प्रयत्न और उनके अनुरूप शिल्प-विधान के ठोस प्रयोग कर सकता है। निश्चय ही यह रास्ता छोटी, ईमानदार, परिश्रम व साधना की अनभ्यस्त प्रतिभाओं के लिए नहीं है। (हमारा विचार है कि अन्ततः बड़ी प्रतिभाएँ ही ईमानदार और परिश्रमशील तथा ज़िम्मेदारी की भावना से संयुक्त भी होती हैं। इसीलिए उनके कृतित्व में मानव, व्यक्ति और समाज के मौलिक मूल्य मूर्त्त रूप में प्रकाशित होते और सुरक्षित रहते हैं।)

लेखक के लम्बे अरसे तक विकासशील रहने के लिए ईमानदारी और अध्यवसाय से सहचरित प्रतिभा के अलावा शायद एक और चीज़ ज़रूरी है—विनयशीलता। किसी सुभाषितकार की यह उक्ति कि विद्या विनय देती है, सांस्कृतिक प्रगति की प्रक्रिया की गहरी जानकारी व्यक्त करती है। किसी लेखक का जीवन के जटिल रूपों और प्रश्नों से ज्यों-ज्यों परिचय बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह उससे चकित और अभिभूत होता जाता है।[1] न जाने कितनी प्रतिभाओं ने कितने शिल्प-विधानों की परिकल्पना करके मानवीय मन-चित्त की कुटिलता और जिह्मता, भावप्रवणता और उदारता, क्षुद्रता और मनस्विता, विगलित श्रद्धा और संशयशीलता की असंख्य संभावनाओं का उद्‌घाटन किया है, फिर भी वे संभावनाएँ कहीं चुकती नहीं दीख पड़तीं। मानव-जीवन की इन बेशुमार वृत्तियों और संभावनाओं को आन्दोलन-विशेष के दो-एक नारों में बाँध लेने की कोशिश हास्यास्पद है। उसी तरह कलासृष्टि के मिज़ाज और सूक्ष्म-बड़े प्रभावों के बारे में इने-गिने सूत्र बोलकर उन पर निरपवाद गौरव देना भी अपरिपक्व मनोवृत्ति का परिचायक है। साहित्य-रचना के स्वास्थ्य, सप्राणता और स्थायित्व की दृष्टि से सिर्फ रोमांटिक तत्त्वों या उनके पूरे बहिष्कार पर ज़ोर देना भी वैसे ही कच्ची समीक्षा-बुद्धि का सबूत है।

सेमुएल जॉन्सन से लेकर आजतक के दर्जनों बड़े समीक्षक, अपनी-अपनी दृष्टि और संवेदना के हिसाब से, शेक्सपियर का मूल्यांकन करते आये हैं; प्रत्येक बड़ा समीक्षक उक्त लेखक में कुछ ऐसी चीज़ें ढूँढ़ लेता है जो दूसरों को नहीं दीख सकी थीं। इससे ज़ाहिर है कि एक बड़े कृतित्व का विश्लेषण दो-एक नारों के आधार पर नहीं किया जा सकता। सच यह है कि अतीत के बड़े लेखक हर नये समीक्षक की दृष्टि और विश्लेषण-क्षमता को चुनौती देते हैं। उनकी समीक्षा का इतिहास उसे अहंकारशून्य और विनययुक्त होने की सीख भी देता है। हरेक प्रतिभासंपन्न और महत्त्वाकांक्षी समीक्षक का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वह, अपनी नयी दृष्टि या एप्रोच की प्रतिष्ठा के लिए, किसी बड़े, हो सके तो सौ-दो-सौ वर्ष पहले के, लेखक का विश्वसनीय विश्लेषण और मूल्यांकन प्रस्तुत करे। हमारी आस्था है कि एक बड़ा साहित्यकार—जो कालिदास-भवभूति-भारवि और सूर-तुलसी आदि के निकट पहुँचने का दावा कर सकता है—सब तरह के प्रतिमानों के लिए विश्वसनीय साक्ष्य उपलब्ध करा सकेगा। हम मानते हैं कि अपने हर प्रस्तावित प्रतिमान के समर्थन में, एक प्रबुद्ध और समर्थ नया समीक्षक दो-चार ऐसे लेखकों का निश्चित रूप में हवाला दे सकेगा जो समयदेवता के द्वारा प्रतिष्ठित करार दे दिए गये हैं। इसकी सौ-फीसदी संभावना है सूरदास और शेक्सपियर, कालिदास, तुलसी और दान्ते, टॉल्स्टाय, दास्ताएव्स्की, प्रूस्त और हैनरी जेम्स में से दो-चार की बड़ी कृतियों में हर तरह के विश्वसनीय प्रतिमानों के समर्थक तत्व मिल जाएँ। अवश्य ही वैसे तत्वों को देखने-खोजने के लिए समीक्षक-विशेष को ज्यादा प्रबुद्ध और परिश्रमशील बनना पड़ेगा; उसे संगठित किन्तु अपरिपक्व पाँच या दसवर्षीय आन्दोलनों की नारेबाज़ी से ऊपर उठने की साधना भी करनी पड़ेगी। अन्ततः कोई प्रतिमान सुप्रतिष्ठित महत्त्ववाले दो-चार लेखकों पर लागू होकर ही अपने को प्रमाणित करता है। ●

१. यह आकस्मिक नहीं है कि कालिदास ने 'क्व चाल्पविषया मतिः' कहकर अपनी नम्रता प्रकट की है और ग़ालिब ने 'हम कहाँ के दाना थे' लिखकर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा और सृजनशीलता

रमेशचन्द्र शाह

सर्जनात्मकता मात्र और भाषा के अन्तःसम्बन्धों का अध्ययन इसलिए भी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है कि यह एक विलक्षण सम्बन्ध है। इस मानी में कि एक ओर बौद्धिक चिंतन—ज्ञान-विज्ञान के अनेकानेक क्षेत्रों में सक्रिय चिन्तनात्मक ऊर्जा—और भाषा के बीच के सम्बन्ध, तथा दूसरी ओर इससे निचले स्तरों पर मात्र समसामयिक जीवन-प्रवाह और भाषा के बीच के सम्बन्धों से यह सर्जनात्मक सम्बन्ध एक भिन्न धरातल पर घटित होता है। निश्चय ही उपरोक्त दोनों सम्बन्धों से यह सम्बन्ध नितान्त अप्रभावित नहीं रह सकता। तो भी इस प्रभाव-ग्रहण में यांत्रिक निरीहता नहीं होती। पचाने और रूपान्तरित करने की विकलता ही उसकी असल प्रेरणा है।

यह विकलता आज पहले की अपेक्षा कई गुनी बढ़ गई है। कारण, एक ओर तो सामान्य जीवन और अनुभव की प्रक्रियाओं पर उक्त बौद्धिकीकरण की प्रक्रियाएँ हावी हो रही हैं—उनके जीवित सन्दर्भों को खा रही हैं—प्रत्यक्ष और निकट-संवेद्य को परोक्ष व गुणातीत अमूर्तनों में बदलती जा रही हैं; तो दूसरी ओर वे बौद्धिक विश्लेषण की प्रक्रियाएँ स्वयं अपने-आपमें एक मूल्यनिरपेक्ष और मूल्यद्रोही जिज्ञासा की सर्वग्रासी आक्रामकता से प्रेरित होने को बाध्य हैं।

प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र अपने लिए एक विशेषीकृत भाषा बना लेता है। धीरे-धीरे ये विशेषीकृत भाषिक अमूर्त्तन भाषा के दैनंदिन सामान्य प्रवाह में संक्रमित होने लगते हैं और उसकी व्यंजनाओं को प्रभावित करने लगते हैं। प्रारंभ में यह प्रभाव भाषा की व्यंजकता को बढ़ाता प्रतीत होता है क्योंकि वह रूपकात्मक अभिव्यक्ति को प्रोत्साहित करता है। क्रमशः ये रूपक अपनी चमक खोकर सामान्य सरलीकरणों में स्खलित हो जाते हैं और वस्तु (अनुभव भी) तथा व्यक्ति के बीच की सीधी प्रतिक्रियाओं को विस्थापित करने लगते हैं। ज्यों-ज्यों विश्लेषण के औजारों के रूप में प्रयुक्त होते-होते शब्द एक यांत्रिक अनुशासन में ढलते जाते हैं त्यों-त्यों वे अमूर्त बौद्धिक धारणाओं के रूप में वस्तुओं से, उनकी सगुण वस्तुमत्ता से, और उनसे संघर्षित सीधी विचारणा से विविक्त होते-होते एक परोक्ष नियामकता और पूर्वनिर्दिष्ट आचरण अख्तियार कर लेते हैं। गोचर वस्तुओं के संवेदन तक इन परोक्ष विश्लेषणसिद्ध सूत्रों से निर्दिष्ट और संचालित होने लगते हैं—यहां तक कि वह सीधी और निजी संवेदनात्मक विचार-प्रक्रियाएँ ही इन अमूर्त परिभाषाओं और बौद्धिक सूत्रों में जकड़ती-जकड़ती लुप्त होने लगती हैं। इस प्रकार एक ओर तो आदमी की चेतना लगातार इस यांत्रिक निरीहता से ग्रस्त होती जाती है और दूसरी ओर उसका विवेक स्वयं इस दुश्चक्र से उबरने की चेष्टा करने की बजाय उसकी रफ्तार बढ़ाता चला जाता है। अमूर्तनों की यह अव्यक्त तानाशाही भाषा में निहित—सदियों से संगृहीत होते चले आए मानवीय 'अर्थ' और अनुभव को अवहेलित करती है : उनको उनके समूचे सन्दर्भ से काटकर अपने संकीर्ण अनुशासन और प्रयोजन के अनुरूप चलने को बाध्य करती है। चूंकि ज्ञान की प्राप्ति आदमी का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है—अहंभावना को सबसे अधिक पुष्ट करने वाला; अतः जीवन-जगत् को विश्लेषित और व्याख्यायित करने तथा उसे अपने मस्तिष्क से संचालित करने की सामर्थ्य जिन तर्क-प्रक्रियाओं से हासिल होती है, उनके प्रति आग्रह होना स्वाभाविक है। किन्तु यह आग्रह अपने स्वभाव से ही अन्य आग्रहों और निष्ठाओं को भीतर से खोखला देता है। बौद्धिक जिजीविषा की गति अप्रतिहत और स्वतःचालित होती है : वह सब-कुछ को अस्थिर कर देती है।

सर्जनात्मकता इस स्थितिहीन गत्वरता का—यांत्रिक निरीहता का—प्रतिकार करती है। यहाँ पर एक प्रश्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठता है। कहा जाता है कि जब तक आदमी की यह बौद्धिक जिजीविषा सृष्टि और जीवन के केन्द्र में नहीं पैठी थी—सब-कुछ को विश्लेषित और व्याख्यायित करने की क्षमता और महत्त्वाकांक्षा से युक्त नहीं हुई थी, तब तक सब-कुछ ठीक ही था। बुद्धि को केन्द्रीय नियामकता प्राप्त हो जाने के फल-स्वरूप ही यह अराजकता—मूल्यों की, उद्देश्यों की—उत्पन्न हुई है। किन्तु सर्जनात्मक कल्पना के बारे में भी ज़माने से यही दावा किया जाता रहा है कि उसका भी स्वभाव सृष्टि और जीवन के केन्द्र में पैठकर वहाँ से सारी वस्तुओं को नियंत्रित और विन्यस्त करने का होता है। तो प्रश्न यह उठता है कि यदि बौद्धिक जिजीविषा का स्वभाव भी उसी केन्द्रीय शक्ति और अधिकार की ओर उन्मुख होता है तो इस पर कैसे और क्यों अंकुश लगाया जा सकता है? यदि जो सर्जनात्मकता का धर्म है, वही विश्लेषणात्मक बुद्धि का भी धर्म है तो इसमें नाजायज़ क्या है? क्या इससे उल्टा यही निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि, बुद्धि की भी महत्त्वाकांक्षा अन्ततः सर्जनात्मक ही है। बुद्धि अस्पष्टता और अराजकता को सहन नहीं करती, वह नियम और सूत्रों की खोज के द्वारा उसे व्यवस्थित्र करती है। तो क्या सर्जनात्मक वृत्ति भी उसी बुनियादी बेचैनी से प्रेरित नहीं होती—जो अव्यक्त है, उसे व्यक्त करने की? यदि ऐसा नहीं है तो यूनिटी, संगति और सौष्ठव की चर्चा उसके सन्दर्भ में क्यों की जाती है! वहाँ भी नियम हैं; भले ही उन्हें इतनी आसानी से सूत्रबद्ध न किया जा सकता हो।

पहले के युगों में शास्त्रकार और रचनाकार के बीच में इतनी दूरी नहीं थी। दोनों एक-दूसरे की भाषा समझते थे। शास्त्र रचना की समग्रता को स्वीकारता था और उसके प्रति नम्र और यथासंभव पर्युत्सुक भी रहता था। बल्कि शास्त्रकार रचनाकार की उपलब्धियों का—उनके जरिए भाषा में विकसित क्षमताओं का भरपूर उपयोग भी करता था। आज वह स्थिति नहीं रही। रचनाकार तब भी अधिक उदार है। वह शास्त्र से जूझने की, उसका उपयोग करने की आवश्यकता को स्वीकार करता है। मगर शास्त्रकार अपने समय की—बल्कि किसी भी समय की—गंभीरतम सर्जनात्मकता से लगभग असम्पृक्त ही दिखाई देता है। पहले बौद्धिक जिजीविषा और संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं के बीच ऐसा तीव्र विभाजन नहीं था। इसीलिए भाषा की समग्र मानवीयता के खण्डित होने का ख़तरा भी उस तरह नहीं था। आज विज्ञान की तरह रचना में भी ध्रुवीकरण की स्थिति है और यह सर्वथा स्वाभाविक घटना है। विडम्बना यह है कि बुद्धि की केन्द्रीय शक्तिमत्ता अभी हाल की चीज़ होने पर भी बौद्धिक में अधिक आत्मविश्वास है और सर्जनात्मकता की केन्द्रीयता का विश्वास काफ़ी पुरातन होने पर भी आज का सर्जक अत्यधिक संशयात्मा है। विज्ञान और सर्जनात्मक साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में उच्चतम स्तरों पर जो काम हो रहा है, वह दोनों में समान रूप से दुरूह और दीक्षागम्य होता जा रहा है। यह स्थिति स्वाभाविक और सार्थक है। यह बराबरी की टक्कर है। दोनों का ध्येय साधनों की पवित्रता को पूरी तरह क़ायम रखते हुए अपने 'स्वधर्म' में प्रतिष्ठित रहना है। विज्ञान का स्वधर्म है निश्चित अर्थ और प्रयोजन वाले औज़ारों का प्रयोग करते हुए सत्य को अधिकाधिक एकाग्रता के साथ अनावरित करते जाना। और सर्जनात्मक साहित्य का भी ध्येय वही है। अन्तर—और महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि सर्जनात्मक साहित्यकार के लिए वह 'प्रिसीज़न' आवश्यक नहीं जो कि वैज्ञानिक विचारक को काम देता है। बल्कि, कहना चाहिए कि उससे भिन्न और विपरीत प्रकार का 'प्रिसीजन' ही उसे इष्ट होता है। वैज्ञानिक उसी भाषा का आग्रह रखेगा जो मानवीय संदर्भों से अधिकाधिक निर्लिप्त हो: जो ज्यादा से ज्यादा निर्गुण, धारणात्मक और गणितीय हो। जबकि कवि और कथाकार को ठीक ऐसी ही भाषा से सबसे ज्यादा परहेज़ होगा। यदि वह ज़रूरत पड़ने पर उस भाषा का उपयोग भी करेगा तो इस तरह, और ऐसी भाषा की संगति में करेगा कि उसकी मानवीय सम्पन्नता वापस आ जाय या उसकी विपन्नता ही अपने समूचे विद्रूप में कौंध-कौंध जाय।

सर्जक भाषा को एक ऐसे प्रवाह के रूप में अनुभव करता है जो एक साथ अतीत, वर्तमान और भविष्य है। भाषा की जड़ों का चिन्तन और विवेक उसके रचना-कर्म से अभिन्न है। क्योंकि मानवीय इतिहास में 'अर्थ' के लिए किये गए संघर्ष की, समग्र मानवीय अनुभव की स्मृति उन्हीं जड़ों में निहित होती है। इस यथार्थ को सबसे ज्यादा कवि पहचानता है और बार-बार लोप होते जाते पूर्वजों के उस 'संचित पुण्य' के उद्धार की चिन्ता भी उसी को सबसे ज्यादा होती है। नितान्त समकालीन और नितांत आदिम मानसिकताओं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह अपने भाषिक संवेदन के चुम्बकीय बल से संयुक्त करके एक नई अर्थवत्ता, नया विन्यास पैदा कर सकता है और इस प्रकार भाषा पर निरन्तर पड़ रहे उन दबावों (बौद्धिकीकरण और अमानवीकरण) का सार्थक और अत्यावश्यक प्रतिकार संभव होता है जिनके कारण भाषा की प्रवृत्ति अधिकाधिक अमूर्त और परोक्ष होती जाती है और शब्द अनुभव की नवजात सक्रियता (स्फूर्ति) को सुरक्षित और वहन करने की बजाय उसका मार्ग ही अवरुद्ध करने लगते हैं—उसके स्थानापन्न बन बैठते हैं।

इसी कारण अपनी भाषा के साथ साहित्यकार का रिश्ता अधिकाधिक सचेतन हो गया है। कहानीकार और उपन्यासकार को भी इस संघर्ष में कवि का हाथ बँटाना ज़रूरी हो गया है। आज डेढ़ सौ साल पहले जो 'ज्ञान' चेतना की सतह से नीचे—रहस्य और विस्मय की वस्तु था—जिसमें झाँकने और डुबकी लगाने का श्रेय कभी-कभार केवल कवियों और दार्शनिकों को (समग्र दृष्टि वालों को) मिलता था, उसे आज मनोविज्ञान, नृतत्त्व, उच्च भौतिकी आदि शास्त्रों ने खींचकर चेतना की सतह पर ला दिया है और उसे नाम दे-देकर, भाषा में लाकर आदमी के लिए अति-परिचय की चीज़ बना दिया है। चूँकि सामान्यतः आदमी की प्रवृत्ति भाषा के प्रति महज़ कामचलाऊ और विवेकशून्य होती है, अतः उसकी भाषा में ये शब्द आ तो बड़ी आसानी से जाते हैं मगर वह इनके उपयोग के विषय में सचेत नहीं रह पाता। वह उनकी पृष्ठभूमि और प्रक्रिया से अनजान केवल उनके परिणमित साँचे-ढले रूप का ही व्यवहार कर सकता है। वे उसके अनुभव का अंग नहीं बनते, न उसकी सामान्य जीवनानुभूति के अवयवों से कोई जीवन्त सम्बन्ध स्थापित कर पाते हैं। कुल मिलाकर परिणाम यही निकलता है कि **'ज्ञान' अधिकाधिक अर्नाजित, अवैयक्तिक, अनुभव-रिक्त और अमूर्त होता जाता है और उसी अनुपात में अनुत्तरदायी भी।** दूसरी ओर एक विशिष्ट शास्त्र की अनुशासित शब्दावली में प्रशिक्षित विशेषज्ञ की स्थिति भी इस माने में एक औसत शिक्षित जन की स्थिति से बेहतर नहीं होती, क्योंकि उसकी भी प्रवृत्ति उसी नियंत्रित संसार के चश्मे में से सब-कुछ को देखने के दुराग्रह की होती है। अनुभव की शक्ति और वृत्ति ही धीरे-धीरे शिक्षार्जित अमूर्तनों के दक्ष व्यवहार की सामर्थ्य से विस्थापित होती चली जाती है। मानवीय संवेदन और अनुभूति के विपरीत इस प्रकार के निर्वैयक्तिक विचार की प्रवृत्ति आक्रामक और हावी हो जाने की है। इस प्रकार की अनुसंधित्सा में एक अहंकार होता है शब्दों को अपने पीछे चलाने का, उन्हें एक पवित्रतावादी, साम्राज्यवादी, वर्ण-व्यवस्था देने का, और उनके जरिए दूसरों को भी (परम्परा-प्राप्त अर्थों वाले शब्दों को भी) अपने ढब में ढालने का। अंशज्ञान की इस अधिनायकवादी महत्त्वाकांक्षा पर समग्रता का कोई अंकुश नहीं रहता: दूसरों की विशिष्टता का स्वीकार या चेतना भी यहाँ नहीं होती; केवल अपने ही विशेषीकरण में दूसरी विशिष्टताओं को सरल कर लेने या धुला देने की ज़िद होती है। खण्ड और समग्र का, सत्य और तथ्य का यथार्थाग्रह और सौन्दर्याग्रह का तनाव सर्जनात्मक कर्म में इस प्रकार के अतिचार और एकाधिपत्य को असंभव बना देता है। किन्तु अपने तथाकथित शुद्धतावादी अनुशासन में 'सत्य' में यह नम्रता नहीं होती।

आज हालत यह है कि मानवीय अर्थ और प्रयोजन के लिए, अभिव्यक्ति के साधनों की पवित्रता और गरिमा के लिए कवि या साहित्यकार की ओर कोई नहीं उन्मुख होता। क्योंकि अर्थ, प्रयोजन और गरिमा तो वहीं मानी जाती है, जहाँ तत्कथित 'वैज्ञानिक दृष्टि' हो। और कवि या कथाकार में वैज्ञानिक दृष्टि भी हो सकती है, ऐसा विश्वास किसी को क्यों होने लगा! सभ्यता के इतिहास में, या उससे भी पहले से मनुष्य की भाषा में उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा जो भी, जितना भी मानवीय अर्थ और प्रयोजन संगृहीत होता आया था, उसे शास्त्रों ने, ज्ञान-विज्ञान की इस अभूतपूर्व बाढ़ ने अपने तथाकथित वैज्ञानिक प्रयोजनों से न केवल आच्छादित और आतंकित कर दिया है, बल्कि उसे अपने ढंग और ढब में ढालने की कोशिश भी की है। यह स्थिति घुसपैठ की है, समायोजन की नहीं। इसके फलस्वरूप भाषा में एक अभूतपूर्व विघटन और भ्रंश की प्रक्रिया चल पड़ी है। शब्द अपना अर्थ खो रहे हैं और उनका संचित पुण्य लगातार विकृत हो रहा है। कवि-कर्म अधिकाधिक दुरूह होता जा रहा है। सत्य को अनावरित करना चाहने वाले शास्त्र के उच्चतम शिखरों के समानान्तर ही मानवीय सत्य को उद्‌घाटित करना चाहने वाले कवि का कर्म भी—आत्मरक्षा के बुनियादी तर्क से—दुर्गम-दीक्षागम्य होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में कथा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

:—प्रतिभा का कार्य भी गुणात्मक ढंग से परिवर्तित होता । है। स्टेण्ढल ने उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही जो रे की घण्टी बजा दी थी कि आने वाले समय में कवि का न उपन्यासकार ही ले लेगा। इस चेतावनी में निहित र्थ से इनकार नहीं किया जा सकता। इसमें डींग ही नहीं, यत्व की चिन्ता भी है। कवि का स्थान उससे छीनकर ां, बल्कि उसके विशेष दायित्व को स्वीकार करके ही त हो सकता है। वह विशेष दायित्व क्या है?···जीवन ही नहीं, बल्कि भाषा के भी प्रवाह और स्रोतों को भी ्रुण्ण रखने की गहरी चिन्ता···केवलमात्र भाषा का दक्ष योग कर लेने की ही नहीं, बल्कि उसकी संवेदनशीलता र जीवित स्मृति-परम्परा को सारी विकृतियों और भ्रष्ट ्लीकरणों से बचाकर नहीं, बल्कि उनके बीचोबीच से ्रत और अनाहत निकाल लाने और कायम रखने की न्ता···। अतीत में—मनुष्य जाति की समग्र-सम्पूर्ण स्मृति —अर्जित मानवीय अर्थ और तत्त्व से भाषा की यह ्तरनाक वंचना, और नितान्त समकालीनता से बलात्कृत ्षा की बढ़ती जाती परोक्षता (जिसमें सजीव मानवीय ्स्थिति के प्रत्यक्ष तथ्य की अवहेलना निहित है)—कहना होगा कि—सर्जनात्मकता मात्र के लिए सबसे बड़ा खतरा । क्योंकि यह प्रवृत्ति सर्जनात्मकता के बुनियादी स्रोतों को सुखा देने वाली है। अब यह कोई नहीं कह सकता कि ा विपत्ति, इस विघटन का सर्जनात्मक प्रतिकार करनेवाली ाना में उपन्यास-कथाकारों ने कवियों की अपेक्षा कम ्त्वपूर्ण कार्य किया है। यह इसीसे स्पष्ट है कि अनेक ऐसे ्यासकार, अनेक ऐसे उपन्यासकार व कथाकार हैं जिनकी ाना का स्वभाव हमें स्पष्ट प्रतीति देता है कि यदि वे आज होकर दो-तीन सौ वर्ष पूर्व लिखते होते तो गद्य में नहीं, ्क पद्य में कार्य करते। मसलन जेम्स ज्वाइस, वर्जीनिया ्फ़, ही जैसे। यह एक तथ्य है कि भाषा में निहित और कसित 'सुकृत' को विकृत होने से बचाने के लिए समस्त ार की सर्जनात्मकता 'एकजुट' हुई है चाहे वे कवि हों, हे उपन्यासकार। कई बार तो उपन्यासकार ने उपन्यास अन्दर ही कविता के अस्त्र से वास्तविकता के व्यूह को त:प्रविष्ट करने की कोशिश—और कामयाब कोशिश की । उसने ऐसे स्थलों पर शब्द की सामान्य क्षमता को अपर्याप्त कर उसे कविता के चरम तापमान पर सक्रिय करने की विवशता अनुभव की है। ज़ाहिर है कि भाषा पर पड़ रहे अतिरिक्त दबावों को काटकर शुद्ध अभिव्यंजना तक पहुँचने के लिए संवेदना में भी अतिरिक्त ताप और ऊर्जा का होना ज़रूरी हो जाता है ताकि 'कथ्य' बिना किसी 'डिस्टॉर्शन' के अपनी समग्रता और शुद्धता में संप्रेषित हो सके। पास्तरनाक का 'डाक्टर ज़िवागो' भी इस दृष्टि से एक विशिष्ट उदाहरण है जिसमें न केवल उक्त प्रकार से कविता का उपयोग है बल्कि उपन्यास के अन्त में कथानायक की कविताओं को देने की कल्पना भी अत्यन्त सार्थक प्रतीत होती है। ये कविताएँ उस चरित्र की मानसिक-आध्यात्मिक विकास-यात्रा के महत्त्वपूर्ण सोपानों का ही नहीं, बल्कि उपन्यास के मार्मिकतम स्थलों का—उसके केन्द्रबिन्दुओं का सच्चा अभिलेख और सूक्ष्म 'ग्राफ़' है। वर्जीनिया वुल्फ़ के 'द लाइटहाउस' के विन्यास को ही लीजिए। उसमें रचनेवाली संवेदना का गहनतम संकेन्द्रण और प्रज्वलन-विन्दु वहाँ आता है जहाँ न कोई चरित्र है, न चेतना-प्रवाह, न घटना, न कथोपकथन, न नाटक, न उस तरह का जीवन। वहाँ है एक खाली घर··· मानवीय अनुपस्थिति का पुंजीभूत प्रतीक···जिसमें से जीवन का हर चिह्न, हर स्वर, सहसा मिट गया है···रंगों और ध्वनियों और लालसा-जिज्ञासा के अन्तहीन उद्वेगों से भरा हुआ संसार जैसे सहसा एक इन्द्रजाल की तरह अन्तर्धान हो जाता है और सूने रंगमंच पर सहसा सभ्यता के पूर्व और पश्चात् का चिरादिम महामौन छा जाता है···देखते-देखते यह मौन एक चरम तीव्र नाटक बन जाता है—पुरुषहीन प्रकृति का, आदिम तत्त्वों का महारास···ऋतुओं का ताण्डव जिसके कन्ट्रास्ट में दूर कहीं नेपथ्य में आभासित मानवीय जीवन और मृत्यु दोनों अयथार्थ, धुँधले और अर्थहीन हो जाते हैं। कहानी पर कविता का यह आकस्मिक, अप्रत्याशित आक्रमण—सम्पूर्ण विस्थापन—सहसा चरित्र और कथा-स्थिति को—पूरे यथार्थ को—इस तरह विद्युन्मय कर देता है कि रचने वाली मनीषा को आक्रान्त करने वाला युगचेतना का घटाटोप—अनभिव्यक्ति का आतंक—सहसा चिर जाता है और एक जीवनव्यापी विकलता एकबारगी अपने समूचे सन्दर्भ के साथ कौंध जाती है। अनात्म को चीर देती आत्म-साक्षात्कार की यह विह्वल तड़प 'सर्जनात्मक शब्द' की निखालिस ठोस विजय है: सार्वजनिक और अमानवीकृत सत्याभासों से दूषित युग की वाचालता पर। ऐसा मैं समझता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हूँ। वर्जीनिया वुल्फ़ और जेम्स ज्वाइस के उपन्यासों में हमें आधुनिक मनोविज्ञान की उपलब्धियों का भी कविता-संभव उपयोग मिलता है। भाषा के इस प्रकार के प्रयोग का औचित्य थोड़ा विचार करने पर ही स्पष्ट हो जायगा। मनोविश्लेषण-शास्त्र ने युगांतरकारी तथ्यों की खोज की; और उन खोजों के सूत्रबद्ध होकर भाषा में चालू हो जाने के बाद हर कोई उनकी धड़ल्ले से चर्चा भी करने लगा। किन्तु विडम्बना यह है कि परोक्ष को प्रत्यक्ष करने वाला—सार्वजनिक ज्ञान बनाने वाला—शास्त्र व्यक्ति की संवेदना और ज्ञानात्मक चेतना को और अधिक प्रगाढ़ और संकेन्द्रित करने की बजाय उसे विघटित करने लगता है। परोक्ष चेतना की सतह का विषय बनकर और भी अधिक परोक्ष हो जाता है। भाषा और ज्यादा सतही होने लगती है। किन्तु यह आदमी की बौद्धिक विजय तो है ही; अतः जीवनानुभूति पर, विचार-प्रक्रियाओं पर और भाषा के व्यक्तित्व पर उसका दबाव पड़े बिना कैसे रहेगा ?

यहीं पर साहित्यकार-सर्जक की असली कसौटी सामने आती है। यह उसके स्वधर्म का तकाज़ा है कि वह उस सार्व-जनिक और सुलभ— क्योंकि सतहीकृत—हो गए ज्ञान को फिर से उसके स्रोत तक—अर्थात् अपनी संवेदना के केन्द्रीय क्षेत्र में ले जाए और इस प्रकार उसे उसकी सही जगह पर संदर्भित करे, ताकि उसके अनिष्ट संक्रमण से—अमूर्त, व्यक्ति-संवेदनानिरपेक्ष भाषा की उस परोक्ष तानाशाही से—असली भाषा की स्वतन्त्र ऊर्जा, चेतना का अंतःसलिल प्रवाह सुरक्षित रह सके या कम-से-कम अपने प्रत्यासन्न ख़तरों के प्रति सतर्क-जागरूक ही बना रहे। साथ-ही-साथ मनुष्य के आत्मज्ञान में जो वृद्धि इस आविष्कार से हुई है, वह वास्तव में उसे अनुभूत हो और उसका सही उपयोग करने का विवेक उसमें जाग्रत हो, यह चिन्ता भी रचनाकार को अपनी तरह से होती है। भाषा के कुल जीवन में उस शास्त्रप्रसूत भाषा की सही जगह इसी तरह रचनाकार के मौलिक कर्म द्वारा ही निर्धारित होती है। एक ओर विवेकहीन भीड़, जिसके लिए शब्दचिंतन का स्थानापन्न,—मात्र एक नशा और बुनियादी चिन्ताओं से बचाने का आसान नुस्खा है; और दूसरी ओर संकीर्ण परिभाषाओं से घिरा शास्त्रज्ञ, जिसके लिए भाषा मनुष्य और मनुष्य तथा मनुष्य और सृष्टि के बीच के सम्बन्धों की जीवित-सनातन स्मृति-परम्परा न होकर मात्र उनकी व्याख्या के लिए गढ़े हुए कुछ सूत्रों का समुच्चय भर है ! और जिसकी कल्पना-शक्ति अमूमन सामान्य एवं भोथरी हुआ करती है ! ···इन दोनों के बीच खड़ा रचनाकार भाषा के संतुलन और स्वास्थ्य को, उसके जीवन्त प्रवाह को कायम रखने के लिए संघर्षरत रहता है। कौन कह सकता है कि इस संघर्ष में जेम्स ज्वाइस या क़ाफ़्का ने टी० एस० एलियट या रिल्के की अपेक्षा कम सार्थक भूमिका निबाही है !

क़ाफ़्का ने समसामयिक जीवन और अभिव्यक्ति की इस अराजकता और अमानवीकरण को एकदम उसके स्रोत पर पकड़ने और 'क्रिस्टलाइज़' करने के लिए भाषा के भी केन्द्र में काम करने वाले उस तत्त्व का आशय लिया है जिसे हम 'मिथ' कह सकते हैं। जेम्स ज्वाइस की तरह भाषा में ही तोड़-फोड़ मचाकर एक पूर्ववर्ती सभ्यता की केन्द्रीय मिथ (ओडेसी) के पैटर्न में नितान्त समसामयिक चेतना के बिख-राव को ढालकर नहीं, बल्कि एक सर्वथा नवीन और युगीन वास्तविकताओं के भीतर से उपलब्ध और साक्षात्कृत मिथ का आविष्कार करके। उसने मिथ और पैरेबल के सरलतम स्ट्रक्चर में समसामयिक यथार्थ को पुनःसृजित और प्रत्यक्ष किया है: उस परोक्ष तानाशाही के घटाटोप धुंधलके को चीरने का प्रयत्न किया है जो मानवीय सार्थकता के प्रश्न को—मानवीय चेतना मात्र को—अप्रासंगिक और व्यर्थ किए दे रही है। दूसरी ओर टामस मान ने भी जर्मन विद्वत्ता और जर्मन सर्जनात्मक प्रतिभा की अन्तर्राष्ट्रीय रुझान के अनुरूप ही आधुनिकतम शास्त्रों की भाषा से अपनी संवेदना को और फिर इस प्रकार लैस अपनी मनीषा से समसामयिक यथार्थ और समसामयिक चेतना की अन्तहीन जटिलताओं को अन्तःप्रविष्ट करने का जबर्दस्त उद्यम अपने उपन्यासों में किया है। उसकी भाषा का भारी-भरकम विन्यास युग के इस जटिल अम्बार को एक गहरे आत्म-विद्रूप से उभारता है और उसके तल में झाँकने का—आदिम और सभ्य मानसिकता के इस तरह घुटकर गड्डमड्ड हो गए तत्त्वों को पुनःसंयोजित करके मानवीय सार्थकता के सनातन प्रश्न से जूझने का प्रयत्न करता है। अतिबौद्धिकता के अस्त्र से ही चेतना के इस व्यापक बौद्धिकीकरण का सर्जनात्मक प्रतिकार करता है। यूरोपीय संदर्भ से भी आगे जाकर अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भों में इस प्रकार मानवीय यथार्थ की जड़ों में पैठने का यह अतिजागरूक संघर्ष कितना दूरगामी महत्त्व रखता है, इसका विवेक हमें—हिन्दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथाकार को खास तौर पर होना ही चाहिए।

इस प्रकार आज के सर्जनात्मक लेखन की एक बुनियादी समस्या यह भी है कि रचना के केन्द्र में ही तोड़-फोड़ मचाने वाली इस अनवरत और दुर्निवार्य घुसपैठ का सर्जनात्मक प्रतिकार कैसे किया जाय? इसके लिए दो रास्ते कथाकार-प्रतिभा ने निकाले हैं। भाषा की अर्थवत्ता को—महज़ अर्थ-वत्ता का—अनुभव-मात्र ही आज जितना दूभर हो गया है उतना कभी नहीं हुआ था। रचनाकार के सम्मुख एक समस्या तो स्वयं अपने-आप में भाषा के उस एकाग्र अनुभव को—सच्चे और खरे भाषिक संवेदन को—उपलब्ध करने की होती है और दूसरी समस्या यह प्रबन्ध करने की भी, कि इस अनुभूतिप्रवण प्रिसीजन की भाषा का वैसा ही तात्कालिक, तीव्र और सुनिश्चित आघात उसी उत्कटता के साथ पाठक के मानस पर भी अंकित हो। इसी स्थिति के तर्क से कथाकारों ने एक ओर तो कविता के स्तर पर कविता के उच्च दाब और तापमान पर शब्द की शक्ति और सक्रियता को रियलाइज़ करने की आवश्यकता अनुभव की है और दूसरी ओर उस अत्याधुनिक बौद्धिकता के अवगाहन की—ज्ञानविज्ञानों के तांत्रिक अनुशासनों के भीतर पैठने की—उनके द्वारा भाषा में संक्रमित अमूर्तनों की असलियत को आर-पार देखने की; ताकि समसामयिक चेतना में उनकी व्याप्ति और प्रभाव-शालिता को पूरी तरह, यथार्थतः आँका जा सके और इस प्रकार अतिशय बौद्धिकता और अतिशय संवेदना के, अतीत और वर्तमान के, सभ्य मानसिकता और आदिम मानसिकता के, काल और इतिहास के उस निरन्तर गतिमान् और अस्थिर—किन्तु परमावश्यक सन्तुलन की चेतना को क़ायम रखा जा सके, जिसके बिना जीवनानुभूति संभव नहीं, और जो न केवल मनुष्य की रचनात्मक जिजीविषा के, बल्कि स्वयं बौद्धिक जिजीविषा के भी नैरन्तर्य और स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए एक बुनियादी पूर्वप्रतिज्ञा है।

आधुनिक हिन्दी कहानी को हिन्दी कविता के विकास के समानान्तर बहुत कम समय में विकास-यात्रा के अनेक सोपानों से गुज़रना पड़ा है। पहले की मंज़िलों पर विकास जितना स्पष्ट और निश्चित दीखता है, उतना आज नहीं दीखता। भाषा और जीवनानुभूति के बीच का अंतराल जो इस विकास के कई चरणों पर क्रमशः कम होता दिखाई देता है, आज जैसे अचानक फिर से बढ़ने लगा है। एक व्यापक अधैर्य और संभ्रम की स्थिति आज की कथा-रचना में मौजूद है। एक कारण तो कम-से-कम यही प्रतीत होता है कि कथाकार अपने अनुभव की जटिलता से नहीं, बल्कि उसके बौद्धिकीकरण से पीड़ित हैं। पीड़ित इसलिए हैं कि वे स्वयं उसका आग्रह रखते जान पड़ते हैं। उनकी भाषा उस बौद्धिकी-करण की भाषा को काटती नहीं, बल्कि उससे निरीह ढंग से परिचालित होती प्रतीत होती है। सूत्र के ढंग से स्थिति की परिभाषा करें तो कहना होगा कि अनुभव का बौद्धिकीकरण और उसके समूचे तौर-तेवर तो मौजूद हैं, मगर स्वयं उस बौद्धिकीकरण का सचेत अनुभव और उसका रचनात्मक प्रतिकार करनेवाला विवेक और भाषा क्षीण है। निश्चय ही कुछ खास मनःस्थितियों के चित्रण में कथाकार अधिक अन्तराभिमुख, अधिक बारीक संवेदनक्षम भाषा को अर्जित कर सके हैं जिसे देखकर वास्तव में भाषा की बढ़ी हुई क्षमता का विश्वास होता है जैसे उदाहरण के लिए—

"सुबह उठा तो अफ़सोस सोई बाँह की तरह मेरे साथ उठा। मैंने अपने को झाड़ा, जैसे कुत्ता झाड़ता है। पर्दा हटाया। खिड़की का एक पाट खोला। दिन जड़ पदार्थ की तरह खड़ा था। लगा जो कुछ हुआ नकली-सा था। दरअसल मैं वहीं था, जहाँ से शुरू हुआ था। कोरा। सब-कुछ आगे था। नहीं, न आगे, न पीछे। वहीं।"

कुछ सेल्फ़-कांशस ट्रिक्स के बावजूद यह भाषा उस एकाग्र आत्म-निरीक्षण के क्षण की खास क्वालिटी को पकड़ने और प्रेषित करने में कामयाब हुई है। किन्तु यही कथाकार जब अपनी एक दूसरी कहानी में इस प्रकार की भाषा का इस्तेमाल करता है···"तीनों औरतें हाथों में रस के गिलास लिए साथ-साथ बैठी थीं। जिन्दगी की ऊब की तरह जो इंतजार करते हैं कि कब यह पागल खेल खतम हो और लोग उन्हें अपने-अपने घर ले जायें।" ···तब हम शंकित हो जाते हैं। यह 'जिन्दगी की ऊब' हममें 'सोई बाँह' की तरह कोई विशिष्ट अनुभव नहीं जगाती। हममें कोई प्रतिक्रिया नहीं उठाती। हमें आशंका और सही आशंका होती है कि ये शब्द, यह फ्रेज़ एक चालू सिक्के की तरह महज सुविधा के तर्क से उठा लिया गया है। यह 'सृजित' शब्द (अर्थात् सार्थक शब्द) नहीं है, महज़ एक आयातित, बौद्धिकीकरण की सुविधा में से इस्तेमाल कर लिया गया शब्द—बल्कि पूरा वाक्य ही है। इसी तरह महेन्द्र भल्ला की एक दूसरी कहानी 'शेर' मैंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ समय पूर्व पढ़ी थी। उसकी भाषा का पूरा विन्यास मुझे शुरू से आखिर तक कृत्रिम और अतिरंजित लगा था। ऐसी हालत में कहानी की मूल प्रेरणा ही संदिग्ध लगने लगती है। जिस अनुभव को अन्तःप्रविष्ट न किया जा सके उसे उसकी बुद्धिजन्य भाषा के सतही विन्यास के द्वारा कैसे 'रचना' में बदला जाता है, यह समझ में नहीं आता।

चमकदार और चुस्त-चालू मुहावरों का यह आकर्षण आज की कविता की तरह आज की कहानी में भी अन्धाधुन्ध मचा रहा है। अनुभूति की प्रामाणिकता का प्रश्न इस तरह आसानी से ओझल हो जाता है। इस तरह भाषा का संवेदन भोथरा पड़ता है और कथाकार चेतन रूप से न सही, अनजाने ही उन शक्तियों से समझौता कर लेता है जो उसकी भाषा को भाषा नहीं रहने देना चाहती—उसे अपने प्रयोजनों के अबाध प्रचार के लिए कुन्द और सपाट कर लेना चाहती है। महज़ चलन में आ जाने से, महज़ बौद्धिकता की मुहर लग जाने से भाषा रचनाकार की भाषा नहीं बन जाती। भाषा कोई बने-बनाए अर्थसंकेतों का राजपथ नहीं है जिस पर बेहिचक चल दिया जाय। न रचनाकार का 'अर्थ' ही कोई ऐसा दिव्य, अविकारी तत्त्व है जिसके और सारे अर्थों से सर्वथा विच्छेद्य, विलक्षण और अछूता रहने की गारण्टी दी हुई हो, जिस पर भाषा की सामान्य विकारग्रस्तता का कोई असर ही न हो सके। प्रत्येक सार्थक रचना अपनी भाषा को नए सिरे से तलाश करती है। पर्याप्त और अनुरूप भाषा के लिए यह संघर्ष रचना के अपने आत्म-संघर्ष के ही समतुल्य है। वह उससे अलग एक गौण वस्तु नहीं। रचनाकार का अनुभव अपनी नवजात सक्रियता में पाठक को – और स्वयं रचनाकार को भी तभी महसूस होगा जब उसकी भाषा में भी वही नवजात-ता महसूस हो। भाषा भी उतनी ही सक्रिय और स्फूर्त होनी चाहिए। यह तभी हो सकता है जब अभिव्यक्ति की छटपटाहट में रचनाकार बार-बार उसी अनिश्चय और अपर्याप्तता के अहसास से गुजरे जिससे भाषा की अत्यन्त अविकसित अवस्थाओं में मनुष्य गुज़रा होगा। जबकि 'वाक्' की 'शक्ति' के रूप में अनुभूति कल्पना नहीं, बल्कि वास्तविकता थी। तभी रचनाकार का अनुभव और मर्म अपने अनुरूप और अपने टक्कर की भाषा को जन्म दे सकेगा। तभी वह भाषा के गहरे संस्कारों और सतही संस्कारों के बीच की कशमकश में से अपना मार्ग निकाल सकेगा और

बौद्धिकीकरण को अन्तःप्रमाणीकरण से काट सकेगा व्यक्तिगत अनुभूति का वस्तुगत प्रमाण बनती है र के लिए; लेकिन तभी, जब उसके साथ संघर्ष किया उसे हर बार नए सिरे से खोजा जाय। सुविधा का त का तर्क कभी नहीं हो सकता। जब कोई कथाकार है··· "उस कार्टून के नीचे अजब साम्य से कोई-न-को खड़ा रहता है; वह सोचती है हम किसी विराट अ के कार्टून के नीचे खड़े हैं···पर एक नीला आसमा यहाँ से दिखाई देता है, भीड़ की गूँजों का एक संगी वह सुनती है और···और वह सोचती है, अभी इस ज कल भी आना है, कल-परसों और दिनों के एक लम्बे ···वह पारदर्शक शीशे के पार देखती हैं। लोग रिसे के चारों तरफ घिरे होते हैं। रोज़ की तरह और रोज़ों के लिए···" तो ये शब्द और वाक्य हमारे की ऊपरी झिल्ली पर ही रेंगते रह जाते हैं···हमें क भव नहीं कराते। क्योंकि उनमें व्यक्ति या परिवेश जीवित स्पन्दन न होकर महज़ बौद्धिकीकरण है। अव्यवस्था' और 'कार्टून', और 'भीड़' और 'संगी 'दिनों का लम्बा क्रम'···ये सब सार्वजनिक अनुभव प्रतिध्वनियाँ हैं—अधिक-से-अधिक अनुभव की व्याख्या हैं। ये अतिपरिचित मुहावरे हममें कोई नई पैदा नहीं करते। इनमें वही यांत्रिक निरीहता है; व में बढ़ती जाती अमूर्त और परोक्ष की तानाशाही नात्मक प्रतिकार करने की बजाय उसका शिकार हो विवशता···।

प्रसाद, प्रेमचन्द, अज्ञेय, जैनेन्द्र, रघुवीरसहाय, वर्मा, मुक्तिबोध जैसे कथाकारों के हाथों मँजते- भाषा आज के कथाकार को प्राप्त है, वह इन सारे के एकाग्र प्रयत्नों के फलस्वरूप पहले की अपेक्षा और लचीली (अनेक प्रयोजनों और दबावों को व में सक्षम) हो गई है। मितकथन और क्षिप्र प्रभावां पहले की अपेक्षा अधिक आसान है। प्रसाद की 'ति जब हम इन्द्रसेन की डायरी पढ़ते हैं—

"मनुष्य का हृदय जब शीतकाल की उस नदी हो जाता है जिसमें कुछ जल बरफ़ की कठोरता ध लेता है, तब उसके गहन तल में प्रवेश करने का क नहीं। ऊपर-ऊपर भले ही वह पार की जा सकती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवंचनाओं की बरफ़ की मोटी चादर मेरे हृदय पर ओढ़ा दी गई है। मेरे भीतर का तरल जल बेकार हो गया है। किसी की प्यास नहीं बुझा सकता। कितनी विवशता है!"

···तब इन वाक्यों के मार्मिक आशय से भरपूर संवेदित होने के बावजूद हम इनकी शिथिल विलम्बित लय के प्रति अधैर्य और असन्तोष से भर उठते हैं। प्रसाद के समकालीन पाठक के लिए यही स्वाभाविक लय थी। किन्तु हम परवर्तियों के लिए वैसी सहज-प्रतिक्रिया संभव नहीं क्योंकि तब से भाषा में परिवर्तन आ गया है। अब हमें उसी सत्य को, उसी कथ्य को उसी शक्ति से अनुभव कर सकने के लिए अधिक दक्ष और मितव्ययी भाषा,—शब्दों का अधिक क्षिप्र संयोजन—चाहिए। प्रसाद की भाषा में जो दोष नहीं था वह आज की भाषा में हमें दोषवत् ही प्रतीत होगा। उपरोक्त वाक्यों को पढ़ते हुए हम स्वयं की कल्पना करते हुए पाते हैं कि यही पात्र यही बात आज लिखे किसी उपन्यास में कहता तो उसकी भाषा कैसी होती! यह तो हम अनुभव कर ही लेते हैं कि प्रसाद की भाषा प्रसाद की बात को—उस चरित्र के उस विशिष्ट 'क्षण' की मर्मानुभूति को बहुत खूबी और बारीकी से प्रेषित करती है। दूसरे शब्दों में, प्रसाद का कथाकार अपनी बात कहने के लिए किसी प्रचलित शास्त्रीय या चालू मुहावरे या कवि-सुलभ भावुकता का आसान तरीका नहीं अपनाता; बल्कि अनुभव के अनुरूप और समरूप भाषा की एकाग्र शोध करता है। जो प्रतीक उन्होंने उस क्षण चुना, वह आज कई जगह व्यवहृत होते-होते भले सामान्य और अतिपरिचित हो गया हो; मगर उस वक्त वह सुलभ नहीं था। उसे खोजा गया था, अनुभव के समानान्तर सिरजा गया था। अतः वह नवजात था। और ऐतिहासिक दृष्टि-सम्पन्न संवेदनशील पाठक आज भी उस 'नवजात-ता' का कायल हो सकता है। किन्तु अब कोई उस भाषा का, उस प्रतीक का वैसा उपयोग करेगा तो वह न विस्मित कर सकता है, न आश्वस्त। वह स्रष्टा और रचयिता न होकर केवल अनुकर्ता होगा।

चूंकि हम उस भाषा में लिखने-पढ़ने के आदी हैं जो प्रसाद और अज्ञेय और जैनेन्द्र के हाथों से गुज़र चुकी है··· उनके आत्मदान से समृद्ध हो चुकी है, अतः प्रसाद की उक्त पंक्तियों की भाषा हमें अपर्याप्तता का—बल्कि अतिकथन का अहसास कराती है। हम कुछ और सूक्ष्म की, कुछ और [illegible], कुछ और गतिमयता की अपेक्षा करने लगते हैं। हमें निर्मल वर्मा की याद आती है। मायादर्पण की 'तरन' की···

"उस पल उसे कुछ भी नहीं महसूस हुआ। ···बरसों पहले की एक धुँधली-सी अनुभूति कहीं भीतर धीमे से उमड़ आई है। लगता है जैसे वह टब के पानी में अपनी नंगी देह पसारे लेटी है। बीच में कुछ भी नहीं है, कोई घटना नहीं घटी है। जो बीता है, जो कुछ भी घटा-बढ़ा है, वह सब पानी के ऊपर है···

—सो गई तरन? बुआ ने पूछा।

इस बार तरन स्वयं निश्चय नहीं कर सकी कि वह नींद के इस तरफ़ है या उस तरफ़···पानी के ऊपर छायाएँ तिरती हैं, किन्तु उसके नीचे कितना ढेर-सा मौन बिखरा है!···"

आज की कहानी की भाषा में प्रभावांकन की सूक्ष्मता बढ़ी है। मितकथन का आग्रह भी है। भाषा में लचीलापन भी पहले की अपेक्षा अधिक होना चाहिए। फिर क्या कारण है कि भाषा की इस बढ़ी हुई क्षमता का कलात्मक उपयोग उतना नहीं हो पा रहा है। विषय और टेकनीक के इतने वैविध्य के बावजूद उतनी भी सार्थक संवेदना, जीवन की उतनी भी आलोचना कहानी के अन्दर एकाग्र नहीं हो पाती जितनी कि पहले की श्रेष्ठ कथा-रचनाओं में हो जाया करती थी। क्या यह रचनात्मक प्रतिभा का ह्रास है? या केवल एक अनिवार्य संक्रमणकालीन स्थिति, जिसमें फिलहाल कलात्मक साधना की एकाग्रता संभव नहीं, और प्रतिभा का विकेन्द्रित बिखराव लाज़िमी हो गया है।

एक और बात···। पहले की कथाकार-प्रतिभाओं की भाषा की रेंज जितनी बड़ी थी, उसे देखते हुए तुलनात्मक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि यह रेंज आज के कथाकारों में कम होती गई है। प्रसाद के कथाकार की प्रतिभा भाषा के जितने बड़े व्यास में काम करती है, अज्ञेय की तो शायद उतनी ही पहुँच हो भी; किन्तु निर्मल वर्मा की भाषा का व्यास अपेक्षाकृत बहुत कम है। परवर्ती कथाकारों में यह और भी कम होता गया है। कारण चाहे जो भी हो, पर यह स्थिति चिन्तनीय है क्योंकि इसके चलते आज की भाषा में एक अजीब, अस्वस्तिकर एकरसता और घुटन पैदा हो रही है। क्या हम बुद्धि का काम संवेदना से, संवेदना का काम एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुखार्जित बौद्धिकता किंवा भावुकता से लेने के आदी पड़ते जा रहे हैं ? प्रसाद की एक प्रसिद्ध कहानी मेरे सामने है। उसमें मैं पढ़ता हूँ—

"कुछ भी नहीं फिरोजा ! हमारी धार्मिक भावनाएँ बँटी हुई हैं; सामाजिक जीवन दंभ से और राजनीतिक क्षेत्र कलह और स्वार्थ से जकड़ा हुआ है। शक्तियाँ हैं, पर उनका कोई केन्द्र नहीं ! किस पर अभिमान हो, किसके लिए प्राण दूं।"

और इसके कुछ ही आगे···

"फिरोजा गाने लगी। उसके गीत की ध्वनि थी—'मैं जलती हुई दीपशिखा हूँ और तुम हृदयरंजन प्रभात हो। जब तक देखती नहीं, जला करती हूँ और जब देखती हूँ तभी मेरे अस्तित्व का अन्त हो जाता है मेरे प्रियतम !'···संध्या की अंधेरी झाड़ियों में गीत की गुंजार घूमने लगी।"

एक ही कहानी में से उठा लिये गए प्रसाद की भाषा के ये दो उदाहरण हैं। ये दो अभिव्यक्तियाँ हैं दो बिलकुल भिन्न प्रयोजनों से संयोजित। और प्रत्येक अपने अभीष्ट निर्वाह के लिए कितना सक्षम और तत्पर ! स्पष्टता और पूर्णता की जो आत्म-विश्वस्त मुद्रा पहले उद्धरण में है, वही दूसरे में। जबकि एक-दूसरे से दोनों कितने भिन्न और असम्बद्ध हैं। प्रसाद में यह सामर्थ्य थी एक ओर संवेदना की, राग की स्वत: सम्पूर्ण सृष्टि निर्मित कर सकने की—भाषा को एकदम गीत के-से लाघव से समस्त स्थूल प्रयोजनों से ऊपर उठा देने की; और दूसरी ओर उसे घनी बौद्धिक विकलता और आलोचनात्मक ऊर्जा से संयुक्त करके जीवन की जटिल समस्याओं के बीचोबीच स्थापित कर देने की···। भाषा की यह नम्यता, कथ्य के साथ उसकी यह एकाग्र समायोजन-शीलता स्पृहणीय हो उठती है। निविड़ रागात्मकता से लेकर घोर बुद्धिवादी यथार्थनिष्ठा तक प्रसाद की भाषा की गति है।···'शक्तियाँ हैं पर उनका कोई केन्द्र नहीं'···आज की भाषा-दृष्टि से यह कथन सामान्य—क्योंकि अतिपरिचित प्रतीत होता है। किन्तु जिस वक्त इसे लिखा गया, उस वक्त यह एक नितान्त मौलिक उन्मेष था निस्सन्देह। तत्कालीन परिवेश की यह उत्कट आलोचना एक उच्चकोटि की मनीषा के बिना संभव नहीं थी। आज इसे पढ़ते हुए हमें यीट्स की उक्ति स्मरण आती है—'थिंग्ज़ फाल एपार्ट, द सेण्टर कैन नाट होल्ड'···। प्रसाद की भाषा अपने समय के चालू मुहावरों, शास्त्रीय व्याख्याओं तथा सतही आन्दोलनों के संक्रामक से सर्वथा मुक्त है। न वह किसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा से आतंकित है। एक विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा और धार्मिक दृष्टि का गौरव उन्हें है। पर यह ऐसा गौरव है जो अपनी ही आत्मतुष्ट अहम्मन्यता की धज्जियाँ उड़ा दे सकता है: प्रखर और निर्मम व्यंग्य द्वारा। हिन्दू धर्म में दीक्षित होने की इच्छुक अंग्रेज लड़की शैला को अपनी संस्कृति पर धुआँधार प्रवचन दिलाकर प्रसाद एक झटके से—उसी साँस में बाबा रामनाथ के उत्साह की शल्य क्रिया कर डालते हैं—"बाबा रामनाथ धार्मिक जनता के उस विभाग के प्रतिनिधि थे जो संसार के महत्त्वपूर्ण कर्मों पर अपनी ही सत्ता, अपना ही दायित्वपूर्ण अधिकार मानती है और संसार को अपना आभारी समझती है। उनका दृढ़ विश्वास था कि विश्व के अन्धकार में आर्यों ने ही अपनी ज्ञान-ज्वाला प्रज्वलित की थी। वह अपनी सफलता पर मन ही मन बहुत प्रसन्न थे।"

लेख के प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में भाषा-दृष्टि की कुछ समस्याओं का विवेचन हुआ है। ऐसा नहीं लगता कि उनके प्रति पर्याप्त जागरूकता इस पीढ़ी के रचनाकारों में है। एतद्देशीय सन्दर्भ में भी भाषा के जिस व्यापक भ्रंश और सतहीकरण की प्रक्रिया धीरे-धीरे जोर पकड़ रही है, उसके प्रति गहरी चिन्ता का भाव भी हमारी रचनाओं में लक्षित नहीं हो रहा। इसका एक कारण यह भी है कि हमारे रचनाकारों में अपनी भाषा की परम्परा का, उसकी सांस्कृतिक जड़ों का वैसा चिन्तन-मंथन नहीं है जैसा कि अमूमन दूसरे देशों के साहित्यकारों में स्पष्ट महसूस होता है। न उसके प्रति वैसी गहरी रागात्मक सम्बन्ध-चेतना ही। पिछली पीढ़ियों में यह जागरूकता, यह संसक्ति मेरे खयाल से कुछ अधिक थी। यह भी एक कारण है कि समसामयिक जीवन और विचार के प्रति भी हमारी सर्जनात्मक प्रतिक्रियाएँ अक्सर इतनी अनिश्चित, अनेकाग्र, उथली और अतिरंजित हो उठती हैं। भाषा-दृष्टि की वे मूलभूत चिन्ताएँ ही हमारी नहीं जो साहित्यिक रचना की आधारशिला हैं; जो रचना के नैरन्तर्य को, सर्जनात्मकता की परम्परा को जिलाए रखने की पूर्व-प्रतिज्ञा हैं। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिलकुल वही

(रघुवीरसहाय की कविताएँ पढ़कर)

प्रभात कुमार त्रिपाठी

फिर से एक बार
शुरू करने की इच्छा होती है
और अकचका कर गिनने लगता हूँ
कतार में कितने पेड़ हैं
किस जगह पर मुड़ती है गली
और बढ़ती ही चली जाती है नदी की तरफ
एक उदास लड़की की आँखों में
एक डबडबाता फूल है
और सुनो—कितना धीमे-धीमे गा रहा है वक्त
तुम्हारे बचपन का वह तुतला-तुतला गीत !
पेड़ों की छतनार छाँह और खुरदरी चट्टान
और निरभ्र आकाश और···
कहाँ चली गई है तमाम सड़कें ?
अभी, इस जगह पर क्या हुआ है अचानक ?
नींद के आखिरी सिरे पर
यह कौन-सी आग है ?
कि जागने की—फिर से एक बार—
जागने की इच्छा होती है;

नहीं !
मैं अब कोई भी चेहरा देखना नहीं चाहता
आँखों को कोई दूसरा काम दो
एक दूसरा नाम दो
बकवास से बड़ा और भद्दा—एक दूसरा नाम
एक अश्लील गाली दो मेरे लिए
और मैं इस कायर-अँधेरे से चिपटा हुआ
इसी तरह भुनभुनाता रहूँ;
सुनो,
यह सब, गलत है—गलत है—ग़लत है
कहते हुए भी
मैं अपने बिस्तर पर से उठकर नहीं जाऊँगा
कई दिन हुए इस बात को
जबकि रात को भी आँखों में,—
दहकता था तुम्हारा आमंत्रण
दौड़ने—लगातार दौड़ने के वे दिन
किस कदर धुँधले स्मरण हो गये हैं
अब अचानक कुछ होने पर भी
सोता हुआ सोचता रहता हूँ
कि क्यों फिर एक आरंभ हो
नया आरंभ, नया दंभ, नयी कायरता
रहने दो, इस पुरानी चुप्पी के बिस्तर पर
इसी तरह पड़े रहने दो
बीच-बीच में इस तरह तुम्हारा करवट बदलना
किस कदर गैर-दुनियादार-बात है
ताज्जुब है कि तुम्हारा हथियार-हीन चेहरा
सिर्फ़ एक नदी, एक पेड़, एक लड़की
और एक खुरदुरी चट्टान की याद में
तमतमाने लगता है
और तुम नींद-भरी आँखों से टटोलने लगते हो
जागरण के मरे हुए दिन
कविता कीमियागिरी नहीं है जादू नहीं है
इंद्रजाल नहीं है कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकाल है अकाल, मरी हुई, दरकी हुई ज़मीन
बंजर, खामोश वीरान
उदासी और खुशी से अलग
एक नामहीन विशेषणहीन क्रियाहीन क्रिया है कविता
और इसके सहारे…?
नहीं ! मैं तुम्हें निहत्था नहीं जाने दूँगा
लड़ाई के मैदान में;

आखिर तुम कैसे शुरू करोगे ?
मरण के इस रेगिस्तानी उत्सव में
कहीं भी नहीं है उस छतनार पेड़ की छाँह
वह थरथराती हुई पागल बाँह
और आँखों से पिघलकर बहता हुआ
वह ऊष्म संगीत
कहीं भी नहीं है
नदियाँ सोखने वाले इस मरुस्थल में
मत फेंको अपने आबदार शब्द
क्योंकि कुछ भी नहीं है
जिसे शुरू किया जा सकता है—दुबारा
जिया जा सकता है
सिर्फ़ वही, सिर्फ़ वही
शरारती पुकारों की आड़ में षड्यंत्र है षड्यंत्र
लोकतंत्र है खालिस लोकतंत्र
खाने, पीने और मुटाने का मंत्र
लेटे रहने, पड़े रहने सपने चाटते रहने की
बेशुमार सुविधाओं की सेज है
कुर्सी है—मेज है—घर है—दफ्तर है
रुको, कहाँ जा रहे हो ?
ठंडे दिल से सोचने के बाद
आज़ादी से सोता है आदमी
नींद के आस-पास टहलने वाली आग से कहो
कि चुप रहे
अच्छी लगती है आँच और चुप्पी
लेकिन सुलगना और जलना और राख होना
फालतू बात है—एक आदिम फालतू बात है
फिर से शुरू करना—मरना ही तो है
युद्ध के इस रूमानी नाम को चिपका कर
तुम जिसे खुश करने निकले हो
वह तुम्हें वोट नहीं देगा
पूछो, तोंद वाले सेठजी से पूछो
कि राष्ट्रपति के चुनाव के दिन
अनाज के, सोने के, चाँदी के, रूई के
बाज़ार-भाव क्या थे ?
वे तुम्हें ज़रूर बताएँगे
कि साइत अच्छी नहीं है
किसी लंबी यात्रा पर निकलने की
पड़ोस के रसोईघर में सूखा पड़ा है
और चंबल की घाटियाँ हो गई हैं गलियाँ
किसी भी वक्त—किसी का भी खून हो सकता है
कहते हैं समझदार लोग और अखबार
मेरे यार !
वोट के लालच से बेहतर है
कोट सिलवा लो
आग तुम्हें इसी तरह चूतिया बनायेगी
कोट में ढके रहोगे
तो कभी-न-कभी बुझ जायेगी
और शुरू करने की इच्छा
नहीं !
फिर से एक बार—कुछ नहीं होगा
या फिर वही होगा—बिलकुल वही !
बिऽऽलऽऽकुऽऽल वऽऽहीऽऽ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक त्रासदी : बलिदान और क्रान्ति

रमेश कुंतल मेघ

ईसा से तीन-चार शताब्दियों पहले यूनान में ईस्किलस, सोफोक्लीज़, यूरिपाइडीज़ की त्रासदियों का महायुग था जब 'भय' के सहकार में, महाकाव्ययुगीन 'लालसा' (पैशन) के स्थान पर, 'करुणा' की प्रतिष्ठा हुई थी। भारत में भी भरत, वात्स्यायन, कौटिल्य, चरक और मनु आदि का सांस्कृतिक रिनैसाँ वाला युग जब आया तब युद्ध के भयानक अनुभवों और प्रेम के विलासी अनुभवों के साथ बौद्ध करुणा की भी समावेश होता गया। इस तरह करुणा की लहर के साथ ही विश्व में कई बार मानवता की एकता के युग पुष्पित हुए हैं। बुद्ध और ईसा के विश्वव्यापी प्रभाव मानवीय करुणा द्वारा ही समाज और संस्कृतियों में फैले हैं। अतः करुणा के विराट् माध्यम से खुद विश्व-इतिहास संस्कारित हुआ है। इस मानवीय करुणा के लिए ही कार्लमार्क्स का दर्शन क्रान्ति का आधुनिक माध्यम प्रयुक्त करता है। अतः क्रान्ति और करुणा की एकता कला और जीवन की सनातन एकता भी है। आज भरत के आनन्द-वादी 'रूपक' और अरस्तू की संत्रासवादी 'त्रासदी', दोनों ही हमारे लिए प्रामाणिक एवं प्रासंगिक नहीं रहीं। आज हमारी आधुनिक त्रासदी फूहड़ (एब्सर्ड) हो रही है। इसके ऊपर विडम्बना यह है कि संस्कृति के ललित कलाओं वाले सूक्ष्म रूपों को हम सामाजिक यथार्थता तथा दैनंदिन त्रासदी से अभी तक विच्छिन्न किये हुए हैं। इसलिए केन्द्रीय सवाल यह है कि हम सौंदर्यबोधशास्त्र को दैनिक तथा दैनंदिन त्रासदियों से कैसे सम्बन्धित कर दें। शताब्दियों से हमने त्रासदी की परंपरागत दुर्भाग्यपूर्ण संरचना का, तथा नाटक का जो सौभाग्यपूर्ण आकृतिबंध कायम किया है उसमें निजी और सामाजिक जीवन के मामूली दु:खभोग तथा दैनिक त्रासदी का निषेध हुआ है; प्रत्युत उन्हें असल में त्रासद तक नहीं माना गया। हमारे भारतीय जीवन में 'कर्मसिद्धान्त' ने तीन पीढ़ियों तक को (पूर्वजन्म, इहजन्म और आगामी जन्म) बर्बाद तथा निकम्मा कर दिया; 'सौभाग्यवादी दृष्टि' ने मानवतावाद की भ्रान्ति फैलाई तो 'मायावादी दृष्टिकोण' ने जगत् को मिथ्या बना डाला। अतः भारतीय जीवन में परम्परागत त्रासद रूप तक नहीं उभर सके क्योंकि हमने अठारहवीं शताब्दी तक इतिहास का यथार्थता-बोध ही नहीं विकसित किया। अतः ऐतिहासिक अनिष्ट अथवा बुराई से हमारा सामना 'भ्रान्ति', अथवा 'माया', अथवा 'पाप', अथवा 'राक्षस' के अन्यथाकृत रूपों में हुआ। हम यह स्वीकार ही नहीं कर सके कि इतिहास के कर्म-चक्र में केवल सौभाग्योन्मुख नियति ही नहीं; बल्कि बराबर से टकराने वाले अनिष्ट या अशुभ के विजयी एवं पराक्रमी तथ्य भी हैं। ऐतिहासिक बुराई या अनिष्ट भी इतिहास में अपूरणीय और अपरिहार्य हैं। अतः आनंदवाद और आत्मवाद के विश्वदृष्टिकोणों को अपनाकर परम्परागत भारतीय बौद्धिक चिंतन में अनुभवातीत अनिष्ट को बिलकुल अस्वीकार किया गया। अतः रसानंदवाद की प्रतिष्ठा हुई और, दु:खपूर्ण करुणा के सत्य का जघन्य निषेध! 'अपाय'-रूपी छोटी बाधाओं का अतिक्रमण करता हुआ भारतीय इतिहासदर्शन—लघु-लघु परिवर्तनों को झुठलाता हुआ—अंततः संत-सफलता में आकर अचल-अटल हो जाता है। काल के अक्ष में इसका एक सुनिश्चित प्रवाह होता है जो महान् परिवर्तनों तथा अशुभ घटनाओं को वर्जित करता हुआ अंततः 'फलागम' में आत्यंतिक उपचार पाता है। अतः भरत के बाद का त्रासद अनुभव भयानक युद्ध की पूर्ण त्रासदी घटने ही नहीं देता। वह प्रचंड युद्ध के समतोल में विलासैश्वर्यपूर्ण रोमांटिक प्रेम (शृंगार) को प्रधान बना देता है। अतः रसानंदवाद की ऐस्थेटिक्स भारतीय इतिहास में बलिदान एवं मृत्यु, दोनों को वर्जित करती है। यहाँ इतिहास में हमेशा उद्धार होता है किन्तु यह उद्धार हमेशा कर्म-सिद्धान्त की सौभाग्यवादी दिशा में होता है: या अलौकिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवतार अथवा वैयक्तिक पुण्य वरदान से। अतः हमारी त्रासदी और क्रान्ति की सभी महान् घटनाएँ हज़ारों साल वाले भारतीय इतिहास के फलक से पोंछकर मिटा दी गई। समाज की क्रूरताएँ और सामंतों के नृशंस अत्याचार, आततायियों की बर्बरताएँ और वर्गों के पाखंड प्रमाणित करने के लिये कला में त्रासदी का हाशिया खुलना अनिवार्य था। किन्तु भारतीय संदर्भ में वह 'कलियुग' बनकर एक रूढ़ि बन गया। फलतः वास्तविक त्रासद प्रामाणिकता को तो मिथकीय काल में फैला दिया गया, किन्तु यूतोपियाई 'सतयुग' (रामराज्य) को आरोपित ऐतिहासिक प्रारब्ध बना दिया गया। अतः हमारी उस आनंदवादी एवं आत्मवादी जीवन-दृष्टि ने हमें चिरंतन त्रासद अनुभव के ही अयोग्य बना डाला क्योंकि रसानंदात्मवाद ने मानवतावाद की अद्वैतवादी भ्रान्ति फैला दी। हमारे दीर्घ मध्यकाल में इतिहासदर्शन के अन्तर्गत सांस्कृतिक-जीवन की यही विडंबना रही है। और आज जब हम शताब्दियों से आच्छादित तथा संचित ऐतिहासिक अशुभ, सामाजिक अत्याचार, सामंतीय क्रूरता और पूँजीवादी उत्पीड़न के आमने-सामने नंगधड़ंग आ खड़े हुए हैं; जब हमारे वैयक्तिक 'मोक्ष' के भ्रम टूट गये हैं; जब वर्णव्यवस्था की विषमताओं ने सामाजिक न्याय की भावना को नहीं उभरने दिया है; जब उच्चवर्गीय (सामंत, साहूकार, पूंजीपति, पुरोहित) समाज का करुणा-स्रोत सूख गया है; तब हमें एक आधुनिक एवं अंतर्राष्ट्रीय विश्व में बेरहमी से फेंक दिया गया है। आधुनिक समाज की '**त्रासदी**' और अंतर्राष्ट्रीय विश्व की '**क्रान्ति**' के महान्दोलनों के बीच बूढ़ा भारत डावाँडोल हो रहा है। आधुनिक एवं शापित हम भरत-पुत्रों के संसार से आनन्द विलीन हो चुका है और आधुनिक समाज की **त्रासदी**, तथा आधुनिक संस्कृति की **फूहड़ता** हमें किंकर्त्तव्य-विमूढ़ कर रही है! तथापि कई आधुनिक एवं रसीले रसवादी आचार्य और छबीले मानवतावादी नेता क्रमशः आधुनिक फूहड़ता और अमानवीय अत्याचारों के अस्तित्व को आज भी नामंजूर करते हैं!!

अगर भारतीय सांस्कृतिक पैटर्न में 'त्रासदी' के रूपों तथा दैनंदिन त्रासदियों, दोनों को अस्वीकृत एवं वर्जित किया गया तो पश्चिम में भी परम्परागत त्रासदी रूपों को स्वीकार करके दैनिक त्रासदियों को नामंजूर किया गया। वहाँ की संस्कृति में बाक़ायदा जो संभ्रम फैला उससे फूहड़ताबोध के एक प्रमुख आधुनिक रूप का जन्म हुआ। इसकी नींव अस्तित्ववादी दर्शन है। इसके अलावा पश्चिमी त्रासदी में नायक की **गति** की उसके समापन (मृत्यु) में ही इतिश्री मान ली गई जबकि असली त्रासदी तथा ज्यादा महत्त्वपूर्ण तो वह 'गति' है जो कि नायक के माध्यम से संचरणशील होती है। यह अतिक्रांत (दूसरी) गति सामाजिक क्रूरताओं का वास्तविक दुनिया में सामना करती है। अतः यही दूसरी गति पहली गति की त्रासद प्रामाणिकता बनती है। इस तरह कला और असली दुनिया की तुलना पर परम्परागत त्रसादी ('रूपक') का आग्रह नहीं रहा है। ज्योर्ज्यी लुकाक्श ने इस तुलना को 'झटिति' (Shock) कहा और इसे ही 'विरेचन दशा' माना :—अपोलोनियन विरेचन-दशा!

इसी बिन्दु से **रेमण्ड विलियम्स** भी शुरुआत करते हैं।[1] रेमण्ड विलियम्स की मौलिक कोशिशें दो रही हैं—(क) साहित्यिक एवं दैनिक अनुभवों के बीच सेतु, तथा (ख) परम्परा एवं आधुनिक जागरूकता के बीच सेतु की तलाश और रचना। अतः उन्होंने (ग) परम्परागत त्रासद रूपों का आधुनिक रूपों से संबंधन, एवं (घ) कला में तथा जीवन में त्रासद का संबंधन किया। इस सौंदर्यवास्तविक क्रान्ति द्वारा ही उन्होंने सौंदर्यबोध शास्त्र को दैनिक अथवा दैनंदिन त्रासदियों की समस्या से संबद्ध कर दिया।

अनेक प्रकार के मानवतावादों से प्रयाण करते हुए रेमण्ड विलियम्स मार्क्सवादी दर्शन में अधिष्ठित **क्रान्तिकारी मानवतावाद** का नज़रिया अख्तियार करते हैं। वे अपनी 'आधुनिक त्रासदी' को 'क्रान्ति' से प्रतिबद्ध करने का प्रोग्राम पेश करते हैं। वे 'त्रासद' **हताशा** तथा 'फूहड़तावादी' **विरोध** दोनों को सांस्कृतिक संभ्रम की उपज मानते हैं। अतः वे 'त्रासदी' और 'क्रान्ति' का सवाल उठाते हैं— क्रान्ति के द्वारा पूर्ण उद्धार!

क्रान्तिकारी मानवतावादी दृष्टिकोण से वे बताते हैं कि चारों ओर फैली आधुनिक **अव्यवस्था** गहरी है, और त्रासद है। अतः अव्यवस्था की फूहड़तावादी (अस्तित्ववादी) संतुष्टि के रूप में केवलमात्र **विद्रोह** तो अधिकाधिक भ्रांति फैलाता है। क्रान्ति इस अव्यवस्था की फूहड़तावादी संतुष्टि नहीं है

1. "The Modern Tragedy": Chatto & Windus London [1966]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती क्योंकि वह इसी गहरी एवं त्रासद अव्यवस्था के बीच-से जो उभरती है। क्रान्ति केवल **आह्लाद** भी नहीं हो सकती। यह **त्रासद** भी है क्योंकि अव्यवस्थित एवं भ्रान्तानक पर्यावरण में कठोरताएँ, क्रूरताएँ और कठिनाइयाँ भी होती हैं। अतः क्रान्ति में भी वेदनाभोग (सफ़रिंग) अनिवार्य है। यह क्रान्ति ही त्रासदी को आधुनिक बनाती है तथा दैनिक त्रासदियों से जुड़कर उन्हें स्वीकार करती है। क्रान्ति ही जीवन और मृत्यु के असली सवालों को त्रासद धारणाओं में प्रविष्ट करा सकती है। अतः क्रान्ति ही संपूर्ण उद्धार (Total redemption) करती है। इस क्रान्तिकारी तथ्य को पुनः दुहरा दिया जाय: आज सौन्दर्यबोधशास्त्र को दैनिक अथवा दैनंदिन त्रासदियों से संबंधित होना चाहिए। अतः आधुनिक (क्रान्तिकारी) त्रासदी में करुणा का उन्नयन 'बलिदान' (Sacrifice) तथा भय का उन्नयन 'क्रान्ति' (Revolution) के नाटकीय संवेगों में होता है। यह दूसरा प्रवर्तक सूत्र है। इसलिए हमारे युग की आधुनिक त्रासदी को, **दैनिक जीवन की त्रासदियों** से जुड़कर, प्रमुखरूपेण क्रान्ति के अनुभव का भी समावेश करना चाहिए। इस प्रकार आधुनिक त्रासदी केवल अकेले त्रासद नायक या एक सद्वंशी चतुर्धीर की गाथा न होकर समष्टि रूप मामूली इंसान की सामूहिक एवं क्रान्तिकारी त्रासदी है। इस तरह रेमंड विलियम्स एक वैचारिक तथा वास्तविक ज्वालामुखी-प्रश्न को सुलगा देते हैं जो मानवीय इतिहास में अभी तक लापता-सा रहा था।

समारंभ वेदनाभोग (सफ़रिंग) से हो सकता है।

पहले तो यह तय कर लें कि साहित्य में अंकित **कलासंभूत वेदनाभोग** के मुकाबले में निजी तथा सामाजिक जीवन के **मात्र वेदनाभोग** का परित्याग अब कतई नहीं हो सकता। छठे दशक के कहानीकारों ने 'अनुभूति की सच्चाई' का जो आधार बनाया था उसका काफी अंश इस 'मात्र' वेदनाबोध को उभारता था। यह वेदनाभोग समाज तथा जीवन में अनिष्ट या बुराई के तथ्य को अपरिहार्य एवं असंशोधनीय मानकर चला था। तब उस पात्र के वेदनाभोग हमें अपील करते थे क्योंकि वे **अनिवार्य** थे। अतः छठे दशक की कहानी और कविता अनिवार्य वेदनाभोग को लेकर उभरी जबकि पूर्ववर्ती कथाचेतना में वेदनाभोग अनावश्यक, या आकस्मिक, अथवा वर्जनीय भी था। छठे दशक के कथाकारों ने विशेष रूप से वेदनाभोग का उत्स ढूंढ़ निकाला। उन्होंने **'संबंधता'** (रिलेशनशिप) में इसे पाया। उन्होंने **अनुभव** किया कि किसी भी व्यवस्था तथा कानून में जब गलत संबंधता स्थापित होगी तब **हमेशा और अनिवार्यतः** हताशा और वेदनाभोग होगा। अतः छठे दशक में मोहन राकेश ('जानवर और जानवर', 'एक और जिन्दगी'), राजेन्द्र यादव ('टूटना'), कमलेश्वर ('खोई हुई दिशाएँ'), मार्कण्डेय ('हंसा जाई अकेला') आदि ने विशेष रूप से इसका अन्वेषण करके इसे ही एकांगी रूप से **'आधुनिकताबोध'** की संज्ञा दे डाली। इनके बाद के कहानीकार निर्मल वर्मा, दूधनाथ सिंह, ज्ञानरजन, काशीनाथ सिंह ने अनिवार्य वेदनाभोग से बढ़कर **'त्रासद जागरूकता'** को प्राप्त किया। निर्मल ने 'लंदन की एक रात' और 'कुत्ते की मौत' में, दूधनाथसिंह ने 'आइसबर्ग' में, राजकमल चौधरी ने 'दाम्पत्य' में इसे गहराई से महसूस किया। किन्तु मात्र वेदनाभोग से त्रासद जागरूकता की ओर संवर्धित होने वाली इस सांस्कृतिक चेतना को इन्हीं अकथा-लेखकों ने 'अभिशप्तनियति' की धारणा के द्वारा पीछे फेंक दिया। इन लेखकों ने संबंधों को पीछे फेंककर केवल **तनावों** को स्वीकार किया। तनावों को लेने के कारण इनकी कहानी की त्रासदी में **कर्म** गायब होता गया; मानवीय **संयोजन** धुंधले होते गए तथा केवल **अकेलापन** शेष रह गया। अतः **केवल** वेदनाभोग से केवल अकेलापन! बस इस तरह विशिष्ट परिस्थितियों को निर्विकल्प मान लेने पर उनके लिए नियति या 'अभिशप्त नियति' का पर्याय लाना पड़ा। इसके बाद अभिशप्त नियति का यह मुखौटा उलटकर वेदनाभोग को पंगु बनाने लगता है। अतः व्यक्ति भी विलीन हो जाता है और यह मुखौटा नैतिकता तथा सामाजिकता, दोनों का विरोधी हो जाता है। इस हाशिये पर न तो वेदनाबोध प्रबुद्ध रह पाता है; और न ही सामाजिक अन्याय के प्रति जागरूकता चौकस रहती है। फलतः क्रान्ति की माँग कुंठित हो जाती है। नवलेखन के विचारकों—विशेषतः विमलवर्मा, हर्ष, चन्द्रभूषण तिवारी, हृषीकेश, माहेश्वर, कंचनकुमार, सुरेन्द्र चौधरी आदि—ने समकालीन लेखक के इस खतरे को पहचानकर यह स्पष्ट किया कि मानवीय अनुभव विशिष्ट हैं, ऐतिहासिक हैं, विलक्षण हैं। प्रत्युतः वे वैश्वक, शाश्वत और अनिर्वचनीय नहीं हैं। नवलेखन ने प्रतिबद्धता के सवाल से शुरुआत करते हुए बताया कि इतिहास के त्रासद तथ्यों से कोई भी **केवल समय** के अंदर उद्धार नहीं कर सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैयक्तिक समय-खंड के परे भी वेदना और व्यथा चलती रहती है। यही मानवीय प्रारब्ध है। नवलेखन में मात्र वेदना-भोग और अभिशप्त नियति की दशा **'व्यर्थताबोध'** के नाम से अभिहित हुई। अतः अद्यतन समय में त्रासद जागरूकता और **क्रान्तिजन्मा उद्धार** में आकर **'नव'-आधुनिकताबोध'** अपना उन्मेष प्राप्त करता है।

वेदनाभोग अनिवार्य है। वेदनाभोग की अनिवार्यता ही क्रान्ति की स्वतंत्रता से जुड़ती है। अतः वेदनाभोग से बचने के लिए क्रन्ति से नहीं बचा जा सकता। वेदनाभोग से उद्धार का रास्ता क्रान्ति है। अतः **क्रान्ति की त्रासदी** भी हमें स्वीकार करना है क्योंकि वेदनाभोग भी अनिवार्य है। किन्तु कई ऐसे त्रासद तथ्य हैं जिन्हें इतिहास में घटने से रोका भी जा सकता है: महज कई लावारिस, असंबद्ध त्रासद तथ्य। अगर हमारे समाज का पुनर्निर्माण समाजवादी दिशा में शुरू हो गया होता तो हम भूख, गरीबी, अज्ञान, शोषण, अत्याचार के कई त्रासद तथ्यों को बचा सकते थे; हमारा समाज क्रूरता और पाशविकता की पूंजीवादी यंत्रणा से बच सकता था; हमारे जन की चेतना का क्रान्तिकरण और समाज का आधुनिकीकरण सामूहिक उद्धार द्वारा हो सकता था! अतः अनिवार्य वेदनाभोग हमारा उद्धार कर सकता था और निर्दोष वेदनाभोग से हम बच सकते थे। लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था के आपाधापी आगमन के साथ-साथ हमारी संस्कृति में भी जो सुनियोजित संभ्रांतियाँ फैलीं उनसे वेदना-भोग के अंतर भी धुंधले पड़ गये और दोनों प्रकार के वेदना-भोग केवल 'फूहड़ता' के अनुभव में तिरोभूत होते गए। यह हमारी दर्दनाक सांस्कृतिक त्रासदी है: 'त्रासदी' का संबंधन 'फूहड़ता' से हो गया और निराली क्रान्ति की 'केवल जलती मशाल' से वह आलोकित नहीं हो सकी। अतः हमारे मूल्यों में, व्यक्तित्व में, वेदनाभोग में, राष्ट्रीय जीवन में अंधी यंत्रणा तो रही किन्तु उसमें अनिवार्यता और परिहार्यता को छाँटने का प्रकाश नहीं फैला और उसमें से त्रासद जागरूकता का आविर्भाव नहीं हुआ। अंधेर है कि हम अपनी दैनिक त्रासदियों तथा त्रासद अनुभवों में क्रान्ति के अनिवार्य अनुभव को नहीं शामिल कर सके! हमारे सामने क्रान्ति एकपक्षीय आतंक और संत्रास, अत्याचार और बर्बरता के रूप में ही पेश की गई, जबकि क्रान्ति अनिवार्य है और क्रान्ति का अनुभव भी एक आह्लाद-कारी त्रासदी है। अपनी त्रासदी को क्रान्तिकारी अर्थों से गर्भित करना ही हमारा 'भारतीयकरण' है।[1]

पंजाब के शहरों में दास-युगीन गुलामों की तरह हाँ[ke] जाते हुए गन्दे-गरीब-निरीह-दुबले बिहारी-उत्तरप्रदेशी भै[ये] मजदूरों के झुंड के झुंड; अहमदाबाद में सांप्रदायिक दंगे क[ी] आग में बूढ़े से लेकर दुधमुँहे बच्चे तक झोंका गया ए[क] निरपराध मुसलमान-परिवार; नौकरी पाने के लिए अफ़स[र] के साथ सोकर आई शिक्षित युवती; झूठे इल्जाम से बरी हो[ने] के लिए पत्नी का मंगलसूत्र बेचकर रिश्वत देने वाला बेका[र] नौजवान; किसी गलत युद्ध या दुर्घटना में मर गया वयोवृ[द्ध] पिता का इकलौता जवान बेटा आदि हमारी दैनिक त्रास[दी] की मिसालें हैं जिनमें निरपराध यंत्रणाभोग है। ये मनुष्य [के] त्रासद अस्तित्व की साखी हैं और मनुष्य के अस्तित्व की [अ]स्थायी बुराइयाँ हैं! मनुष्य के त्रासद अस्तित्व की बुराइ[याँ]

१. ध्यातव्य हरिदत्त शर्मा का उद्धरण: "स्वामी विवेकानंद ने क[हा] था कि ...भारत का उत्थान भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ त[त्त्वों] और समाजवाद के अपनाने से होगा। ...नेताजी सुभाषच[न्द्र] बोस प्रभृति नेताओं ने इस भावना को आगे बढ़ाया, कि[न्तु] इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि मार्ग में कपट-मुनियों [ने] इस देश की दीन-हीन जनता को ठग लिया और उन[की] मंज़िल बड़ी कर दी। निर्धन जनता के जागरूक तत्त्व [आज] इस तथ्य को पहचान रहे हैं और संघर्ष का शंखनाद कर [रहे] हैं। यह भी सही है कि इनमें से कुछ लेनिन, माओ-त्से तु[ंग,] चे गुवेरा के दिशा-निर्देशों के अनुसार सशस्त्र क्रान्तिका[री] संघर्ष की राह पर चलने लगे हैं। इसे देखकर कुछ लोग [यह] चिल्लपों मचाते हैं कि ये विदेशों से क्यों प्रेरणा ले रहे है[ं।] ...जब वे सब भारत के इस विशाल जनसमूह के दुःख[-दर्द] को समेटने में असफल हो गये तो इन्हें जो रास्ता सूझता [है] उसी पर चल रहे हैं। ...ये साफ़-साफ़ देख रहे हैं कि [देश] के स्वार्थी तत्त्व आज भी इनके नाम पर विदेशों से ऋण [और] सहायता लेकर गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। ...इसलिए अपनी [इस] तरह की लूट के विरुद्ध ये वीर-भाव से उठने के लिए आ[तुर] हैं और उन सबसे हाथ मिला लेना चाहते हैं जो विदेशों [में] उन्हीं के वर्ग के हैं। उनका कहना है कि जब सामन्तवा[दी] और पूँजीवादी तत्त्व विदेशी सामन्तवादियों और पूँजीवादि[यों] से मिलकर अपनी ताकत बढ़ा रहे हैं तो हम भी क्यों [न] विदेशी श्रमजीवी जनता की ओर हाथ बढ़ाएँ? ...उनका [यह] राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद का विरोधी है और उस अन्तर्राष्ट्री[य]वाद का मित्र है जो सारी वसुधा को सुखी और निरा[मय] देखना चाहता है।"—'भारतीयकरण का मुखौटा है श्रमजी[वी] जनता' शीर्षक लेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्दय इतिहास-गाथा हैं। अतः इन पर इतिहास के रंगमंच पर ही विजय पाई जा सकती है—इतिहास से परे अतिक्रमण करके नहीं। इतिहास का अधिनायक मनुष्य है। अतः मनुष्य ही अपने मानवीय अस्तित्व के ऐतिहासिक अशुभ को जीत सकता है। इसके लिए इतिहास किसी भी **काव्यात्मक न्याय** को स्वीकार नहीं करता। रेमंड विलियम्स इस विजय को व्यक्ति की **आत्म-मुक्ति** तथा समष्टि का समग्र या **संयुज-उद्धार** (Total redemption) घोषित करते हैं। त्रासद अस्तित्व के मूल से ही त्रासद जागरूकता का उन्मेष मनुष्य के वेदनाभोग को आत्म-मुक्ति (सेल्फ़-लिबरेशन) में रूपांतरित करता है। विशिष्ट और वास्तविक ऐतिहासिक परिस्थिति को अगर आत्मलक्षी ढंग से निर्विकल्प भाग्य का पर्याय न बनाया जाए, तो वह एक लंबी क्रांति की भूमिका बनती है। इस लम्बी क्रांति में संघर्ष प्रबलतर होते हैं और आवश्यक वेदनाभोग भी भीषणतर होते जाते हैं। इस दीर्घ क्रांति में मनुष्य का आत्मनिर्वासन भी होता है (जैसा कि कई समाजवादी देशों में भी घट रहा है) किन्तु लंबी क्रांति का मार्ग इतिहास है और इतिहास की त्रासद गति ही आत्म-उद्धार का स्रोत बन सकती है। अतः यही गति अन्ततोगत्वा समाधान (नियताप्ति) तथा व्यवस्था के साँचे उपलब्ध करती है। एक गहरी एवं त्रासद अव्यवस्था के अन्तराल से ही क्रांति का अवश्यंभावी क्रियान्वयन होता है।

क्रांति के अनुभवों से गुज़रने पर मनुष्य की **मानवीय दशा** (ह्यूमन कंडीशन) में नया अनुभव होता है। यह नया अनुभव प्राणपीड़क तथा महिमामंडित, दोनों ही एक साथ होता है। एक मनुष्य का जीवन-कर्म एवं चेतना के आयत्तीकरण के सिलसिले में जब स्वयं ही शनैः-शनैः **क्रांतिकारी स्थिति** (रिवोल्यूशनरी सिचुएशन) में उलझता या अंतर्लिप्त होता चला जाता है तब वह **बाह्य परिस्थितियों** (आब्जेक्टिव सर्कमस्टान्सेज) के भौतिक पारिश्रमिक की आकांक्षा नहीं करता। यहाँ से त्याग एवं बलिदान की नैतिकता का सूत्रपात होता है। यहीं से दैनिक त्रासदी के क्रांति द्वारा उद्धार की शुरुआत होती है।

"एक मुद्दत से मनुष्य स्वयं को आत्मनिर्वासन से मुक्त करने के लिए कला और संस्कृति को माध्यम बनाता आ रहा है। आठ या उससे ज्यादा घंटों के दौरान, जब वह अपनी मेहनत बेचता है, तब वह रोज़ मरता है। बाद में अपनी आत्मिक क्रियाविधियों द्वारा ही वह पुनर्जीवन पाता है। लेकिन इस उपचार में भी उसी रोग के कीटाणु मौजूद हैं।...समाज के सुपरिगठन में ही ऐसी फ़रमानी होती है कि कलाकार की तदाकृत तालीम हो जाये। विद्रोही इसकी व्यवस्था से दबा दिये जाते हैं और केवल बिरली प्रतिभाएं ही अपनी निजी कृतियाँ रच पाती हैं। बाकी तो बेशर्म भाड़े के टट्टू हो जाते हैं या कुचल दिये जाते हैं। अतः कलात्मक 'स्वतंत्रता' के एक स्कूल का जन्म होता है।...इस तरह निरर्थक व्यथा और भदेस मनोरंजन ही मानवीय चिंता के सुविधापूर्ण एवं सुरक्षामय निकासपुटक बन जाते हैं।...अतः 'स्वतंत्रता' शब्द की आड़ में पलायनवादी अवधारणा छिप जाया करती है।"[1]

हमारे समाज में जिस ढंग का गड्डमड्ड, बड़े बुर्ज़ुओं और बड़े ज़मींदारों तथा इज़ारेदारियों के गठजोड़ वाला जो आर्थिक नींवाधार कायम हुआ है वह मानवीय चेतना तथा संवेदना के विकास की जड़ें खोदने का अपना काम पहले से ही पूरा करता आ रहा है। अतः **नये मनुष्य** की रचना के लिए हमें **नये आर्थिक नींवाधार** की आवश्यकता है। इस व्यवस्था में सामान्य मनुष्य और साधारण जन को अब आगे बढ़ने की कोई संभावना नहीं है। अतः मानवीय चेतना की उन्नति भी असंभव है।**कर्मसिद्धान्त** (शूद्रों और शोषितों को मृत्यु के बाद पुरस्कार) एक झूठे विश्वास को शताब्दियों से फैलाता आ रहा है कि जो सुफल भोग कर रहे हैं और ऐश्वर्य से पूर्ण हैं वे पुण्यात्मा या अच्छे मनुष्य हैं (शोषक, आततायी और कपटी नहीं)। इसी के साथ **'हमारी संस्कृति'** अर्थात् **वर्ण-व्यवस्था** और **वर्गविभाजन** को एक साथ अंगीकार करने वाली भारतीय संस्कृति के नाम पर यह मानवतावादी भ्रांति फैलायी जाती है कि स्वतंत्रता एवं समतावाला समाज यहाँ है जिसमें कोई भी राष्ट्रपति हो सकता है क्योंकि हरेक ईमानदारी से **आत्म-निर्मित इंसान** है। राष्ट्र की औसत चेतना अभी भी इन सफेद झूठों का शिकार है जिसको चारों ओर सत्ता और व्यवस्था की टट्टी घेरे हुए है। "इसलिए यह बहुत ज़रूरी है कि सामूहिक मनुष्य को संघटित करने के औज़ार सही ढंग से चुने जाएँ। बुनियादी तौर पर यह औज़ार **नैतिक चरित्र** वाला हो किन्तु उसे **भौतिक प्रोत्साहन**

१ चे गुएवारा : 'Socialism and Man', pp. 12, 13, 17.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सही उपयोग की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।··· संपूर्ण रूप से समाज को ही एक महाकाय स्कूल में तब्दील कर देना चाहिए।"[1] और यही प्रक्रिया क्रांति है जो संपूर्ण उद्धार कर सकती है। जब ऐतिहासिक बुराइयों को नैतिक चरित्र से जुदा कर दिया जाता है, जब ऐतिहासिक बुराइयों को दबाने में लिज़लिज़े मानवतावाद के कारण लापरवाही बरती जाती है, तब मानवतावाद की ऐसी सर्वव्यापी महामाया फैल जाती है जो सारे अत्याचारों, अन्यायों, अपराधों, अधोपतनों के प्रति मानवीय स्नायु-चक्रों को ही कुंठित कर डालती है। केवल **नवसमृद्ध** (न्यूरिच), इस व्यवस्था में नवतुष्ट रहते हैं और केवल **नवरुष्ट** (युवा पीढ़ी) इस व्यवस्था में नवफूहड़ होते जाते हैं। हमारे घपलेवाले पूँजीवादी समाज का कोषाणु अकेली जिन्स (कमोडिटी) है। अतः उत्पादन के संगठन में इसके प्रभाव (मुनाफों की लूट, आर्थिक तबाही का प्रसार, अवमानवीयकरण) संचित होकर **मानसिक फान्तासी** में ढल जाते हैं। और; चेतना में भी इसके प्रभाव (आत्म-निर्वासन, आत्म-विनाश, आत्म-पराजय, पाशविकीकरण) संचित होकर **अकेलेपन** में अपने गुल खिलाते हैं। अतः मार्क्स के शब्दों में—"समाज में एक ऐसे क्षेत्र का निर्माण होना चाहिए जो **परंपरागत** प्रतिष्ठा का दावा न करके केवल **मानवीय** प्रतिष्ठा का दावा करे: ···एक ऐसा क्षेत्र जो समाज के अन्य क्षेत्रों से अपना विमोचन किये बगैर स्वयं अपना उद्धार नहीं कर सकता। अतः वह उन सभी क्षेत्रों का उद्धार किये बगैर स्वयं अपना उद्धार नहीं कर सकता। इस तरह यह मानवता की संयुज् या **'संपूर्ण हानि'** है और इसका उद्धार भी **'मानवता के संयुज् उद्धार'** द्वारा ही हो सकता है।"[2] सो, मनुष्य की **आत्म-विमुक्ति** (Self-liberation), क्रान्ति द्वारा, मानवता के **समग्र उद्धार** से गुँथी है। इस रिश्ते में इतिहास की आवश्यकता है और यह रिश्ता अनिर्वचनीय, अन्तहीन तथा अनायास के कुहासों से धुल गया है।

आधुनिक त्रासदी दैनिक त्रासदी तथा परम्परागत त्रासद रूपों का जेस्टाल्ट है। इसमें **'भय'** के संपूर्ण महाभाव अर्थात् **'क्रान्ति'** को स्वीकार किया गया है। अतः क्रान्ति में केवल भय ही नहीं, बल्कि, 'एक चमकीला निडर-सा आह्लाद' भी जुड़ा है। अतः क्रान्ति के नाटकीय एवं सामूहिक संवेग में **व्यथा** एवं **आह्लाद** का सामंजस्य है; इसका रंगमंच स्वयं इतिहास है तथा इसका अभिनेता वर्गसमाज है।

जिस तरह 'भय' का 'क्रान्ति' के महाभाव में रूपकल्प हुआ है उसी तरह 'करुणा' का **'बलिदान'** (सेक्रिफाइस) के महाभाव में कायाकल्प।

इस तरह सौंदर्यबोधशास्त्र और दैनिक-दैनंदिन जीवन, इन दोनों की संयुज् त्रासदी में क्रांति (भय) और बलिदान (करुणा) के महाकर्मी भाव केन्द्र में प्रतिष्ठित हो गये हैं। और **नव आधुनिकता-बोध** की हमारी सिद्धि यही द्वंद्वात्मक एकता है।

'बलिदान' के महाभाव के अंतर्गत त्याग, उत्सर्ग, अर्पण के साथ-साथ आत्म-नाश, आत्म-त्याग, आत्म-आग्रह भी शामिल हैं। इसके निषेधी हाशिये में ही आत्म-हत्या और अकेलापन आकर जुड़ता है। रेमंड विलियम्स **जिन्दगी के स्थायी या शाश्वत** अंतर्विरोध के रूप में जीवन-मरण के ध्रुवांत को निवेदित करते हैं।

बलिदान का चरमोत्कर्ष मृत्यु है; मृत्यु के बाद का उत्तर जीवन और इतिहास है। मृत्यु ज़िन्दगी के अन्तर्विरोध को निर्मल, स्वच्छ और निर्विकल्प स्पष्टता प्रदान कर देती है। क्रांति तथा क्रांतिकारी स्वभावों वाले मनुष्यों के लिये बलिदान एक **त्रासद पुनरुज्जीवन** है। परंपरागत त्रासदियों में नायक के विनाश के साथ कर्म का अंत हो जाता है। आधुनिक त्रासदी में नायक **आत्म-नाश** करता है। अतः नायक की गति से ज्यादा महत्त्वपूर्ण नायक के माध्यम से आलोड़ित गति है। बलिदान लंबी क्रांति का एक उद्धारक संदर्शन है जो इतिहास के त्रासद तथ्य के उद्धार की प्रक्रिया को एक व्यक्ति के जीवन-खंड से आगे ले जाता है। अतः बलिदान सुदीर्घ क्रांति से जुड़ा है और एक त्रासद पुनरुज्जीव है। भारत के क्रांतिकारी आंदोलन में भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद, राजगुरु, अशफ़ाकउल्ला खाँ आदि ने जो बलिदान किये वे क्रांति की मशाल को तेज़ करने के लिए और राष्ट्र के संयुज् उद्धार के लिये थे। आधुनिक भारत में श्रीकाकुलम्, मुसहरी, डेबरा-गोपीवल्लभपुर में कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों ने बलिदानों की जो परंपरा कायम की है वह राष्ट्रीय उद्धार का संघर्ष है। उसे मायावाद से ढँकने की अनंत कोशिशें हो रही हैं। शहीद

१. चे गुएवारा: वही, पृ० ७।
२. रेमंड विलियम्स द्वारा उद्धृत, 'माडर्न ट्रेजेडी', (१९६६) पृष्ठ सं० ७५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगतसिंह की तरह क्या हम क्रांतिकारी निर्मला पंचदी कृष्णमूर्ति नामक युवा नारी को गद्दार बता सकते हैं जो किसान-विमुक्ति की एक मुठभेड़ में अपने क्रांतिकारी पति के खेत रहने के बाद स्वयं हाथ में रायफल लेकर क्रांति द्वारा आत्म-उद्धार प्राप्त करती है और मारी जाती है ? क्या हम उन विद्रोही नक्सलपंथी किसानों और युवकों को डाकू, समाजविरोधी, हत्यारे मानेंगे जिन्हें राष्ट्रीय पुलिस पकड़ने के बाद जंगल में ले जाकर गोलियों से भून देती है। और मुठभेड़ में उनके मारे जाने की सरकारी विज्ञप्ति प्रकाशित करती है ? चाहे भगतसिंह हों या निर्मला कृष्णमूर्ति, दोनों को ही हर प्रकार की व्यवस्था हत्यारे, लुटेरे, कायर और गुमराह कहती आई है।

बलिदान अथवा सुखभोग—इन दो रूपों में जीवन की धारणा प्रस्फुटित होती है। बलिदान वह त्रासद प्रामाणिकता है जो बाहरी समाज की साक्षात् क्रूरताओं में साबित हो जाती है। अंततोगत्वा केवल बलिदान ही त्रासद पुनरुज्जीवन और आह्लादक आत्मोद्धार है। बलिदान में आत्म-नाश होने के बावजूद आत्महत्या की नपुंसकता, और मृत्यु का अस्तित्ववादी व्यर्थता-बोध नहीं है। आत्मोत्सर्ग वाला बलिदान आत्म-हत्या के विरुद्ध है। अतः जीवन की धारणा में हम बलिदान को बहिष्कृत नहीं कर सकते। व्यवस्था के सुखभोग अथवा सत्ता के आतंक में बलिदान को कायरता, गद्दारी, हत्या आदि की संज्ञा देना अहिंसावादी संतों और अध्यात्मवादी शासकों का ही कौशल है। जब केवल कर्मसिद्धांत अथवा दैवी सौभाग्य एवं सद्वंश के द्वारा ही उद्धार का विकल्पहीन सामाजिक दर्शन फैलाया जाएगा, जब नरकभोगी जीवन को भी ईश्वरअंशी रूप में स्थापित किया जाएगा, तब अनिवार्यतः **बलिदान** को बहिष्कृत किया जाएगा तथा **क्रांति** को वहशीपन और अराजकता बताया ही जाएगा। अतः बलिदान और क्रांति—एक खतरनाक जंगली और अमानवीय दशाएँ बता दी जाती हैं।

बलिदान की सार्थकता त्रासद पुनरुज्जीवन तथा आह्लादक आत्मोद्धार है। यह मानव जाति की करुणा का समन्वित महाभाव है। बलिदान का महाभाव इस पूंजीवादी समाज और एस्टेब्लिशमैंट की **समग्र अस्वीकृति** है। अतः यह **संपूर्ण विद्रोह** और **निरन्तर वेदनाभोग** की स्थिति है। फलतः परित्याग और आत्म-त्याग, विद्रोह और क्रांति, निराशा और आह्लाद के द्वंद्वों में से गुजरने वाले आधुनिक मनुष्य का असली आधुनिक बोध यही है। इसके प्रतिवाद में आत्महत्या तथा मृत्यु का संत्रास भी हमारे बौद्धिक एवं सांस्कृतिक अनुभवों में रोपा जाता रहा। अतः हम इस बिंदु से जीवन के शाश्वत अन्तर्विरोध के पार्श्ववर्ती **लेखक के अन्य अंतर्विरोधों** को ले सकते हैं ताकि रचनाधर्म और मानवीय कर्म के परस्पर काटते साक्ष्य खुल सकें।

केवल समझने-बूझने के लिए हम दशकों के अवैज्ञानिक बँटवारे को चुन सकते हैं क्योंकि भारतीय गणतंत्र की स्थापना (१९५०) के आसपास के दसवर्षीय किशोरों में से सन् साठ तक **नवलेखक**; और सन् साठ के आसपास के दसवर्षीय किशोरों में से **युवा लेखक** हो गये हैं। इससे पहले सन् चालीस के आसपास के किशोर पचास तक आकर **आधुनिक लेखक** हुए थे। इसके समानांतर **पाँचवें दशक** में दर्द के क्षयी रोमांसवाद को और राष्ट्रीय सत्ता को क्रमशः प्रयोग और स्वतंत्रता का प्रतिपादक माना गया। **छठे दशक** में राज्याश्रय को लेखक की रचनात्मक स्वतंत्रता का शत्रु तथा अप्रतिबद्ध एवं उदारतावादी लेखकों को धुरीहीन घोषित किया गया। सातवें दशक में पूर्ववर्ती समकालीन या नये लेखकों में से अधिकांश सुविधाजीवी तथा वेतनभोगी तथा सेठ राज्य-आश्रित होते गए और शनैः-शनैः सुरक्षा-कवचों को पहनकर वैचारिक युद्ध करने के बजाय शक्तिशाली सरकार के प्रति तटस्थ और साहित्यिक व्यापार के प्रति सहअस्तित्ववादी होते गये। इस दौरान देश में विदेशी इज़ारेदार पूंजी और भारतीय इज़ारेदार पूंजी का आक्रांतक विकास, एवं उसका गठबंधन बड़े ग्रामीण ज़मींदारों से हुआ। अतः लेखक, रचना और मूल्य—सभी 'जिन्स' बनकर अकेले बिके और कीमतों के उतार-चढ़ावों के साथ बिके। सो, इस दौर के नवतुष्टों और नवरुष्टों ने, नेताओं और सेठों ने, लेखकों और आचार्यों ने खुल्लमखुल्ला लूट-पाट की, क्रूरतापूर्वक खरीद-बिक्री के निकृष्ट व्यापार चलाये (विष्णुचन्द्र शर्मा) तथा असामाजिक मूल्यहीनता तथा फूहड़ता का, अमानवीय अकेलेपन तथा अजनबीपन का प्रोपेगंडा किया। अतः इस सांस्कृतिक और सामाजिक टोली में चुक जाने के बाद वाली मोहभंग की स्थिति में **'व्यर्थताबोध'** फैला (सिद्धेश)। **सातवें दशक** में राष्ट्रोन्मादी युद्ध और दिशाहीन आर्थिक रचना से अनिश्चयता, अधोगति और गत्यवरोध की अंधी निराशा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फैली। इस चरण में जीवन और रचनात्मकता की प्रकृत्-मैत्री के पूर्णतः भंग हो जाने पर ही वैसी त्रिधर्मी निराशा फैली, आधुनिकीकरण में समसामयिक नवीनता विलुप्त हुई और सांस्कृतिक जीवन में डायोनीसियन उन्मादों का स्वेच्छाचारी अनुप्रवेश हुआ। अतः देह की राजनीति, साहित्य की बिक्री, सेक्स की तांत्रिक क्रांति की विसंगतियाँ आदि स्थाया हो गईं। अवसरवाद और सुविधाबाज़ी ही व्यावहारिक लक्ष्य बने। अतएव इस (सातवें) दशक के युवा लेखकों एवं नवल लेखन में सर्वांगीण निषेधों एवं अस्वीकृतियों के रूप में प्रतिक्रिया हुई और इस विद्रोही प्रतिक्रिया में सकारात्मकता का पहला **रौद्र बोध** भी जागा। अतः सातवें दशक के पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध में भी चेतना के स्तर बदल गये। इस ताज़े युवा एवं नवल लेखन में एक ओर 'नवलेखनवादी' आत्मघाती आक्रोश के बजाय आक्रामक आक्रोश और विद्रोही अस्वीकृति है (विमल वर्मा, शलभ श्रीराम सिंह); दूसरी ओर देश के निर्माण तथा सामाजिक सहकार से **निष्कासन-बोध है** (नंदकिशोर तिवारी); तीसरी ओर खरीद-बिक्री वाले निकृष्ट व्यापार में विकल्पहीनता एवं अपराजेय विवशता की छटपटाहट-तिलमिलाहट है (सकलदीप सिंह, गंगाप्रसाद विमल, निर्भय मल्लिक, जगदीश चतुर्वेदी); चौथी ओर शत्रु को पूरी तरह न पहचानने के कारण, आक्रोश के आंतरिकीकरण का अभाव है (सौमित्र मोहन, लीलाधर जगूड़ी, राजकमल चौधरी, अचल राजपूत, रमेश बक्षी, शरद, विश्वंभरनाथ उपाध्याय की स्थापना) और पाँचवीं ओर शोषणयंत्र को तोड़नेवालों का प्रतिबद्ध साथ है (कंचनकुमार, रमेश गौड़, धूमिल, श्री हर्ष, कुमार विकल, रणजीत, कुमारेंद्र पारसनाथ)। पक्षधर और अराजकतावादी लेखकों की इन टोलियों ने सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और गजानन माधव मुक्तिबोध, रांगेय राघव और राजकमल चौधरी, सूर्यप्रताप सिंह तथा सतीश चौबे और केशनीप्रसाद चौरसिया के प्राणोत्सर्ग और आत्मोसर्ग को, वेदनाभोग और विद्रोह को, ईमानदारी और स्वाधीनता को, आत्मनिर्वासन और आत्मविमुक्ति को पुंजीभूत रूप में अपनी अस्मिता भी माना। यह स्वयं में एक महत्तम अंगीकार है! अगर यह अंगीकार भी दिखावा नहीं है, तो यह 'त्रासद पुनरुज्जीवन' की स्वीकृति भी है। इसलिए साफ तौर पर अब चन्द मसायल उभरते हैं: (क) देश में पूँजीवादी शोषण की लूट, कलाकृति तथा लेखक दोनों के जिन्स होकर अकेले हो जाने की प्रक्रिया की विद्रूपता-विसंगति-व्यर्थता आदि से वास्तविक आतंक और संत्रास जन्मे हैं जिनको 'नये सन्दर्भ' कह सकते हैं। इन सन्दर्भों में भारतीय तरुण बौद्धिकों में समानांतर बिखराव और परस्पर-विरोधी साक्ष्यों का 'भटकाव' अर्थात् 'विकेंद्रित विद्रोह' (धुरीहीन नहीं) की असली-नकली, सच्ची-झूठी, सही-गलत भंगिमाएँ तथा पीड़ाएँ मौजूद हैं; (ख) सामाजिक क्रूरता से उत्पन्न निष्करुण व्यक्तित्व, और जिन्स बन जाने से निकृष्ट व्यापार की सौदेबाज़ी तथा अकेलेपन का नंगा, बनैला अंधा आतंक दृष्टिहीन विद्रोह को अंधे अवसरवाद में बदल रहा है। फलस्वरूप दारुण यातना और मानसिक करुणा के बीच भी निष्करुणा, लूट-पाट तथा खरीद-बिक्री के बाज़ार में मूल्यहीनता तथा सम्बन्धहीनता का फैलाव हुआ। फलतः हमारी आधुनिक 'त्रासदी' की समस्या क्रान्ति से न जुड़कर 'संक्रान्ति' से जुड़ गई है। सातवें दशक के आखिरी सालों के बाद से तो सामाजिक अन्यायों की क्रूरता तथा आर्थिक जीवन में लूट-खसोट एक अनचाहे आतंक के अनुभव के बजाय 'जीवित संस्कार' ही बन गये हैं। अतः इस बदली हुई मानसिक दुनिया के केन्द्र में चुभा हुआ युवा बौद्धिक अब कामू या काफ्का को नहीं देखता, बल्कि किसी साहित्य अकादमी के तपःपुंगव और और महान सौदागर लेखक अथवा बेरोज़गार विद्रोही, डटीले रमेश गौड़ को देखता है। अतः तत्काल के इस अनिश्चयतापरक वातावरण में **इतिहास** एक प्रेतस्वप्न तथा **मर्यादा** एक पालतू कुत्ते का पट्टा लगती है। अतः सुसंस्कृत, सुकोमलकांत, शालीन एवं शास्त्रीय भाषा से भी विद्रोह करके ये लेखक अक्खड़-अखबारी-आक्रामक-असंस्कारी भाषा की वह एस्थेटिक्स बूझ रहे हैं जो नाराज़गी और गाली की, ऊब और चीख की, बेहूदगी और बकवास की भी अभिव्यक्ति कर सके। और अभी-अभी ये नये-नवेले व्यावसायिक पत्रिकाओं से अलग होकर मुख्यतः छोटी पत्रिकाओं के मंच से सही लेखन और सच्चे लेखकों की तलाश कर रहे हैं। इतनी बड़ी व्यवस्था से टकराने के लिये विकेंद्रित विद्रोह, अंधा अवसरवाद तथा नकली अस्वीकृति से ओतप्रोत अधिकांश पत्रिकाएँ क्या करेंगी? कमलेश्वर इन्हें व्यक्तित्वहीन पत्रिकाएँ कहते हैं और बताते हैं कि इनका लगभग एक स्वर है व्यर्थता का। इन पत्रिकाओं में अंधी अवसरवादिता का सुविधावादी ढोंग है जो **समय की अनिवार्य आवश्यकता** का अंग नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय की अनिवार्य आवश्यकता है संत्रास और यंत्रणा के कारणों की पहचान ![1] इस तरह सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना में बड़ी जल्दी-जल्दी बड़े बारीक और बेहद विविध परिवर्तन हो रहे हैं जिनमें तात्कालिकता की स्फूर्ति के गुण तथा अनिष्ट, दोनों का सामंजस्य है। ये परिवर्तन अब खुल-कर और नंगे होकर हो रहे हैं। ये परिवर्तन मनुष्य तथा लेखक के कई गौण तथा अज्ञात अंतर्विरोधों को उद्घाटित कर रहे हैं। अतः उनके लिए 'तनाव', 'बुनावट', 'खिंचाव' के बजाय 'आक्रामकता', 'विवशता', 'जीवित संस्कार', 'नंगा साक्षात्कार' जैसे लट्ठधारी पारिभाषिक आ डटे हैं! हम उनका स्वागत करते हैं!

तथापि मनुष्य का प्रथमूल अंतर्विरोध तो कर्म से कटाव और अंतर्मुखी अकेलेपन के आतंक के बीच है। इसी तरह रचना-संसार का प्रमुख अंतर्विरोध व्यापार (बाज़ार) और कला (सांस्कृतिक मूल्य) के बीच है। ये दो केन्द्रीय अंतर्विरोध हैं जो हमारी संस्कृति, समाज तथा लेखकों के मुखौटे, नकाब, भंगिमाएँ आदि उघाड़ रहे हैं। फलस्वरूप हम एक भयानक यथार्थ और निर्मम सत्य के आमने-सामने आते जा रहे हैं जिससे हमारी 'त्रासदी'[1] संक्रांति को धके-लती हुई क्रांति की ओर बढ़ रही है।

हमारी त्रासदी में बाज़ार और कलाकृति के बीच का अन्तर्विरोध ज्यादा खुला है। अन्तर्विरोध का द्वन्द्वात्मक चरित्र ही यह है कि वह दोनों पक्षों की एकता एवं संघर्ष की गति से खिले-खुले। अतः बिकाऊ माल की मंडी की तरह संस्कृति भी एक बाजार बनी जहाँ कृतियाँ और लेखक 'अकेली जिन्स' की तरह सिजदे कर रहे हैं। इस बाजार में एक ओर व्यावसायिक पत्रिकाएँ आईं जिन्होंने उन अनेक आधुनिक एवं प्रतिबद्ध लेखकों को समेट लिया जो पहले अप्रतिबद्धता को धुरीहीनता और साहूकारों के आश्रय को पर-तंत्रता बताते थे। फिर एस्टेब्लिशमेंट ने अपनी न्यूनतम शर्तों पर आचार्यों और रचनाकारों को खोंसकर सम्मानित किया। फिर सरकार ने भी खरीद-बिक्री के कई तिलिस्मी दरवाज़े खोले। अतः मूलक्रिया ऐसी घटी कि क्लासिकल बौद्धिकों की तरह आधुनिक एवं नये लेखक भी दुमछल्ले संस्थान-स्थापक हो गए। किन्तु अपने पुराने स्वतंत्रोपासक, आधुनिक और

१. दे० 'छोटी पत्रिकाएँ—बड़ी पत्रिकाएँ : कागज के इन घरों से निकलकर' "शताब्दी", जनवरी-मई १९६६, पृ० १६६, १७०।

प्रतिरोधी बिंब की छाया को कायम रखने के लिए ये एक ओर फार्मूलेबाज़ लेखन के अन्तर्गत देह की राजनीति को अपनाते गए तो दूसरी ओर सेठ-सरकार-आचार्य का विरोध-विद्रोह न करके तटस्थता एवं उदारतावादी अवसरवाद के शिकारी-खिलाड़ी होते गए। अतः वे सुविधाजीवी और वेतन-भोगी लेखक और मनीषी बन गए। उन्होंने व्यापार की कई ट्रिकें और तुर्पचालें सिद्धहस्त कीं। अनुवादक, टेक्स्टबुक लेखक, शिक्षाबोर्ड में पुस्तकें स्वीकृत कराने वाले दलाल, दूतावासों से काम दिलाने वाले परोपकारी लेखक आदि बनकर उन्होंने ऐश्वर्यपूर्ण सुविधाओं तथा प्रेतलेखकों को साथ-साथ अवतरित किया। इसके लिए उन्होंने कई सुरक्षा-कवच पहने जो उन्हें सफल व्यापारी और कीमती नेता बना दें; उन्होंने अपने दंभाडंबरों को सतर्कता से ढँका। इस तरह उन्होंने **दोहरे एवं दोगले व्यक्तित्व** का विन्यास कराया।

अनेक होनहार, बेकार प्रतिभाशाली लेखक भी इस जाल में कुदरतन फँसे और उन्हें भी अवसरवादी तथा अभिनयवादी बनना पड़ा। अनेक घाघ सप्तमहारथियों ने इन अल्हड़ अभि-मन्युओं को भी **मुखौटे** और **नकाब** के लेखक-कर्म सिखा दिए। निष्कासित और निर्वासित ताज़े नये लेखकों ने पर्दे की आड़ में सिफारिश-चुगली-चापलूसी-रिश्वत-तिकड़म का पचनोली चक्रव्यूह समझ लिया। अतः इनमें भी बहुत-से नवकाल, बहुत-से मीडियाकर और बहुत-से नकाबपोश आकर शामिल हो गए। अगर वे दोहरे हाथ मारने वाले फार्मूले-बाज कलाकार थे तो ये नवरुष्ट चुटकुलेबाज़ भी हुए। तो, इनके विद्रोह की दिशाहीनता और विकेन्द्रीयता की निचली परिणति यह चुटकुलेबाज़ी हुई। इसकी पूरक होकर 'न'-कार की कई अभिनय-मुद्राएँ और भंगिमाएँ भी निरूपित हुई। विकेंद्रित-दृष्टिविहीन विद्रोह के उद्घोषक सुरेन्द्र चोपड़ा, रमेश बक्षी, निर्भय मल्लिक, और सिंदवादी मुद्राराक्षस बने। इस जटिलता के समानान्तर अर्थात् सुविधाजीवी तथा मोटे वेतनभोगी लेखकों के मुकाबले **वेदनाभोगी** लेखकों ने मशालें जलाईं। विष्णुचन्द्र शर्मा, धर्मेन्द्र गुप्त, शैलेश मटियानी, ब्रजकुमार पांडेय, अचल राजपूत, रमेश गौड़, कंचनकुमार, रामेश्वरदत्त मानव, अलखनारायण, शरद आदि की यह परस्परविसंवादी मंडली हमारे नयेपन की शानदार उपलब्धि है। इनके प्रमुख लेखन की तुलना में विकेन्द्रित विद्रोह की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रिज्या वाले लेखन का निम्न बुर्जुआवादी चरित्र अर्थात् सांस्कृतिक बचकानापन उजागर हो जाता है। यह कंट्रास्ट यह भी दर्शा देता है कि अभिशप्त नियति के **मुखौटे** अन्त तक आते-आते—व्यर्थ और गलत होते-होते—अवसरवादी **नकाबों** में रूपांतरित हो गये। किन्तु यही मोहभंग, अब आकर, आंदोलनकारी सिद्ध हुआ।

नये बौद्धिक और लेखक दृष्टिहीन तथा विकेन्द्रित विद्रोह की आवश्यकता को स्वीकार करने लगे। पूर्ववर्ती अस्वीकृतियों और आत्मप्रेम से निस्संदेह यह अगला कदम है। इन्होंने विद्रोह की चेतना को एक **मंच** भी दिया। अतः इनमें अकेलेपन के नंगे और बनैले आतंक से छूटने का संकल्प सुगबुगाया। अकेलेपन का विकल्प तो **संगठन** है। और संगठन तभी संभव है जब हमारे आक्रोश-विद्रोह-आक्रामकता का लक्ष्य अर्थात् 'शत्रु' मालूम हो। जब 'रावण' का पता चल जाएगा तभी, (बकौल मुक्तिबोध के—) हमारी युवापीढ़ी 'रावण के घर पानी भरने से इन्कार' करेगी। अतः विद्रोही संगठन का स्वरूप **मंच** को '**मोर्चे**' में रूपांतरित करने से ही उभरेगा। हमने **ऐतिहासिक** बुराइयों या अनिष्टों की चर्चा की थी और उन्हें यंत्रणा एवं वेदना के भोग की आवश्यकता से जोड़ा था ताकि क्रांति (इस यंत्रणाभोग से) उद्धार कर दे। अब हम वर्तमान की **संगठित** बुराइयों या अनिष्टों के तथ्य को स्वीकार करते हैं। अतः संगठित बुराई के लिए **संगठित आंदोलन** के सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं है। अतः हमारे सामने असली चुनौती है सांस्कृतिक आयाम का राजनीतिककरण करने की। हमारे विद्रोही लेखन का स्वर उत्तरोत्तर राजनैतिक होता जा रहा है—अब इस सत्य को अस्वीकार करने का पाखंड नहीं चलेगा। अतः इस 'विकेन्द्रित विद्रोह' का भारतीय सांस्कृतिक जीवन के इतिहास में पहली बार ध्रुवीकरण होने वाला है। अतएव निष्कासन और निर्वासन, व्यर्थता और विवशता, विसंगति और विकल्पहीनता की अधुनातन दशाओं के बीच से तीर की तरह चीरता हुआ विकेन्द्रित विद्रोह के ध्रुवीकरण, तथा सांस्कृतिक आयाम के राजनीतिककरण का समारंभ हो रहा है। 'आटोमेटिक तथा अन्धे होनेवाले इस साहित्यिक विद्रोह' की नियतियात्रा सांस्कृतिक क्रांति है बशर्ते फूहड़ता की महामाया छँटती रहे।

पूर्ववर्ती आधुनिक तथा नये लेखकों (की पीढ़ी) के बारे में कहा जाता है कि सुविधा और सुरक्षा, स्नाबरी और सौदागरी ने उनके शरीर तथा व्यक्तित्व दोनों को दोहरा बना दिया था। आज नवल और युवा लेखकों को भी बेकारी और लाचारी का शिकार होकर अवसरवादी तथा अभिनयवादी चरित्र संस्कारित करना पड़ गया है। वे व्यापार करने के लिए सुरक्षा-कवच लगाते थे तो हम उसे अभिनय करने के लिए लगाते हैं। युद्ध के लिए दोनों ने इसका इस्तेमाल नहीं किया। अतः 'मंच' मोर्चा नहीं बना। अतः प्रतिरोध में आने के लिए नेतिकरणों की कतार लगाई गई (अस्वीकृति, अनास्था, अनागरिक, अकथ, अकच, असंतुष्ट आदि); फिर आत्महत्या, आत्मप्रेम, व्यर्थता, मृत्युबोध या सेक्स-क्रांति की कोई भी सुविधाजनक बेईमान पोशाक पहनी गई; फिर भाषा की लड़ाई में अघोरफंटई की गई और फिर विद्रोह को राजनीति से, सामाजिक क्रांति से, जोड़ने में हिजड़ापन दिखाया गया। इस तरह पुनः विकेन्द्रित विद्रोह भी परोक्ष ढंग से पूंजीवादी ढाँचे की सुरक्षा का कलात्मक विनोद बनकर चुक सकने के खतरे का सामना कर रहा है। जीवन को रचनात्मक बनाना, सच्चा बनाना, सही बनाना और सुखी बनाना ही 'सांस्कृतिकीकरण' है। यही कला का धर्म है। यही लेखन-कर्म है। यही राजनीति-धर्म है। अतः **सांस्कृतिकीकरण और राजनैतिकीकरण** की सहवर्ती प्रक्रिया ही '**नवयुवाधुनिक**' लेखन का रचना-धर्म है। अतः हमारी सामाजिक-सांस्कृतिक त्रासदी क्रांति से सम्बद्ध होने को आतुर है। अगर शोषणयंत्र के नौकरशाहों और आततायी श्रीमंतों की स्थापना यही है कि विद्रोह करना लेखकों और जनता का काम नहीं, बल्कि कम्युनिस्टों का काम है; अगर सामाजिक परिवर्तन और गरीबों के उद्धार की बातें करना बागियों और डाकुओं का काम है; अगर सांस्कृतिक क्रांति और कृषक-क्रांति को आंदोलित करना केवल नक्सलवादियों का राष्ट्रद्रोह है; अगर समाजवाद का आह्वान करना अपराधी प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी की कम्युनिस्ट-तानाशाही वाली चाल है, तो नवल और युवा लेखक को अपने 'विद्रोह' को भी सभ्य, सुविधाजीवी और सुरक्षापूर्ण पोशाक पहनानी होगी। पूर्ववर्ती महान् बुजुर्गों और आत्मनिर्वासित प्राज्ञ आधुनिकों के मुखौटे इसी गुस्ताख मंडली ने नोंच फेंके हैं। अब तो इसके भी अभिशप्त नियति के झूठे **मुखौटों** तथा चुटकुलेबाज अवसरवादी **नकाबों** को खींचकर उछाल फेंकने के लिए इनके बीच से ही नये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्धिक और लेखक तैयार होंगे।' हुजूर, इसे हम आंतरिक अंतर्विरोध कहते हैं! केवल व्यवहार और अभ्यास की कसौटी ही दृष्टिहीन विद्रोह और ढुलमुल अवसरवाद को समाप्त करके सही विद्रोह और सही दिशा दे सकती है।

सामाजिक चेतना का परिवर्तन और सांस्कृतिक चेतना का नवोन्मेष हमेशा नये अनुभवों से होकर गुजरने में होता है। नये अनुभवों का अवसर ज्यादातर सामाजिक एवं राजनैतिक आंदोलन प्रदान करते हैं। परिवेश की आम जागरूकता का सृजन पर ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ता है। मिसाल के तौर पर बँगला और हिन्दी के 'आधुनिक' नाटककार मोशाय उत्पलदत्त और होनहार मोहन राकेश को ले सकते हैं। उत्पलदत्त में सांस्कृतिकीकरण और राजनैतिकीकरण का सहवर्तन है, जबकि मोहन राकेश में उनके बीच खाई है। उत्पलदत्त के 'कल्लोल' और राकेश के 'आधे-अधूरे' की तुलना राजनैतिकीकरण के अधूरेपन को खोल देती है। इसी तरह पहाड़ी संथालों पर लिखे गए उत्पलदत्त के 'तीर' नाटक और पहाड़ी अंचल में निवेशित मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' शीर्षक नाटक में सांस्कृतिकीकरण के आयामों में जमीन-आसमान की दूरी दृष्टिगोचर हो जाती है। उत्पलदत्त का 'तीर' सांस्कृतिक दर्पण में क्रांतिकारी पुनरुज्जीवन को उभारता है। मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' ग्राम-कवि कालिदास, काश्मीर-प्रशासक कालिदास और अजनबी-अकेले-आधुनिक कलाकार कालिदास को उभारता है। राज्य-सत्ता के सम्मान और प्रभुता के बीच भी कालिदास का आत्मविघटन होता गया और उसके कलाकार की रचनात्मक स्वाधीनता समाप्त हो गई। अतः वह आत्म-मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है। इस नाटक में मोहन राकेश के दशक में उभरती हुई इतिहास की विडंबना एवं 'आधुनिक' कलाकार-मनुष्य के अपरिचय-अजनबीपन-अकेलेपन की वेदना-पीड़ा के आयामों का उद्घाटित किया गया है। किन्तु यहाँ भी सुविधाजीवी और अवसरवादी कालिदास के रूप में तत्कालीन लेखकों की समझौतावादी उज्जयिनी झिलमिलाती है। 'बलिदान' और 'संत्रास' की आधुनिक नाटकीय अनुभूति की तीव्र छटपटाहट तो जयशंकर प्रसाद में देखने को मिलती है जब वे अपने सुखान्तिकी-नाटकों—'स्कंदगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी'—में प्राणोत्सर्ग की दुःखवादी करुणा और अत्याचारों-नृशंसताओं के आतंक को क्रमशः बौद्ध-दर्शन और ऐतिहासिक नियति के साँचों में ढालने की कोशिश तो करते हैं किन्तु करुणा की वरुणा-धारा उनके आनंदवादी जीवन-दर्शन को बहाती जाती है। 'आत्मजयी' (कुंवरनारायण) और 'एक कंठ विषपायी' (दुष्यंतकुमार) में 'त्रासद जग-रूकता' तेजोद्दीप हो उठी है। 'अंधा युग' में त्रासद फूहड़ता उद्घाटित होती है और यह निर्भय सत्य की वास्तविकता को झेलता है। अतः आधुनिक लेखन की एकबारगी सामूहिक ट्रायल करके उसे अराजकतावादी अग्निकांड को सुपुर्द कर देना अंधे विद्रोह की आत्महत्या होगी। हमें तो उनके अंतर्विरोधों को निर्ममता से नंगा करना ही होगा। हमवतन, बस आखिरी खुली बेलौस चुनौती शेष रह जाती है!

अब तक 'नवलेखन', 'नवल लेखक', 'युवा लेखक', 'युवा आन्दोलन', 'युवा पीढ़ी', 'युवा चिंतन', 'छात्र पीढ़ी' आदि की सत्ता तो कुबूल कर ली गई है। किन्तु 'नया मनुष्य' कैसा है? कौन है? कहाँ है?—इस समस्या को क्यों छोड़ा गया? नये इंसान के बिना नवलेखन और युवा चिंतन कैसे होगा? छोटी पत्रिकाएँ तो नये इंसान नहीं बनाएँगी!

१. इस प्रसंग में विष्णुचन्द्र शर्मा के 'समाज कुछ वस्तुओं के बदले कुछ वस्तुओं को खरीदने का बाजार है—और खरीद-बिक्री निकृष्टतम कार्य है' शीर्षक लेख की ये जरूरी पंक्तियाँ पठनीय हैं : "सुविधा लेखक के अन्तर्विरोधों को नंगा कर देती है। हिन्दी के ये जंगलगे व्यक्तित्व अपने अन्तर्विरोधों में आज नंगे हो चुके हैं।...हिन्दी में ज्यादातर व्यक्ति कवच लगाकर विरोध में खड़े होते हैं और कवच-सुरक्षा की पहली पंक्ति में ही व्यापार का रूप ले लेता है। वह युद्ध का कवच न होकर व्यापार का दाँव बन जाता है। यानी, चित भी मेरी, पट भी मेरी।...पंक्ति एक ही है—अज्ञेय से होती हुई नामवरसिंह तक। यह दोहरे व्यक्तित्व की पंक्ति है।...सौदे की दौड़ में देह की राजनीति करने वालों की पंक्ति है, यानी खुद सौदागरों की पंक्ति है।...मन का टूटा हुआ आदमी हर किसी के पास जाता है। खिसियाकर जाता है, दब्बू बनकर जाता है, रिरियाता हुआ जाता है। और यही हिन्दी के अद्वितीय व्यक्तियों की नियति है। वे एक अद्वितीय पंक्ति हैं रिरियाती हुई।...हमारा विरोधी मानसिक संस्कारों का बनिया है और वही आर्थिक क्षेत्र का सुविधाजीवी साम्राज्यवादी है। किसी भी स्तर पर मानसिक संस्कारों के बनियों से हम दबाव और तनाव झेलकर जी रहे हैं। यह विश्वास मन में है कि उसे एक दिन वियतनाम-युद्ध में ही नहीं, अपने देश में चल रहे आंतरिक युद्ध में भी घुटने टेकने पड़ेंगे।"—'नीलपत्र'—२, संपादक—के० विक्रम, पृ० १५-१८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें प्रकाशित पर्याप्त 'नवलेखन' भी तो मुखौटों-नकाबों-भंगिमाओं वाला है ! नये मनुष्य के बिना नवलतर या युवा लेखक कैसा ? नवलेखन और युवाचिंतन कैसा ? यद्यपि यह एक अलग दार्शनिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक महाप्रश्न है; किन्तु यह दैनिक समस्या भी है।

जाहिर है कि हमारा नया इंसान कल्कि-अवतार नहीं होगा। वह अर्द्धदैवी मानव, अतिमानव या लघु मानव भी नहीं होगा। वह हम-जैसा ही साधारण किन्तु विशिष्ट होगा। उसके आविर्भाव की प्रक्रिया दैनिक जीवन की त्रासदियों के अनुभव से उपजी त्रासद जागरूकता होगी; अकेलेपन के संत्रास और आतंक के भोग उपजा उसके कारण की पहचान होगी; अभ्यास और व्यवहार के बीच फूटा सही-गलत का विवेक होगा; सामाजिक व्यवस्था के अंतर्विरोधों से विस्फोटित क्रान्ति की आवश्यकता और दिशा की संभावनाओं का प्रयोग होगा। परिवर्तन की आवश्यकता का तीव्र अनुभव करने वाले और वर्तमान की यथास्थिति को अस्वीकार करने वाले इंसानों तथा बौद्धिकों में ही—यह बोध तथा कर्म जागेगा कि पूंजीवादी शोषणतंत्र और व्यक्तिवादी आत्मनिर्वासन को चकनाचूर किये बिना कुछ भी नया नहीं उपजेगा। अतः नया इंसान उन्हीं के बीच से, और उन्हीं में, प्रादुर्भूत होगा जो अपनी त्रासदी को भोग रहे हैं, त्रासद भोग को चेतना में रूपांतरित कर रहे हैं और नई चेतना को सामाजिक सहभाग की शक्ति के माध्यम से क्रांतिकारी चेतना में बदल रहे हैं। अतः क्रांतिकारी चेतना आत्मनिर्वासित मनुष्य को जागरूक बनायेगी। वह यांत्रिक पूंजीवादी व्यवस्था की गुलामी से विद्रोह करेगा। विद्रोह ही क्रमशः मंच, मोर्चा, संगठन, आन्दोलन की सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ क्रांति बनेगा। क्रांतिकारी इंसान ही नया इंसान होगा। आधुनिक व्यवस्था एक विश्व-व्यवस्था का अंग है। क्रांतिकारी इंसानों के नमूने के रूप में चेगुएवारा, होचीमिन्ह, सार्त्र, रसेल, अजितानारायणन्, निर्मला कृष्णामूर्ति, कानूसेन्याल हमारे सामने हैं। अतः नये इंसान सचेतन होकर स्वयं इतिहास का निर्माण करेंगे और तभी हमारा समग्र उद्धार होगा—क्रान्ति द्वारा ! एक नये इंसान के नमूने के आते ही पूरी व्यवस्था में उथल-पुथल मच जाती है। आत्मत्यागी गांधी भी अपने समय का नमूना था। आज हमारी व्यवस्था में लोहिया, मार्क्स, चे, नक्सलपंथी के नमूने हैं। इनके अनुप्रवेश से हमारी त्रासदी के हाशियों के 'सन्दर्भ' भी नये हो गये हैं। इनके प्रभाव से बूढ़े और किशोर बौद्धिक या लेखक या इन्सान आत्म-विमुक्त होकर नवल और युवा हुए हैं : पुनरुज्जीवित और पुनर्नवा ! !

अभी तक हमने अपने सामाजिक यथार्थ में उस नये मनुष्य की रेखाकृति खींच ली है। वह नया इंसान पहले-पहल तो सुविधाजीवी और लम्बोदर वेतनभोगी नहीं होगा; अर्थात् वह परिश्रमी होगा। वह अवसरवादी नहीं होगा अर्थात् पक्षधर और सुदृढ़ होगा। वह सुरक्षा के ढोंगी कवचों में व्यापार नहीं करेगा अर्थात् वह त्यागी और जोखिम झेलने वाला होगा। वह वेदना तथा यन्त्रणा को ईमानदारी तथा निर्भीकता से व्यक्त करेगा अर्थात् वह विद्रोही एवं आक्रामक होगा। वह पूंजीवादी शोषणतन्त्र को तहस-नहस करने का आह्वान करेगा अर्थात् वह वर्गविहीन समाज में स्वतन्त्रता की आकांक्षा रखता होगा। वह मोहभंग, व्यर्थता, विसंगति, विद्रूपता, विकल्पहीनता की यन्त्रणा के भटकाव का अनुभव कर चुका है अर्थात् वह सृजनात्मकता और मानवीय सार्थकता चाहेगा। वह सत्ता और व्यवस्था से अभिशप्त है अर्थात् वह स्वतन्त्र नहीं है और स्वतन्त्रता का कामी है। इस बिन्दु तक वह आक्रामक विद्रोह को स्वीकार कर चुका है तथा पूंजीवादी व्यवस्था की यांत्रिकता और शोषण-उत्पीड़न में स्वयं को गुलाम पा रहा है। उसकी इस गुलामी में अवमानवीयकरण, पाशविकीकरण, असामाजिकीकरण और निष्कासन-निर्वासन भी हैं, अर्थात् इस बिन्दु पर वह एक अकेला विद्रोही है और ऐकल-गुलाम आदमी ! यहाँ तक यथार्थता की क्रूर-करुण स्थिति है।

इस भारतीय इंसान की गुलामी में पूंजीवादी व्यवस्था, श्रीमंतों-पूंजीपतियों-सामंतों की सत्ता, समाज में खरीद-बिक्री की निकृष्टतम अमानवीय संबंधता तथा संगठित बुराइयों की रूढ़िता का योग है। ये सभी संगठित हैं। अतः इनका मुकाबला भी संगठन से ही हो सकता है। अतः व्यक्तिवादियों के उस मिथक का हम बहिष्कार करते हैं जो प्रत्येक संगठन को व्यक्ति का शत्रु घोषित करता है। यह रोमांटिक अराजकतावाद है जो पूंजीवादी व्यवस्था या किसी भी व्यवस्था को अस्वीकार करता है, जो मनुष्य को असंगठित करके अर्थात् अकेला छोड़कर एक नंगे, बनैले आतंक द्वारा उसका वध करता है। यह अराजकतावाद ही संत्रास और शोषण के कारणों की पहचान से इन्कार करता है और विद्रोह को विकेन्द्रित बनाकर अन्धा विद्रोह तथा प्रतिबद्धता को नकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर अंधी अवसरवादिता के नकली मुखौटे और झूठ नकाब ओढ़ाता है। यही रोमांटिक अराजकतावाद नवल और युवा लेखन पर हावी होकर विकेंद्रित विद्रोह का न तो ध्रुवीकरण होने दे रहा है और न ही उसको क्रांतिकारी राजनैतिक आंदोलनों से संबद्ध कर रहा है। अतः इस विकेंद्रित विद्रोह के ध्रुवीकरण के दौर में ही हम क्रांति से प्रतिबद्ध होकर संगठित हो सकते हैं। अतः हमें संगठित क्रांति की ओर अग्रसर होना है। जीवन के सांस्कृतिकीकरण और संस्कृति के राजनैतिकीकरण के माध्यम से !

दूसरा आगामी बिंदु कर्म का है। एक मनुष्य का लेखक-कर्म उसका सम्पूर्ण कर्म नहीं है। उसके बहुविध जीविका-कर्म हैं, नाना सामाजिक कर्म हैं; विविध वैयक्तिक कर्म हैं। उनमें ही उसका लेखक-कर्म शामिल है, जो स्वयं में विशिष्ट अधूरा और एकांगी है। अतः अन्य सहकारी कर्म उसके लेखन-कर्म को व्यापक तथा विश्वसनीय बनाते हैं। ये विविध कर्म ही उसे अनेक सांस्कृतिक विकल्प देते हैं, विसंगति के कारण स्पष्ट करते हैं तथा सौंदर्यमुखी रचना के कानेपन और गूँगेपन की पूर्ति करते हैं। ये कर्म ही उसके असमर्थ आक्रोश को सार्थक संस्कार देते हैं। ये बहुविध कर्म ही उसके संदेहवाद को समाप्त करके उसे उन वर्गों से जोड़ते हैं जो उसकी तरह इस व्यवस्था को तोड़ने का वर्ग-संघर्ष कर रहे हैं। अतः वह जब तक इतनी स्थायी यंत्रणा नहीं संचित कर लेता कि उद्धार-विवशता हो जाए तब तक वह व्यर्थताबोधक आक्रोश में अकेले आतंकित होता रहेगा और जनता-संगठनों के साथ आंदोलन में शरीक नहीं हो सकेगा। अतः हमें आन्दोलन को स्वीकार करना है। संपूर्ण उद्धार के नये विकल्पों में से एक को चुनने की अनिवार्यता हमारे समय की आवश्यकता है। हमारे देश में किसान-विद्रोह के आंदोलन हैं, स्वतन्त्र व्यापार के आंदोलन हैं, हिंदू राष्ट्रवाद के आंदोलन हैं, समाजवादी उद्धार के आंदोलन हैं, इत्यादि। हमें इनमें से किसी एक से कटिबद्ध होकर जुड़ना है ताकि हमारी त्रासदी की दिशा क्रांति की ओर उन्मुख हो, ताकि हमें वेदनाभोग की यंत्रणा के साथ-साथ अपने निर्जी त्याग एवं उत्सर्ग का, दृढ़ता और ईमानदारी का, आक्रामक साहस और सांस्कृतिक मौलिकता का आह्लाद भी तो मिले ! अतः एक लम्बी क्रान्ति के लिए जब नवयुवा लेखक कटिबद्ध एवं प्रतिबद्ध एवं संगठित होकर अपने लेखनकर्म को सम्पूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक कर्म से संयुक्त कर देंगे तभी 'नया इंसान' आविर्भूत होगा और नया लेखन-युवाचिंतन सही और सच्चा, सार्थक और मौलिक, रचनात्मक और परिवर्तनकारी होगा।

इस तरह हमारी आधुनिक त्रासदी दैनिक त्रासदियों तथा ऐतिहासिक त्रासद रूपों का मेल है जिसमें क्रान्ति ने भय को, तथा बलिदान ने करुणा को महाभाव में रूपांतरित कर दिया है और जिसमें क्रान्ति के द्वारा ही सम्पूर्ण उद्धार का असली विकल्प है, और जिसका नेता एक मामूली, ईमानदार, प्रतिबद्ध, निर्भीक 'नया मनुष्य' है। यह मनुष्य भरत के 'चतुर्धीर नेता' या अरस्तू के 'त्रासद कुलीन' से बिल्कुल भिन्न है। यह 'क्रान्तिकारी' मनुष्य है !

अतः हमारी वैशम्पायन गाथा है : आधुनिक त्रासदी को बलिदान (करुणा) और क्रान्ति (भय एवं आह्लाद) से पुनरुज्जीवित होने दो !! •

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एब्सर्डिटी : संप्रत्ययात्मक विश्लेषण

देवकीनन्दन द्विवेदी

अबौद्धिक चिंतन अतिबौद्धिकता की स्वाभाविक परिणति है। और सार्वभौमिक, शाश्वत, निरपेक्ष एवं निर्वैयक्तिक मूल्यों की उद्भावना मूल्यहीनता की पूर्व भूमिका मात्र है। दोनों का सम्बन्ध हेगेल के वाद और विवाद की तरह है। मेरा उद्देश्य न तो इनमें से किसी का समर्थन करना है, न इनका संवाद प्रस्तुत करना। ये तीनों विकल्प समान रूप से दोषपूर्ण हैं। इनके पीछे यह मान्यता काम करती है कि मूल्य या तो शाश्वत और निरपेक्ष हैं या हैं ही नहीं, ज्ञान या तो सम्यक् है या है ही नहीं, या तो सब-कुछ निश्चित है या सब-कुछ अनिश्चित है, या तो सब-कुछ प्रामाणिक और तर्कसंगत है या कुछ भी प्रामाणिक नहीं। ऐसे सभी सिद्धान्त 'ज्ञान', 'प्रामाणिकता', 'मूल्य', 'औचित्य' और उनसे सम्बन्धित अन्य शब्दों के वास्तविक प्रयोगों को न समझने के कारण हैं। एब्सर्डिटी के समर्थक और विरोधी दोनों की भूलें एक-सी हैं।

एब्सर्डिटी का सबसे बड़ा प्रमाण मृत्यु को माना गया है। जहाँ सब-कुछ अनिश्चित है, एक अपवाद है, और वह है मृत्यु। मृत्यु सभी व्याख्याओं, तर्कों और मूल्यों की इति है। न उससे बचा जा सकता है, न उसे झुठलाया जा सकता है, न उसका अतिक्रमण ही संभव है। मृत्यु ही वह ध्रुव सत्य है जो सभी सत्यों का नकार है। जगत् और जीवन तथा उनके तथ्य और मूल्य स्वयं अपने निषेध हैं। इस निषेध का प्रथम अनुभव मृत्यु-बोध है। यह तथ्य कि मेरी मृत्यु निश्चित है, सभी अनुभवों को अर्थहीन बना देता है। कोई भी नैतिक मूल्य, कोई भी प्रयास मृत्यु के सम्मुख उचित नहीं माना जा सकता। स्वर्ग, ईश्वर एवं अमरत्व मृत्यु-बोध के त्रास से बचने के काल्पनिक विकल्प मात्र हैं। जीवन सारहीन और निरर्थक है। इस जगत् में अथवा इसके बाहर भी इसे अर्थ देने की कोई सम्भावना नहीं। मृत्यु अनिवार्य एवं अन्तिम सत्य है।

एब्सर्डिटी का एक और प्रमाण वस्तुओं की रहस्यमयता और अज्ञेयता है। मनुष्य सभी वस्तुओं की व्याख्या करना चाहता है। वह सब-कुछ जानना चाहता है। किन्तु यह इच्छा कभी संतुष्ट नहीं होती। विज्ञान भी केवल तथ्यों को हमारे समक्ष रख देता है, उनकी व्याख्या नहीं करता। हम वस्तुओं को पूर्णतया जानना चाहते हैं किन्तु वे सदैव हमारी पकड़ से निकल जाती हैं। हम स्पष्टता चाहते हैं किन्तु वे मूलतः अस्पष्ट हैं। हमारी जानने की इच्छा और जगत् की अबौद्धिकता में अनिवार्य द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व ही एब्सर्ड है। संक्षेप में, न हम किसी वस्तु को पूर्णतया जान सकते हैं, न किसी घटना की व्याख्या कर सकते हैं, न किसी मूल्य का औचित्य सिद्ध कर सकते हैं। सभी वस्तुएँ, सभी अनुभव विरोधग्रस्त हैं। किसी को भी प्रमाणित करना संभव नहीं। इस दिशा में किये गये सारे मानव-प्रयास निरर्थक हैं। कोई भी क्रिया सार्थक नहीं।

एब्सर्डिटी की इस एब्सर्ड धारणा ने हमारे समय को बहुत अधिक प्रभावित किया है। फ्रेंच दर्शन और साहित्य, (जिनमें इस धारणा का जन्म हुआ) ने दूसरे देशों के विचारकों को भी प्रभावित किया। युद्ध, औद्योगीकरण, बेकारी एवं आर्थिक परिवर्तनों ने इस धारणा के विकास में विशेष सहयोग दिया। किन्तु यह धारणा ज्ञान, मूल्य एवं औचित्य के स्वरूप को न समझने के कारण है। मैं यह नहीं कहना चाहता, जैसा इस विचार के विरोध में प्रायः कहा जाता है, कि जगत् में तार्किक एवं नैतिक व्यवस्था है, अथवा सभी घटनाएँ तर्कसंगत, उचित एवं सार्थक हैं। मेरा उद्देश्य केवल 'ज्ञान', 'मूल्य' एवं 'औचित्य' के प्रयोग पर प्रकाश डालना है। कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों ने इन शब्दों से सम्बन्धित संप्रत्ययों का दुरुपयोग किया है। इस संप्रत्ययों का स्वरूप समझने के लिए आवश्यक है कि उनको व्यक्त करने वाले शब्दों और वाक्यों की तार्किक शक्ति का वर्णनात्मक विश्लेषण किया जाए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एब्सर्डिटी के समर्थक भी एक सिद्धान्त लेकर चलते हैं, और उनका सिद्धान्त भाषा एवं तर्क का वैसे ही दुरुपयोग करता है जैसे उनके विरोधियों का।

पहले वस्तुओं के स्वरूप और तत्सम्बन्धी ज्ञान को लें। यहाँ प्राय: कई प्रश्नों को मिला दिया जाता है। यह बात सही है कि जगत् की सृष्टि एवं रचना सम्बन्धी सभी धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक सिद्धान्त सन्तोषजनक रूप से सिद्ध नहीं किये जा सके। ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं जो सभी तथ्यों की, बिना तोड़-मरोड़ के, व्याख्या कर सके। हम सभी तथ्यों को जान गये हों, ऐसा भी नहीं। किन्तु किसी वस्तु अथवा तथ्य को न जानना एक बात है, उसको अज्ञेय मानना इससे एकदम भिन्न है। मान लीजिए 'क' ज्ञेय वस्तु है। मैं 'क' को नहीं जानता, किन्तु दूसरे इसे जानते हैं। तब मेरे भी जानने की संभावना है। अथवा दूसरे भी नहीं जानते। फिर भी उसके जानने का अर्थ, प्रक्रिया और साधन, कम-से-कम सैद्धान्तिक रूप में, ज्ञात हैं। इतना भी न होने पर जानने की सम्भावना रह सकती है। यह स्थिति, ऊपर दिये हुए किसी भी अर्थ में, एक कमी की द्योतक है किन्तु नैराश्य की नहीं। यदि मैं 'क' को नहीं जानता तो उसके लिए प्रयास करता हूँ। यदि वह मेरा विषय नहीं है तो दूसरे ऐसा कर सकते हैं। यदि उसका सम्बन्ध किसी ज्ञात विषय से नहीं तो उस दिशा में नये प्रयास किये जा सकते हैं। यदि अभी नहीं तो भावी पीढ़ियाँ इस काम को अपना सकती हैं। इस प्रकार 'क' के ज्ञान की सम्भावना बनी रहती है। इस तरह ज्ञान का क्या अर्थ है यह प्रसंग-विशेष पर निर्भर करता है। सभी प्रसंगों में ज्ञान का एक ही अर्थ नहीं है। अत: ज्ञान की परिभाषा किसी विशेष प्रयोजन के लिए ही दी जा सकती है। ऐसी परिभाषा सम्भव ही नहीं जो सभी अर्थों को व्यक्त करती हो। सन्दर्भों से ही यह भी ज्ञात होता है कि किस रूप में कोई वस्तु ज्ञात है, अथवा उसको जानने का क्या अर्थ होगा। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति को जानना, किसी स्थान को जानना, किसी वस्तु को जानना, किसी घटना को जानना, किसी सूत्र को जानना, किसी विषय को जानना इत्यादि। इन सभी में जानने का न तो एक अर्थ है, न एक स्वरूप, न एक प्रमाण। मैं राम को जानता हूँ या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि किस सन्दर्भ में यह प्रश्न पूछा जा रहा है। हर सन्दर्भ में जानने का भिन्न अर्थ है, और उसे प्रमाणित करने की पृथक् विधि। मैं गणित के किसी सूत्र को जानता हूँ या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि मैं उसे सिद्ध कर सकता हूँ और उसके अनुसार अन्य प्रश्नों को हल कर सकता हूँ या नहीं। मैं किसी स्थान को जानता हूँ या नहीं, इसका एक सन्दर्भ में यही अर्थ हो सकता है कि मैंने उस स्थान का नाम सुना है या नहीं। एक दूसरे सन्दर्भ में उस स्थान की स्थिति बताना आवश्यक हो सकता है। तीसरे सन्दर्भ में उस स्थान तक जाने वाला रास्ता ही प्रश्न का उद्देश्य हो सकता है। इसी तरह ज्ञान की निश्चिति भी सन्दर्भ पर निर्भर है। निश्चिति भी सन्दर्भ के साथ भिन्नार्थक हो जाती है। यही बात प्रमाणों के लिए लागू होती है। प्रत्येक ज्ञान के साथ 'कैसे' का प्रश्न उठाया जा सकता है, किन्तु उस 'कैसे' का उत्तर सन्दर्भ के अनुसार भिन्न-भिन्न होगा। अत: 'ज्ञान', 'निश्चिति' और 'प्रमाण' तीनों का अर्थ उनके प्रयोग-सन्दर्भों से जुड़ा हुआ है। एक विशेष सन्दर्भ में ही, किसी वस्तु, किसी व्यक्ति अथवा तथ्य को जानने, न जानने, निश्चित अथवा अनिश्चित होने, और प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक होने की बात हो सकती है। अन्यथा 'ज्ञान', 'निश्चिति' और 'प्रमाण' का कोई अर्थ नहीं रह जाता। सन्दर्भों से अलग न ज्ञान है न अज्ञान, न निश्चिति और न अनिश्चिति, न प्रामाणिकता है न अप्रामाणिकता।

एब्सर्डिटी का समर्थक यह कह सकता है कि वस्तुओं के जानने की सम्भावना ही नहीं है। और यह सम्भावना तार्किक है। यह दो तरह से हो सकता है। एक तो वस्तु अथवा जगत् का स्वरूप ही ऐसा है कि उसका सत्य, निश्चित या प्रामाणिक ज्ञान असंभव है। दूसरे मानवीय बुद्धि की रचना ही ऐसी है कि वह सत्य जानने में असमर्थ है। दोनों विकल्प सिद्धान्तों पर आधारित हैं। वे वस्तु-स्थिति का वर्णन नहीं करते बल्कि उसकी व्याख्या पूर्व-मान्यताओं द्वारा करते हैं। इसी तरह प्रमाण और निश्चिति दो भागों में रखे जा सकते हैं—तार्किक और तथ्यात्मक। वस्तुओं, घटनाओं, व्यक्तियों अथवा तथ्यों को व्यक्त करने वाले वाक्यों में प्रमाण और निश्चिति तार्किक नहीं होते। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रमाण और निश्चिति का तार्किक रूप सभी सन्दर्भों का मानदंड है। वस्तुओं, घटनाओं, व्यक्तियों और तथ्यों को व्यक्त करने वाले वाक्यों की अपनी पृथक् तार्किक शक्ति है। एक कोटि के तार्किक रूप को भिन्न प्रकार की कोटि पर लागू करना कोटि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोष है। इस अर्थ में जो जगत् अथवा सत्ता मात्र को ज्ञात (या ज्ञेय) अथवा अज्ञात (या अज्ञेय) मानते हैं उनका विचार कोटि-दोष से युक्त है।

स्पष्ट है कि 'निश्चिति' का प्रयोग उन सन्दर्भों में भी होता है जहाँ 'तार्किक निश्चिति' का प्रयोग नहीं होता या नहीं हो सकता। यदि 'निश्चिति' का एक मात्र अर्थ 'तार्किक निश्चिति' है, तो मृत्यु भी निश्चित नहीं है। मृत्यु की अनिवार्यता केवल पिछले अनुभव पर आधारित है। किन्तु पिछला अनुभव कितना ही लम्बा और अपवादरहित हो तार्किक निश्चिति का आधार नहीं हो सकता। मृत्यु तथ्यात्मक अनिवार्यता है। पर 'तथ्यात्मक-अनिवार्यता' का प्रयोग केवल मृत्यु के लिए ही नहीं होता। हम प्रायः कहते हैं: "यह निश्चित है', 'ऐसा होना अनिवार्य है', 'मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ', 'ऐसा न होना असम्भव है', आदि। इनमें से सभी, और ऐसे अन्य सभी, वाक्यांश सार्थक हैं। उन्हें प्रमाणित करने की निश्चित किन्तु विशेष विधियाँ हैं। उनके विषय में विवाद होते हैं (या हो सकते हैं) और उनके निर्णय के विशेष आयाम हैं।

एक मिथ्या धारणा का निवारण आवश्यक है। जो कुछ अभी कहा गया उसका यह अर्थ नहीं कि जीवन अथवा तथ्यात्मक जगत् में सब-कुछ निश्चित है। यह पुनः एक सिद्धान्त होगा, उतना ही गलत और भ्रामक जितना यह कि सब-कुछ अनिश्चित है। 'मैं निश्चित रूप से नहीं जानता', 'मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता', 'मैं निश्चित नहीं हूँ', 'यह असम्भव है', 'ऐसा हो ही नहीं सकता', 'निश्चित नहीं है' आदि वाक्यांश सार्थक रूप से प्रयुक्त होते हैं। विशेष परिस्थितियों को देखकर ही यह कहा जा सकता है कि उनसे सम्बन्धित तथ्य निश्चित हैं या अनिश्चित, और ये परिस्थितियाँ अलग-अलग व्यक्तियों और समूहों के लिए भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत होती हैं। एक व्यक्ति या समूह के लिए जो निश्चित या अनिवार्य है, वह दूसरे व्यक्ति अथवा समूह के लिए अनिश्चित हो सकता है। 'क' के लिए नौकरी पाना निश्चित है, 'ख' के लिए अनिश्चित। 'अ' की सफलता निश्चित है 'ब' की अनिश्चित। किन्तु 'ब' का विवाह निश्चित है, 'अ' का अनिश्चित। तात्पर्य यह है कि 'निश्चित' और 'अनिश्चित' विशेष सन्दर्भों में सार्थक हैं। परिस्थितियों और सन्दर्भों से अलग उनका कोई अर्थ नहीं। जीवन न निश्चित है और न अनिश्चित। यही नहीं मृत्यु के लिए भी 'निश्चित' का सन्दर्भहीन प्रयोग या तो निरर्थक है, या सैद्धान्तिक संस्तुति है, या फिर संवेगात्मक। सार्थक रूप में 'प की मृत्यु निश्चित है' तभी कहा जा सकता है जब वह बीमार हो, या किसी दुर्घटना में पड़ा हो, या अन्य कोई ऐसी ही बात हो। जब वह भला-चंगा हो तो यही वाक्य निरर्थक होगा। बिना प्रासंगिक उपयुक्तता के मृत्यु भी न निश्चित है, न अनिश्चित। निस्सन्देह ऐसी स्थितियाँ आती हैं जो अनिश्चित हैं। किन्तु यह कहना कि सब-कुछ अनिश्चित है 'अनिश्चित' शब्द को अर्थहीन बना देता है। दूसरे शब्दों में 'निश्चित' और 'अनिश्चित' का प्रयोग वाक्यों अथवा वाक्-कार्यों के लिये होता है, पूरी भाषा के लिए नहीं।

एब्सर्डिटी के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क मूल्यों के विश्लेषण पर आधारित है। कहा जाता है सारे प्रयास, सारी क्रियाएँ व्यर्थ हैं, सिसिफस के पत्थर ढकेलने की तरह। सभी स्थितियाँ अर्थहीन हैं। कुछ भी मूल्यवान अथवा सार्थक नहीं। किसी मूल्य का औचित्य सिद्ध ही नहीं किया जा सकता। सभी आदर्श भ्रामक हैं। मेरा उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं है कि सब-कुछ मूल्यवान या सार्थक है। या कि जीवन की कोई स्थिति असंगत, अर्थहीन नहीं। सारे आदर्श सिद्ध किए जा सकते हैं, यह भी हठधर्मिता ही है। यह कहना कि संसार और सांसारिक जीवन अर्थहीन हैं, किन्तु उनके परे मूल्यों अथवा साध्यों का राज्य है, एक भ्रामक सिद्धान्त का समर्थन मात्र है। मेरा उद्देश्य यह दिखाना है कि ये सभी सिद्धान्त का मूल्यांकन एवं औचित्य की मिथ्या धारणाओं पर आधारित हैं।

कोई भी वस्तु, क्रिया या अनुभव अपने-आपमें, अर्थात् प्राकृतिक तथ्य के रूप में, मूल्यवान या सार्थक नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि ये सब अपने-आप में मूल्यवान हो सकते थे, किन्तु हैं नहीं। यह असमर्थता तार्किक है। यह किसी वस्तु, अनुभव अथवा क्रिया का दोष नहीं है। वास्तव में इस कथन का कोई अर्थ ही नहीं कि कोई वस्तु अपने-आप में मूल्यवान है या नहीं। 'अपने-आप' का अर्थ यहाँ पर प्राकृतिक तथ्य के रूप में है, साध्य के नहीं। साध्य के अर्थ में वस्तुएँ अपने-आप में सार्थक हो सकती हैं।

एक दूसरे रूप में यह बात एब्सर्डिटी के समर्थक भी मानते हैं। उनके अनुसार भी जगत् अपने-आप में एबसर्ड नहीं है। जगत् की एब्सर्डिटी उसके देखे जाने में है। वह अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आप में न सार्थक है, न निरर्थक। निरर्थकता अथवा विसंगति (एब्सर्डिटी) की उत्पत्ति तब होती है जब हम जगत् को मानवीय सम्बन्धों में जानना चाहें। 'मानवीय सम्बन्धों' से उनका अर्थ जगत् के ज्ञान और मूल्यों के औचित्य से है। मैं जिस बात पर जोर दे रहा हूँ वह भिन्न है। कोई भी विषय मूल्यांकन के सन्दर्भ में ही सार्थक या निरर्थक हो सकता है। मूल्यांकन से स्वतन्त्र होकर यह न सार्थक है न निरर्थक। मूल्यांकन ही उसे सार्थकता देता है, या निरर्थक सिद्ध करता है। इसे न समझने के कारण ही मूल्यों के सम्बन्ध में भ्रामक सिद्धान्त दिये गये हैं।

जगत् की सभी बातें निश्चित नहीं हैं। उनसे सम्बन्धित हमारा ज्ञान भी अधूरा है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जगत् निरर्थक है। बहुत से तथ्यों को हम निश्चित रूप से जानते हैं और उनके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान पूर्ण है। यह कहना कि जब तक कोई व्यक्ति सभी तथ्यों को नहीं जानता वह एक भी तथ्य नहीं जानता, स्पष्ट रूप से गलत है। और सम्पूर्ण तथ्यों के ज्ञान का अर्थ भी क्या है? इन व्याख्याओं में यह मान लिया गया है कि जगत् या कोई विशेष वस्तु तभी सार्थक या मूल्यवान हो सकती है जब उसका कोई निश्चित और सार्वकालिक पैटर्न हो। या फिर वह वस्तु अनिवार्य और शाश्वत हो। दूसरे शब्दों में यदि जगत् का निश्चित और नियमित रूप होता, उसके सभी तथ्यों का पूर्ण ज्ञान होता और सभी वस्तुएँ नपी-तुली होतीं, तो जगत् सार्थक होता।

इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक यह कि वस्तुओं के अन्य गुणों की तरह सार्थकता अथवा मूल्य भी एक गुण है। और यह गुण वस्तुओं का रचना-संगठन है। दूसरे यह कि सार्थकता वस्तुओं का प्राकृतिक गुण नहीं है, किन्तु वह उनके रचना-संगठन पर आश्रित है। पहला अर्थ स्पष्टतः गलत है। सार्थकता वस्तु अथवा अनुभव का प्राकृतिक गुण नहीं है, अन्यथा इस सम्बन्ध में तार्किक अथवा मूल्यात्मक विवाद की समस्या ही न उठती। मूल्यात्मक शब्दों और प्राकृतिक गुणों के लिये प्रयुक्त शब्दों के प्रयोगों एवं उद्देश्यों में महान अन्तर है। यद्यपि दोनों में व्याकरणात्मक साम्य है किन्तु उनकी कार्य-शक्तियाँ भिन्न हैं। दूसरा अर्थ इन दोषों से मुक्त है। इसके अनुसार मूल्य वस्तुओं के प्राकृतिक गुण नहीं हैं, अपितु प्राकृतिक गुणों पर निर्भर हैं, किसी वस्तु का मूल्य उसका रचना-संगठन नहीं है किन्तु उस पर निर्भर है। यदि यह विचार मान लिया जाय तो इससे केवल यह सिद्ध होता है कि किसी वस्तु का मूल्य उसके विशेष गुणों पर निर्भर है। यह फिर भी सिद्ध करने को रह जाता है कि यह विशेष गुण वस्तु का रचना-संगठन है। रचना-संगठन को मूल्य अथवा सार्थकता का आधार मानना और अन्य गुणों की अवहेलना करना एक विशेष सिद्धान्त का प्रतिपादन मात्र है। "किन गुणों को सार्थक माना जाय?" यह एक खुला प्रश्न है। विभिन्न व्यक्ति और समुदाय इसके अपने विशेष उत्तर देते हैं। मूल्यांकन के सारे सन्दर्भों से हटकर मूल्यों के विषय में कोई सिद्धान्त देना गलत है।[1] और मूल्यांकन व्यक्तियों, समुदायों और उनकी परम्परा, दृष्टिकोण, विश्वास तथा प्रतिबद्धता पर। ऐसा कोई गुण नहीं है जो सभी स्थितियों में, सभी व्यक्तियों के लिए, सार्थकता और मूल्य का आधार हो। यदि वस्तुएँ एक ही साँचे के अनुसार बनी हों तो वे अनिवार्यतः सार्थक होंगी, यह नहीं कहा जा सकता। या यह केवल एक मूल्य-दृष्टि है। एक साँचे और निश्चित पैटर्न पर बनी वस्तु निरर्थक तथा मूल्यहीन हो सकती है। या कम-से-कम उसके विषय में दो व्यक्ति अथवा दो समुदाय अलग-अलग दृष्टिकोण बना सकते हैं। एक उसे सार्थक मानता है, दूसरा निरर्थक। यदि पैटर्न ही मूल्य और सार्थकता का आधार है, तो सिसिफस का पत्थर ऊपर ले जाने का कार्य निस्सन्देह सार्थक है। मूल्य अथवा सार्थकता न तो मूल्यांकन से स्वतन्त्र तथ्य है, न प्राकृतिक गुण। और न इसका सम्बन्ध किसी विशेष गुण से है। मूल्यांकन व्यक्ति, अनुभव, वस्तु, स्थिति और कार्यों का होता है, किन्तु उनकी किस विशेषता अथवा गुण को मूल्य माना जाय यह मूल्यांकन पर निर्भर करता है। वही गुण विभिन्न स्थितियों में सार्थक और निरर्थक दोनों हो सकता है।

यह कहा जा सकता है कि इन बातों से एब्सर्डिटी का समर्थन ही होता है। मूल्य वस्तु पर नहीं, मूल्यांकन पर निर्भर है, और मूल्यांकन व्यक्ति करता है। वह जगत् की व्याख्या प्राकृतिक या तार्किक कोटियों से नहीं, मानवीय कोटियों, आवश्यकताओं, उद्देश्यों से करता है। किन्तु इन कोटियों से व्याख्या करने के सारे प्रयत्न असफल हो जाते हैं। वास्तविकता का व्यवहार शत्रुतापूर्ण है। और तथाकथित मूल्यों का औचित्य किसी तरह सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः

१. किस गुण के कारण किसी वस्तु को सार्थक अथवा मूल्यवान माना जाय यह मूल्यांकन पर निर्भर करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन करने पर सभी स्थितियाँ और गुण निर्मूल्य हो जाते हैं। यही एब्सर्डिटी है।

यह उत्तर औचित्य का रूप न समझने के कारण है। प्रायः तर्क दो प्रकार के होते हैं : आगमनात्मक और निगमनात्मक। आगमन अनुभव पर आधारित होता है। जब समीक्ष्य विषय के व्यवहार में समरूपता होती है, तो उसके आधार पर किसी सिद्धान्त की निष्पत्ति होती है। मूल्यांकन में यह पद्धति अनुपयोगी है। कोई व्यवहार, कार्य, अनुभव या वस्तु एक विशेष रूप में है अथवा मानी गई है, इससे यह नहीं सिद्ध होता कि उसका उस रूप में मूल्यांकन उचित है। 'है' से 'होना चाहिए' की निष्पत्ति नहीं हो सकती। किन्तु निगमन भी यहाँ विशेष उपयोगी नहीं। निगमन में निष्कर्ष एक अथवा अधिक आधार-वाक्यों से निकलता है। निगमन में दो बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है। एक यह कि निष्कर्ष आधार-वाक्यों से निकलता है या नहीं। दूसरे यह कि निष्कर्ष सत्य है या नहीं। निगमन प्रामाणिक होते हुए भी अर्थ अथवा सिद्धान्त की दृष्टि से गलत हो सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि आधार-वाक्य भी सत्य हो। और मूल्यांकन में विवाद आधार-वाक्यों पर ही है। अतः मूल्यांकन में निगमन तार्किक दृष्टि से प्रामाणिक होते हुए भी मूल्यों की दृष्टि से विवादास्पद हो सकता है। आगमन और निगमन के अतिरिक्त तर्क की और कोई विधा नहीं, इसलिए मूल्यों का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह निष्कर्ष मूल्यात्मक वाक्यों के तार्किक विश्लेषण से भी सिद्ध होता है। मूल्यात्मक वाक्य तथ्यात्मक नहीं हैं। वे न सत्य होते हैं, न असत्य। अतः उन पर व्याघात का नियम भी लागू नहीं होता। इस प्रकार मूल्य या तो संवेगात्मक उद्‌गार हैं, या फिर वैयक्तिक पसन्द।

किन्तु यह विश्लेषण कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों की उपेक्षा करता है। मूल्यात्मक वाक्य तथ्यात्मक वाक्यों से भी सम्बन्धित होते हैं। इन तथ्यात्मक वाक्यों के पक्ष में आगमन और निगमन का प्रयोग होता है और किया जा सकता है। पुनः बहुत से मूल्यात्मक निष्कर्ष निगमन विधि से सिद्ध किये जाते हैं, या किये जा सकते हैं। उनमें केवल यह दिखाना रहता है कि अमुक निष्कर्ष इस नियम के अनुरूप है। जैसे : क, ख है। अतः ख उचित है। ऐसी सभी स्थितियों में केवल यह दिखाना रहता है कि निष्कर्ष स्वीकृत मूल्यों अथवा विधियों के अनुरूप हैं। कठिनाई केवल वहाँ पड़ती है जह आधार-वाक्य के रूप में कोई स्वीकृत मूल्य या विधि नहीं है इस स्थिति में निर्णय वैयक्तिक या सामूहिक—के द्वारा आधा वाक्यों का सृजन होता है। किन्तु ये निर्णय मनमाने न होते। मूल्यात्मक प्रमाणों के द्वारा उनका समर्थन आवश्य है। मूल्यात्मक प्रमाण और तर्क व्यक्ति अथवा समूह क संस्कृति और परम्पराओं के आधार पर दिये जाते हैं। संस्कृ और परम्परा में निहित जीवन-दृष्टि ही मूल्यांकन का आधा है। और यही जीवन-दृष्टि मूल्यों की सर्वोच्च अदालत है किन्तु निर्णय के द्वारा जीवन-दृष्टि में भी परिवर्तन किया ज सकता है। इस स्थिति में मूल्यांकन का आधार एक भिन जीवन-दृष्टि है, जो स्वयं निर्णय और प्रतिबद्धता पर निर्भ है। इसके परे जाकर औचित्य की माँग करना निरर्थक है औचित्य एक विशेष जीवन-दृष्टि में ही सार्थक है। उस बाहर उसका कोई अर्थ नहीं। किसी भी मूल्य के 'अन्ति प्रमाण' या 'पूर्ण औचित्य' का कोई अर्थ नहीं। किसी खेल नियम उस खेल के संदर्भ में ही प्रमाणित या अप्रमाणित हैं वैसे ही किसी मूल्य का औचित्य किसी जीवन-विधा या जीव दृष्टि के अन्तर्गत ही उठाया जा सकता है। तथ्यमूलक प्रमा की तरह औचित्य भी सीमित है। हम जहाँ तक चाहें संश नहीं कर सकते, न औचित्य का संदर्भहीन प्रश्न उठा सकते हैं प्रमाण और औचित्य दोनों का प्रश्न एक निश्चित सन्दर्भ ही उठाया जा सकता है, और वह संदर्भ ही उनके स्वरूप क निर्धारण करता है। विशेष और निश्चित सन्दर्भों से बाह प्रमाण या औचित्य का प्रश्न उठाना भाषा और तर्क दुरुपयोग करना है।

इसका यह अर्थ नहीं कि 'एब्सर्ड', 'असंगत', 'निरर्थक या 'निरुद्देश्य' का प्रयोग ही नहीं होना चाहिए। मेरा उद्दे केवल यह दिखाना है कि इनका प्रयोग निश्चित सन्दर्भों ए स्थितियों से जुड़ा हुआ है। उसी में कोई चीज़ सार्थक य निरर्थक, सुसंगत या असंगत सोद्देश्य या निरुद्देश्य है। औ इनमें से किसी शब्द का प्रयोग अकेले नहीं हो सकता 'निरर्थक' 'असंगत' और 'निरुद्देश्य' का प्रयोग 'सार्थक 'सुसंगत' और 'सोद्देश्य' की अपेक्षा रखता है। निरर्थ स्थिति तभी हो सकती है जब उसी सन्दर्भ में सार्थकता संभ हो। केवल सार्थकता या केवल निरर्थकता की बात करन निरर्थक है। पुनः एब्सर्ड और उसके समानार्थक शब्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णनात्मक न होकर मूल्यात्मक हैं। उनका प्रयोग किसी स्थिति की आलोचना के लिए होता है। इनसे हमारी पसन्द और संवेगों की भी अभिव्यक्ति होती है। और यह व्यक्ति की रुचि और दृष्टिकोण पर निर्भर है कि क्या निरर्थक है, क्या सार्थक।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि किसी व्यक्ति या समाज के जीवन में कुछ निरर्थक स्थितियाँ इतने प्रभावपूर्ण ढंग से आएँ कि वह सभी स्थितियों को निरर्थक समझने लगे। उसे सारी क्रियाएँ अर्थहीन लगें। इस प्रकार एब्सर्डिटी स्वयं एक जीवन-दृष्टि बन जाती है। पिछले कुछ दशकों में यह बात बहुत बड़े पैमाने पर घटित हुई है। किन्तु विसंगति (एब्स-डिटी) तात्त्विक या तार्किक विधा नहीं है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओसिप मेंद्लस्तम की पाँच कविताएँ

कमलेश

उन्नीसवीं सदी के आखिरी बरसों में रूस के प्रमुख कवियों पर फ्रांसीसी प्रतीकवाद का काफी असर था। रूसी प्रतीकवादियों ने अपनी कविता में अतिरिक्त सांकेतिकता, रहस्यात्मक अस्पष्टता और संगीत की लय लाने की कोशिश की। पत्रिका **अपोलोन** (१६१०-१६१७) के इर्द-गिर्द एकत्रित कवि उपर्युक्त प्रवृत्तियों से असंतुष्ट थे। उनका आन्दोलन भविष्यवादियों के पहले आया और अल्पकालिक होते हुए भी ज्यादा प्रतिभाशाली कवियों को आकर्षित कर सका। यह आन्दोलन रूसी कविता के इतिहास में **परिपूर्णतावाद (एक्मेइज्म)** के नाम से प्रसिद्ध है। इस आन्दोलन के कवियों ने अपने लिए सचमुच बहुत ऊँचे आदर्श रखे थे। निकोलाई गुमिल्योव (१८८६-१६२१), अन्ना आःमातोवा (१८८८-१६६८), और ऑसिप मैंडलशाम [१८६२-१६४२ (?)] आदि नेतृस्थानिक कवियों ने कविता में सुरुप सुस्पष्टता, पैने रूपांकन और पदार्थों के घनत्व पर ज़ोर दिया। इनके कृतित्व में रूसी कविता सचमुच एक परिपूर्णता पर पहुँची।

एक यहूदी परिवार में १८६२ (या १८६१?) में जनमे मैंडलशाम आयु में अलेक्ज़ेंदर ब्लाक से कोई १०-११ साल छोटे और जार्ज एसेनिन, ब्लादिमीर मायकोव्स्की, अन्ना आःमातोवा, बोरिस पास्तरनाक और मारिना स्वेतायेवा के लगभग समवयस्क थे। एक ही पीढ़ी में श्रेष्ठतम कोटि के इतने कवियों की एक साथ उपस्थिति ने रूसी कविता को उस शिखर पर पहुँचा दिया जहाँ रूसी उपन्यास पहले पहुँच चुका था। इनमें से हर कवि का अपना व्यक्तित्व था, भाषा का अपना रंग और काव्य-जगत् में ज़माने के साथ मेल बैठाने का अपना ढंग। शासक जमात की क्या कृपा, क्या कुदृष्टि इनमें से किसी को भी अपनी काव्य-धारणाओं से या जीवनदृष्टि से बहुत विचलित नहीं कर सकी। अपनी रुचि के अनुसार कोई आलोचक या काव्य-पाठक मैंडलशाम को आधुनिक रूसी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानता है तो कोई ब्लाक को, आःमातोवा को, पास्तरनाक या मायकोव्स्की को वह स्थान देता है। इनमें से हरएक की सर्वश्रेष्ठता के कुछ-न-कुछ वकील मिल जाएँगे।

ऑसिप मैंडलशाम कविताएँ और किंचित् समीक्षाएँ लिखने के अलावा पत्रकारिता से अपनी आजीविका चलाते थे। उनके गद्य-संग्रह में उन दिनों अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संगठन के किसी सम्मेलन में भाग लेने के लिए फ्रांस से मास्को आये तब तरुण औपनिवेशी नेता हो-ची मिन्ह की भेंट-वार्ता भी संगृहीत है। पास्तरनाक के घर में स्तालीन पर एक मज़ाकिया कविता पढ़ने के बाद, किसी उपस्थित लेखक की शिकायत पर मैंडलशाम गिरफ्तार कर लिए गये। पास्तरनाक के स्तालीन से व्यक्तिगत अनुरोध करने पर उन्हें फिलहाल छोड़ा गया। १६३४ में वे साइबेरिया से निष्कासित कर दिये गए। कुछ श्रोतों के अनुसार १६३८ में, पर अन्य श्रोतों के अनुसार १६४२ में उनकी मृत्यु हुई। **कविताएँ, कामेन, त्रिस्तिया, मिस्र की छाप**—ये चार कविता-संग्रह उनके जीवन-काल में छपे थे। अपने देश में एक अरसे तक प्रतिबन्धित रहने के बाद, मैंडलशाम की कविताओं का प्रकाशन और उनका अध्ययन अब फिर से शुरू हो रहा है।

इलिया एहरेनबुर्ग ने अपने संस्मरणों में मैंडलशाम के बारे में लिखा है—"वह ठिगना और नाज़ुकबदन आदमी था। उसे नगर-दुर्ग के निकट अपनी चीत्कार से रात को भेदते हुए मुरगे का बिम्ब बहुत प्रिय था—कोमल मन्द्र स्वर में अपनी गम्भीर कविताएँ पढ़ते हुए वह खुद कम उम्र मुरगे-सा लगता था।"

परिपूर्णतावादी क्लासिकी यूनानी संस्कृति के प्रति काफी आकृष्ट थे। यूनानी पुरोगाथा के अलावा वैयक्तिक जीवन के बिम्ब भी उनकी कविता में मिलेंगे। पर सभी परिपूर्णतावादियों में, और मैंडलशाम की कविता में भी, समकालीन रूसी ज़िन्दगी से बहुत ही गहरा लगाव अन्तःप्रसूत बहता रहता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। कविता को धरती पर उतारने और प्राथमिक, मूल उत्सों को कविता का विषय बनाने के प्रयत्न में **परिपूर्णतावादियों** ने कविता के मुहावरे को जन-मुहावरे के समतुल्य ला दिया। खुद मैंडलशाम ने पास्तरनाक की कविता पर लिखते हुए कविता की भाषा को धार्मिक गरिमा से मुक्त (सेकुलराइ-ज़ेशन) करने पर ज़ोर दिया था—**कविता की दुनिया में** हमेशा युद्ध छिड़ा रहता है। सामाजिक **विमूढ़ता के दौर** में ही शान्ति या लामबंदी हुई रहती है। **प्रमुख धातुएँ** सेनापतियों की तरह एक-दूसरे के विरुद्ध हथियार ले खड़ी हो जाती हैं। शब्दों की धातुओं की लड़ाई **अंधकार में,** एक-दूसरे की खाद्य-सामग्री और धरती से **मिलने वाली** प्राणवत्ता की छीन-झपट करते हुए **चलती रहती है।**··· जो भी अपनी कविता में किसी विदेशी बोली **की ध्वनियों** और चित्रों के मोह में पड़ जाता है वह केवल **भाषा का** शील भंग करता है।···रूसी कविता की नियति···**संस्कृती-करण या यूनानीकरण में नहीं,** काव्य-भाषा के **सुसंगत** धार्मिक-गरिमा-मुक्तीकरण में है।" हिन्दी कविता के लिए इन शब्दों की प्रासंगिकता स्पष्ट है।

मैंडलशाम की कविताओं के ये अनुवाद रोज़ स्टाइरान और ओल्गा कारलिस्ले द्वारा किये गए अंग्रेज़ी अनुवादों पर आधारित हैं। ये अनुवाद पहले-पहल पेरिस रिव्यू के अंक २६ में छपे थे। अंग्रेज़ी अनुवाद में मूल छन्दों का खयाल नहीं रखा गया है। इस तरह हिन्दी अनुवाद मूल लय से और भी दूर चले गये होंगे। इस असमर्थता के कारण ज्यादा अच्छा यही लगा कि रूप और कथ्य को पूर्णतः समरूप मानते हुए भी, कथ्य के प्रति ही पूर्णतः वफादार रहा जाय। रूसी भाषा और कविता की जानकारी के अभाव के बावजूद ये अनुवाद पहले एक आभार-स्वीकृति और शिल्प के अभ्यास के रूप में किये गए थे। इस अनुवादक से अधिक क्षमतावान एक भी हिन्दी कवि का ध्यान मूल कविताओं की ओर गया तो यहाँ इन अनुवादों का प्रकाशन सार्थक हो जाएगा। तब शायद कविता-जैसे अनुवाद भी हों।

हमने अनेक विदेशी कवियों को साथ-साथ पढ़ा था, इस याद में ये अनुवाद फिलहाल अमरीका-प्रवासी मित्र कृपा-शंकर कश्यप को समर्पित हैं।

एक—

आओ जाति-भाइयो, मनायें स्वतंत्रता का संध्याकाल
धुँधला पड़ रहा विवेक, और भी दूरस्थ हो रहा महान साल
झुटपुटे के उबलते जल पर पड़ जाते हैं
घने जंगल से बड़े-बड़े जाल
तुम्हारे उदय के दिन रुक चुके हैं, ओ सूर्य,
न्याय करो, जन का

अबाबीलें हमने युद्धवाहिनियों के साथ बाँध दी हैं
दिन अदृश्य है, पूरी देह अविकल
गाती, फड़फड़ाती, जीवंत रहती है...
धुँधलके से आच्छादित जालों के बीच

सूर्य निस्तेज पड़ चुका है और पृथ्वी बह रही है जहाज-सी

जिनके भी दिल है वे जानते हैं, ओ समय,
तुम्हारी नाव डूब रही है

फिर भी हम चलन-चक्की घुमाकर देखें
बेढंगी, घिरघिर्राती, भारी
हल-सी समुद्र को दो फाँकों में जोतती
हमें यह याद आएगा लीथि[1] के जम जाने पर
—ज़िन्दगी हमारे लिए दस स्वर्गों के बराबर थी।

[१६१८, त्रिस्तिया से]

१. लीथि—यूनानी पुरोगाथा का वह समुद्र जिसका जल पीने से आदमी अतीत की बातें सम्पूर्णतः भूल जाते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो—

बहनों—वज़न और नाज़ुकपन—तुम्हारे चिह्न
कितने यकसाँ हैं
मधुमक्खियाँ और बरें चूसती हैं रस उदास
गुलाब का
एक आदमी मरता है, गर्म हुई रेती ठंडी पड़
जाती है
और काली पालकी पर लदा बीते दिन का
सूरज चला जाता है

आह ! दुखी छत्ता और नाज़ुक पाश
चट्टान उठाना ज्यादा हल्का है तुम्हारा नाम
दुहराने से
मेरी सिर्फ एक ज़िम्मेवारी शेष है इस धरती
पर—एक सुनहरी ज़िम्मेवारी
—समय की दासता किस तरह निभायी जाय

हवा पीता हूँ, काले जल की तरह अशांत
समय हल से जुता चला जाता है, और गुलाब
धरती था
एक मंथर भँवर में फँसे उदास नाज़ुक गुलाब
गुलाब—वज़न और नाज़ुकपन—गुँथे हुए दुहरी
मालाओं में

[१९२०, **त्रिस्तिया से**]

तीन

मेरी आगे बढ़ी अंजुलि से ले लो
थोड़ी शहद और थोड़ी सी धूप
प्रसन्नता के लिए थोड़ी सी
प्रास्पेरीन की मधुमक्खियों ने हमसे अनुनय
किया

खुली नहीं नाव जो घाट से खोएगी कैसे
समूर में छोड़ी छाया सुनी जाएगी कैसे
ज़िन्दगी के घने जंगल में कोई भी कैसे
भय के संकेतों का कौन पता पाएगा

रुआँमय छोटी मधुमक्खियों की तरह चुभते
चुम्बन केवल हमारे पास अवशेष
छत्ते को छोड़ चुकी मधुमक्खियाँ
डँसती जातीं, मरते

रात की पारभासक झाड़ी में वे उड़ती हैं सर सर
उनका जन्म देश : टैगेटा के दुर्गमनीय भासी वन
उनका भोज्य : तिपतिया, पुदीना और समय

मेरी वन्य भेंट लो, प्रसन्नता के लिए
मृत मधुमक्खियों का बना यह हार
जिन मधुमक्खियों का शहद
धूप में रूपान्तरित हुआ

[१९२०, **त्रिस्तिया से**]

चार—

मैं भूल चुका हूँ शब्द जो मैं कहना चाहता था
अपने अंधे, कटे हुए डैने फड़फड़ाते अबाबील
वापस आती है
छाया-महल में, पारदर्शी मित्रों के पास
विस्मृति के देश में गाया जा रहा है एक
निशा-गान

चिड़िये गाते नहीं गीत, न शाश्वत कली
खिलती है
रात के घोड़ों की अयाल दृष्टि से ओझल हो
जाती है
सूखी नदी पर एक रिक्त नाव बहती है
और भींगुरों के बीच शब्द खो जाता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर धीरे-धीरे वह उदित होता है, एक तनोवे
की तरह, एक मन्दिर की तरह
और पागल एंटीगोन होने का नाट्य करता है
या मरते हुए अबाबील की तरह मेरे पाँवों पर
गिर पड़ता है
एक नरकलोक की कोमलता के साथ, हरी
टहनी की तरह

आह ! उन सजीव, देखती, अँगुलियों का पुनः
स्मृति में उतरना
पहली पहचानें, उनका मूर्तिमान सुख
मुझे डर है शाश्वत दासियों के रोते रहने का
कुहासे का, गूँज का, रिक्ति का

हमारी नश्वर शक्ति है अनुराग और ज्ञान
आदमियों की अँगुलियों से एक सम आवाज़
निकलती है
लेकिन मैं भूल चुका हूँ शब्द जो मैं कहना
चाहता था
और शरीरविहीन विचार छायादेश में लौट
आता है

और छाया बोलती रहती है लेकिन उसका
अर्थ गलत है
वह अभी भी अबाबील है, चुलबुली, ऐंटीगोन है
और मेरे ओठों पर काले बर्फ की तरह
जलती है
नरकलोक की गूँज की स्मृति

[१९२९, त्रिस्तिया से]

पाँच—

रात में अँधेरी सड़कों पर, भागते बनखोर-
घोड़ों के बीच
काली धुरी वाली स्लेज पर मैं जा रहा हूँगा
आल्डर की फूलों लदी एक टहनी के लिए
स्लेज की टोपी पर खिंच आ रही बर्फ के लिए
घूमते पहियों की, चारों ओर, अन्तहीन खर-
खराहट के लिए

याद में घुमड़ती है पांगर की लट, और जैसे
गलती से
चल गयी गोली के बारूद का धुआँ
छोड़ जाता है ज़ुबान पर चींटियों-सा तेजाबी,
हल्का तीखापन
मेरे ओठों पर पड़ जाती है कहरुवे-सी सूखी
परत

इन क्षणों में हवा भी लगती है भूरी
दृष्टि का छोर पहन लेता है
मृदुता का और सेव-सी गुलाबी त्वचा के
मेरे सारे अनुभवों का परिधान

स्लेजों में जुते घोड़े भागते, खुरचते रहते हैं बर्फ,
उनके छोड़े दृश्य पट पर
आसमान की तीखी किरणें चमकती हैं
सड़क पर टापें प्यानों के अवरुद्ध परदों की
तरह बजती हैं

रोशनी केवल तारों के कँटीले असत्य से आती है
ज़िन्दगी बहती रहती है स्लेज की टोपी पर
खिंच आ रही बर्फ की तरह, और
कोई नहीं सुनने को—रात में अँधेरी सड़कों पर
भागते बनखोर-घोड़ों के बीच...

[१९२५, कविताएँ से]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तित नैतिक मूल्य और साहित्यकार की स्थिति

यशदेव शल्य

इस विषय का चुनाव लिखने के लिए मैंने मुख्यतः इस कारण किया है क्योंकि 'नैतिक मूल्यों में परिवर्तन' की इधर बहुत चर्चा है और, मेरे विचार में, यह चर्चा करने वाले अधिकांशतः स्पष्ट नहीं हैं कि इसका क्या अर्थ है। बिना समझे पदों और वाक्यों का प्रयोग बहुधा हम करते हैं, और यह प्रयोग करते-करते इन पदों और वाक्यों को कोई अर्थ देने लगते हैं जोकि वास्तव में उनका अर्थ नहीं होता। इसमें भी कोई दोष नहीं है यदि किसी प्रकार यह अर्थ सम्यक् रूप ले लेवे, किन्तु अधिकांशतः ऐसे प्रयोग सम्यक् रूप ले नहीं पाते हैं, जबतक कि कोई विचारक सचेष्टतः इस असम्यकता का निरास नहीं करता। यहाँ यद्यपि मैं इस असम्यकता के निरास का प्रयत्न करूँगा, किन्तु मैं वह विचारक होने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं ले सकता, क्योंकि वह उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है और उसके लिए मेरे में न उतनी योग्यता है और न इस महत् कार्य के लिए यह अवसर ही उपयुक्त है।

नैतिक मूल्यों में क्या परिवर्तन हुआ है, यह देखने के लिए यह देखना आवश्यक है कि 'नैतिक मूल्यों में परिवर्तन' का क्या अर्थ है, इस परिवर्तन के स्वरूप को समझने के लिए यह देखना आवश्यक है कि नैतिक मूल्य क्या होते हैं जिनमें कि यह परिवर्तन घटित होता है। यह सब देखना इसलिये आवश्यक है, क्योंकि इनमें कोई भी प्रश्न स्वतः स्पष्ट नहीं है। किन्तु यहाँ हम नैतिक मूल्यों के स्वरूप पर भी पर्याप्त विस्तार से विचार नहीं कर सकते, क्योंकि इस एक प्रश्न पर बहुत संक्षिप्त विचार के लिए भी एक काफी बड़े लेख की आवश्यकता है।[1]

नैतिक मूल्य-विषय किस प्रकार के होते हैं? किसी के साथ विश्वासघात न करना एक नैतिक मूल्य है। किन्तु मेरे साहित्यिक बन्धु इस पर थोड़ा चिढ़ेंगे, क्योंकि यह बहुत असाहित्यिक—अकविजनोचित—उदाहरण उन्हें लगेगा। वे जिस उदाहरण को पसन्द करेंगे वह होगा—"परायी पत्नी को आँख मारना अनुचित है।" अब, वे कहेंगे कि, "यह अनुचित था, किन्तु अब अनुचित नहीं है। यह देश और काल की बात है कि यह अनुचित है या नहीं। पति-पत्नी-सम्बन्धों का वह धारणा ही अब नहीं रही तब इनकी अनुषंगी आबद्धताओं (कॉमिट्मेंट्स) की वह धारणा भी कैसे हो सकती है? इस समय हम स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की दकियानूसी धारणाओं से मुक्त हो चुके हैं, अब हम किसी प्रदत्त ढाँचे में नहीं ढलते, हम इनसे परे हैं, अ-तन्त्र, अद्वितीय क्षण, अतन्त्रता में ढकेल दिये गए हुए," आदि। इस प्रकार, स्पष्ट है कि पति-पत्नी सम्बन्धों को लेकर नैतिक मूल्यों में परिवर्तन हो गया है (यद्यपि यह परिवर्तन पति-पत्नी सम्बन्धों को लेकर ही नहीं है। किन्तु पति-पत्नी सम्बन्धों को लेकर, और इसी प्रकार अन्य नैतिक मूल्यों को लेकर, परिवर्तन तो देश से देश में, दशाब्द से दशाब्द में, और वास्तव में गाँव से गाँव में, हों मिलते हैं। ऐसी अवस्था में अब कौन-सी बात हो गयी है जिसको लेकर इतना कुहराम मचा हुआ है, जिसको लेकर उपन्यास लिखे जा रहे हैं, कहानियाँ लिखी जा रही हैं, और यहाँ तक कि कविताएँ भी लिखी जा रही हैं? क्या रोज़ पोशाक के फैशनों में परिवर्तन नहीं होता? और क्या हमेशा चीनी, भारतीय और बर्मी की पोशाकें अलग-अलग नहीं रही हैं? तब 'पोशाकों में परिवर्तन और साहित्यकार की स्थिति' को लेकर निबन्ध क्यों नहीं लिखवाए जाते और कॉफ़ी हाउस में बहस-मुबाहिसा कर साहित्यकार अपने-आपको उस सीमा तक धन्य क्यों नहीं मानते जिस सीमा तक नैतिक मूल्यों

1. इस प्रश्न पर हमने 'ज्ञान और सत्' पुस्तक के अंतिम अध्याय 'मानव-प्रतिमा' में तथा 'संस्कृति : मानव-कर्तृत्व की व्याख्या' पुस्तक के 'नैतिक मूल्य' अध्याय में विचार किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तन के प्रश्न पर विवाद करके मानते हैं ?

इसके दो कारण हैं : एक तो यह कि "नैतिक मूल्यों के परिवर्तन" में एक दूसरा पक्ष भी है जो इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है और जो वास्तव में घटित हुआ है, किन्तु जिसकी ओर सामान्यतः ध्यान नहीं जाता। यह परिवर्तन है स्वयं नैतिकता के मूल्य होने में ही अनास्था उत्पन्न होना—जो कि पीछे पति-पत्नी सम्बन्धों विषयक उदाहरण में वास्तव में अन्तर्हित है। किन्तु सामान्य प्रकार का परिवर्तन भी कुछ गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न करता है। ये गम्भीर समस्याएँ नैतिक निर्णयों की विषय-निष्ठता विषयक हैं। यदि नैतिक निर्णयों सम्बन्धी भेद पोशाकों में भेद के अनुरूप हों, जैसा कि हमारी उपरोक्त तुलना में अभिप्रेत है, तब नैतिक विषय-निष्ठता का कोई अर्थ नहीं रह जाता, क्योंकि कोई यह नहीं मानता कि पोशाक के फैशन का, और इसी प्रकार अन्य किसी फ़ैशन का भी, कोई विषय-निष्ठ आधार होता है। किन्तु जब हम यह कहते हैं "अमुक-अमुक कार्य उचित नहीं है" तब हम यह मानकर चलते हैं कि इस निर्णय का कोई विषय-निष्ठ आधार है। किन्तु बहुत लोग यह नहीं मानते, वे नैतिकता का आधार संस्कारों को मानते हैं; इस प्रकार उनके अनुसार यह परिवर्तन फैशनों में परिवर्तन से मूलतः भिन्न नहीं है। किंतु जैसा कि स्पष्ट है, यह विमर्श एक-दूसरे स्तर का है, यह नैतिक मूल्यों में परिवर्तन के तथ्य का कथन न होकर नैतिक मूल्यों के, और इनमें परिवर्तन के, स्वरूप-विषयक है। यहाँ यह तो स्वीकार कर ही लिया गया है कि यदि हम आज कहते हैं कि "कार्य 'क' उचित है" तो कल इस मान्यता में परिवर्तन भी हो सकता है और हम 'क' को अनुचित मान सकते हैं—उदाहरणतः ईसाई धर्म में बहु-पत्नीत्व को अनुचित माना जाता है जबकि मुसलमानों में इसे अनुचित नहीं माना जाता। पुनः, पहले वृद्ध पुरुष के बालिका तक से विवाह को अनुचित नहीं माना जाता था अब इसे अनुचित माना जाता है, पहले माता-पिता की आज्ञा मानना धर्म समझा जाता था और आज इसे प्रतिक्रियावाद का सूचक माना जाता है—किन्तु यहाँ एक और कथन भी है जो किया जा रहा है और जो अधिक आधारभूत है। यह कथन यह है कि इनमें कोई निर्णय निरपेक्षतः उचित या अनुचित नहीं है, ये केवल सापेक्षतः उचित या अनुचित हैं। अर्थात् वृद्ध का बालिका से विवाह उचित भी है और अनुचित भी, इसका औचित्य-अनौचित्य तत्कालीन सामाजिक धारणाओं से निर्धारित होता है।

यह दूसरे स्तर का कथन अधिक गम्भीर है और इसी कारण यह विवाद गम्भीर और रोचक होता है। केवल कठिनाई यह है कि प्रश्न की कठिनाइयों को पूरी तरह से हृदयंगम नहीं किया जाता। सर्वप्रथम, यदि यह मान भी लिया जाय कि नैतिक निर्णय सापेक्ष होते हैं तब भी यह स्वतःसिद्ध नहीं है कि ये फैशनों के समान होते हैं, इसलिए यह विचारणीय होता है कि यह सापेक्षता किस प्रकार की है; दूसरे, नैतिक निर्णयों की विशिष्ट सापेक्षता अर्थापतित क्या करती है—उदाहरणतः " 'क' लाल है" निर्णय 'क' में लाल रंग की विद्यमानता का विधान करता है, किन्तु 'क' का लाल दिखाई देना सूर्य की किरणों, प्रकाशित वस्तु तथा देखने वाले की आँखों तीनों के विशिष्ट सम्बन्ध का सापेक्ष होता है। शायद इससे भी अधिक सापेक्ष—किसी भाषा में सब रंगों के लिए शब्द नहीं हैं और प्रत्येक दो भाषाओं में अनामित रंग भिन्न-भिन्न हैं। ये भेद आदिम जातियों की और भारोपीय भाषाओं के अध्ययनों से विशेष प्रखरता के साथ सम्मुख आए हैं। यद्यपि इन तथ्यों का पता गत डेढ़ शताब्दी की खोजों से चला किन्तु इसकी अवधारणा कोई नयी चीज नहीं है। जैनों के स्याद्वाद में इस ज्ञानात्मक सापेक्षता की स्पष्ट अवधारणा मिलती है। किन्तु इस सापेक्षतावाद को कोई फैशनों के समान रुचि-भिन्नता नहीं कह सकता। अब, इस सापेक्षतावाद को थोड़ा गहराई से देखा जाय तो " 'क' लाल है" विषयक प्रत्यक्ष तथा निर्णय दोनों सापेक्ष होने पर भी अन्ततः निरपेक्ष ही हैं, क्योंकि इनके आधार सापेक्ष नहीं हैं, अर्थात् तत्तद् स्थिति-विशेष में कोई इससे भिन्न निर्णय नहीं हो सकता। इस प्रकार नैतिक निर्णयों को 'सापेक्ष' कहने मात्र से कुछ पता नहीं चलता कि क्या कहना अभिप्रेत है, यह बताना आवश्यक है कि यह सापेक्षता किस प्रकार की है।

इस पर आपत्ति की जा सकती है कि, यह तो सही है कि सापेक्षताएँ विभिन्न प्रकार की हैं, किन्तु नैतिक सापेक्षता रुचि-मूलक ही है। उपरोक्त उदाहरण को ही लें : "पर-स्त्री अथवा पर-पुरुष से सम्बन्ध अनुचित है" यह विधान रुचि-सापेक्ष है। इसकी अन्य किसी प्रकार की सापेक्षता दिखाई नहीं देती। इसकी दूसरी सापेक्षता सामाजिक आचरण की सुविधा हो सकती है, किन्तु यह पुनः अन्ततः रुचि-सापेक्षता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही है, क्योंकि यदि स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की धारणाएँ बदल जाएँ तब तत्सम्बन्धी सामाजिक सुविधा का स्वरूप भी बदल जाएगा।'

किन्तु यह सही नहीं है; किसी कर्म को 'अनुचित' कहने में इससे बहुत अधिक और भिन्न तत्त्व भी सन्निहित हैं। ये भिन्न तत्त्व ही नैतिक निर्णयों के आधार हैं। इन भिन्न तत्त्वों को प्रकट करने के लिए हम कुछ दूसरे उदाहरण लेंगे—साहित्यिकों की खीझ के बावजूद। ये हैं—'असत्य बोलना, चोरी करना आदि अनुचित है, दूसरों के भूखे मरते होने पर हलवा खाना अनुचित है, कृतघ्नता अनुचित है" आदि। अब, इनमें 'उचित-अनुचित' का क्या अर्थ है ? यह कहा जा सकता है कि इनके अनौचित्य का आधार सामाजिक उपयोगिता है। किन्तु यह भी सही नहीं है, यद्यपि यह कथन इस सापेक्षता को रुचि-सापेक्षता से पृथक् कर देता है। यद्यपि यह सही है कि इन उदाहरणों में सामाजिक उपयोगिता भी सम्मिलित है, किन्तु सामाजिक उपयोगिता इनके नैतिक अवगुण होने के लिए आधार नहीं है। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें सामाजिक उपयोगिता की हानि होने पर भी उन्हें नैतिक गुण माना जाता रहा है। उदाहरणतः राजपूतों में जौहर-प्रथा, जैनों की अहिंसा, बौद्धों का संन्यासवाद सामाजिक रूप से अनुपयोगी थे, किन्तु इन्हें न केवल वे नैतिक गुण ही मानते थे बल्कि कोई भी अन्य इन्हें अन्य कुछ नहीं कह सकता। इसके अतिरिक्त, यदि सामाजिक उपयोगिता नैतिकता का आधार हो तब, किसी कर्म-विशेष के सम्बन्ध में यह दिखा देना मात्र कि वह व्यापक सामाजिक स्वार्थों के लिए हानिकर नहीं है, उसे अनैतिक नहीं रहने देगा। उदाहरणतः, यदि 'क' 'ख' के प्रति उपकारी है किन्तु 'ख' उसे पीछे गाली देता है तब, यदि 'क' को कभी इस बात का पता नहीं चलता, तो इसे कृतघ्नता और अतएव अनैतिकता, नहीं कहा जा सकेगा। किन्तु स्पष्टतः हम इसे कृतघ्नता ही कहते हैं।

किन्तु मान लें कि उपरोक्त सब उदाहरणों में यह दिखाया जा सकता है कि इसका आधार सामाजिक उपयोगिता ही है, तब किसी के चुनौती देने पर कि, "सामाजिक स्वार्थ मेरे स्वार्थों के अनुषंगी होकर ही प्रतिष्ठा पा सकते हैं, मेरे स्वार्थ सामाजिक स्वार्थों के अनुषंगी नहीं हो सकते" किसी के पास क्या उत्तर होगा ? यदि इसका यह उत्तर दिया जाय, जोकि एकमात्र सही उत्तर प्रतीत होता है, कि सामाजिक स्वार्थ वैयक्तिक स्वार्थों से महत्तर हैं, तब इस उत्तर आधार सामाजिक उपयोगितामूलक नहीं हो सकता, क्यों यह सन्देह स्वयं सामाजिक उपयोगिता के सम्बन्ध में है इसका निरास उस कसौटी के प्रतिपादन से ही सम्भव है सामाजिक उपयोगिता की महत्तरता को स्थापित करती यद्यपि कम्यूनिस्टों की सारी अपीलें इस धारणा पर प्रति होती हैं कि सामाजिक स्वार्थ वैयक्तिक स्वार्थों से महत्तर किन्तु तब भी वे नैतिकता का आधार सामाजिक उपयो को ही मानते हैं, क्योंकि वे इस प्रश्न की गहराई तक जाते नहीं कि इस महत्तरता का क्या आधार है ? इस महत्त का आधार यह बोध है कि आत्म-त्याग वरेण्य है, यह उत्कृ गुण है। इस प्रकार सामाजिक स्वार्थ की महत्तरता इस में नहीं है कि इसमें अधिक का लाभ है और अधिक अल्प अपने स्वार्थों का आरोपण कर सकते हैं, बल्कि यह है कि का उत्कर्ष 'क' के अपनी सीमा को उत्तीर्ण करने में उपल होता है।

किन्तु "अपनी सीमा को उत्तीर्ण करने में उत्कर्ष इसका क्या औचित्य है ? इसके उत्तर के दो पक्ष हैं : प्रथम कि इसके उत्तर की माँग का कोई अर्थ नहीं है, यह अयु प्रश्न है, क्योंकि यह ऐसा ही प्रश्न है जैसा यह प्रश्न "प्रत्यक्ष यहाँ मेज़ के होने का प्रमाण है, इसका क्या प्रमा है ?" और दूसरा यह कि यह उत्तीर्णन और उत्कर्ष दोनों ही स्थिति की दो संज्ञाएँ हैं और इसे हम अनुभव में देखते इस उत्कर्षानुभव के औचित्य की माँग नहीं की जा सक इसके स्वरूप-निरूपण की माँग ही की जा सकती है।

नैतिकता का आधार सामाजिक उपयोगिता को मा के बजाय सामाजिक उपयोगिता की प्राथमिकता का आ नैतिकता को स्वीकार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है सामाजिक रूढ़ियाँ नैतिकता की प्रतिमान नहीं हो सकतीं, नैतिक चेतना की अभिव्यक्ति की माध्यम होती हैं। इसी ये नैतिक चेतना की प्रतिबन्धक नहीं हो सकतीं, यद्यपि इन प्रतिबन्ध स्वीकार करना सुविधाजनक होता है और इसी इसे यथासम्भव स्वीकार करना चाहिए। किन्तु प्रबुद्ध नै चेतना द्वारा इनका अतिक्रमण करना सदैव उचित है— अतिक्रमण स्वयं सामाजिक रूढ़ियों को नये आयाम देता किन्तु यह अतिक्रमण नैतिक चेतना, अथवा व्यापकतर मू बोध, द्वारा ही वरेण्य हो सकता है, चंचलता द्वारा नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरणतः जैनेन्द्र के त्यागपत्र की नायिका यौन-सम्बन्ध विषयक सामाजिक रूढ़ियों को स्वीकार नहीं करती किन्तु उसके आचरण को अनैतिक नहीं कहा जा सकता। वास्तव में उत्कृष्ट साहित्य रूढ़ नैतिकता को चुनौती देकर नैतिकता के यथार्थ स्वरूप का उद्‌घाटन करता है।

किन्तु त्याग-पत्र के हमारे उदाहरण पर आपत्ति की जा सकती है, क्योंकि यह एक प्रतिनिधि उदाहरण नहीं है। इसलिए कुछ अन्य उदाहरण देखना उपयुक्त होगा। हम एक उदाहरण शोलोखोव के उपन्यास 'डॉन फ्लोज होम' से लेंगे और दूसरा एक आत्म-कथा 'माई लाइफ़' से। 'डॉन फ्लोज़ होम' में ग्रेगोर तथा अक्सीनिया के प्रेम को तथा 'माई लाइफ़' में आइसा डोरा डंकन द्वारा वर्णित अपने प्रेम-सम्बन्धों को क्या कहा जाय?—नैतिक या अनैतिक? ये दोनों उदाहरण रूढ़-नैतिकता के स्पष्टतः विपरीत हैं और मृणाल के यौन-सम्बन्धों के समान निर्लिप्त करुणा से उत्पन्न भी नहीं हैं। तब इनको क्या कहा जाय?

जैसाकि इन दो उदाहरणों को देखने मात्र से स्पष्ट है, ये दोनों भी एक-दूसरे से बहुत भिन्न स्तर पर हैं—ग्रेगोर और अक्सीनिया का प्रेम शुद्ध मांसल प्रेम है जबकि डंकन के प्रेम-सम्बन्ध अत्यन्त जटिल आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा कलात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्तियों के माध्यम हैं। इस प्रकार डंकन के प्रेम-सम्बन्धों को भी एक दूसरे प्रकार से रूढ़ नैतिकता का अतिक्रमण कहा जा सकता है। किन्तु ग्रेगोर-अक्सीनिया के, हीर-राँझा के, सोहनी-महीवाल के प्रेम को क्या कहा जा सकता है?

यह बहुत बड़ा प्रश्न है, यहाँ इसका संक्षिप्त उत्तर मैं यह देना चाहूँगा कि सब प्रेम नैतिक है, यदि वह प्रेम है तो, समाज केवल उसकी विहितता-अविहितता का निर्धारण करता है, उसके औचित्य-अनौचित्य का नहीं। इस बात को अपढ़ भी खूब अच्छी तरह जानता है। इसको उचित-अनुचित वे अन्य संबंध बनाते हैं जो इससे प्रभावित होते हैं—पति या पत्नी के प्रति वफादारी तथा माता-पिता की भावनाओं का आदर, ये भी मूल्य हैं और परिणामतः दो मूल्य-स्थितियों के दावों का ध्यान रखना आवश्यक है, जोकि अत्यन्त प्रबुद्ध नैतिक चेतना की अपेक्षा करता है। इस प्रकार, ऐसे सम्बन्धों की नैतिकता का प्रमाण रूढ़ि नहीं अन्तःकरण-प्रवृत्ति ही हो सकता है। जहाँ उच्छृंखलता है, या कामातुरता है, वहाँ सम्बन्ध विहित होने पर भी अनैतिकता होगी। अपनी जोरू को पीटना विहित रहा है किन्तु इसे नैतिक कोई नहीं कह सकता, न कामातुर हो अपनी पत्नी में डूबे रहना नैतिक कहा जा सकता है। इसमें सामाजिक स्वीकृति है किन्तु अन्तःकरण प्रवृत्ति—उत्कर्षानुभव—का साक्ष्य नहीं है।

यहाँ 'उत्कर्षानुभव' शब्द का प्रयोग हमने लाघव के प्रयोजन से किया है, हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि इसमें मनुष्य 'मेज़ देखने' के समान कुछ अनुभव करता है, न 'उत्कर्ष' शब्द में निहित ''ऊपर उठने' की दैशिक कल्पना अभिप्रेत है। हम यहाँ 'आत्मोत्तीर्णता' के स्वरूप-निरूपण का प्रयत्न भी नहीं करेंगे।[1] यहाँ हम केवल इतना कहना चाहेंगे कि जिस प्रकार मनुष्य में विषय-विधान (आब्जेक्टीफिकेशन) की प्रवृत्ति है, उसी प्रकार उसमें औचित्य-विधान की भी प्रवृत्ति है। वह कुछ अवस्थाओं को 'उचित, उत्कृष्ट, शुभ' के रूप में ग्रहण करता है, जिस प्रकार वह कुछ अवस्थाओं को 'यह और ऐसी' के रूप में ग्रहण करता है। औचित्य-विधान का एक ही प्रकार नहीं है, यह सही है, किन्तु न तब विषय-विधान का ही कोई एक प्रकार है।[2]

किन्तु औचित्य-विधान के अनेक प्रकार होने का यह अर्थ नहीं है कि हमारे सब औचित्य-निर्णय बराबर सही होते हैं और उनमें कोई भ्रम की संभावना नहीं हो सकती—जैसे कि "नथिंग इज़ गुड आर बैड, थिंकिंग मेक्स इट सो" जैसी उक्तियों में कल्पित है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार विषय-विधान के प्रकारों में विभिन्नता का यह अर्थ नहीं है कि इनमें भ्रम और अयुक्त अवधारण नहीं होता। कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में विमूढ़ता उसी प्रकार होती है जिस प्रकार सत्यासत्य के निर्णय में। इस प्रकार यह स्वीकार करने पर भी कि नैतिक मूल्यों में परिवर्तन होता है, यह स्वीकार करना आवश्यक नहीं है कि नैतिक निर्णयों में हम विभ्रमित नहीं होते।

नैतिक निर्णयों में ये भ्रम दो प्रकार के होते हैं—एक तो स्थिति-विशेष के नैतिक स्वरूप को नहीं समझ पाने के कारण, जैसे किसी मानसिक दुर्बलता के क्षण में हम किसी अनुचित कर्म को उचित मानने लगते हैं, और दूसरे जब हम

१. द्रष्टव्य—संस्कृति: मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या में 'नैतिक मूल्य' तथा 'धर्म का स्वरूप' अध्याय।
२. द्रष्टव्य—'ज्ञान और सत्'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानसिक दुर्बलताओं को ही मूल्य के पद पर प्रतिष्ठित कर देते हैं, जैसे आज बहुत से लोग यौन-नैतिकता को पिछड़ेपन का पर्याय मानते हैं और यौन-वृत्तिता को उचित और प्रगति का पर्याय मानते हैं। ये मूल्य-परिवर्तन नहीं हैं, मूल्य-विपर्यय हैं, अथवा कहें, मूल्य-बाध हैं।

किन्तु यौन-वृत्तिता, किसी का डाका मारने को उचित कहना, मूल्य परिवर्तन-मूलक भी हो सकते हैं। जैसे, कम्यूनिस्ट जब यह कहते हैं कि सामाजिक न्याय की स्थिति लाने के लिए कुछ व्यक्तियों की हत्या, लूट-खसोट, अथवा सामान्य अव्यवस्था लाना भी उचित है तब वे नैतिक निर्णयों के लिए एक भिन्न आधार की वकालत कर रहे हैं, और जब ये आधार समाज में सामान्यतः स्वीकृत हो जाते हैं तब नैतिक मूल्यों में परिवर्तन की स्थिति उपलब्ध होती है।

इन आधारों में आज परिवर्तन हुए हैं। ऐसा नहीं है कि ऐसे परिवर्तन आज कोई पहली बार हुए हैं, बुद्ध ने ऐहिक ब्राह्मण-मूल्यों को चुनौती देकर ऐहिक को दुःखम कहा और इससे समाज के मूल्यों के आधारों में परिवर्तन घटित हुआ, तांत्रिकों के कुछ सम्प्रदायों ने यौन-सम्बन्ध को साधना का अनिवार्य अंग कहकर यौन-सम्बन्धों को नया अर्थ दिया, एक प्रकार से कृष्ण-भक्ति में पातिव्रत्य की धारणाओं को चुनौती है—कम-से-कम पातिव्रत्य को गौण स्थान तो है ही—गोपियाँ पतियों की चिन्ता नहीं करतीं, न सीता और मीरा को एक ही नैतिक धारणाओं के दो आदर्श उदाहरण कहा जा सकता है।

हमारे युग में नैतिक धारणाओं में जो परिवर्तन घटित हो रहे हैं उनका सूत्रपात यूरोप के पुनर्जागरण युग के साथ हुआ। यद्यपि 'पुनर्जागरण युग' को परिभाषित करना बहुत कठिन है, किन्तु तब भी इसकी विशेषताएँ तर्क-परायणता, ऐहिकता और मानववाद कही जा सकती हैं। उदाहरणतः विज्ञान को तर्क-परायणता और ऐहिकता का परिणाम कहा जा सकता है, प्रजातन्त्रवाद और साम्यवाद को मानववाद के दो रूप कहा जा सकता है, प्रत्यक्षवाद (पॉज़िटिविज़्म) को तर्क-परायणता और ऐहिकवाद का और अस्तित्ववाद को तर्क-परायणता और मानववाद का। किन्तु इसके बावजूद इस युग के सब विचार-आन्दोलनों का कोई एक सामान्य मान बताना कठिन है, सिवाय इस बात के कि इन सब आन्दोलनों में न्यूनाधिक मात्रा में ये तीनों तत्व मिलते हैं—कीर्केगार्ट और हाइडेगर के बावजूद।

किन्तु जब विचारधाराएँ ऐतिहासिक, सामाजिक, रा[...] नैतिक वस्तुस्थितियों में क्रियान्वित होती हैं तब एक बिल[...] ही भिन्न बात होती है। यदि तर्कमूलक ऐहिकता [...] सर्वथा सही सिद्धान्त भी हो (यद्यपि सिद्धान्तों के इस प्र[...] सही होने का कोई विशेष अर्थ नहीं है) तो भी यह एक जी[...] दर्शन के रूप में किस प्रकार के समाज और व्यक्ति को स[...] कर सकता है, यह विचारणीय है। किन्तु यह केवल एक[...] है, दूसरा पक्ष यह है कि एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण [...] भयानक वस्तुस्थितियों को जन्म दे सकता है। निष्कर्ष यह[...] कोई दृष्टिकोण अथवा सिद्धान्त ऐतिहासिक-सामाजिक व[...] स्थितियों में अपनी तार्किक शुद्धता के साथ क्रियान्वित न[...] होता। यही पुनर्जागरण के उपरोक्त त्रिसूत्री आदर्श के [...] हुआ। यद्यपि मैं तो सोचता हूं कि नवजागरण युग कोई ऐ[...] आदर्श नहीं दे सका जो व्यक्ति या समाज के लिए एक पू[...] दर्शन कहा जा सके, किन्तु यहाँ मैं इस प्रसंग पर विचार [...] करूँगा,[1] यहाँ मैं केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि प्र[...] तन्त्रवाद-साम्यवाद ने एक ओर और यान्त्रिक विका[...] दूसरी ओर सामाजिक-राजनैतिक सम्बन्धों को न केवल ब[...] दिया है बल्कि इन्हें इतनी बृहत्ता भी दी है कि यह अपने-[...] में एक बड़ी समस्या हो गयी है। इस पर यह कठिनाई है [...] मनुष्य को पराकाष्ठा मान लेने से मनुष्य की अपनी ग[...] खण्डित हुई है। हम प्रायः अपने जीवन का, अपने होने [...] अर्थ जानना चाहते हैं। यह प्रश्न मनुष्य को अपने से [...] देखने को बाध्य करता है। 'परे' कुछ नहीं दीखने पर [...] अर्थ के प्रति सन्देह होता है। और जीवन के अर्थ में स[...] कैसी मनःस्थिति देता है, यह कल्पना करना कठिन नहीं[...] यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं यह नहीं कह[...] हूँ कि जीवन का कोई अर्थ है, कि मनुष्य पराकाष्ठा नहीं[...] यहां इस सबकी चर्चा करने के लिए अवसर नहीं है, यह[...] केवल इसके परिणामों की ओर संकेत कर रहा हूँ।

× × ×

ऊपर हमने नैतिक मूल्यों में परिवर्तन विषयक स[...]

१. इस प्रसंग पर विचार के लिए द्रष्टव्य—संस्कृतिः मानव-क[...] की व्याख्या में 'प्राकृतिक विज्ञान' अध्याय तथा बिन्दु [...] सिक के जनवरी १९७० अंक में मेरा लेख 'भारतीय संस्[...] जीवित या मृत?' लेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्य चर्चा के पश्चात् वर्तमान युग की मूल्य-दिशा की सामान्य चर्चा की। यहाँ हमारी अपनी विशेष परिस्थिति के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहना समीचीन होगा। इसके लिए हम एक उद्धरण से आरम्भ करेंगे :

"समसामयिक मन:स्थिति पर विचार करने के साथ-साथ जो तीन-चार बातें स्पष्ट रूप से सामने आती हैं वे यह हैं कि पिछले बीस वर्षों में यदि किसी चीज़ का विकास तेज़ी से हुआ है तो वह हमारे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक जीवन की विसंगतियाँ हैं। हमारे सामने जो नैतिक मूल्य आज से बीस वर्ष पहले थे वे एकदम झूठे पड़े हुए-से दिखते हैं। जो वैध या अवैध की दृष्टि थी वह चुकी हुई लगती है। नित्य-प्रति वैध को अवैध के रूप में बदलते हुए हम देखते हैं और उनके साथ सह-अस्तित्व स्थापित करके शान्त हो जाते हैं। 'फेयर प्राइस शाप' आज से दो महीने पहले के अवैध मूल्य और काले बाज़ार को वैध की सील-मुहर लगाकर प्रस्तुत करने की एक अनवरत प्रक्रिया है जो 'अनफेयर' को पनपाती रहती है।"

नैतिक मूल्यों में परिवर्तन की पृष्ठभूमि का यह अच्छा चित्रण है। किन्तु यह स्वयं नैतिक मूल्यों में परिवर्तन का निरूपण नहीं है। यह उस मन:स्थिति का द्योतक है जिसमें सामान्यतः हम रह रहे हैं। यह आज एक सर्वस्वीकृत-सी बात हो गयी है कि कल के मूल्य आज नहीं रहे, कल की मूल्य-दृष्टि आज चुक गयी है। वास्तव में मूल्यों की, और सम्पूर्ण मानवीय वस्तुस्थिति की यह विशेषता है कि इसके सम्बन्ध में दृष्टि इसमें परिवर्तन घटित कर देती है। यदि मैं कहता हूँ कि पुरानी मूल्य-दृष्टि बदल गयी है—चुक गयी है—तो वह मेरे लिए पहले से चुक गयी रहती है, यदि अधिक लोग यह कहने लगते हैं तो वह अधिकांशत: चुक जाती है। किन्तु क्यों यह चुकती, या क्यों यह चुके, इसका कोई औचित्य दिखाई नहीं देता। जैसा कि श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने ही आगे कहा है, "यह एक विसंगति की स्थिति है किन्तु इस विसंगति का बोध या इसकी जागरूकता ही इस अवरुद्धता से निष्कृति पाने का मार्ग है।" (वहीं) आलोचना के इसी अंक में मैंने इसी बात को 'लेखक की पराजय' लेख में और भी प्रखरता के साथ कहा है।

किन्तु यहाँ जो मुख्त बात ध्यान देने की है वह यह कि जबकि यह स्पष्ट है कि "पिछले नैतिक मूल्य आज झूठे पड़ गए हैं," यह कोई नहीं बता सकता कि नए नैतिक मूल्य क्या हैं। 'मूल्य-परिवर्तन' का अर्थ तो यह है कि आज पहले से भिन्न मूल्य हैं, किन्तु यदि आज कोई मूल्य ही नहीं हों तो इसे 'मूल्य-परिवर्तन' की स्थिति नहीं कहा जा सकता। हम यह देखते हैं कि "नित्य-प्रति वैध अवैध में बदल रहा है" अर्थात्, प्रधानमन्त्री, मुख्यमन्त्री और इनके छुटभैयों के चपरासी तक विस्तृत शृंखला अवैध कर्म-रत है, किन्तु यह कोई मूल्य-मूलक परिवर्तन की स्थिति नहीं है, न यह पुराने नैतिक मूल्यों के आज झूठे पड़ने से ही कोई सम्बन्ध रखती है, यह समाज में व्यापक भ्रष्टाचार की स्थिति है। यह स्थिति मूल्य के स्तर पर आक्रोश की कारण हो सकती है और मनोवैज्ञानिक स्तर पर भ्रष्टाचारी होने की। दुर्भाग्यवश आज हमें दूसरा स्तर ही उपलब्ध है। एक बार मैंने अपनी कक्षा में दर्शन के एम० ए० फाइनल के विद्यार्थियों से पूछा कि वे दर्शन का अध्ययन क्यों कर रही हैं ? (कक्षा में एक के सिवाय सब लड़कियाँ ही थीं) उन्होंने उत्तर दिया कि "पढ़ इसलिए रही हैं क्योंकि अभी विवाह नहीं हुए हैं और दर्शन इसलिए पढ़ रही हैं क्योंकि कुछ पता नहीं था कि क्या विषय लेना चाहिए," आदि। चर्चा आगे बढ़ी और धन के महत्त्व, भ्रष्टाचार आदि तक आई। सो, इन युवाओं में जागरूकता थी, किन्तु कैसी जागरूकता यह थी ?

यह कोई नयी बात नहीं है कि समाज में धन का आदर है। पंचतन्त्र में बहुत श्लोक हैं जिनमें समाज में धन का यह महत्त्व बताया गया है—यस्यार्थाः तस्य मित्राणि, यस्यार्थाः तस्य बान्धवः, यस्यार्थाः सः पुमान् लोके, यस्यार्थाः स च पण्डितः। किन्तु इसके बावजूद आज से पहले कोई युवक इस तथ्य को मूल्य के रूप में नहीं देखता था, आज का युवक इसे इस रूप में देखता है कि यह अनुसरणीय है, और अन्य कोई मूल्य नहीं है। जैसाकि मैंने ऊपर कहा, यह आक्रोश की स्थिति नहीं है, क्योंकि आक्रोश मूल्यहीनता के विरुद्ध मूल्य-बोध का होता है। दुर्भाग्यवश हमारा साहित्यिक भी आज मूल्य-हीनता से भिन्न स्थिति में नहीं है। जैसाकि श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने भी कहा, "यह पूरा साहित्य एक भीड़ का साहित्य है। इसका भावबोध एक भीड़ के वृत्त में फँसे मानस की अकुलाहट है।" मैंने यह बात लगभग बारह वर्ष पहले 'कल्पना' के एक अंक में नयी कविता के सम्बन्ध में लिखी थी और इधर आलोचना और माध्यम में लिख चुका हूँ। यह युवा साहित्यिक आक्रोश और विद्रोह आदि का दम्भ अवश्य करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, किन्तु जो इसे कॉफ़ी हाउस, सिनेमा-हाउस, दफ्तर और घर में देखता है वह जानता है कि यह आक्रोश एक फैशन और लहज़ा मात्र है जबकि वह स्वयं उसी स्थिति में है—यद्यपि पिछड़ा हुआ। इसीलिए उसका आक्रोश मूल्य-हीनता में निष्पन्न होता है, इसके विरुद्ध आक्रोश में नहीं। इसलिए 'साठोत्तरी पीढ़ी' और 'युवा पीढ़ी' की जो आज मूर्ति-प्रतिष्ठा की जाती है उसके प्रति मेरी कोई सहानुभूति नहीं है।

इस प्रकार देखने पर 'परिवर्तित नैतिक मूल्य और साहित्यकार की स्थिति' के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि मूल्य परिवर्तित नहीं समाप्त हो रहे हैं और साहित्यकार उसमें योगदान कर रहा है। किन्तु उपरोक्त प्रश्न में यह उत्तर अभिप्रेत नहीं है। यहाँ प्रश्न में यह पूर्वकल्पित है कि पहले से भिन्न मूल्य-व्यवस्था उत्पन्न हो चुकी है या हो रही है। किन्तु यदि यह हो तब साहित्यकार की स्थिति के संबंध में कहने में कोई कठिनाई नहीं है—तब उसे इन मूल्यों को पुष्ट करना चाहिए और यदि युग की मूल्य-दृष्टि में दोष हो तब उसकी मनीषी-दृष्टि को यह देख सकने में सक्षम होना चाहिए तथा उसके साहित्य को यह दोष उसी प्रकार दिखाना चाहिए जिस प्रकार दर्पण चेहरे के दाग़ दिखा देता है। किन्तु मूल्य-हीनता की स्थिति में साहित्यिक का उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है। उसे परिवर्तित स्थिति का 'मनोविश्लेषण' कर मनोविकार का निरास करना होता है और नये सिरे से मूल्य-बोध देना होता है। किन्तु इसके लिए यह स्वीकृति आवश्यक है कि मनुष्य मूल्य के बिना स्वस्थ नहीं रह सकता है। क्या आज का साहित्यिक यह स्वीकार करने को तैयार है? क्या इतना साहस है उसमें? क्योंकि यह स्वीकार करने का अर्थ होगा उसका पहले अपनी ही ताड़ना करना। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्रोक्ति सिद्धान्त : आधुनिक परिप्रेक्ष्य

विजेन्द्र नारायण सिंह

हर साहित्यिक आन्दोलन कविता नामक विधा को नये सिरे से परिभाषित कर जाता है। कोई भी परिभाषा अपने युग और समाज से निरपेक्ष नहीं होती। तब भी उस परिभाषा की कई व्याप्तियाँ ऐसी होती हैं जो युग से परे भी जाती हैं और उनका महत्त्व सार्वकालिक और सार्वजनीन होता है। ऐसा भी होता है कि एक साहित्यिक आन्दोलन में एक विशेष काव्य-तत्त्व या काव्य के एक खास पहलू पर ही अधिकतम बल पड़ता है। इससे पता चलता है कि बक्रोक्ति भी इसी प्रकार पुनर्परिभाषा का एक प्रयास थी। पुनर्परिभाषा का प्रयास किसी आचार्य को तब करने की जरूरत पड़ती है जब पुराने काव्य-सिद्धान्त आचार्य की कोई त्रुटि उसे साफ भासित होने लगती है और उससे काव्यबोध का कोई-न-कोई पक्ष अव्याख्यायित रह जाता है।

कुन्तक से सदियों पूर्व भर्तृहरि ने उस भाषा-वैज्ञानिक सिद्धान्त की असन्तोषप्रद प्रकृति को उभारकर रख दिया था जिसमें अलग-अलग शब्द और उसके कोशगत अर्थ पर निर्भरता थी। स्फोट-सिद्धान्त का प्रवर्त्तन कर उन्होंने इस बात की महत्ता पर बल दिया कि पूरी उक्ति को महत्त्वपूर्ण भाषा-तात्त्विक प्रतीक माना जाय। भर्तृहरि ने यह भी दिखाया था कि उक्ति का अर्थ सन्दर्भगत तथ्यों और संस्पर्शों पर अवलम्बित होता है और अलग-अलग शब्दार्थों के आधार पर वाक्यार्थ का ग्रहण दोषपूर्ण होता है। आनन्दवर्धन का ध्वनिमत भर्तृहरि पर पूर्ण अवलम्बित है। वाच्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थ संकेतित करने की क्षमता—जिसे लक्षणा, व्यंजना आदि कहते हैं—कुन्तक ने नामभेद से अपने वक्रोक्ति-सिद्धान्त में समाहित किया है। प्रतीयमान उन्हें पूरी तरह स्वीकार्य है। अलंकार मूलतः भाषा के क्षेत्र में ध्वनि, शब्द, पद और वाक्य सभी को स्वीकार करता है; पर वक्रोक्ति केवल पूरी उक्ति को स्वीकार करती है। कुन्तक की स्थापना का तात्पर्य यह है कि शब्दों का अर्थ उनके साहचर्य में निखरता है। साहचर्य से निरपेक्ष होकर वे बेमानी होते हैं। अंग्रेज कवि-आलोचक पोप ने कुछ ऐसी ही बात कही थी जब वे कोशों पर झुंझलाते हुए कहते हैं कि वे शब्दों के साहचर्य में रहने पर अर्थ जानने में बाधक ही सिद्ध होते हैं। यही भर्तृहरि ने भी कहा था। इस दृष्टि से वक्रोक्ति-सिद्धान्त एक वैज्ञानिक प्रयास है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में कुन्तक का आविर्भाव उत्तर अलंकार काल में होता है और वे सौन्दर्यशास्त्रीय आचार्य अथवा सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक न होकर काव्य के सूक्ष्म पर्यवेक्षक और साहित्यिक समीक्षा के परिष्कारक ही अधिक सिद्ध होते हैं। इस परवर्त्ती अवस्था में आगमन के कारण उनके समक्ष वैदुष्यपूर्ण परिभाषीकरण और ह्रासकालीन वर्गीकरण के अनेक आकर्षण रहे होंगे। लेकिन वक्रोक्ति-सिद्धान्त इन सबको भेदकर काव्यालोचन के कर्म की ओर सीधे उन्मुख होता है। ज्ञान के सम्पूर्ण निकाय में प्रवेश एवं विचक्षणता और विशुद्धीकरण की शक्ति के अर्जन के अपने आकर्षण हैं, लेकिन साहित्यिक आलोचना को नंदतिक सिद्धान्त से विच्छेद के बिन्दु को अंकित करते हुए सिद्धान्त और विनियोग के लिए एक सामान्य बोधगम्य आधार प्रस्तुत करना ही होगा। 'वक्रोक्तिजीवितम्' सौन्दर्यशास्त्र के सामान्य सिद्धान्त और साहित्यिक आलोचना के बिलगाव का अच्छा निदर्शन है। यदि हम भरत में रस-सिद्धान्त के आदि रूप को देखें, जिसमें संगीत, नृत्य, रंग, संकेत, अभिनय एवं शब्द-मीमांसा सबका व्यापक नंदतिक समाहार मिलता है, तब हमारी बात साफ हो जाती है।

अभिव्यंजना के विश्लेषण-क्रम में कुन्तक भामह में बीज रूप में प्राप्त वक्रोक्ति के विचार को विकसित करते हैं और उन सभी आचार्यों के मतों को व्यवस्था प्रदान करते हैं, जिन्होंने अलंकार को काव्य का अपरिहार्य तत्त्व बतलाया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन उनकी मीमांसा इस औपचारिक 'प्रतिज्ञा' से अधिक गहराई में उतरती है। काव्य उनके लिए अलंकृत शब्दार्थ है और यह अलंकृति सामान्यतया रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त अलंकार ही है। चूंकि यह अलंकार आवश्यक और सम्भव है इसलिए वे उन मतों का खण्डन करते हैं, जो अलंकार को अपरिहार्य तत्त्व मानते हैं। लेकिन उनकी मीमांसा की व्याप्ति इतनी ही नहीं है। वे अलंकार संज्ञा का प्रयोग सौन्दर्य के व्यापक विभावन के अर्थ में भी करते हैं और यह आलंकारिक अभिव्यंजना का ही बुनियादी सिद्धान्त नहीं, बल्कि काव्यात्मक अभिव्यंजना मात्र का आधार है। इसे ही उन्होंने वक्रोक्ति कहा है और रीति, गुण, रस एवं ध्वनि आदि सभी मतों का पुनरीक्षण और पुनर्मूल्यांकन वे इसी कोण से करते हैं। इस प्रकार वक्रोक्ति-सिद्धान्त संस्कृत काव्यशास्त्र की सभी परम्पराओं के नूतन संस्कार का सबसे प्रकांड प्रयास सिद्ध होता है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त ने विद्रोह की अपेक्षा काव्यालोचन के सिद्धान्त में परिष्कार उपस्थित किया। इसने काव्य-विवेचन की पद्धति को अधिक पूर्ण और सुष्ठु बनाया।

ध्वनि-सिद्धान्त का निरूपण पूरी तरह काव्य के सन्दर्भ में हुआ है, लेकिन ध्वनि में आभ्यन्तरिक अनुकम्पन के अनुक्रम और वक्रोक्ति में अवतरण से अव्यवहित प्रासंगिकता के पृथक्करण का परीक्षण साहित्यिक आलोचना के प्रचलित व्यवहार के आधार पर होना चाहिए। ध्वनि कवि और सहृदय-सापेक्ष है, वे इसे सुनते हैं, लेकिन आलोचनात्मक परख का विकास श्रुत अथवा अश्रुत ध्वनियों के आश्रित नहीं बनाया जा सकता। लेकिन वक्रोक्ति का विकास अवतरण से ऊपर उठकर होता है, जहाँ कहीं वह है उसे हम विलग कर सकते हैं और तब समग्र रचना की विलक्षणता का आहरण पूरी स्वच्छन्दता से किया जा सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि काव्यात्मक अर्थ के क्षेत्र में ध्वनि एक विरल और मूल्यवान् तत्त्व है और आलोचना के वे औज़ार जो इसे पकड़ने में असमर्थ प्रमाणित होते हैं इतने स्थूल और अपरिष्कृत हैं कि उनके द्वारा सूक्ष्म विशिष्टताओं की परख सम्भव नहीं है। लेकिन इस बात से सहमत होना भी कठिन है कि काव्यात्मक अर्थ का क्षेत्र केवल ध्वनि तक ही सीमित है। काव्यात्मक अर्थ और जीवन में व्यवहृत होने वाले शब्दों के अर्थों की सम्बन्ध के इस सिद्धान्त के आधार पर कल्पना करना कठिन है।

कृष्णचैतन्य ने यह बतलाया है कि सापेक्षवाद की तरह ध्वनि का भी एक सामान्य सिद्धान्त है और एक विशेष सिद्धान्त है। सामान्य सिद्धान्त का उत्स भरत में ही मिलता है। लेकिन विशेष सिद्धान्त परिष्कार है, बड़ा ही चमत्कारी परिष्कार है, किन्तु इसके उपयोग की सीमाएँ जो आलोचक अनदेखी कर जाता है वह कितनी अच्छी कविताओं को घटिया कविता मानकर खारिज कर देता है। आनन्दवर्धन उस काव्य को अधम काव्य मानते हैं, जिसमें किंचित् भी व्यंजना नहीं हो। उनके अनुसार यह चित्रकाव्य है, चाहे वह शब्दचित्र हो अथवा अर्थचित्र हो। विश्वनाथ इसके काव्यत्व का ही निषेध करते हैं। यहाँ मॅलार्मे का स्मरण हो आना स्वाभाविक ही है क्योंकि उसने इसी आधार पर पैरनैसियन कविता की तीव्र आलोचना की है। उसका आक्षेप यह है कि इसमें चक्षु-गोचरत्व से परे और कोई चीज नहीं है।

आनन्दवर्धन के आलोचकों ने इसीके खिलाफ विद्रोह किया। इस विद्रोह के और भी तात्त्विक कारण हैं। उन्होंने यह भी स्थापना प्रस्तुत की कि चित्रकाव्य रसानुभूति के उद्रेक में सक्षम नहीं है। किन्तु क्या चित्रकाव्य में ऐसी कोई अन्तर्भूत असमर्थता है? वक्रोक्ति-मत ने ध्वनि-सिद्धान्त की इस त्रुटि का परिहार किया। कुन्तक ने बतलाया है कि कवि का लक्ष्य सदा न तो कुछ व्यंजित करना होता और न रसोद्रेक ही। उसकी सिसृक्षा को किसी एक गाँठ से बाँधा नहीं जा सकता है। कहीं-कहीं कवि मात्र विच्छित्ति का ही सृजन करना चाहता है। काव्यात्मक अभिव्यंजना का विश्लेषण करते हुए उसने इसी आधार पर वक्रोक्ति की प्रतिष्ठा की। व्यंजना से रहित इस प्रकार की अभिव्यंजना का तिरस्कार ध्वनिवादियों ने किया था और उसे अधम काव्य कहा था।

कुन्तक से प्रेरणा ग्रहण कर रुय्यक ने इस काव्य-सिद्धान्त का बड़ा ही स्वच्छ विश्लेषण प्रस्तुत किया। इस प्रकार के प्रत्यय (concept) की कुंजी विच्छित्ति या चारुत्व है। रुय्यक ने लिखा है कि "वैचित्र्य नाम से कहा जाने वाला चारुत्व कभी भी शब्दोच्चारण या उसके अर्थप्रतीतिकर शब्द-व्यापार में नहीं देखा जाता। वह देखा जाता है उसमें जो उच्चारण और ज्ञान का विषय होता है। इसमें उच्चारण का विषय होता है शब्द और ज्ञान का विषय अर्थ। चारुत्व उन्हीं में दिखाई देता है।"[1] कुन्तक और रुय्यक की विच्छित्ति और चारुत्व

१. हिन्दी व्यक्तिविवेक (रुय्यक की टीका) : अनु० श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी, पृ० २३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः वामन का 'सौंदर्य' ही है। कुन्तक ने चारुत्व को कवि-प्रतिभानिर्वतित्व बतलाया। तब प्रश्न उठता है कि ऐसा सामान्य चारुत्व क्या ध्वनि से रहित रहकर भी रसानुभूति नहीं जगा सकता है? यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय काव्यशास्त्र में चारुत्व हृदय के सम्बद्ध माना गया है।

कुन्तक की विशेषता यह है कि वे काव्य की आत्मा के झमेले में नहीं पड़ते हैं। वे आत्मा या परम तत्त्व के रूप में किसी इतर वस्तु की खोज नहीं करते हैं। वे काव्य को छोड़कर रस अथवा ध्वनि की ओर आकृष्ट नहीं होते हैं। उनके आकर्षण का केन्द्र स्वयं रचना है। कलाओं के आस्वाद का परम रहस्य होने के कारण रस में आलोचकों को काव्य से अलग कर देने की बड़ी मोहक शक्ति है। रस की अलौकिकता अन्ततः शब्दों से ही निःसृत होती है। रस तो कई हैं, अनुभूति की इन विभिन्न स्थितियों से काव्य-रचना नहीं होती है। काव्यालोचन का वह सिद्धान्त, जो अनुभूति के दर्शन पर आधृत है, आलोचक के लिए नई कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देता है। अतएव आलोचक की व्यावहारिक सुविधा का खयाल कर कुन्तक ने काव्य की आत्मा की खोज नहीं की और वे अनुभूतिवादी दर्शन से बचकर निकल गये। इसी कारण वक्रोक्ति को उन्होंने काव्य का 'जीवित' बतलाया।

रस का प्रतिमान काव्यास्वाद का प्रतिमान है। यह मूल्यांकन में बहुत सहायक नहीं हो सकता है। आस्वाद और मूल्यांकन एक ही चीज नहीं है। आस्वाद में हम कवि की विषय-वस्तु से तादात्म्य स्थापित करते हैं। रसास्वाद की एक विशेषता यह है कि उसमें प्रतिकूल वेदनीय के लिए कोई स्थान नहीं है। रसास्वाद का तादात्म्य पूर्णतः अनुकूल वेदनीय से ही होता है। मूल्यांकन में दो तत्त्व रहते हैं—परीक्षण और मूल्य-निर्धारण। ज्योंही हम परीक्षण में प्रवृत्त होते हैं त्यों ही अनुकूल और प्रतिकूल दोनों तत्त्वों के प्रति हम उन्मुख हो जाते हैं। रसास्वाद में तादात्म्य की मुद्रा रहती है, परीक्षण में तादात्म्य की। आस्वाद में हमारी संश्लेष की वृत्ति सजग रहती है और मूल्यांकन में विश्लेष की। अतएव मूल्यांकन की ओर उन्मुख होने वाले व्यक्ति को आस्वादेतर तत्त्वों को अधिक महत्त्व देना होगा। हालाँकि वह मूल्यांकन, जो आस्वाद से रहित होता है, चुलाये हुए जल (Distilled water) की तरह बेस्वाद होता है। रसवाद आस्वाद की एक प्रक्रियामात्र है। उसे मूल्यांकन का पूर्ण प्रतिमान नहीं बनाया जा सकता।

आलोचक के हाथ में जो औज़ार होता है वह है विश्लेषण का। रसानुभूति आस्वाद्य होती है, किन्तु उसका विश्लेषण शक्य नहीं है। रस-सिद्धान्त की सीमाओं को इसी सन्दर्भ में रेखांकित किया जा सकता है। अनुभूतियाँ कवि की होती हैं, किन्तु वह इन्हें भाषा के द्वारा सुरक्षित रखता है। भाषा अनुभूतियों को सुरक्षित रखने का आधान-पात्र (Repository) है। अनुभूतियाँ भाषा में हू-बहू नहीं उतरती हैं। किन्तु अनुभूतियों तक पहुँचने के लिए हमारे पास भाषा के सिवा और माध्यम ही क्या है? भाषा सन्दर्भ नहीं वरन् माध्यम है। किन्तु सन्दर्भ तक माध्यम के सिवा और किस चीज़ के सहारे पहुँचा जा सकता है? सन्दर्भ की प्रकृति और स्वरूप की आकृति (Physiogonomy) है भाषा। अनुभूति आलोचक के लिए भी गूंगे का गुड़ है। उस गुड़ का आस्वाद आलोचक भाषा के विश्लेषण द्वारा ही पा सकता है। इस कारण कविता का अन्तिम विश्लेषण भाषा का ही विश्लेषण सिद्ध होता है। इस कोण से देखने पर वक्रोक्ति-सिद्धान्त रस-सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक संगत समीक्षा-सिद्धान्त प्रमाणित होता है।

काव्यभाषा के प्रतिमान से अधिक तटस्थ आलोचना का दूसरा प्रतिमान कदाचित् सम्भव नहीं है। फिर कवि की अनुभूति तक पहुँचने के लिए भाषा के सिवा दूसरा क्या आधार हो सकता है? भाषा ही वह बैरोमीटर है, जिससे कवि की अनुभूति का दबाव मापा जा सकता है। कविता के संघटन में भाषा-प्रयोग की स्थिति केन्द्रीय है। अनुभूति के नाभिक (Nucleus) तक पहुँचने का निकटतम बिन्दु यही है। कॉलरिज ने जब कविता को शब्दों का उत्कृष्टतम क्रम बतलाया था, तब वे काव्य में भाषा-प्रयोग की इसी केन्द्रीय स्थिति की ओर इशारा कर रहे थे। कविता सबसे अच्छी भाषा है। इसी को कुन्तक ने वक्रोक्ति कहा है।

आचार्यों के सन्दर्भ में खास-खास शब्दों का चलन हो जाया करता है। कुन्तक के प्रसंग में वैचित्र्य और विच्छित्ति कुछ ऐसे ही शब्द हैं। 'वैचित्र्य' और 'विच्छित्ति' पर विमर्श के क्रम में हम कुछ विशिष्ट गुणों की टोह में रहते हैं; लेकिन असल विशिष्टता तो समग्र कविता में उभरती है, जिसके कारण अन्य किसी भी कविता से भिन्न उस कविता का पृथक् अस्तित्व होता है। बुरी कविताओं की पहचान यह है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें निजता नहीं होती। वे बेडौल और सामान्य जीवन की भागीदार होती हैं। उन्हें सही अर्थ में अस्तित्ववान् कहा ही नहीं जा सकता। उनमें से कोई भी कविता दूसरी का स्थानापन्न हो सकती है और शेष कविताओं के रहने न रहने से भी कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। कविताओं को निजता चाहिये ही और जहाँ यह 'स्व' की विशिष्टता नहीं होती है वहाँ वक्रत्व का अभाव समझना चाहिए। 'वैचित्र्य' से कुन्तक का यही तात्पर्य है।

उनकी काव्य-परिभाषा इसी तथ्य की ओर इशारा करती है। उनका कहना है कि व्यवस्थित शब्द और अर्थ वक्र-कवि-व्यापार से युक्त होने पर ही काव्यबन्ध होते हैं (१, ॥ ७ ॥)। यहाँ कुन्तक किसी विशिष्ट काव्यभाषा की अनुशंसा नहीं कर रहे हैं, वरन् आमफ़हम भाषा को ही वक्रत्व के स्तर पर ऊर्ध्वपातित होने की प्रक्रिया की ओर संकेत कर रहे हैं। काव्य मात्र अन्तःप्रजात काव्यसुलभ रीति के व्यवहार्य की अपेक्षा विभिन्न विशिष्ट भाषाओं को सम्बद्ध कर देनेवाली एक मूल भाषा (Key language) है। आमफ़हम भाषा की दुनिया में यह सैर, घिसे-पिटे शब्द-भंडार से अकस्मात् जीवंत शब्द उठाने की सतर्क दृष्टि; इनकी कुछ अप्रत्याशित प्रयोज्यता को दिखलाने के लिए इन्हें मुक्त कर देने की शक्ति, प्रत्यक्षतः गोचर क्षेत्र से रूप (form) का अनुसंधान आदि की क्षमता ही काव्य के जीवंत अवदान हैं। 'वक्रोक्ति जीवितम्' में पंडिताऊ भाषा की मीमांसा न होकर आमफ़हम भाषा को ही नवीन स्तर पर पहुँचाने को काव्यात्मक क्षमता का ही संधान मिलता है।

इसी दृष्टि से वक्रोक्ति रीति से भिन्न भूमि पर अवस्थित होती है। रीति की कल्पना में काव्यात्मक शब्दसमूह (Poetic Diction) की कोई न कोई धारणा अवश्य सन्निहित है। वक्रोक्ति काव्यांग की कोई विशेषता न होकर काव्यमात्र की विशेषता है। इसके द्वारा कवि आमफ़हम भाषा में गरिमा का संचार करता है और यही कवि-कर्म है। इस अर्थ में वक्रोक्ति और कवि-कर्म एक ही सिद्ध होते हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त आमफ़हम भाषा के प्रति निष्ठावान् है और इस पर वागाडम्बर का आरोप लगाना राक्षसी है। कुन्तक का तात्पर्य इतना ही है कि आमफ़हम भाषा में ग्राम्यत्व का तत्त्व रहता है। वक्रोक्ति ग्राम्यत्व का परिहार करती है और उसे उच्च काव्यात्मक परिष्कार प्रदान करती है। वक्रोक्ति यही उच्च काव्यात्मक परिष्कार है।

आमफ़हम भाषा का ही परिष्कार वक्रोक्ति-सिद्धा[...] आधारशिला है। वक्रोक्ति भाषा की विकसित फुनगी [...] आमफ़हम भाषा की प्रकृति और उसकी प्राणवत्ता ही [...] विकसनशील फुनगी को ऊपर उठाने को प्रेरित करती [...] वक्रोक्ति परिष्कार है लेकिन इस परिष्कार की शक्ति [...] चाल की भाषा में ही प्रसुप्त है। 'साहित्य मीमांसा' के [...] यिता ने जब साहित्य का दूसरा नाम 'परिष्कार' प्रस्त[...] किया था तब वह बात को गहराई में पकड़ रहा था। [...] इस सिद्धान्त के प्रति परवर्ती आचार्यों की अपेक्षा अच्छी [...] नहीं हुई। आमफ़हम भाषा की स्वस्थ शिराओं में ही [...] ऊर्जा अभिव्यक्त होती है और वक्रोक्ति इसी ऊर्जा की [...] मुखी यात्रा है। कवि-कर्म इस ऊर्ध्वमुखी यात्रा की [...] तथा कविता स्वयं उस यात्रा का चरण-चिह्न। अभिन[...] जब बन्ध, गुम्फ, भणिति, वक्रोक्ति और कविव्यापा[...] पर्याय बतलाते हैं, तब वे इसी तथ्य की ओर संकेत करते [...]

वक्रोक्ति का जोर काव्य की जाति (प्रकार) और [...] पर उतना नहीं है जितना कि कविता के विलक्षण [...] पर। वक्रोक्तिवाद जब कवि-कर्म के सिद्धान्त को [...] महत्त्व देता है, तब वह शिल्प के एकल महत्त्व पर जोर [...] देता है वरन् समग्र रचनात्मक उपलब्धि की नव्यता [...] रेखांकित करता है। कारण यह कि शिल्प की समृद्धि [...] रणा के खिए ही तो आहृत की जाती है। सिंह और स[...] तरह शायर भी स्वीकृत मार्ग का परित्याग करता है। [...] सच्चे कवि को अपने युग की प्रवाही और सामान्य शै[...] वक्रत्व का संचार करना चाहिए। प्रत्येक सच्चा कवि [...] ढंग से वक्रत्व का आहरण करता है। कुन्तक ने [...] 'वैचित्र्य' की संज्ञा दी है। वक्रत्व निकटवर्ती अती[...] साहित्य के सन्दर्भ में कवि की दृष्टि से नव्यता का स[...] ही है। छायावाद में पूर्ववर्ती साहित्य के संदर्भ में जो नव[...] है वही उसका वास्तविक वक्रत्व है।

वैचित्र्य को टुच्चा चमत्कार बतलाना उसकी [...] व्याख्या है। इसी प्रकार वैचित्र्य से तात्पर्य केवल शि[...] प्रवीणता नहीं है। संस्कृत की वैदुष्यपूर्ण कविता के [...] काल में ऐसी प्रवीणता का कोई अभाव नहीं था। [...] कोई स्वायत्त (Autonomous) वस्तु नहीं है। यह [...] से नियन्त्रित अभिबोध है। यदि यह वैचित्र्य इतना [...]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि वक्रोक्ति आमफ़हम भाषा से उत्पन्न नव्यता से अत्यन्त दूर चली जाय, तब रचना केन्द्रापसारी हो जाती है और वक्रोक्ति का स्थान वागाडम्बर ले लेता है। किसी केन्द्रीय तत्त्व से निरपेक्ष नव्यता निष्फल विस्फोट करके रह जाती है। इस दृष्टि से प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का समीक्षात्मक प्रसंग अत्यन्त महत्त्व का है। कुन्तक रचना की समग्र ऊर्जा का कभी विस्मरण नहीं करते हैं।

अधिकांश प्राचीन काव्य-सम्प्रदाय तत्त्व-मीमांसा और दार्शनिक चिंतनाओं से निःसृत हुए हैं। साहित्यिक आलोचना सौभाग्य से वक्रोक्ति-सिद्धान्त तत्त्व-मीमांसा के जंजाल से पूरी तरह मुक्त है। यह साहित्यिक आलोचना का विशुद्ध सिद्धान्त है। काव्य-प्रसंग में यह दो प्रकार के काव्यों का विरोध करता है—एक का पूरी वाग्मिता के साथ और दूसरे का निहितार्थ के द्वारा। प्रथम है, शरीर और अलंकार का विभाजन और कुन्तक का प्रहार यहां अलंकारवादियों पर है। उनका कहना है कि यदि शरीर ही अलंकार है तब आप अलंकृत किसे करेंगे? कुन्तक वस्तुतः काव्य में तत्त्व और रूप की एकरूपता की बात कर रहे हैं। वक्रोक्ति कोई प्रयुक्त शिल्प नहीं है, बल्कि यह शब्द और अर्थ की संपृक्ति से निःसृत होती है। यह मौजूदा शब्द और अर्थ का अन्य प्रचलित और शक्तिवान् अर्थों से संपृक्ति है जिससे कि अनुभूति और भाषा की विद्यमान संरचना का वजन मात्र ही शिल्प के छिछोरेपन, चपलता अथवा असारता के विरुद्ध सबसे अच्छा आश्वासन बन जाता है।

दूसरा है, काव्य-शरीर और आत्मा का पार्थक्य। कुन्तक काव्य की आत्मा का ज़िक्र ही नहीं करते हैं। रस को आवश्यकता से अधिक काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया गया है। कुछ लोगों ने यह गौरव ध्वनि को दिया है। आत्मा के प्रसंग में वक्रोक्ति-सिद्धान्त का मौन दो प्रकार की साम्प्रदायिकता का स्मरण दिलाता है। एक तो आर्नल्ड की वह आलोचनात्मक साम्प्रदायिकता है जहां वे आत्मा में विरचित कविता (Poetry composed in soul) और वैदग्ध्य से विरचित कविता (poetry composed in wit) की बात करते हैं। फिर दूसरी आध्यात्मिक साम्प्रदायिकता है, जिसमें कुछ लोग आत्मा में विश्वास करते हैं और कुछ लोग नहीं। ऐसी साम्प्रदायिकता प्राचीन काव्य के सन्दर्भ में भारत के प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों से बहुत पृथक् नहीं है और सम्प्रदायों के उद्भव के उद्देश्य पर इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। तब भी एक आलोचक के लिए काव्य से छिटककर काव्य की आत्मा की ओर उन्मुख होना खतरनाक सम्भावनाओं से पूर्ण है।

आत्मा की खोज अतिसूक्ष्म खोज है और काव्यालोचन के प्रसंग में उसकी संगति ढूंढ़ना बहुत आसान नहीं है। कुन्तक इसीलिए जीवित का 'अनुसन्धान' करते हैं। आलोचक का कार्य काव्य के प्राणतत्त्व की परीक्षा करना है न कि आत्मा की खोज करना। काव्यालोचन के प्रसंग में उनके 'जीवित' की इस सार्थकता को क्षेमेन्द्र ने पकड़ा है। कुंतक से प्रेरणा ग्रहण कर 'जीवित' का उसने विवेचन-विश्लेषण किया है। उनका कहना है कि औचित्य 'काव्य की सुन्दर अनुभूति में चमत्कार उत्पन्न करने वाला रस का प्राण रूप' है। 'जीवित' का स्वरूप उन्होंने स्थिर एवं अविनश्वर (स्थिरमविनश्वर जीवितकाव्यस्य) बतलाया है।

क्षेमेन्द्र ने खुलासा करते हुए बतलाया है कि जिस प्रकार रसायनों से पुष्ट व्यक्ति का जीवन स्थिर होता है, उसी प्रकार काव्य के स्थायी अर्थात् नित्य जीवन की भी धारणा संगत है। प्रसंगात् यह जिज्ञासा संगत है कि जीवित का क्षेत्र क्या है? यहाँ क्षेमेन्द्र ने प्रधान रूप के उपलब्ध होने योग्य स्थिति-स्थान को संकेतित करने के क्रम में पद, वाक्य, प्रबन्ध, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश आदि २८ स्थानों का उल्लेख किया है। लेकिन उनका कहना है कि इन पद आदि स्थानों में रहने वाला 'जीवित' काव्य के समस्त शरीर में व्याप्त होकर स्फुट रूप से प्रकट होता है जैसे समस्त शरीर में व्याप्त प्राण मर्म-स्थानों में स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। अवश्य ही 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' से प्रेरणा ग्रहण कर जीवित का यह भाष्य उसकी व्याख्या में संगत माना जायगा। यद्यपि प्राण समस्त शरीर में व्याप्त रहता है, परन्तु उसकी स्पष्ट प्रतीति अंगुष्ठ मूलादि में होती है, इसी प्रकार वक्रोक्ति तो समस्त काव्य-शरीर में व्याप्त रहती है, परन्तु उसकी स्पष्ट प्रतीति पदादि काव्यांग में होती है। इस प्रकार 'जीवित' का यह संधान काव्यालोचन के प्रसंग में अत्यन्त संगत दिखाई पड़ता है।

अभिव्यंजना की प्रकृति क्या है? इस क्षेत्र में भी वक्रोक्ति-सिद्धान्त ने महत्त्वपूर्ण विचारणा की अवतारणा की है। इस सिद्धान्त ने पहली बार 'साहित्य' को पद, वाक्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा तात्पर्य के व्याकरणिक साहचर्य से पूरी तरह मुक्त कर कवि-प्रतिभा अथवा कवि-व्यापार से व्युत्पन्न काव्यात्मक सम्बन्ध के रूप में निरूपित किया। इसी अर्थ में साहित्य शास्त्र अथवा साधारण बोलचाल की भाषा में नहीं होता है, बल्कि केवल काव्य में ही मिलता है। यह वाच्य अथवा वाचक का सामान्य संयोग नहीं है, बल्कि काव्य में यह विशिष्ट सम्बन्ध है और इस वैशिष्ट्य का निर्धारण काव्यशास्त्र की मुख्य समस्या है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त इसलिए शब्द और अर्थ के परस्परस्पर्धित्व समभाव में काव्य की सिद्धि मानता है।

शब्द और अर्थ में किसी एक पर ज़ोर देना बेमानी है। इसी प्रकार एक को आभ्यन्तर और दूसरे को बाह्य बतलाना भी कोई मतलब नहीं रखता है। यहाँ तो 'विशेष' प्रकार के साहित्य से तात्पर्य है (किम् तु विशिष्टं एव साहित्यं अभिप्रेतम्) जिसके कारण आमफ़हम भाषा काव्य के रूप में मुकुलित हो जाती है। कुन्तक का कहना है कि वक्रकविव्यापार से युक्त होने पर यह वैशिष्ट्य काव्यबन्ध में उत्पन्न होकर तद्विदों के आह्लाद का कारण बनता है। इस प्रकार आमफ़हम भाषा में किसी अनन्य साधारण विच्छित्ति का संचार होता है। कुन्तक ने इसे ही वक्रत्व, भंगीभणिति अथवा वैचित्र्य कहा है। यह वक्रत्व कवि-प्रतिभा अथवा कवि-कर्म से निःसृत है। कुन्तक अभिव्यंजना का विश्लेषण और वर्गीकरण इसी कोण से करते हैं और इस प्रकार कवि की कल्पना-शक्ति की महिमा को बार-बार रेखांकित करते हैं। इसी हेतु वे अभिव्यंजना को एक ओर अखंड मानते हैं और उत्तम, मध्यम और अधम आदि—वर्गीकरणों का प्रत्याख्यान करते हैं। शब्द और अर्थ का साहित्य चाहे रूप की विशेषता हो अथवा तत्त्व की, चाहे वाच्य-वाचक काव्य-शरीर की, अथवा रसध्वनिरूपी आत्मा की, यह तो वक्रमार्ग है जो कवि-कर्म प्रजात है और यही 'विशेष' है।

कुन्तक की शिक्षा-दीक्षा अलंकार-सम्प्रदाय की थी किन्तु साहित्य का विश्लेषण उन्होंने व्यापक परिप्रेक्ष्य में किया। इसलिए वस्तु और भाषा के सम्बन्ध का उनका विश्लेषण उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित हो सका है। उनका मुख्य प्रश्न कि काव्य को शास्त्र और आमफ़हम भाषा से कौन-सी चीज़ पृथक् करती है, एक व्यापक निहितार्थ को सँजोये है। उसे वक्रोक्ति अलंकार के साथ नत्थी कर देना सरासर अतिचार है।

यह लोंगिनुस है जिसने कहा था कि सबसे पहले हमें प्रश्न उठाना चाहिए कि उदात्त अथवा ऊर्जित की कला कोई वस्तु है भी या नहीं। प्रश्न यह है कि आज की आ-चना भाषा-शैली के विश्लेषण और उसी के द्वारा अपेक्षया व्यापक पक्षों का संस्पर्श कर क्या संतोषप्रद गतता (Objectivity) प्राप्त कर सकती है? वस्तुतः हमारे युग का मुख्य प्रश्न है। यदि साहित्य की सम्यक् आ-चना उसकी भाषा-शैली के द्वारा हो सकती है, तब अच्छे और घटिया दोनों किस्म के कवियों की परीक्षा होगी और उस भाषा के प्रतिमान की खोज करनी होगी सुदीर्घ अनुभव की प्रसूति होती है।

इस प्रसंग में इस सिद्धान्त पर एक विशेष आक्षेप किया गया है कि यह विशुद्ध व्याकरणिक विश्लेषण है। आक्षेप भी सुविचारित नहीं है। कुन्तक ने तो यह बत-है कि किस प्रकार वक्रोक्ति के संस्पर्श से व्याकरणिक को काव्यात्मक कोटियों में रूपान्तरित हो जाती हैं। व्याकर कोटियों के काव्यात्मक कोटियों में रूपान्तरण को हम समझने की कोशिश करें। यहाँ शैली हमारी सहायता सकता है। उसने इस प्रसंग में लिखा है कि "कवि चि असीम एवं अद्वैत का सहभागी होता है, उसकी काव्य णाओं में देश, काल एवं संख्या को कोई महत्त्व नहीं हो पुरुष-भेद एवं देश-भेद तथा कालगत अवस्थाओं को व्य करने वाले व्याकरण-रूप, ये सभी उच्चतम काव्य के में, काव्यत्व का क्षय किये विना परिवर्तनीय हैं।"[1]

व्याकरणिक विश्लेषण की एक सीमा यह बतलाई है कि यह काव्य में वातावरण की उपेक्षा करता है इसीलिए तुच्छ है। जो लोग यह आरोप लगाते हैं तर्क यह है कि कविता वातावरण का वहन किसी किन्तु आधारभूत रूप से करती है और यह अर्थ का उप (By-product) है। उनके मत से यह व्याकरणिक वि वातावरण की उपेक्षा के सिवा और क्या कर सकता ध्वनि और अर्थ एक-दूसरे का पूर्ण साक्षात्कार कर पूर्णत प्राप्ति करते हैं। अर्थ सम्यक् ध्वनि की खोज करता है ध्वनि भी तदनुकूल अर्थ को पाकर ही विराम पाती है तक ध्वनि और अर्थ का यह ब्याह सम्पन्न नहीं होता तक काव्य की सिद्धि नहीं होती है। इस प्रकार ध्वनि

१. पश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० १७२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ परस्पर वस्तुगत प्रतिरूप सिद्ध होते हैं। अतः ध्वनि और अर्थ ही कविता के वातावरण का निर्माण करते हैं। वातावरण का अर्थ उपजात अवश्य है। लेकिन यह वातावरण काव्य का ध्वनि-वृत्त ही तो है। इस प्रकार शब्द-मीमांसा और व्याकरणिक कोटियों की व्याप्तियाँ गहराई तक गई हैं।

एम्पसन ने बड़ी अच्छी सूक्ति कही है। शब्द-मीमांसा का उपयोग करने वाला आलोचक उस वैज्ञानिक की तरह होता है, जो संसार के सन्दर्भ में नियतिवाद (Determinism) को प्रयुक्त करने की लालसा रखता है।[1] इसकी गुंजाइश तो है कि यह मीमांसा सब जगह संगत नहीं हो, जहाँ संगत भी हो वहाँ सब चीज़ों की व्याख्या नहीं कर सके; लेकिन एक आलोचक को अपनी कर्मशाला में इसे संगत मानकर चलने के सिवा और क्या उपाय है। कवि ने जिस सौन्दर्यानुभूति का साक्षात्कार किया उसी का प्रमाण तो कविता है। यह प्रमाण जितना अविकल होगा, कविता उतनी सशक्त और कालजयी होगी। यह प्रमाण जितना विकृत होगा, कविता उतनी तुच्छ होगी। कविता स्वयं मूल सौन्दर्यानुभूति नहीं है, वह सौन्दर्यानुभूति का प्रमाण है। लेकिन आलोचक के पास इस प्रमाण के द्वारा उस मूल सौन्दर्यानुभूति के पुनर्सृजन के सिवा और कोई रास्ता नहीं है। यह आलोचक का मुख्य कार्य है। तब आलोचक के सामने जो बचता है वह शब्द है। शब्दमीमांसा आलोचक की विवशता ही नहीं, वरन् उसकी एकमात्र विश्वसनीय पद्धति भी सिद्ध होती है।

कविता अत्यन्त संश्लिष्ट रचना है। समाज, धर्म, मनोविज्ञान, इतिहास, कवि की शिक्षा-दीक्षा और रचना करते समय उसकी तात्कालिक मनःस्थिति ये सब उसे प्रभावित करते हैं। किन्तु कवि के मन में गल-पचकर जिस सौन्दर्यानुभूति का जन्म होता है वह बाद में शब्द-शेष रहती है। इसलिए समीक्षक इन्हीं शब्दों की उँगली पकड़कर कवि के भावलोक तक पहुँचता है। यही सौन्दर्यानुभूति का पुनर्सृजन है, लेकिन पुनर्सृष्टि हू-ब-हू सृष्टि के समान नहीं होती है। कुछ छूट जाता है, कुछ जुड़ जाता है। यहाँ आलोचक के अपने संस्कार भी काम करने लग जाते हैं। इस तरह प्रत्येक प्रत्यावर्तन प्रस्थान का नया बिन्दु बन जाता है। यह पुनर्सृजन समान और सदृश तो है, लेकिन तद्रूप नहीं है। आलोचना में जिस सौन्दर्यानुभूति का निर्माण होता है, वह किंचित् भिन्न होती है। यही आलोचना रचना बन जाती है। अच्छी आलोचना जीवन के ताप से निःसृत होती है और स्वयं जीवन का प्रतिरूप बन जाती है। एक ही कवि-मन रचना और आलोचना दोनों में व्याप्त है। अन्तर केवल मात्रा का होता है।

लेकिन आलोचना मूल प्रकाश नहीं वरन् प्रत्यावर्तित प्रकाश है। जैसे चन्द्रमा की किरण सूर्य की रोशनी का प्रत्यावर्तन ही तो है, लेकिन प्रत्यावर्तन भी रचना ही है। चन्द्रमा सूर्य की रोशनी को अधिक शीतल, आह्लादक और ग्राह्य बनाकर प्रत्यावर्तित करता है। रोशनी वही है, किन्तु उसकी प्रकृति बदल जाती है। तो, समालोचक स्वयं अंधा होता है, लेकिन शब्द ही उसे ज्योति देते हैं। यह ज्योति स्वयं कविता है : जो समालोचक कविता से बाहर किसी ज्योति का आयात करता है, उससे समालोचक की अपनी मूर्खता चाहे जितनी घटती हो, कविता के सम्बन्ध में हमें कोई नई किरण नहीं मिलती है। कविता से बढ़कर दूसरा ज्योति-पुंज कुछ नहीं है। कविता की सबसे अच्छी आलोचना कविता में ही निहित है। पुराने वैयाकरणों ने शब्द को ब्रह्म कहा था और यह ब्रह्म अपनी लीला का रहस्य स्वयं खोलता है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त ने व्याकरणिक कोटियों की तह में जाकर वातावरण की उपेक्षा नहीं की थी, इसका प्रमाण तो कवि-कर्म का सिद्धान्त है। रचना शब्दों का लस्टम-पस्टम जमघट नहीं है, बल्कि उसमें कवि के मन का ताप रहता है। यह तो व्यक्ति है जिससे छूटकर चिनगारियाँ रचना में समा जाती हैं और रचना को आकर्षक बनाये रहती हैं। शब्दों की घूर्णियाँ इन्हीं चिनगारियों के संस्पर्श से लहक उठती हैं। जब ये चिनगारियाँ बाद में नहीं रहती हैं, रचयिता का बीन सदा के लिए निस्पंद पड़ जाता है, तब भी शब्दों की वह्नि शमित नहीं होती है। इसी अर्थ में कोई भी रचयिता अपनी रचना से बड़ा नहीं होता है और जब रचना रचयिता से बड़ी है, तब हम शब्द की ओर लौट आते हैं। तब शब्द के सिवा हमारे पास बचता ही क्या है? इस प्रकार भाषा और शैली का विश्लेषण ही आलोचना का सबसे विश्वस्त प्रतिमान सिद्ध होता है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त मूल्यांकन का एक संतुलित सिद्धान्त है। कुन्तक जब काव्यमार्ग को सुकुमार क्रमोदित बतलाते हैं,

१. Seven Types of Ambiguity : Paperback edition, p. 17

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब उनका तात्पर्य यह है कि 'वक्रोक्तिजीवितम्' शिल्प अथवा जीवनदर्शन किसी एक पर बल देने के दोष से पूरी तरह मुक्त है। भाव और भाषा की परस्परस्पर्धा के सिद्धान्त को इसी कोण से देखने पर उसकी महिमा ठीक से हृदयंगम की जा सकती है। कुन्तक ने पुरानी वक्रोक्ति के क्षेत्र का बहुत विस्तार किया और उसमें उन सारी चीज़ों का समाहार प्रस्तुत किया जो कविता के संगठन में समाहित रहते हैं। इसी अर्थ में वक्रोक्ति ही कविता है।

आज के गद्य की भाषा प्रयोजन की भाषा है। वह बहुत-कुछ गणितीय प्रतीक की तरह व्यवहृत होने लगी है। और उसकी रागात्मक शक्ति क्षीण हो गई है। भाषागत पद पदार्थ के बोधक होते हैं। और ये भाषातीत अर्थ नहीं दे पाते। गद्य-कल्प से परे भाषातीत अर्थ देने की असीम संभावनाएँ हैं। इसलिए वक्रोक्ति की आवश्यकता आज भी उतनी ही है। जब तक कविता जीवित है, तब तक वक्रोक्ति की हमें जरूरत रहेगी। किन्तु इस अनिवार्यता का अर्थ यह नहीं है कि यह काव्य की आत्मा है। हमें बहुत-सी ऐसी चीज़ों की ज़रूरत पड़ती है, जो आत्मा के गुण नहीं हैं। आत्मा ही सब-कुछ नहीं है और आत्मा ही महत्त्वपूर्ण है। यह शरीर के अतिरिक्त और कैसे सिद्ध होगा? वक्रोक्ति की यही सामयिक सार्थकता है? काव्य-भाषा के अनन्य साधारण स्वरूप को उजागर करने वाली चीज़ ही वक्रोक्ति है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमूर्त ज्यामिति से बाहर

मलयज

विजय सोनी के अभी हाल में नयी दिल्ली की कोणार्क कला-वीथि में प्रदर्शित चित्रों को देखकर जो पहला अनुभव होता है वह यह कि आकृतिमूलक चित्रकार न होते हुए भी सोनी अमूर्तन के चित्रकार नहीं हैं। यह अनुभव सोनी की चित्र-रचना की मूल बनावट और स्वभाव को समझने में एक महत्त्वपूर्ण शुरुआत भी साबित हो सकती है। सोनी की चित्र-रचना के संदर्भ में अमूर्तन की चर्चा इसलिए और भी प्रासंगिक हो उठती है कि प्रायः अमूर्तन को आधुनिकता का पर्याय मानने का रुझान हमारे यहाँ काफी व्यापक हो चला है। यह सही है कि आधुनिक कला-रचना में अमूर्तन एक मूलभूत प्रतिज्ञा है, पर किसी केन्द्रवर्ती सर्जनात्मक तनाव के अभाव को आधुनिकता के चालू मुहावरों और 'क्लीशे' की ऊपरी तड़क-भड़क में छिपा देने में भी अमूर्तन बड़े काम का सिद्ध होता है। अमूर्तन दरअसल अनुभवों की विस्तार-प्रक्रिया की एक दृष्टि-युक्त दिशा है; पर जहाँ दृष्टि नहीं वहाँ यह अनुभवों की सभाओं को ही उजागर करता है। अमूर्तन का कला में प्रयोग एक शैली-विशेष को अपनाने का आग्रह मात्र नहीं है, वरन् यह रचनात्मक अनुभव की प्रकृति का भी निर्देश करता है। अतः जहाँ अमूर्तन को मात्र शैली के रूप में ग्रहण किया जाता है वहाँ इस बात की अधिक आशंका रहती है कि कहीं वह शीघ्र ही चालू मुहावरों के दलदल में फँसकर सम्पूर्ण कला-रचना को 'लिटरेरी' अथवा 'डिजाइन' के रूप में न बदल दे।

एक अमूर्तन उस प्रकार का भी होता है जिसमें कैन्वस पर रंग और रूपाकार एक अतीन्द्रिय सत्ता बन जाते हैं—अति सूक्ष्म, बौद्धिक संवेदनों द्वारा ही ग्राह्य—जैसे कि साहित्य में अर्थ से परे का नाद-सौन्दर्य—जो हमारे मन-पटल पर किसी 'कांक्रीट' अर्थ की चेतना अंकित नहीं करता, बस एक अरूप विचार अथवा बिम्ब का आभास देता है। ऐसा अमूर्तन एक स्तर पर प्रेक्षक/भावक को उसकी औसत भाव-विचार-संवेग-जटिल मानसिकता से निर्वासित कर उसे एक विरल और परिशुद्ध बौद्धिक संवेदन-लोक में ले जाता है जहाँ रंग सिर्फ रंग हैं और आकार सिर्फ आकार, और रचना इतनी निर्वैयक्तिक कि वह प्रेक्षक/भावक को इस बात की पूरी छूट दे देती है कि वह उसमें कोई सार्थक संयोजन तलाश कर ले। इस तलाश की कोशिश में हमेशा सफलता नहीं भी मिल सकती है और तब प्रेक्षक/भावक के लिए इस बात की छूट होती है कि वह ऐसी कला-रचना को महज़ बुद्धि-विलास की चीज़ मान ले।

दिल्ली में आये-दिन होती रहने वाली चित्र-प्रदर्शनियों को देखकर अमूर्तन के इन दोनों खतरों का स्वरूप कुछ अधिक स्पष्ट हो जाता है।

विजय सोनी अभी अमूर्तन की उस सीढ़ी पर हैं जहाँ वह उन्हें एक नये अनुभव-संसार में प्रवेश करने और उस अनुभव-संसार को रचना-संसार में रूपान्तरित करने को प्रेरित करती है, बस। क्योंकि सोनी के पास कहने को कुछ 'ठोस' है—हालाँकि उनके चित्र 'उस कुछ' के कहने की बनिस्वत 'उस कुछ' की खोज के दस्तावेज़ ज्यादा मालूम पड़ते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सोनी अपने आत्मकथ्य की खोज रचना की बुनियादी शर्तों पर करना चाहते हैं। उनके चित्रों के पीछे कार्यरत एक बेहद उग्र बेचैनी का आभास मिलता है; उनके गहरे रंग अपने भीतर कोई सुलगती हुई शान्त आग छिपाये लगते हैं, उनकी रेखाकृतियाँ बार-बार जैसे एक ही विलम्बित लय के तीव्र खंडों को लपेटकर रखती हुई प्रतीत होती हैं। लेकिन इस आग और उग्र बेचैनी के बावजूद कहीं कोई एक सीमा-रेखा है जो सोनी को उनकी अनुभूति में निहित अराजकता के संसार से बचाये रखती है। उनके चित्रों की सफाई, रंग-स्पर्श से झलकने वाली कोमलता, आत्मीयता और अन्त-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रंगता, आकृतियों का सहज लयात्मक संतुलन उनकी कला के गंभीर आत्म-संयम का ही संकेत देते हैं।

सोनी अपने आत्मकथ्य की खोज के लिए 'बाहर' नहीं 'भीतर' की ओर देखते हैं। उनके चित्रों में स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से दीख पड़ने वाले चिड़िया, मछली, चन्द्रमा और कुछ हद तक मानव-देहाकृतियों का सरोकार किसी बाह्य दृश्य-सत्ता से उतना नहीं जितना उनके अन्तर्मन में जन्म ले रहे रूपाकारों से होता है। सोनी के कुछ चित्रों में विशेष रूप से स्त्री-अंगों को लेकर पाये जाने वाले 'डिस्टार्शन' के पीछे यही तर्क काम करता है—वे वस्तुओं को वस्तुओं की तरह नहीं पकड़ते, बल्कि अपने अन्तर्मन की किन्हीं सजीव भाव-सत्ताओं की छायाओं की तरह पकड़ते हैं। इस प्रयास में सोनी किसी मानवीय सच्चाई को यथार्थ की शक्ल नहीं देते, वरन् उस मानवीय सच्चाई को अन्वेषित करने में अपनी उत्कट लालसा का गति-चित्र पेश करते हैं। इसी से उनके चित्रों में एक प्रकार का गत्वर प्रवाह मिलता है। उनके रंग स्थिर कैनवस पर चिपके हुए नहीं लगते, बल्कि आँखों से गिरने वाले प्रकाश का अनुसरण कर इधर-उधर बेचैन डोलते नज़र आते हैं; उनकी रेखाओं का कैनवस के 'स्पेस' पर विभाजन एक संतुलन की सृष्टि भर नहीं करता, बल्कि एक संतुलित फ्रेम में किसी गतिशील अनुभवकेन्द्र की ओर खिसकता-बढ़ता लगता है। जहाँ उनके रंग गहरे और जमे हुए हैं वहाँ वे किसी शान्त विस्फोट की पूर्व-सूचना-से लगते हैं।

इस संदर्भ में सोनी के एक चित्र, जिसे मैं सुविधा के लिए 'लाल कैनवस' कहूँगा, का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। इस चित्र में रचना के कई स्तर हैं। एक स्तर पर गहरा लाल रंग है जो कहीं-कहीं इतना गहरा है कि कालिमा की हदों को छूने लगता है, मानो गाढ़ा रक्त भूरा-नीला पड़कर जम गया हो। यह लाल रंग समग्र रूप से इस चित्र का एक माहौल बनाता है—एक ऐसी पृष्ठभूमि का माहौल जिस पर कुछ नाटकीय 'घटित' होने वाला हो। दूसरा स्तर इस संभावना-गर्भित लाल पृष्ठभूमि को सहसा एक अत्यन्त गतिशील प्रवाह में विस्फोटित कर देता है: प्रकाश के कुछ धब्बे, मछली जैसे दिखने वाले कुछ रंग-रेखाकार, घने और तरल रंग-स्पेस: रंगों के सौर-मंडल में घूमते हुए आकार-पिंड: ये सब अपनी 'उपस्थिति' से एक ओर तो 'वस्तुओं' का भ्रम जगाकर 'स्पेस' पर लाल रंग के एकाधिकार को खत्म करते हैं, और दूसरी ओर लाल पृष्ठभूमि में निहित उस नाटकीय संभावना को सचमुच ही 'घटित' करते हैं। सोनी के इस चित्र की तुलना उनके एक दूसरे चित्र से की जा सकती है जिसे मैं यहाँ 'सफ़ेद कैन्वस' कहूँगा। इस चित्र के आधे निचले भाग में गहरे नीले रंगों से परस्पर गुँथी हुई, पर स्पष्टत: रंगरेखांकित, आकृतियाँ हैं, और प्राय: आधा-सा ऊपर का भाग सफेद रंग से पुता है। इसमें भी रचना के कई स्तर हैं। नीचे की गहरी नीली, कहीं-कहीं काली पड़ी हुई नीली, आकृतियाँ नियंत्रित गहन उद्वेग को व्यक्त करती हैं, और इस प्रभाव को उभारता है ऊपरी भाग का सफेद पटल नीचे वाले भाग के उद्वेग की गहनता को एक निर्मम तटस्थता प्रदान कर। इस चित्र में रचना के ये दोनों स्तर एक-दूसरे के पूरक हैं, पर एक-दूसरे से इंवाल्वड नहीं, जैसे कि वे लाल कैन्वस में हैं। लाल कैन्वस में चित्र-रचना के प्रत्येक अवयव और घटक जैसे एक-दूसरे को काट और बना रहे हैं, और इस प्रकार एक गतिशील प्रवाह की सृष्टि कर रहे हैं। सफेद कैन्वस में वैसी गति नहीं है, बल्कि एक गहराई है। उसकी नीली आकृतियाँ भावनाओं के गहरे सागर की चट्टानें लगती हैं, सख्त और निस्पंद। ऊपरी भाग की सफेदी एक कंट्रास्ट प्रस्तुत कर मानों इस गहराई और उस चट्टानी प्रभाव को पुष्ट करती है।

सोनी प्रेक्षक की कल्पना को उत्तेजित कर उसे अमूर्त प्रत्ययों अथवा खामखयालियों से बने किसी परिशुद्ध बौद्धिक लोक में निर्वासित नहीं करते, बल्कि चेतना के उस संधिस्थल की ओर ले जाते हैं जहाँ ऐन्द्रिकता का ताप और वेग एकबारगी स्थूल प्रभावों की ओर मुड़ने के बजाय एक पारदर्शी मासूम सौन्दर्य में छनने लगता है। सोनी की आकृतियों के घुमाव और मोड़—जो प्राय: मानव-देहों के परस्पर गुंफित आकारों की शक्ल अख्तियार कर लेते हैं—स्पष्टत: उनकी उत्कट ऐंद्रिय चेतना का आभास तेदे हैं; उनके रंग गाढ़ी लालसा की चमक से चमकते और उसकी तरलता से फीके पड़ने लगते हैं। किन्तु यह ऐंद्रिय चेतना प्रबल होते हुए भी बहुत मुखर नहीं है। शायद सोनी के अन्तश्चेतन में अब भी एक भावुक सम्भ्रम बना हुआ है जिसे वे यथार्थ के सीधे साक्षात्कार के नाम पर तोड़ देना पसन्द नहीं करते। शायद यही कारण है कि सोनी के चित्रों की आकृतियाँ उद्दाम इच्छा से तनी मानव-देहाकृतियों के साथ-साथ कभी पक्षी के डैने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो कभी मछली और चाँद के सरल और मासूम आकारों जैसी भी लगने लगती हैं। आशय का यह दुहरापन सोनी की रचना-प्रेरणा के मूल में है। वे जीवन की दुर्दमनीय वासना को भोग की रंगीन लिप्सा से नहीं वरन् सौंदर्य-सृष्टि की अनिवार्य विह्वलता से भोगते हैं। इसीसे उनकी ऐन्द्रिकता गद्यात्मक न होकर पद्यात्मक है। उसमें एक गीत्यात्मक लय है जो उनके रंग और रेखा दोनों के ही इस्तेमाल में ज़ाहिर होती है।

जिस आन्तरिक तन्मयता और आग्रहशीलता से सोनी अपनी ऐन्द्रिकता को रूपायित करते हैं उससे यही लगता है कि उनकी ऐंद्रिकता अपने-आप में साध्य न होकर साधन है—एक अनवरत तलाश का माध्यम। उनका 'लाल कैन्वस' ऐन्द्रिकता की परिधि का अतिक्रमण कर सौंदर्य-रचना के एक ऐसे क्षेत्र में प्रवेश कर लेता है जहाँ कुछ और छू लेने, पा लेने की तड़प व्यक्त होती है। किन्तु सोनी की ऐन्द्रिकता का आधार बौद्धिक नहीं है, वह भावनात्मक ही है, पर इस भावनात्मकता में गर्मी और वेग होते हुए भी अनुभूति के रचना-विधान को तोड़-फोड़ देने वाला अंध आवेग नहीं है। बल्कि इसके विपरीत सोनी की ऐन्द्रिकता में एक ऐसी गूढ़ रहस्यमयता है जो कभी-कभी उनके चित्रों में एक अव्याख्यायित सौंदर्य का प्रभाव छोड़ जाती है। सोनी अपनी अनुभूतियों की इस रहस्यमयता को महसूस करते हैं, उसे विश्लेषित नहीं करते। इसी से उनके कुछ चित्रों में दीख पड़ने वाले चिड़िया, मछली तथा मानव-अंगों के आकार प्रतीक नहीं हैं—वे सोनी के अन्तर्जगत् को रूप देने वाले, या शायद यह कहना अधिक सही होगा कि उनके अन्तर्जगत् की ओर इंगित करने वाले, आकार हैं, किसी सजग बौद्धिक आरोपण के परिणाम नहीं। लगता है सोनी की मुख्य समस्या मानव-इंस्टिक्ट को पारदर्शी कला-रूपों में साक्षात्कृत करने—और इस तरह अपने को उपलब्ध करने—की है, उसे एक सजग बौद्धिक रचनात्मकता से संपृक्त कर किसी व्यापक अमूर्त अर्थ-संसार से जोड़ने की नहीं।

किन्तु सोनी की सौन्दर्य-चेतना एक 'इस्थीट' की सौंदर्य-चेतना नहीं है, न ही उनके चित्रों की 'वर्कशाप' किसी हाथी-दाँत की मीनार के भीतर है। उनके तनाव आज की समसामयिक चेतना से ही उपजे हैं, पर उनकी चिन्ता का रूप भौतिक की बनिस्बत नैतिक अधिक है—और यह चिन्ता है 'आज की चीख-पुकार में / एक बहुत कोमल तान / खो गयी है / उसे पाना···'[1] सोनी के संघर्ष का मूल और उनकी विशिष्टता भी यही है कि वे पहले तो जीवन के भौतिक और स्थूल के बजाय सूक्ष्म और नैतिक पक्ष को चुनते हैं, फिर इस सूक्ष्म और नैतिक को अमूर्त के बजाय मूर्त रूपाकारों में पाना चाहते हैं। सोनी की रचनात्मक ऊर्जा उनके कला-व्यक्तित्व के इस संघर्ष से ही उत्पन्न होती है। उनके चित्रों में पाई जाने वाली गतिशीलता का यही राज़ है जो अक्सर उनके चित्रों को एक पारदर्शिता प्रदान करती है: कैन्वस पर रंग की सतहें गहरी हो उठती हैं और गहराई सतह पर चमकने लगती है। इस गतिशीलता के रहते ही सोनी मूर्त की पकड़ में भी नहीं हैं और अमूर्त की भी नहीं। उनका कथ्य न ठोस और शरीरी है, न सूक्ष्म और वायवीय तरंगाकुल। उनमें स्थिरता और प्रवाह एक साथ है। इस मूल द्वन्द्व की चेतना जहाँ उनके चित्रों में तेज़ी से उभरती है वहाँ वे अत्यन्त सजीव लगते हैं; जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ द्वन्द्व से थकित चेतना का अवसाद एक भावुकता में बदल जाता है और सोनी अनायास 'लिरिकल' हो उठते हैं। सोनी का यह द्वन्द्व अभी उतार पर नहीं है, और शायद इसी कारण उनके साथ इस बात का खतरा फ़िलहाल नहीं है कि वे अपने-आपको दुहराने लगेंगे।

'दिनमान' में विजय सोनी की इस चित्र-प्रदर्शनी की समीक्षा करते हुए कहा गया था कि सोनी की इसी साल आयोजित उनकी पहले की दो चित्र-प्रदर्शनियों से परिचित प्रेक्षक को इस तीसरी प्रदर्शनी में कुछ नया अथवा विशिष्ट नहीं मिलेगा। मेरे विचार से यह धारणा जल्दबाज़ी का परिणाम है। विजय ने अपनी चित्र-रचना की शुरुआत पोलैण्ड में की थी और भारत में उनकी पहली प्रदर्शनी (जनवरी, १९६९) में उनके पोलैंड-काल के ही चित्र थे। वस्तुतः अपनी चित्र-रचना के इस दौर में सोनी के प्रयोग मुख्य रूप से रंग-प्रयोग हैं। उनमें नये-नये रंग-प्रभावों को आज़माने, उनकी प्रभावशीलता खोजने और उनके माध्यम से एक अनोखे दृश्य-संसार की रचना करने का प्रयास है। इसी से ये चित्र रंगों का उत्सव-सा मनाते लगते हैं। उनकी दूसरी प्रदर्शनी (मार्च, १९६९) के अधिकांश चित्रों की रचना हिन्दुस्तान में ही हुई, और इन चित्रों में आकार के प्रयोग हैं जो सोनी की

१. सोनी की चित्रप्रदर्शनी पर शमशेरबहादुर सिंह की एक अप्रकाशित कविता से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूतियों में नये रचनात्मक मोड़ की सूचना देते हैं। इनमें प्रयुक्त रंगों में पहले जैसी विविधता या चमक नहीं पाई जाती, बल्कि उनमें एक प्रकार का सादापन है। इन चित्रों में सोनी की चेतना माध्यम से अधिक आशय की अर्थवत्ता की तलाश करती है—अवश्य ही यह तलाश स्थूल आकारों के ज़रिये न होकर दिक् और रंग के संयोग से उत्पन्न अरूप आकारों के ज़रिये होती है—

> **रंगों का दुरूह जहान**
> **दिशाओं को जाल में घेरकर (क्यों नहीं)**
> **—अपनी अमूर्त ज्यामिति में—**
> **सांसों को ठोस और मूर्तमान भी**
> **कर ले जाएगा।**

—सोनी की दूसरी प्रदर्शनी के उद्घाटन-स्वरूप रची गयी (और 'दिनमान' में प्रकाशित) अपनी कविता की इन पंक्तियों में शमशेर बहादुर सिंह ने सांसों को ठोस और मूर्तमान कर ले जाने की जिस सम्भावना की ओर संकेत किया है उसका वास्तविक रूप सोनी की इस तीसरी प्रदर्शनी (दिसम्बर १९६९) में ही देखने को मिला। पहले की दोनों प्रदर्श प्रेक्षक के लिए तृप्तिदायक होकर भी कुछ अधूरा प्र छोड़ती थीं। इस तीसरी प्रदर्शनी में लगता है जैसे सोनी रंग-चेतना और आकार-चेतना संघटित होकर निखरी जैसे दो स्तरों पर चलने वाली प्रक्रियाएँ आपस में सं होकर एक नये प्रभाव-क्षेत्र की ओर उन्मुख हुई हैं। सोनी 'लाल कैन्वस' इन दोनों प्रक्रियाओं के संघटन से जन्मी सशक्त कृति है जो सोनी के अब तक के कला-व्यक्तित्व उपलब्धि है। इस प्रदर्शनी से यह भी स्पष्ट हो जाता है सोनी रंग और आकार सम्बन्धी अपनी एकायामी प्रयो शीलता के दौर को पार कर एक बहुआयामी और पुष्ट सौं रचना के क्षेत्र में प्रविष्ट हो चुके हैं और इस दिशा में उन्हें कुछ उपलब्ध करना भी शुरू कर दिया है। उनके इन चि में अधिक आत्मविश्वास और साहस है, उनकी रंग आकार-चेतना गहन आशयों से उत्प्रेरित है और इन आक की अर्थवत्ता के प्रति कलाकार की निष्ठा है। आत्मविश्व और निष्ठा की यह पहचान ही सोनी के इन चित्रों को उ पूर्व-प्रदर्शित चित्रों से अलग कर देती है। ❁

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विजय सोनी की चित्र प्रदर्शनी पर

शमशेर बहादुर सिंह

जिस्म जहाँ घुलता है
रंगों की कोमलता में खो जाने
Passion दुख और दर्द का
और सुख का
सुख की झाँकियों का
जहाँ रोशनी और अँधेरे की
शतरंज बिछाता है :
जहाँ दूरियों में हम हैं
और नज़दीकियों में तुम
और दोनों जहाँ मिलते हैं वह एक
कैनवस है
जिसे हम छू नहीं सकते
क्योंकि उसे हम जी रहे हैं

यह एक माध्यम है
जिसे रंग मिल-मिल के पकड़ने के लिए
खोये जा रहे हैं
यहाँ जो कुछ ठोस है
वह धड़क रहा है
और जहाँ धड़कन है वहाँ
खामोशी है
दम साधे हुए।
आज की चीख-पुकार में
एक बहुत कोमल तान
खो गयी है
उसे पाना है

विजय सोनी
तुम डेन्मार्क जाओ
स्वेडन पोलैंड में
कोई नया रूप
जन्म ले रहा है
अनपहचाने शायद
उसकी परछाइँ मैं यहाँ
पकड़ रहा हूँ
शिल्प-चक्र में।

शायद मुक्तिबोध[1] आज
यहीं खड़ा है।
वह ऊँचा व्यक्ति
जो हम सबसे पीछे है, और
हम सबको ऊपर से
देख रहा है।

हम पीछे मुड़कर न देखें।
सामने ही देखें।

शायद उसकी नज़र
आईना बने।
हम सबकी नज़र
उसका आईना बने।

और हम उसको देख
जो हमारा
आने वाला व्यक्ति है। □

१. इस प्रदर्शनी के कई चित्र मुक्तिबोध की कहानी 'क्लाड ईथरली' का अन्तर्दर्शन हैं। —श०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

अप्रासंगिकता के कगार पर

विष्णु खरे

सुविधा के लिए यह कहना नजरअन्दाज़ कर दिया जाय कि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना 'तार-सप्तक' के कवियों के बाद की उस सीढ़ी में गिने जाते हैं जिसमें श्रीकान्त वर्मा, रघुवीर सहाय, कुंवरनारायण, धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, लक्ष्मीकांत वर्मा, केदारनाथ सिंह आदि शामिल हैं। नामों की इस तालिका से ही स्पष्ट हो जाएगा कि यह पीढ़ी-विभाजन सिर्फ समयगत है—यह नहीं कहा जा सकता कि ये तमाम लोग एक ही तरह की कविताएँ लिख रहे थे या लिख रहे हैं। इन नामों में से भारती और कुंवरनारायण ने शायद अपनी सीमाएँ पहचानकर कविताएँ लिखना (या कम-से-कम उन्हें प्रकाशित करवाना) क़रीब-क़रीब छोड़ रखा है—साही की भी कोई रचना एक अरसे से दीख नहीं पड़ी। लक्ष्मीकांत वर्मा का इस पीढ़ी में न्यूनाधिक वही स्थान है जो गिरिजाकुमार माथुर का है। केदारनाथ सिंह इस पीढ़ी के शमशेर हैं—सभी इस बात पर सहमत हैं कि "वे अच्छे कवि हैं लेकिन···" इस प्रकार इनमें से ले-देकर वही तीन पात बच रहते हैं जो लगातार लिख रहे हैं—श्रीकान्त वर्मा, रघुवीरसहाय और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना।

किन्तु पिछले सात वर्षों में तीन संग्रह प्रकाशित करवाने के बाद भी क्या वजह है कि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की आज वह तस्वीर नहीं उभरती जैसी—मैं तुलना नहीं कर रहा हूँ—श्रीकान्त वर्मा या धूमिल की है? मेरा यह अर्थ नहीं है कि मैं उनसे उनके किसी समसामयिक अथवा उनसे कनिष्ठ कवि की तरह की रचनाएँ चाहता हूँ। प्रत्येक पाठक यह चाहता है कि किसी भी कवि की रचनाएँ पढ़ने के बाद वह न केवल यह कह सके कि वे अच्छी कविताएँ हैं बल्कि यह भी कि वे दूसरे कवियों की रचनाओं से अलग अच्छी कविताएँ हैं। काव्य स्फीति के इस युग में सिर्फ 'अच्छी' कविता लिखना ही काफी नहीं रह गया है—जिसके पास कुछ अपना कहने को नहीं रह गया है उसे अब कविता लिखने की ज़हमत नहीं उठाना चाहिए—'कॉमनप्लेस' तो सभी बढ़िया लिख रहे हैं।

सर्वेश्वर कवि-रूप में चर्चित न हुए हों ऐसी बात नहीं। जिस ज़माने में उनके प्रारम्भिक संग्रह प्रकाशित हुए थे ('काठ की घंटियाँ' की कविताएँ और 'बाँस का पुल'), उस समय उनकी कविता की सादगी ने ध्यान अवश्य आकृष्ट किया होगा और जीवन के छोटे-बड़े रागात्मक सम्बन्धों को अभिव्यक्ति देने की उनकी चेष्टा का स्वागत भी हुआ होगा। छायावाद और प्रगतिवाद की मारी हिन्दी कविता को प्रयोगवाद की अतियों से दूर रखने के प्रयास में नयी कविता वायवीय रूमानियत, विजयवादी मनोरथ तथा सनक से कतराती थी और रोज़मर्रा के जीवन और हल्के-फुल्के दर्शन में ही काव्यात्मकता खोजती थी। रूमानियत से पूरी मुक्ति कविता में सम्भव नहीं है किन्तु नयी कविता आज जितनी रूमानी दिखती है शायद दस बरस पहले उतनी न रही होगी। उस समय की कविता के लिए सर्वेश्वर में एक खास तरह की कुशलता तो थी ही, वात्स्यायन सरीखी प्रतिभा की देख-रेख में वह विकसित भी हुई। उन्होंने अपने प्रिय कवियों में सर्वेश्वर को स्वीकार किया और सर्वेश्वर को 'हिन्दी कविता के आगामी दस वर्षों के महत्वपूर्ण दो स्वरों' में (दूसरे रघुवीर सहाय थे) रखा। इस कथन में कोई व्यंग्यार्थ न देखा जाय—प्रत्येक बड़े कवि को अपने प्रिय कवि के विषय में ऐसी भी भविष्यवाणी करने तथा उसे प्रोत्साहन देने का अधिकार है। ज़रा सोचिए यदि एज़्रा पाउण्ड एलियट को प्रोत्साहित न करता तो विश्व-कविता की क्या दशा होती।

प्रारम्भिक ख्याति तथा वात्स्यायन सरीखे हितैषी

१. गर्म हवाएँ : सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, मूल्य पाँच रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बावजूद भी यदि सर्वेश्वर की कविता हिन्दी काव्य की प्रमुख तथा प्रभविष्णु धारा में एक बलिष्ठ लहर नहीं बन पायी तो इसका कारण निस्संदेह उनकी कविता में ही प्राप्त होगा। स्वयं कवि भी कहीं-न-कहीं इस बात को पहचानता है कि उसमें कुछ कमी है और यह हीन भाव उससे सात वर्ष पहले ही कहलवा चुका है "मैं अनगढ़ कवि/धूल में उदास बैठा/सबकी शिल्प-चातुरी देखता हूँ" **(दस्तकारी की दूकान)** "किससे कहूँ—मेरा मस्तिष्क,/मेरा हृदय,/मेरा व्यक्तित्व,/अब दूसरे गढ़ते हैं—/अर्पित कर दिया है मैंने स्वयं को/अब दूसरों की गति को/यदि नहीं बहता मैं,/तट पर पड़ा हूँ मौन,/दोष इसमें किसका है ?" **(दर्द यह किससे कहूँ)** "मैं चलता हूँ/लेकिन रास्ते पर मेरे चरण-चिह्न नहीं छूटते,/मैं कोई लीक कोई परम्परा नहीं छोड़ता,/एक सूखा हुआ पत्ता हूँ···कभी-कभी लगता है/मेरा अस्तित्व ही मेरे लिए चुनौती है,/मैं प्रश्न-चिह्नों की बैसाखी लगाकर चल/रहा हूँ" **(कभी-कभी ऐसा लगता है)** "उपलब्धि के नाम पर/मेरे पास एक झोला है/जो खण्डित मूर्तियों से भरा है/···गहन व्यथा के क्षणों में/मैं अक्सर इन मूर्तियों से टकराता हूँ,/और स्वयं टूटता हूँ/विलग हो जाता हूँ; /किसी जीर्ण शिवाले की तरह ढहता हूँ,/और अपने अस्तित्व की एक-एक ईंट गिरती देखता हूँ; /लोग आते हैं/अपने-अपने प्रयोजन से मुझे उठाते हैं/और मेरे इतिहास को कुचलते चले जाते हैं।" इन पंक्तियों के पीछे किसी असफलता के एहसास से अपनी जो रूमानी आत्मदया छिपी हुई है वह असंदिग्ध है। 'एक सूनी नाव' की दो रचनाओं में यह भी द्रष्टव्य है। "एक अदृश्य इमारत/मेरे ऊपर गिर पड़ी है/जो 'नहीं है' उसके बोझ से/मैं दब गया हूँ/एक अदृश्य नदी /मुझ पर फैल गयी है/जो 'नहीं होगा' उसकी धार में/मैं बह रहा हूँ/एक अदृश्य सड़क/मेरे नीचे से निकल गयी है/जो 'नहीं था' उसकी चपेट से/मैं कुचल गया हूँ" **(दुर्घटना)** एक अतीत शोधता हूँ मैं/वर्तमान को प्राणदान के लिए / लेकिन एक अनिश्चय ही बढ़ा हुआ पाता हूँ/···"अपने को दोहराते-दोहराते/अब मैं थक गया हूँ,/ताश के पत्तों की तरह/कब तक फेंटता रहूँ विश्वास,/और मक्खियों की तरह/उड़ाता रहूँ स्मृतियाँ,/या भिखारियों की तरह/गिनता रहूँ चन्द सिक्के,/गोया अधिक गिनने से/उनकी संख्या बढ़ जाएगी !"

सर्वेश्वर के प्रत्येक काव्य-संग्रह में एक कविता तो स्वयं पर होती ही है और वह उन्हें समझने में सहायक सिद्ध होती है। ऊपर दिए गए उद्धरणों के प्रकाश में उनके चर्चित संग्रह की अन्तिम कविता **'बसन्त के नाम एक खुला पत्र'** की यह पंक्तियाँ भी पठनीय हैं। "हर छापे में जुआड़ियों के खिसक जाने पर/गिरफ्तार होता/और बाद में दोस्तों से/चतुर न होने पर गालियाँ खाता"..."काम के नाम पर/उसने केवल तुम्हारे रंगे हुए/कपड़े सुखाये हैं"···"वह जिनके पीछे तबाह होता है/वही उसकी अनफलता को/नगाड़े की तरह बजाते हैं; /आज एक भी दोस्त उसका नहीं है/वह कोयलों की आवाज़ की नकल करता/वीरानों में घूमता रहता है/हर एक की गालियाँ और पत्थर सहता है।" रूमानियत के सबसे गहरे प्रमाण हैं व्यक्ति का अपने भोलेपन में न केवल विश्वास बल्कि उसे ही अपनी तमाम असफलताओं का कारण होने में अदम्य आस्था, अपनी 'भलाई' के प्रति आत्मरति, दुनिया की मक्कारी के आगे शहीद होने की मुद्रा और आत्मपीड़न। यह सब सर्वेश्वर की इस कविता में विद्यमान हैं और हालाँकि इस कविता में सर्वेश्वर का इरादा अपने इस रूप की हत्या कर देने का है किन्तु यह फिर एक रूमानी मुद्रा है।

यह रूमानियत एक दूसरे रूप में, जो सन्तोचित शौर्य-प्रदर्शन का है, इस संग्रह की प्रार्थना-कविताओं में उभरा है "नहीं नहीं प्रभु तुमसे/शक्ति नहीं मागूंगा", "यात्रा के साथी हों हर पल असफलताएँ/मुझ पर गिरती जाएँ मेरी ही सीमाएँ/सुखद दृश्य तेरे हों/भरे नयन मेरे हों", "अपनी दुर्बलता का/मुझको अभिमान रहे", तथा "वज्र गिराओ जब-जब तुम/मैं खड़ा रहूँ यदि सीना ताने,/नर्क-अग्नि में मुझे डाल दो/फिर भी जिऊँ स्वर्ग-सुख माने,/मेरे शौर्य और साहस को/करुणामय हों तो सराहिए।" बहुत संभव है कि इन पंक्तियों की प्रेरणा किसी दुःख में हो और वह दुःख वास्तव में बड़ा भी हो, किन्तु पारम्परीण शक्ति-प्रदर्शन की अपरिपक्व इच्छा ने दुःख की तिलमिलाहट को व्यक्त होने के पहले ही नष्ट कर दिया है और इसीलिए ये चारों कविताएँ न केवल उदासीन छोड़ती हैं बल्कि छद्म होने की प्रतीति भी देती हैं।

प्रत्येक रूमानी कवि की त्रासदी यह होती है कि वह सोचता है कि देने के लिए उसका कच्चा माल ही पर्याप्त है, क्योंकि वह 'भावनाओं की शक्ति' आदि सरीखी चीज़ों में विश्वास रखता है। यह 'नाइव' आस्था उससे जिस तरह की कविताएँ लिखवाती है उसका उदाहरण है इस संग्रह की **'पत्नी**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की मृत्यु पर'। मृत्यु की भयावहता और उसके बाद का रीतापन असंदिग्ध है और एक संवेदनशील व्यक्ति पर नज़दीक से देखी गयी प्रत्येक मृत्यु एक शब्दातीत असर छोड़ती है। इस कविता के पीछे कवि की जो पीड़ा है उसकी असलियत तथा गहराई में मुझे ज़रा भी अविश्वास नहीं है। किन्तु कविता के साथ मुश्किल यह है कि केवल अनुभव की ईमानदारी ही इसमें सब-कुछ नहीं होती। कच्चे संवेग पर, वह कितनी ही प्रामाणिक तथा निकट क्यों न हो, कवि को एक निर्मम संयम देना होता है जिससे वह हिस्टीरिया या हड़बड़ी न होकर कलाकृति का रूप ले सके। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की इस कविता की पहली दो पंक्तियाँ इस उद्देश्य का सही निर्वाह नहीं करतीं—"बायें हाथ में ले / अपना कटा हुआ दाहिना हाथ" क्योंकि इनमें स्थिति के दुःख का नाटकीकरण ज्यादा है—कला के स्तर पर स्वीकार्य अभिव्यक्ति कम। रूमानी कवि की एक प्रिय युक्ति एक ही चीज़ को दुहराने की भी होती है इसलिए जब सर्वेश्वर तीसरे चरण में कहते हैं "एक हार की तरह/ मैं रेगिस्तान में खड़ा हूँ···गर्म हवायें सनसनाती हुई / मुझमें से गुज़र जाती हैं" तब तक तो ठीक रहता है, किन्तु जब अगले चरण में ही वह "चारों ओर हरहराती है बाढ़ / कमर तक पानी में / पीठ पर संदूक लादे खड़ा···मैं आदमी से नाव बनता जा रहा हूँ" कहते हैं तो इन दोनों के बीच कविता के विकास का तर्क बिठाना मुश्किल हो जाता है। कुछ और आगे जाकर "बायें हाथ में ले / अपना कटा हुआ दाहिना हाथ / फेंकता हूँ पत्थर इस सड़े-गले समाज पर" का न तो कोई स्थितिगत 'न्याय' है और न काव्यगत। अव्वल तो 'सड़ा-गला समाज' यह मुहावरा ही हिन्दी फ़िल्मों और आवारा, कुशवाहा सरीखे उपन्यासकारों ने एक सड़ा-गला 'क्लिशे' बना दिया है और एक जागरूक कवि से ऐसे शब्द-समूहों से बचने की उम्मीद की जाती थी, फिर कवि जिस दुःख में डूबा हुआ है उसमें 'समाज' का कहाँ तक हाथ रहा है इसका कोई अन्तःसाक्ष्य कविता में नहीं है। कविता की अन्तिम पाँच पंक्तियाँ 'एब्सर्ड' हैं—"बायें हाथ में ले / अपना कटा हुआ दाहिना हाथ/उठाता हूँ मैं इस शिलालेख में / जिस पर शाम बिना पैर धोये / आकर बैठ गई है।" स्मरण रहे कि इसकी पूर्वगामी पंक्ति में कवि स्वयं को 'शिलालेख' कह चुका है और बिना पैर धोये आई शाम भी उसी का प्रतीक है। गद्यार्थ होगा "बायें हाथ में ले अपना कटा हुआ दाहिना हाथ उठाता हूँ मैं अपने को जिस पर मैं स्वयं बैठा हुआ हूँ।" यह तो, के अभी जानना बाकी है कि एक हाथ में अपना कटा हुआ दूस हाथ पकड़े हुए कोई चीज़ (शिलालेख सरीखी वज़नी क की बात तो दूर रही) कैसे उठायी जा सकती है।

हिन्दी का कवि चूँकि पाठक को सब-कुछ समझाने विश्वास रखता है इसलिए अक्सर वह अपनी कविताओं दो हिस्से रखता है—एक खुद के लिए और दूसरा भाष्य लिए। 'सूखा' की पहली उन्नीस पंक्तियाँ कमोबेश संतोषप्र हैं, किन्तु उसके आगे 'सूखे' को कहीं 'सूखा' ही न समझ लिय जाय, इस पाठकवत्सल भय से सर्वेश्वर सारी स्थिति स्प करते हैं और कविता नष्ट। दरअसल सर्वेश्वर सादा कविता के सादा अर्थों के कवि हैं और उनके पास एक निश्चित दू तक जाने वाली दृष्टि है। वे स्थितियों और चीज़ों के द्वि आयामीय अंकन के कवि हैं और जहाँ उनके संवेग पेचीदा है जैसे कि 'एक आत्मीय की प्रतीक्षा' में, वे उन्हें कविता समेटने में असफल होते हैं और एक फैन्टेसी का रूप देक जिस पर मुक्तिबोध का प्रभाव स्पष्ट है (हालाँकि विषय वह मुक्तिबोध से उतनी ही दूर है जितने स्वयं सर्वेश्वर) उसे गतिविधियों के ब्योरे से भर देते हैं जो "अचानक द वाज़ा बन्द हो गया/और मैं उस हाथ को लिए/कमरे में गि पड़ा / मेरे जोड़ फिर उखड़ गए" की हास्यास्पद अतिनाट कीय गद्यात्मकता को प्राप्त होते हैं।

रूमानी कवि होना पाप नहीं है, खराब रूमानी कवि या खराब कवि होना भी पाप नहीं है, सिर्फ विवशता है। किन्तु फिर भी रूमानी कवियों पर वर्तमान राजनीतिक-सामाजिक दबावों ने असर तो डाला ही है और यह असर शायद सर्वेश्वर बहुत ज्यादा महसूस करते हैं क्योंकि संग्रह के आरम्भ में ही उनकी घोषणा है—"अब मैं कवि नहीं रहा/एक काला झंडा हूँ।"इसलिए यह अप्रत्याशित नहीं था कि उनके इस संग्रह में ऐसी कविताएँ हों जिन्हें आज की स्थितियों से कुछ लेना-देना हो। संग्रह की तीन ऐसी कविताएँ 'मेरे दोस्तो!', 'मेरे दोस्त!' तथा 'मेरे देशवासियो!' को सम्बोधित हैं। 'धीरे-धीरे' का प्रारम्भ व्यक्तिगत 'नोट' पर होता है किन्तु अचानक 'देश' का ज़िक्र आता है। अभी पाठक संभल ही रहा था कि पुनः व्यक्तिगत पंक्तियाँ उसे गड़बड़ा देती हैं "धीरे धीरे अब मैं ईश्वर भी नहीं पाना चाहता,/धीरे-धीरे/अब मैं स्वर्ग भी नहीं जाना चाहता,/धीरे-धीरे/अब मुझे कुछ भी नहीं है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार/चाहे वह घृणा हो चाहे प्यार।" दो समानान्तर धाराएँ दीखती हैं किन्तु उनका मेल कहीं भी नहीं होता। कविता की अन्तिम नौ पंक्तियाँ बाकी पंक्तियों में भाषा तथा शिल्प में इतनी भिन्न हैं कि बाद में चिपकाई गई लगती हैं। 'यह खिड़की' में भी यह द्वित्व उपस्थित है—"हवा को यदि आना हो तो आए/दरवाज़ा भड़भड़ाए, तोड़ जाए, / अन्यथा सींकचों पर सिर टिका/रोकर चली जाए/किसी असमर्थ की प्रतीक्षा से/बन्द कमरे की घुटन बेहतर है/जिसने खुद अपनी ज़बान काट ली हो/उससे नहीं बोलूँगा" के साथ "यह बन्द कमरा/सलामी मंच है/जहाँ मैं खड़ा हूँ—/पचास करोड़ आदमी खाली पेट बजाते/ठठरियाँ खड़खड़ाते/हर क्षण मेरे सामने से गुज़र जाते हैं" सरीखी पंक्तियाँ हैं। "नक्शे पर देश के/और आँखों में प्यार के/सीमान्त धुँधले पड़ते जा रहे हैं" तथा "असमर्थ देश/असमर्थ प्यार/दोनों को ही मेरा नमस्कार" से कवि के इरादे कुछ स्पष्ट होते हैं किन्तु महज़ इरादे कविता नहीं होते।

दो नेताओं पर लिखी गई कविताएँ इस बात की अच्छी मिसाल हैं कि नेताओं पर खराब कविताएँ कैसे लिखी जा सकती हैं। 'लोहिया के न रहने पर' शीर्षक स्वयं में स्पष्ट है। किसी भी कवि का किसी भी 'नेता' पर कविता लिखना कविता का और खुद का अवमूल्यन करना है। लेकिन सरीखों की बात यदि छोड़ दें तो बड़े-से-बड़े राजनीतिज्ञ और नेता अपने कमज़ोर क्षणों में बहुत मामूली सिद्ध हुए हैं। फिर लोहिया भारत के प्रथम पंक्ति के नेताओं में तो निस्संदेह नहीं गिने जा सकते—भले ही हिन्दी साहित्यकारों को बर्दाश्त करने का दुर्लभ सद्गुण उनमें रहा हो। एक दायरे में उनकी उपलब्धियाँ बड़ी हैं किन्तु राजनीतिक मतभेद को व्यक्तिगत विवादों पर उतारने तथा वर्तमान संसदीय अनुशासनहीनता के बीज उन्हीं के बोए हुए है। इस बात में जाना बेकार है कि यदि वे जीवित होते तो क्या होते, किन्तु पिछले वर्ष 'हिन्दुस्तान टाइम्स' ने उनकी बरसी पर उन्हें 'द फ़िगर दैट द कॉफ़ी-हाउस गोअर्स मिस' कहकर स्मरण किया था। यहाँ स्पष्ट करना उचित होगा कि वैसे तो इस तरह की राजनीतिक चर्चा का समीक्षा में कोई स्थान नहीं होना चाहिए, किन्तु चूँकि जिस कविता की बात हो रही है वह एक नेता को लेकर लिखी गई है तो शायद यह उपचर्चा पूर्णरूपेण अप्रासंगिक नहीं है। व्यक्तियों पर लिखी जानेवाली प्रशंसात्मक या कहें 'भावुक' कविताओं के पीछे नियम यह है कि हो सकता है किसी महान् व्यक्ति पर कोई घटिया कविता लिखी जाए, किन्तु किसी द्वितीय दर्जे के महान् व्यक्ति पर प्रथम श्रेणी की कविता लिख पाना असंभव है। नेहरू पर कविता हो भी सकती है—मोरारजी या कामराज पर कविता की कल्पना दारुण है। इसलिए जब सर्वेश्वर "मैं साधारण···/(इसी शब्द से तो था/तुम्हें इतना प्यार)/कहता हूँ: ओ मेरे देशवासियो/एक चिनगारी और" तो यह स्पष्ट है कि ये पंक्तियाँ उनके हृदय में अंकित लोहिया के एक रूमानी तथा अतिरंजित चित्र से प्रेरित हैं और क्रान्ति के इस क्विग्ज़ोटनुमा आवाहन का सही पूर्वाभास हैं "एक चिनगारी और—/जो ख़ाक कर दे/दुर्नीत को, ढोंगी व्यवस्था को, कायर गति को/मूढ़ मति को,/जो मिटा दे दैन्य, शोक, व्याधि,/ओ मेरे देशवासियो/यही है उसकी समाधि" और "सुख-संपत्ति घर आवे, कष्ट मिटे तन का" से कुछ ही दूर हैं।

ऊपर कहा गया है कि महान् व्यक्ति पर घटिया कविता लिख पाना संभव है और वह 'पंचधातु' में स्पष्ट है, जो गांधी जी पर आधारित है। गांधीजी तथा वर्तमान 'नेताओं' के बीच इतनी बड़ी खाई है कि उस पर सिर्फ़ व्यंग्य लिखना ही संभव रह गया है क्योंकि वही आसान है। व्यंग्य एक सशक्त साहित्यिक विधा है किन्तु सर्वेश्वर के व्यंग्य का स्तर गांधीजी की लँगोटी के बिल्ले बनवाने और चप्पलों से गरीबों की चाँद गंजी करवाने का है। मुझे पूरा विश्वास है कि गांधी शताब्दी वर्ष होने के नाते पिछले वर्ष दिनकर सोनवलकर ने गांधीजी का सहारा लेकर अवश्य एकाध व्यंग्य लिखा होगा और वह कविता निस्संदेह सर्वेश्वर की इस कविता से बेहतर होगी। 'बुद्धिजीवी' तथा 'दूसरों के कपड़े पहनकर' 'पंचधातु' के समान ही व्यंग्य हैं और अपनी 'नाइविटी' में समान रूप से बचकानी हैं। इनमें जो व्यंग्य हरकतें हैं वे उसी निम्न-स्तर की हैं जिसकी प्रतिच्छवि बम्बइया फ़िल्मों के विदूषकों में तथा 'हवा महल' की 'बेग़म, सुनती हो' छाप हास्य-नाटिकाओं में उपलब्ध है—"ग़ौर से देखा मैंने, चश्मा नाक पर उन्होंने चिपका रखा था टेप से, / कानों के पीछे छः-छः इंच बढ़ी कमानियों पर / टँगा हुआ था चेस्टर, / जिसे दोनों हाथों में फाँस / बाँध रखा था उन्होंने कमर पर / नीचे टाँगें शायद नंगी थीं—बेपर्दा / जूतों पर बंधा हुआ था पान और ज़र्दा।"

चूँकि आज के कविता-संग्रहों की एक रूढ़ि "यातनाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सलीब और सलीबों का घेराव", "उजासों का पाखी और बैंगनी उदासी की बाँसुरी" तथा "तोड़ते हुए आयाम तथा अकेलेपन के व्यायाम" सरीखे शीर्षकवाले उपखंड हैं, इसलिए सर्वेश्वर के इस संग्रह के तीन खंड आश्चर्यान्वित नहीं करते, आश्चर्यान्वित करती है तीसरे खंड की पहली कविता जिसकी प्रथम पंक्ति ही पाठक की धड़कनें तेज़ कर देती है—"फिर वसंत ने मुझे डसा···" पहले दो चरणों में पाँच पंक्तियों का एक निजी छंद इस्तेमाल किया गया है किन्तु तीसरा चरण, जिसे पहले दो की परम्परा निबाहनी चाहिए थी, अचानक नौ पंक्तियों का हो उठता है और पढ़ने में गड़बड़ है। यह तो खैर शिल्पगत बात हुई। कविता में वसंत के डसने, अजगर, उसकी लपेट, साँसों के घुटने तथा ज़हर से खासा सिलसिला स्थापित हो गया है। अचानक अठारहवीं पंक्ति में कवि वसंत की आशीष माँगने लगता है और उतने ही अचानक एक नरकोकिल कवि के सिर पर बैठ अट्टहास कर उठता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ अट्टहास या तो सिर्फ 'किया' जाता है या कोई 'अट्टहास कर उठता' है, 'अट्टहास कर हँसना' मेरे लिए नई बात है। चूँकि तुक मिलाना जीवन-मरण का प्रश्न है, इसलिए 'अट्टहास कर हँसा' ज़रूरी है। इसे यदि उपेक्षित कर भी दिया जाय तो यह जान पाना कठिन है कि यह तीन पंक्तियाँ कविता में किस तरह आवश्यक हैं, और फिर सिर पर बैठकर पक्षी ने जिस तरह अट्टहास किया है उससे चमगादड़ सरीखे किसी पक्षी का चित्र ज़्यादा उभरता है। 'अचानक' शब्द यहाँ यूँ ही नहीं है—इन पंक्तियों की हास्यास्पद विचित्रता को छिपाने के लिए उपयुक्त एक चतुर आवरण है।

सर्वेश्वर एक उपमा लेकर कविता प्रारंभ करते हैं किन्तु कुछ दूर निबाहकर अपनी उपमा का 'न्याय' भूल जाते हैं और इससे कविता में उलझाव पैदा होता है। स्त्री या स्त्री की आँखों को नदी कहकर उसके चेहरे पर अपने चुम्बन को जल-पाखी कहना दूर की कौड़ी न भी हो लेकिन इन दोनों के बीच "गालों पर दहकती / वह आग / कोपलों की अब कहाँ है? पुराने पत्ते ओढ़कर धुआँ सो गया है" लाकर वे एक उपमा को एक नितांत अलग रूपक से गड्ड-मड्ड करते हैं। 'प्रयोग-वाद + नयी कविता के एक निरीह रूपक को खींच-खींचकर मरणासन्न कर देने की हरकत 'शाम : एक किसान' में है जिसमें शाम का मानवीकरण किया गया है। अव्वल तो शीर्षक ही ग़लत है, जो इन प्रारंम्भिक पंक्तियों से होगा—'आकाश का साफा बाँधकर / सूरज की चिलम खींचता / बैठा है पहाड़", जिसका साफ़ अर्थ है कि पहाड़ को किसान समझा गया है, शाम को नहीं। अब इस कविता को कुछ समीप से मुआयना किया जाय। पहाड़ को किसान माना जा सकता है, किन्तु समूचे आकाश को उसका साफा मानना मुश्किल है—बादल का टुकड़ा होता तो भी ग़नीमत था। बहरहाल, यह किसान सूरज की चिलम खींच रहा है। पहाड़ के 'मुँह' से 'सूरज' तक चिलम के आकार की कौन-सी चीज़ है? उसके 'हाथ' क्या हैं? फिर, कश खींचने वाले जानते हैं कि ऐसा करते वक्त सिगरेट (या चिलम) का जलता हुआ हिस्सा लाल हो जाता है, साँस छोड़ते ही वह फिर धीमा हो जाता है। क्या शाम को सूरज इसी तरह बारी-बारी से जलता-बुझता हुआ डूबता है? घुटनों के पास की नदी के लिए 'पड़ी हुई' इस्तेमाल करना अवास्तव है। फिर 'सुनते हो' की आवाज़ सुनते ही 'किसान' फौरन चिलम उलटा देता है, यानी सूरज एक छपाके या धमाके के साथ टूट गिरता है। अब यदि आप पूछें कि 'सुनते हो' में जो आदेश छिपा है उसका पालन 'किसान' ने 'उठकर' कैसे किया तो यह आपकी हठधर्मी नहीं तो और क्या है? मानवीकरण का सबसे बड़ा खतरा यह है कि असमर्थ कवि उसके काम आने वाले उभयनिष्ठ लक्षण तो तुरन्त इस्तेमाल करता है किन्तु जो 'टेढ़े' प्रश्न हैं उन्हें कालीन के नीचे कचरे की तरह छिपाने की कोशिश करता है। इस कविता की अंतिम पंक्तियाँ हमारे संभावित कुतूहल को बहलाने के लिए टाँकाई गई हैं। वहाँ उनकी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि पहले जब स्पष्ट हो चुका है कि सूरज चिलम है तो चिलम के औंधी होने का अर्थ उसका डूबना ही होगा। ये पंक्तियाँ कविता को एक छद्म 'अंत' देने का प्रयास मात्र हैं, क्योंकि रूपक को अपने तर्कसंगत परिणाम पर पहुँचाना अचानक कवि के बूते के बाहर हो गया।

हर युग में कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति होती है। अधिकांश कवियों की शक्ति उसे अभिव्यक्त करने में होती है। मैं यहाँ यह नहीं कह रहा हूँ कि उस प्रमुख स्वर के अलावा कोई और काव्य-प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। अस्तित्व हर जगह संभव है। संभव है कि यदि युग समाज तथा राजनीति से उपजने वाली कविता का हो तो कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्छा कवि—ऐसा भी हो सकता है जो उस धारा से हटकर, बल्कि बिलकुल विपरीत, लिख रहा हो। शायद वह उस युग में न खोज निकाला जाए, किन्तु यदि उसमें वास्तव में कुछ है तो उसकी बारी अवश्य आएगी। किन्तु जहाँ यह सच है कि अलग-अलग प्रेरणाओं और दबावों में लिख रहे प्रमुख कवि एक स्तर पर समान होते हैं वहाँ यह भी सच है कि द्वितीय तथा अन्य वर्गों के कवियों को एक खास स्तर पर पहुँचने के बाद अपनी सीमाएँ पहचान लेनी चाहिए और उनके अनुसार अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को भी पुनरीक्षित करना चाहिए। एक संदिग्ध प्रथम श्रेणी की तलाश भी बनाम एक ईमानदार द्वितीय या तृतीय दर्जे का कवि होना ज्यादा सार्थक है। सर्वेश्वर उन कवियों में से हैं जिन्हें प्रथम पंक्ति के बाद की पंक्तियों में से एक से ही संतोष करना होगा। उनके पास न तो श्रीकान्त वर्मा का विश्वद्रोही चिड़चिड़ापन है और न रघुवीरसहाय सरीखा संतुष्ट शिल्पलाघव, केदारनाथसिंह की 'प्रगीतात्मकता' भी उनमें नहीं है। नये लोगों में धूमिल, कमलेश, ऋतुदान, अशोक वाजपेयी आदि उन्हें मीलों पीछे छोड़ गए हैं। सर्वेश्वर की कविता की त्रासदी यह है कि उनके पास संवेग तो हैं किन्तु सर्जनात्मक दृष्टि की वह प्रखरता नहीं है जो उन्हें एक महत्त्वपूर्ण कवि बना सके। नतीजा यह कि प्रभावोत्पादकता के चक्कर में वे सामान्य शब्दों और मुहावरों का आश्रय लेते हैं। सामान्य शब्दों और मुहावरों से कविता नहीं हो सकती यह नहीं कहा जा रहा है, किन्तु उन्हें आप किस तरतीब में देखते हैं यह न केवल आपकी कविता की पहचान कराता है बल्कि आपके तरीके को भी प्रभावित करता है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि यह कोई नहीं चाहेगा कि सर्वेश्वर, इसकी या उसकी राह चलें। मैं यही कह रहा हूँ कि उन्हें आवश्यकता एक सार्थक सर्वेश्वरदयाल सक्सेना बनने की है—अभी उनकी कविता से उनका कोई अर्थवान व्यक्तित्व नहीं उभरता। दस-पन्द्रह वर्षों से लगातार कविता लिखते रहने के बाद भी यदि यह स्थिति बनी रहती है तो समय आ गया है कि सर्वेश्वर अवास्तव तथा गढ़ी गई ख्याति के मोहजाल से छूटें और देखें कि किस तरह वे आश्चर्यजनक किन्तु दुःखद गति से, आज की कविता ही नहीं, कविता मात्र के लिए अप्रासंगिक होते जा रहे हैं और विस्मृति के उस क्रूर कगार पर खड़े हुए हैं जहाँ उन्हें केवल एक ही संतोष हो सकता है कि वे अकेले नहीं हैं। ●

अधुनातन का प्राध्यापकीकरण

विष्णु खरे

'अधुनातन' शब्द का अर्थ करना बहुत कठिन है, किन्तु यह 'समकालीन' से कहीं ज्यादा सीमित अर्थवाला शब्द है। 'समकालीन' के विषय में तो कहा ही जा चुका है कि एक खास संदर्भ में होमर, शेक्सपियर और ह्विटमैन सरीखी प्रतिभाएँ 'समकालीन' हुआ करती हैं। किन्तु किसी भी काल के तीन या अधिक लेखकों को 'अधुनातन' तो नहीं कहा जा सकता। 'अधुनातन' से, मेरे कानों में जैसी ध्वनि पड़ती है, ज्यादा-से-ज्यादा पाँच-छः वर्षों में हुई चीज़ों की प्रतीति होती है। 'अधुना' का अर्थ 'आज' होता है और 'आज' का अर्थ मेरी समझ में बहुत सीमित है। इसलिए 'हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित तीन प्रसार-व्याख्यानों के इस संकलन के पहले व्याख्यान 'समकालीन जीवन-प्रक्रिया और अज्ञेय का कृतित्व' ने मुझे परेशान किया, क्योंकि यदि 'अधुनातन' की बात की जाने वाली है तो उससे बेचारे अज्ञेय का क्या लेना-देना हो सकता है—वे तो शायद अब समकालीन भी नहीं रहे। जो व्यक्ति हिन्दी साहित्य की 'अधुनातन' प्रवृत्तियों से किंचित् भी परिचित है उस पर यह स्पष्ट है कि आज के सन्दर्भ में वात्स्यायन एक धूमिल पूर्वज से ज्यादा कुछ भी नहीं हैं। यह बात कि १९६९ में उनका कोई कविता-संग्रह 'प्रकाशित' हुआ जिसे एक समाचार साप्ताहिक ने तो वर्ष का सर्वश्रेष्ठ संग्रह तक घोषित किया—शायद पांडुलिपि या डमी पढ़कर—कोई अर्थ नहीं रखती, क्योंकि उनका निरन्तर लिखते रहना बच्चन, दिनकर, माथुर आदि के लिखते रहने की तरह एक बासी मजाक हो चुका है।

जाहिर है कि तीन छोटे-छोटे व्याख्यानों में (जो मुद्रित पच्चीस पृष्ठ घेरते हैं) ज्यादा विस्तार से बात कह पाना मुश्किल है—एक प्राध्यापक के लिए तो सज़ा के बराबर है। उस पर जब व्याख्याता ने अधुनातन की पिटारी में अज्ञेय से लेकर राजकमल चौधरी तक का कुनबा जोड़ना चाहा है तो कहना न होगा कि व्याख्यान कई सरलीकरणों, घिसे-पिटे सूत्रवाक्यों तथा अर्ध तथा तीन-चौथाई सत्यों से भरे पड़े होंगे। अव्वल तो साहित्य को क्या काम करना है यह उसे बाकायदा

१. हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ, रामस्वरूप चतुर्वेदी, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, २ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनयन-संस्कार शैली में बता दिया गया है "...सबसे बड़ी बात यह कि मनुष्य को मनुष्य के खतरे से बचाना है। इस सबका उपाय एक ही है—मनुष्य, प्रकृति और यन्त्र के बीच उचित अनुपात विकसित करना। मनुष्य का मनुष्य, प्रकृति और यन्त्र से सही अनुपात में सम्बन्ध हो, यही काम्य है। मनुष्य न तो यन्त्र से क्षरित हो और न मनुष्य से। नये समाज और संसार की यह केन्द्रीय समस्या है। इसे सुलझाने में साहित्य का गुणात्मक योग होना चाहिए।" बेचारा साहित्य—बेचारा हिन्दी साहित्य—यदि कहीं होगा भी तो गुरुजी द्वारा दिए गए इस गृह-कार्य को न कर पाने के सुनिश्चित भय से काँप रहा होगा।

अज्ञेय के 'अद्वितीय अनुभव' सिद्धान्त पर कुछ चर्चा के बाद यह सूचना दी गई है "अपने समूचे उत्तरकालीन कृतित्व में लेखक का यत्न यही रहा है कि भारतीय परिस्थितियों में अस्तित्ववाद से कोई बड़ी और अच्छी संगत दृष्टि विकसित की जाय।" यदि वास्तव में अज्ञेय का यह यत्न रहा है तो यही कहा जा सकता है कि "हिन्दू परिस्थितियों के अनुकूल समाजवाद", "मुस्लिम परिस्थितियों के अनुकूल विधि-संहिता", "कैथलिक परिस्थितियों के अनुकूल परिवार-नियोजन" आदि के युग में "भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल तथा अस्तित्ववाद से कुछ बढ़कर" वाला नारा भी संभव है। इस सन्दर्भ में चतुर्वेदीजी ने किसी भारतीय जीवन-प्रियता की चर्चा की है। 'प्राप्ते सन्निहिते मरणे', 'मायावाद' तथा भाग्यवाद की आत्महंता परम्पराओं से हम अभी तक उबरे नहीं हैं—'इससे तो अच्छा था मैं मर जाता' जहाँ दिन में कई बार कहा जाता हो वहाँ भारतीय जीवन-प्रियता की बात क्रिमेटोरियम के बाहर संगीत-सम्मेलन के पोस्टर की तरह लगती है।

इसी व्याख्यान में 'निराला' और अज्ञेय को 'गहरे संवेदनात्मक स्तर' पर जोड़ने की शरारतभरी हरकत भी है। आगे भी मुक्तिबोध को भाषा-संस्कार के क्षेत्र में निराला से 'पिछड़ा हुआ' बताकर पुनः अज्ञेय को निराला के नज़दीक बताया गया है। रियायत के लिए कहा गया है कि 'नयी कविता की कई मूल प्रवृत्तियाँ निराला से ही शुरू होती हैं' किन्तु इसका ज्यादा खुलासा नहीं किया गया है। कारण स्पष्ट ही है। और यदि कोई कुछ कहे तो 'अधुनातन' शब्द का सहारा यहीं तो लिया जाएगा।

वात्स्यायन के काव्य-सिद्धान्त 'मौन' को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न एक ऐसे उद्धरण से दिया गया है जिस[...] उससे दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं है। अव्वल तो वह सिद्धा[...] ही हिन्दी में सापेक्षतावाद सरीखा स्थान रखता है, उस [...] चतुर्वेदीजी सरीखे 'वेल-मीनिंग' भक्त का उत्साहातिरेक भाषा का निखार तथा मौन का तनाव दोनों इन पंक्तियों में ऐसा बताते हैं :

> तू काव्य :
> सदा-वेष्टित यथार्थ
> चिर-तनित
> भारहीन, गुरु
> अव्यय।
> तू छलता है
> पर हर छल में
> तू और विशद अभ्रांत
> अनूठा होता जाता है।

जनवरी १९६९ में, जब रामस्वरूप चतुर्वेदी ने [...] भाषण दिए, इस तरह की पंक्तियों को काव्य-भाषा सम्ब[...] किसी भी प्रशंसात्मक वक्तव्य को सत्यापित करने का कले[...] सिवा हिन्दी के एक पहुँचे हुए प्राध्यापक को छोड़ कि[...] हो सकता था!

अज्ञेय से नयी कविता के सम्बन्धों पर थोड़ी स[...] पोतते हुए ('चाहे सहयोग से प्रेरित हो चाहे तनाव से') इस भाषण के अन्त में चतुर्वेदीजी पुनः एक क्लिशे की [...] द्रुतगति से आकृष्ट होते हैं—'पर नयी कविता के बाद अधिकतर लेखकों के सामान्य, औसत जीवन के औसत अनुभ[...] को सार्थक ढंग से पकड़ने का जोखम नहीं उठाया। कवित[...] उपन्यास और अधिकतर कहानियों में उनकी दृष्टि म[...] नगरों में चलने वाले पश्चिमी ढंग के तीखे, पर कृत्रिम [...] आधारहीन जीवन पर अधिक रही है। उनके अधिकतर [...] 'कैफ़े' और 'कैबरे' की छोटी-सी दुनिया में सीमित हैं। भूल जाते हैं कि आधुनिकता मूलतः और अनिवार्यतः भा[...] बोध और दृष्टि का स्तर है, स्थूल विषय या कथानक नहीं।" मैं किसी का पैरोकार नहीं, किन्तु जब स्वयं चतुर्वेदी[...] यह स्वीकार करते हैं कि स्थूल विषय या कथानक आधुनि[...] नहीं है तब वे 'कैफ़े' और 'कैबरे' सरीखे स्थूल विषयों [...] बात क्यों कर रहे हैं? सचाई यह है कि वास्तव में आधु[...] दृष्टि रखने वाला यदि 'कैफ़े' और 'कैबरे' सरीखी सं[...]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा 'पश्चिमी ढंग की' चीज़ों पर भी लिखेगा तो वह कलात्मक तथा अर्थवान होगा—क्योंकि सवाल मूलतः व्यक्ति की क्षमता का है। जहाँ तक 'पश्चिमी ढंग के कृत्रिम और आधारहीन' जीवन का सवाल है, हो सकता है उसे अभी सही-सही न पकड़ पाया गया हो, उसमें हिन्दी की एक उपलब्धि के लिए पर्याप्त कच्चा माल मौजूद है। पतनशील, नकली और खोखले समाजों पर लिखे गए क्लैसिक उपन्यासों की सूची मैं यहाँ नहीं देना चाहता। पता नहीं 'भारतीयता' के क्या अर्थ चतुर्वेदीजी के पास हैं। किन्तु मुझे ऐसा शक है कि दर्शन के क्षेत्र में अज्ञेय की तरह साहित्य के क्षेत्र में वे 'भारतीय स्थितियों के अनुकूल किसी बढ़िया चीज़' की तलाश में हैं। उसके बाद 'भारतीय' 'मानदण्डों' पर छलाँग लगाना कोई खास बड़ी कसरत नहीं है।

दूसरे भाषण में रघुवीरसहाय में अज्ञेय और मुक्तिबोध की क्षमताओं का संयोजन बताया गया है जो बेचारे इन तीनों कवियों का हिन्दी में पहला इकट्ठा अपमान है। फिर चूँकि प्राध्यापकीय दृष्टि स्थानीय प्रतिभाओं का हमेशा से खयाल रखती चली आई है; लक्ष्मीकान्त वर्मा, विपिन अग्रवाल, बालकृष्ण राव तथा श्रीराम वर्मा सरीखे कवियों की पंक्तियों का खुलकर उपयोग किया गया है। बालकृष्ण राव की कविता हमेशा अप्रासंगिक तथा निम्नस्तरीय रही है और लक्ष्मीकान्त वर्मा की कविता अपने तमाम शाब्दिक ताम-झाम में गिरिजाकुमार माथुर की ज़्यादा घटिया कविताओं के अत्यन्त करीब है। श्रीराम वर्मा और विपिन अग्रवाल की कविता को भी अभी किसी किस्म का सन्दर्भ बनाना मुश्किल है। इन कवियों के जितने उद्धरण लिए गए हैं, उससे कहीं अधिक सटीक तथा सक्षम पंक्तियाँ अन्य अनेक कवियों में आसानी से प्राप्य हैं। इन समस्त उद्धृत पंक्तियों में प्राध्यापकोचित सुविधा-दृष्टि मौजूद है और एक भी ऐसी नहीं है जो अधुनातन हिन्दी कविता के किसी भी महत्त्वपूर्ण पक्ष को उजागर कर सके।

ग़नीमत यही है कि कविता के लिए चतुर्वेदीजी ने सर्वाधिक स्थान सुरक्षित रखा, वरना उपन्यास, कहानियाँ, समालोचना आदि उन्होंने सूचीपत्र शैली में निबटाए हैं। उपन्यासों पर बातचीत का प्रारम्भ ही एक क्लिशे से होता है "हिन्दी का आधुनिक कथा-साहित्य नये-पुराने, स्वदेशी-विदेशी के तनाव में लिखा जा रहा है। एक ओर वह प्रेमचन्द से बँधा है, और दूसरी ओर जेम्स ज्वाएस के प्रति उन्मुख है।

"जहाँ तक मुझे ज्ञात है हंस प्रकाशन और सरस्वती प्रेस को छोड़कर प्रेमचन्द से अब कुछ भी बँधा हुआ नहीं है। रही बात ज्वाएस की, तो हिन्दी में ऐसे कितने उपन्यास हैं जो उससे प्रभावित हैं? हद-से-हद कोशिश की गई है वर्जीनिया वुल्फ़ की 'स्ट्रीम ऑव कान्शसनेस' की निहायत अधकचरी नकल की। हिन्दी के व्यस्त साहित्यकारों से 'यूलिसीज़' के प्रारम्भिक बीस पेज पढ़वा लेना मुश्किल है। कहाँ है हिन्दी में 'पेल फ़ायर' सरीखा दृश्य और शिल्प का चमत्कार? हिन्दी अभी तक अपने 'अलेक्ज़ेन्ड्रिया क्वार्टेट', 'कैन्सर वार्ड' तथा 'हरज़ोग' की प्रतीक्षा कर रही है।

अंतिम व्याख्यान युवा-लेखन पर है तथा शीर्षक 'और युवा लेखन!' से ही स्पष्ट है कि चतुर्वेदीजी के मस्तिष्क में युवा लेखन की इस तरह की तस्वीर है, इस खंड में 'अकविता' तथा 'अकविता' आन्दोलन का बारंबार उल्लेख है जबकि दोनों ही दम तोड़ चुके हैं। चतुर्वेदीजी जैसे प्राध्यापकों के लिए 'अकविता' आन्दोलन एक वरदान सिद्ध हुआ है और 'अकविता' को उन जैसे प्राध्यापक जिन्होंने उसमें क्लासरूम-जोक्स, गोष्ठी-चुटकुलों तथा पांडित्यपूर्ण लेखों का एक नया क्षितिज देख लिया। हिन्दी कविता के 'स्कैण्डल' की तरह इसे 'समझना' और 'निन्दित करना' बड़ा आसान था, इसलिए इसके चर्चित होने में कोई कठिनाई नहीं हुई। मैं 'अकविता' सरीखी वस्तुओं का उतना ही विरोधी हूँ जितने चतुर्वेदीजी होंगे, किन्तु जिन सरलीकरणों का सहारा उन्होंने इस भाषण में लिया है वे बहुत कमज़ोर किस्म के हैं।

'आलोचना' के किसी सम्पादकीय को लेकर इसी भाषण के अन्तर्गत चतुर्वेदीजी ने डॉ० नामवरसिंह को चुनौती—शायद कई चुनौतियाँ—दी है जिसके इतिहास और सन्दर्भों में जाना व्यर्थ है। मैं चतुर्वेदीजी की बात को ही सही मान लेता किन्तु इस प्रकरण में जिस तरह से उन्होंने 'नई कहानी' द्वारा 'अकविता' के उपजने की बात तथा 'सचेतन कहानी' की अकविता से समानधर्मिता स्थापित की है, उसने मुझे भारतेन्दु द्वारा प्रचारित उन विद्वान वैज्ञानिक के करिश्मे का स्मरण दिलाया जिन्होंने पृथ्वी पर चन्द्र तथा सूर्य एक साथ (लगभग) उतार दिये थे। मुझे भय यही है कि उपरोक्त दोनों विषयों पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दो या अधिक निरीह शोध-छात्र कहीं अपना सब-कुछ नष्ट तो नहीं कर रहे!

इस अन्तिम भाषण से एक अन्तिम निष्कर्ष, जो अत्यन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खतरनाक है, यह निकलता है कि 'युवा लेखन' शब्द को भी चतुर्वेदीजी सरीखे प्राध्यापक विशेष गुणधर्मों से सम्पन्न एक रूढ़ शब्द बना लेना चाहते हैं ताकि 'सनद रहे और वक्त-ज़रूरत काम आए'। वे इस शब्द को युवा लेखन में जो सर्वाधिक अप्रासंगिक, अपरूप तथा नकली है उसका पर्याय बना लेना चाहते हैं। वे भूल जाते हैं (या सायास भूलते हैं) कि युवा लेखकों में—कविता की ही बात की जाए—धूमिल, कमलेश, अशोक वाजपेयी, लीलाधर जगूड़ी, प्रयाग शुक्ल, विनोद शुक्ल, नीलाभ, मलयज (मैं श्रीकान्त वर्मा तथा रघुवीर सहाय को भी सम्मिलित करूँगा) आदि जिम्मेदार कवि सृजनरत हैं जो चतुर्वेदीजी के किसीभी वर्गीकरण में न आते हुए एक ईमानदार, अर्थवान रचनाभूमि तैयार कर रहे हैं। अच्छा तो यही होता कि 'अधुनातन' का सही अर्थ समझकर चतुर्वेदीजी इन्हीं युवा लेखकों पर लिखते। लेकिन क्या लिखते?

मध्यकालीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध

आनन्दप्रकाश दीक्षित

समसामयिक सन्दर्भ में अतीत की परीक्षा तत्पर-आलोचक-बुद्धि का धर्म है। साहित्य, कला या दर्शन के वैभव को ऐसे परीक्षणों की अपेक्षा रहती है ताकि न केवल उसे अपनी उपयोगिता प्रमाणित करने का ही अवसर मिले, अपितु यह भी कि वह नए चिन्तन की धार सहकर स्वयं भी नव्यता के आलोक का लाभ उठा सके। चिन्तन, दर्शन, कला या साहित्य को जो केवल निरपेक्ष मानकर चलते हैं, उनकी गहरे पैठ नहीं हो पाती, व्यक्ति-मानस और उसको ढालने, रूप सँवारने वाले तात्कालिक परिवेश तक नहीं जाती, अतः उनका ज्ञान अधूरा रहता है। इतिहास के पन्नों पर अंकित जीवन के सन्दर्भ में ही साहित्य, कला या दर्शन जीता है, अतः इतिहास के सन्दर्भ में ही उसकी परीक्षा भी होनी चाहिए। डा० रमेश-कुन्तल मेघ का प्रयत्न रस-दर्शन को इसी इतिहास की पीठिका पर रखकर देखना-परखना है। हिन्दी में हुए रसविचार के सन्दर्भ में उनका यह प्रयत्न वस्तुतः पहला है।

कुन्तल मेघ का चिन्तन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्र[illegible] वित होकर भी रसचिन्तन के इतिहास, उसके सामाजि[illegible] राजनीतिक, साहित्यिक और धार्मिक विकास से प्रभावि[illegible] रूप को ध्यान में रखकर चला है अतएव व्यापक है। मेघ [illegible] प्रयत्न यह नहीं है कि वे भरत से लेकर आजतक की विवेच[illegible] के सन्दर्भ में रस-निष्पत्ति, रसास्वाद आदि के स्वरूप [illegible] पुनराख्यान करें, बल्कि उनका लक्ष्य यह है कि इन सारे प्रसं[illegible] में प्रयुक्त चिन्ताधारा को तात्कालिक परिवेशगत चिन्ताधा[illegible] से जोड़ सकें और शब्द-माध्यम से भाषिक विकास की संग[illegible] बैठा सकें। उनका प्रयत्न 'आदर्शवादी रस-दर्शन को के[illegible] बनाकर उसे समकालीन सौन्दर्यबोध के यथार्थवादी वृत्त [illegible] बाँधने' का है।

मीमांसा, न्याय, सांख्य, तन्त्र और वेदान्त की भूमिका[illegible] से होता हुआ रस-दर्शन जिस प्रकार तत्कालीन जीवनानुभ[illegible] को ग्रहण करता चला है, उसी प्रकार उसने षड्दर्शनों [illegible] रूपकों, पारिभाषिकों एवं न्यायों को भी ग्रहण किया [illegible] परिणामतः नौ शताब्दी की दीर्घावधि में लौकिक ज्ञान-प्रम[illegible] से लेकर अलौकिक आनन्दानुभव तक की यात्रा पूरी हुई [illegible] जिसके अन्तर्गत आनेवाले विविध सौंदर्यदर्शन, तर्कपद्ध[illegible] कला-रचना की प्रक्रिया तथा सांस्कृतिक चिन्तन की चुनौति[illegible] की डॉ० मेघ ने वैज्ञानिक तथा भौतिकवादी छानबीन की है [illegible] सहज ही इतिहास-भोग और आधुनिकताबोध के दबाव [illegible] आकर भौतिकवादी समाजशास्त्र के जिस दृष्टिकोण से र[illegible] तत्त्व का अध्ययन किया गया है उससे एक 'बिलकुल न[illegible] और बेहद विवादपूर्ण विश्व उद्घाटित होता है।'

इतिहास के पन्ने इस बात का साफ़ प्रमाण उपस्थि[illegible] करते हैं कि पात्र और नट के द्वैत से जूझते हुए, रचना-प्रक्रि[illegible] पर दृष्टि जमाए हुए आचार्यों की आरम्भिक निष्ठा 'ज्ञा[illegible] के प्रति ही थी, किन्तु भट्टनायक और उसके बाद वह 'अनुभ[illegible] की समस्या बनकर उपस्थित हुई है। भट्टनायक जिस सं[illegible] स्थल पर खड़े हैं वहीं से परिवर्तन की भूमिका उपस्थित हो[illegible] है और 'अनुभव' सम्बन्धी प्रश्नों के उभरने के साथ "ना[illegible] की देश-काल द्वन्द्वपरक 'चलचित्र' की इकाई के बजाय का[illegible] की नाट्यध्वनिपरक 'शब्द बिम्ब' की सूक्ष्म इकाई [illegible] अभिषेक हो उठता है। सौन्दर्यबोध दर्शन जब तक यथार्थवा[illegible] विचारधारा से अनुबद्ध रहता है तब तक वह 'प्रत्यक्ष' त[illegible]

लेखक—डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, प्रकाशक—राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, मूल्य—सोलह रुपये, पृष्ठ—डिमाई ३६५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणाम' के अनुशासन में बँधा है और 'स्वभाववादी' है। लेकिन जब वह अध्यात्मवादी धारा से अनुस्यूत होता है तब इस प्रत्यक्ष के बजाय 'दिव्यदृष्टि', जागृति के बजाय 'सुषुप्ति' एवं समाधि और तर्क के बजाय उन्मेष, कारण-कार्य के बजाय संकल्प का चमत्कार-मिरेकल आदि विशेषण सामने आने लगते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इन प्रतीकात्मक अभि-व्यंजनों को 'पलायनवाद के आदर्शीकृत रास्ते' मानकर चलता है, अतः डॉ० मेघ मध्यकालीन आनुष्ठानिक समाधि में साम-रस्य प्राप्त करने की अपेक्षा इनकी छानबीन में प्रवृत्त होते हैं। परिणामतः वे कहते हैं : "इसीलिये रस नित्य होकर भी तत्समकाल में अनुभूत होता है, क्रमपूर्ण होकर भी असंलक्ष्य-क्रम से ध्वनित होता है, चित्तवृत्यात्मक होकर भी चिदात्मक आनन्दरूप होता है। असल मामला तो यह है कि सौंदर्यबोध-तत्त्व जैसे लौकिक भूमिवाले और इन्द्रियप्रत्यक्ष पर आश्रित विषय की यथार्थता को वे विचारक बहुत अधिक चाहकर भी नहीं मिटा सके। अतः यह अन्तर्विरोध बना रहा।" डॉ० मेघ के इस कथन की भूमिका तो काफ़ी पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ही रस की आनन्दरूपता और अलौकिकता के आगे प्रश्न-चिह्न लगाकर तैयार कर दी थी और ब्रह्मास्वाद की स्थिति से वे उसे मानस-भूमिका तक घसीट ले आए थे, किन्तु उनका विचार किसी वाद के अनुसरण के कारण नहीं बना था, डॉ० मेघ ने उसे वह भूमिका प्रदान की है। इस अलौकिकता के कारणों की खोज डॉ० मेघ फ़िलासफ़ीकल साइकोलाजी की सापेक्ष्य यथार्थता रहस्यपरक धर्म के ध्रुवान्तों के सन्दर्भ में करते हैं।

अपनी तर्कपद्धति से डॉ० मेघ इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "इस तरह भरत का ग्रामीण लोक प्रेक्षक पौराणिक साहित्य से सम्बद्ध होता चला गया, तथा भट्टनायक, अभिनव-गुप्त, विश्वनाथ, पण्डितराज का शहरी सामाजिक या रसिक, या सहृदय, या प्रमातृ काव्यशास्त्र तथा कामशास्त्र की विलासलीला का दावेदार बना।—ऐसे सृजनात्मकबोध के अन्तर्गत निरंकुश सामन्तों-सम्राटों की तरह अभागा आश्रित कवि भी 'निरंकुश' होने की पदवी से फुसला दिया गया। बस, उसका लोकजीवन से आत्मपरायापन बढ़ता गया और वह राजसभाओं में कीर्ति तथा स्वर्णमुद्राओं का भूखा हो गया। राजसभाओं में कवि के बजाय सामन्त महत्त्वपूर्ण था। अतः सृजनप्रक्रिया के बजाय रस-निष्पत्ति की छानबीन हुई।" देखने में बात ऊपरी तौर पर बड़ी भली लगती है, किन्तु मेरी दृष्टि में तात्त्विक नहीं जान पड़ती। इसी तरह सन्दर्भ की चिन्ता करनी है तो भरत-कथित 'सुमनस्' कालिदास-कथित 'विदुषां' और 'कविः करोति काव्यानि रसं जानन्ति पण्डिताः' उक्ति के 'पण्डित' तथा भोज के 'सचेतस्' की संगति भी बैठानी चाहिए। स्वयं भरत ने भी 'सुमनस् प्रेक्षक' के कई लक्षण गिनाये हैं, वे क्या निरर्थक हैं और 'ग्रामीण लोक प्रेक्षक' का उनसे क्या सम्बन्ध है? इसके अतिरिक्त कवि की निरंकुशता में मेघ जिस सामन्त-सम्राट समाज की भूमिका को महत्त्व देते हैं और उसके कारण लेखक का लोकजीवन से बढ़ता हुआ आत्म-परायापन सिद्ध करते हैं, उसके सम्बन्ध में भी यह स्पष्ट होना चाहिए कि क्या विदेशों में भी जहाँ-कहीं सर्जन के सम्बन्ध में कलात्मक तथा आध्यात्मिक मूल्यों को महत्त्व मिला है, वहाँ भी इस बात का कोई लगाव सामन्त-सम्राटों की निरंकुशता और कवि की कलाप्रियता से है कि नहीं। ऐसा कोई सिद्धान्त हो सकता है तो उसकी सार्वत्रिक प्रामा-णिकता भी सिद्ध होनी चाहिए। वस्तुतः निरंकुश तो उसे 'नियतिकृत-नियम-रहित' सिद्ध होनी चाहिए। वस्तुतः निरंकुश तो उसे 'नियतिकृत-नियम-रहित' सिद्ध करने के लिए कहा गया, किन्तु श्रेय और उपदेश की सिद्धि बराबर उसके काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया गया।

डॉ० मेघ का कथन है कि नवीं शती में अकस्मात् ही कुमारिल, शंकर और सरहपाद के क्रमशः ज्ञान, ब्रह्म और सहजसुख के अनुष्ठान से जो त्रयणुक क्रान्ति हुई उसका परि-णाम १२वीं-१३वीं शती में 'योगी' और 'सिद्ध' तथा 'नाथ' और 'वीर' के आपसी पर्यवसान में दिखाई पड़ा। सामन्त और सुमंत्री का समीकरण टूटकर सामन्त और सिद्ध का नया अतिप्राकृतिक, अन्धविश्वासी, रहस्यात्मक समीकरण बना और "ईसवी सातवीं शती से १३वीं शती के बीच के मध्यकाल में लोक-व्यवहार भावना का धर्मभावना में, धर्म-भावना का कामभावना में, कामभावना का रहस्यभावना में रूपायन होता गया। इन सबका केन्द्रीयकरण ईश्वररूप सम्राट् में हुआ जो पूर्ण तथा प्रभु माना गया। इसीलिए 'रीति' और 'रस' के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध लोककला और लोक-जीवन के क्षीण होते जाने और उनके स्थान पर प्रभु सामन्त वर्ग तथा सामन्तीय कला के प्रतिष्ठित होते जाने की भी कहानी का अनावरण करते हैं।" अतः, "इसके बाद मध्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युगीन विश्वदृष्टि की कोई भी आधुनिक सम्भावना नहीं बचती।" अतएव आज सबसे ज्वलन्त प्रश्न तो यह है कि क्या आज के पूँजीवादी अर्थतन्त्र में जकड़ा हुआ आत्मपरायीकृत कलाकार, बेकार, बुद्धिजीवी तथा गरीब सहृदय वैसा ही निर्द्वन्द्व मानसिक जगत् पा सकता है ? क्या आज भी अलंकार, गुण, रीति, रस, रसब्रह्म की उन्हीं अनुभूतियों से अनुप्राणित है जिनसे रमणीयता पर मन्त्रमुग्ध कुन्तल, या माघ, या पण्डितराज जगन्नाथ थे ? डा० मेघ की अन्तरात्मा कहती है 'नहीं'। और इस तरह वह आज के सौन्दर्यबोध को मध्यकालीन सौन्दर्यबोध से पृथक् करते हैं।

इतिहास-दर्शन के प्रयत्न में वे मानते हैं कि आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती भट्ट लोल्लट और श्री शंकुक को तथा परवर्ती अभिनवगुप्त और मम्मट आदि को सामन्तीय संस्कृति, युद्धलिप्त राज्य, तथा आतंकग्रस्त पर्वतग्रामों के बीच अपनी जीवन-लीलाएँ पूरी करनी पड़ी होंगी। सम्भवतः इसीलिये उनके रूपकों में कुम्हार का 'घट' और जुलाहे का 'पट' इतना नहीं आता जितना कि पर्वत और धूम, रजत और शुक्ता का भ्रम—।" और रस की आध्यात्मिक व्याख्या का कारण भी उनकी दृष्टि में यही है कि "युद्धलिप्त क्षेत्रीय राज्य में स्वामी और सेवक के बीच, ठाकुर और दास के बीच ब्रह्म और माया जैसे ही सम्बन्ध थे।" किन्तु ठाकुर और दास के जिस सम्बन्ध को लेकर वे ब्रह्म और माया की स्वीकृति का कारण सिद्ध करते हैं उनके सन्दर्भ में नाटकों में निराशा और करुणा के चित्रण को महत्त्व क्यों नहीं दिया गया, इसका रहस्य वे नहीं सुलझाते। इसी तरह एक ओर लोल्लट तथा शंकुक के विचारों में 'नट' की प्रमुखता का कारण यह मानते हैं कि 'सम्भवतः तत्कालीन सम्राट् भी नट की तरह भूमिकाएँ बदलते और आते-जाते थे' और 'कश्मीर में संस्कृत प्रणयी राजाओं के आश्रय में सामन्ती संस्कृति की छाया में' दार्शनिक कलाचार्यों को आग और अकाल से मुक्त बताते तथा लोकांचलों में नाट्य का खूब प्रचार बताते हैं और दूसरी ओर राजनीति की अपेक्षा धर्म का प्रभाव अत्यन्त व्यापी भी बताते चलते हैं। ऐसी स्थिति में राजाओं के आधार पर नटों का विवेचन करना कहाँ तक उचित है ?

डॉ० मेघ ने अपनी इस छानबीन के लिए पुस्तक को मुखबन्ध आदि प्रारम्भिक दो अध्यायों के अतिरिक्त दो खण्डों में विभाजित किया है और उनके अन्तर्गत क्रमशः अध्याय-भेद से 'सौन्दर्यबोधात्मकवृत्ति या रस-निष्पत्ति' और 'सौन्दर्यानुभव' या 'रसानुभूति' की विस्तृत चर्चा की है। प्रथम खण्ड के अन्तर्गत भरत और रस-सूत्र के व्याख्याताओं के विचारों का विवेचन पृथक्-पृथक् अध्यायों में किया गया है। समग्र पुस्तक में मीमांसा, न्याय, सांख्य, वेदान्त, शैव दर्शन, स्वतःप्रामाण्य और परिणामवाद, अन्यथाख्याति और असत्कार्यवाद ही विवेचित नहीं है अपितु विटगेंस्टाइन और बर्ट्रेण्ड रसेल की गणितीय और तर्कशास्त्रीय पद्धति, हीगेल के द्वारा प्रतिपादित जगत् और निर्विकल्प सत्ता के द्वन्द्व-सिद्धान्त को भी तर्कना के लिए उपस्थित किया गया है। भारतीय दर्शनों का विवेचन भी केवल अभी तक किए गए विवेचन की पुनरावृत्ति के रूप में गृहीत नहीं है, गहराई में पैठकर सूत्रों को जोड़ने का उत्तरदायित्वपूर्ण प्रयत्न है। निश्चय ही इतने विस्तार और इन विषयों की पैठ के साथ रस-सिद्धान्त का विवेचन अभी तक न होने से पाठक को बौद्धिक व्यायाम का अनुभव होने लगता है और मेघ की जटिल भाषा और शब्दों का विलक्षण पारिभाषिकीकरण उसके आड़े आता है, किन्तु बिना इस व्यायाम के जिन गुत्थियों को मेघ सुलझाना चाहते हैं, उन्हें सुलझा पाना सहज-सम्भव नहीं था, अतएव इस पुस्तक के अध्ययन के लिए 'सामाजिक' को 'सहृदय' बनना पड़े तो उसे पीड़ित अनुभव नहीं करना चाहिए। हाँ, अंग्रेज़ी शब्दों का हिन्दी पारिभाषिकीकरण यत्र-तत्र विचलित कर सकता है।

डॉ० मेघ भरत के रस-सूत्र को पुरोहित-शैली से और अभिनेता के व्यापार को कर्मकाण्ड से जोड़ते हैं और रससूत्र में भाषिकीय सम्भावनाएँ खोजते हैं। उनकी दृष्टि में भरत का युग दर्शनों, संहिताओं, कोषों और काव्यों के संकलन का था, अतः विभावादि का संकलन सिद्धान्त उन्हें कर्मकाण्डीय पद्धति पर करना पड़ा। इसी कर्मकाण्ड की प्रधानता के कारण नाट्य में वर्णनात्मक मिथक और क्रियात्मक पद्धति का मेल हुआ है। और इसीलिये रस को प्रधानतया मिथक काव्यों और नाट्य-मण्डपों के लिए ही सुरक्षित रखा गया। डॉ० मेघ का यह भी कथन है कि विश्वकोषों के ज्ञान, लौकिक जीवन-दर्शन तथा सांस्कृतिक विस्तारवाद का काल होने के कारण "उनके युग में इहलोक-परलोक का प्रतिबिम्बात्मक सम्बन्ध भी माना जाता था, जहाँ मनुष्यों को नियति-नटी नचाती है। सम्भवतः इसी वजह से उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने विवेचन में नाटककार को भुला दिया, अभिनेता को प्रधानता दी तथा प्रेक्षक को विनीत बनाया। विश्व-रंगस्थल की तरह रंगमंच भी रहस्य और नाट्ययज्ञ का केन्द्र बन गया। "भरत 'यज्ञ' और 'नाट्य' के अन्तर को जानते हैं। उन्हें यह तत्कालीनबोध हो गया था कि रसानुभव लौकिकता से विलक्षण है, यज्ञ से पृथक् है किन्तु लोकबहिर्भूत नहीं है। वे यह भी महसूस करने लगे थे कि रसानुभव लौकिक अनुभव तथा प्रत्यक्ष प्रमाण से भी विलक्षण है। किन्तु वे विलक्षणता की सीमाएँ नहीं पहचान सके हैं। केवल एक सीमा उन्हें मालूम है: रसानुभूति नाट्याश्रित है।"

भट्ट लोल्लट की व्याख्या में मेघ कहते हैं कि रसबोध के तीन स्तरों—१. लौकिक रस का अमूर्त मूल पात्रादि द्वारा अनुभव, २. नाट्यरस का नट द्वारा अनुभव, तथा ३. अनुसन्धानात्मक नटगत रस की सामाजिक द्वारा प्रतीति—के कारण ही "भट्ट लोल्लट ने भी अनुभव के तीन क्रम दिए हैं: लौकिक रस का यथातथा 'अनुभव', नाट्यरस की आशंसात्मक तथा असंपृक्त अनुभूति और नाट्य-रस के अभिव्यंजना-व्यापार का ज्ञान। इस तरह अन्ततोगत्वा भट्ट लोल्लट रसानुभव को प्रत्यक्ष प्रतीति या ज्ञान में परिणत करते हैं और इसे मात्र प्रत्यक्षीकरण के दायरे में बाँध देते हैं। वे प्रत्यक्ष ज्ञान को ही जबर्दस्त प्रमाण मानते हैं क्योंकि वह नट में अनुसन्धानात्मक रूप में, तथा सामाजिक में स्वतः प्रामाण्य रूप में साक्षात् उत्पन्न होता है। वे पूर्णतः र्नमिल एवं जागृत अवस्था के कायल हैं। अतः नाट्यप्रत्यक्ष को वे माया-भ्रान्ति तथा स्वप्नभ्रम जैसी दशाओं से आजाद रखते हैं। अतः वे विपरीतख्याति द्वारा रसानुभव की त्रुटियों का निराकरण कर डालते हैं।" किन्तु मेघ के शब्दों में उनकी कमज़ोरी यह है कि "कार्यकारण शृंखला का कई धरातलों पर इस्तेमाल करने के कारण उनकी तार्किक संरचना में क्रम—सीक्वेंस—पर बेहद बल दिया गया है। अतः उन्होंने सभी स्तरों पर अलग-अलग त्रित्व तो निथार लिया है, किन्तु उनका समन्वय करने में, उन्हें अनुस्यूत करने में असफल रहे हैं। इसीलिए उनकी रसानुभव की व्याख्या लौकिक यथार्थता से भिन्न सौन्दर्यबोधात्मक विलक्षणता का लेखा-जोखा भी नहीं ले पाती। अनेक त्रिकोणों की वजह से उन्होंने ज्ञान की समस्या में कई नई-नई भूमियों की अभिनव तलाश की है। अतः अप्रत्याशित की यह प्राप्ति स्वभावतः 'चमत्कार' उत्पन्न करेगी। अतः भट्टलोल्लट ने त्रिपुटी—माता, मेय और मिति—के ही साथ प्रत्यक्षीकरण को स्वीकार किया है और यही उनके रसानुभव का 'चमत्कार' है जो अनेक त्रिकोणों से बुना हुआ है। अन्ततः सामाजिक में उद्बुद्ध ज्ञान का स्वयं-प्रकाश रूप ही उनका श्रेय रहा है।"

शंकुक की 'महत्तम उपलब्धि का राज़' मेघ इस बात में मानते हैं कि वह 'प्रमा' से आगे अपने 'संशय' को ले गये और यांत्रिक यथार्थता तथा कारणकार्यवाद की ज़ंजीरें ढीली करके उन्होंने कृत्रिम अनुकरण के अनुमान के द्वारा रंगमंच की 'भ्रान्ति' से बचने की कोशिश की। डा० मेघ ने नाट्यकला के माध्यम की इकाई को 'चल शब्दचित्र' की संज्ञा दी है जिसमें चित्र के अंतर्गत स्थानपरक—स्पैशियल—सभी दृश्य माध्यमों वाली कलाएँ, 'शब्द' के अन्तर्गत कालपरक—टैम्पोरल—सभी श्रव्य माध्यमों वाली कलाएँ एवं 'चल' के अन्तर्गत अंग-मुद्रा तथा घटना से सम्बन्धित कार्य—एक्शन—संयोजित हो जाते हैं। यही द्वन्द्वात्मक त्रित्व है और "इसीलिए नाट्य-माध्यम की इकाई में ज्ञान तथा भाव की, देश तथा काल की, श्रव्य तथा दृश्य की, चल तथा अचल की, सहक्रम तथा अनुक्रम की, चित्रकला तथा शब्दकलाओं की, प्रत्यक्ष तथा अनुमान की, अनुकरण तथा असक्रिय क्रियावृत्ति की द्वन्द्वात्मक ध्रुवांतता—डाइलेक्टिक पोलैरिटी—कायम है। इसी वजह से नाट्यरस व्यापार भी ज्ञान तथा भाव, द्वन्द्व तथा अनन्यता की विलक्षणता है। भट्टलोल्लट इस विलक्षणता को स्पष्ट नहीं कर पाये थे, किन्तु श्री शंकुक ने यह कार्य सम्पादित किया।" इतना ही नहीं शंकुक के द्वारा अनुक्रियमाण या अनुकरणात्मक स्थायीभाव को ही 'रस' कहने के पीछे भी एक रहस्य है और "इससे एक क्रान्तिकारी नतीजा निकलता है कि पहले रस का 'ज्ञान' और इसके बाद रस से 'भाव' होते हैं। यह अमूर्तीकरण—एब्सट्रेक्शन—तथा तत्त्वज्ञान—ओन्टोलाजी—का परिणाम है जिसके फलस्वरूप एक ओर तो रस से ही भाव की सत्ता प्रमाणित हुई है तथा दूसरी ओर रसभाव तथा रसज्ञान में अभेदकता की झलक दी गई गई है। चित्रतुरगन्याय के रूपक में श्री शंकुक ने नाट्यज्ञान के इसी द्वन्द्वात्मक चरित्र की सूक्ष्मता पकड़ने की चेष्टा की है। "किन्तु फिर भी शंकुक अनुभव-क्षेत्र में इसका विस्तार नहीं कर सके और संभवतः सामंतयुग की विवशता ने ही उन्हें उसे मानवतावादी धरातल पर ग्रहण करने से भी वंचित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखा। "क्योंकि तब तो सामंतयुग का चरित्र ही बदल जाता।"

डॉ० मेघ भट्टनायक के प्रसंग में सत्-रज-तम की कल्पना को मध्ययुगीन मनोविज्ञानाभास कहकर उनके भ्रमापन—वैरीफिकेशन—की असंभाव्यता का निर्देश करते हैं और सांस्कृतिक तथा नैतिक मान्यताओं तथा संयम, नियम, दमन से इनका नाता जोड़ते हुए इन्हें अस्वीकार करते हैं। उनके शब्दों में "ये शरीर तथा स्नायुचक्र के कल्पित रचना-गठनों के मनोस्वरूप-निर्माण—साइको मारफेलॉजी—के प्रतिभास हैं।" साथ ही वे भावकत्व के प्रसंग में विचार करते हुए तर्क की कुछ ऐसी उलझन पैदा करते हैं कि भावकत्व और भोजकत्व के सन्दर्भ में रस के ही भावित रस तथा भुक्त रस नामक दो भेद मान लेते हैं, जबकि भट्टनायक के विवेचन में वे भावकत्व की स्थिति में बराबर स्थायीभाव का ही नाम लेते आए हैं। उनका विचार है कि "श्री शंकुक के अनुसार स्थायीभाव विभावादि लिंग के द्वारा अनुमित होते हैं, किन्तु भट्टनायक ने इन्हें विभावादि द्वारा भावित माना है। अतः रस भावित होता है।" अनुभूत अर्थ—फ़ैल्ट मीनिंग—को चिंतन, निरीक्षण, कार्य, वाणी एवं संवेगों अर्थात् मानवीय ज्ञातता के सभी रूपों में थोड़ा-बहुत हाज़िर मानते हुए वे भावकत्व को एक 'विलक्षण अभिज्ञान' कहते हैं और मानते हैं कि "भावकत्व व्यापार के चरण तक वे—भट्टनायक—भरतप्रणीत इस धारणा से बँधे रहे हैं कि रस ज्ञान है तथा चित्तवृत्तियाँ और विभावादि 'भाव' हैं। इस बुनियादी अन्तर को उन्होंने यहाँ अन्तररूपान्तरित करने की कोशिश तो की है, किन्तु इसका सन्तुलन नहीं किया है। इसी वजह से वे भावरूप स्थायीभाव को साधारणीकरण के अन्तर्गत नहीं लाए।"

अभिनवगुप्त से उन्हें शिकायत है कि अद्वैतवाद के कारण निर्विकल्पों, अमूर्त्तनों तथा अद्वैतों के प्रत्ययों में मायामुग्ध भारतीय सुपरिगठन में महत्तम क्रान्ति तो हुई किन्तु "फलस्वरूप सौन्दर्यबोधानुभव श्रम, पदार्थ, जागृतचेतना, प्रत्यक्ष तथा ज्ञान की बहती गंगा से कटकर देश, काल तथा कर्म से निर्मुक्त होने वाली आध्यात्मिक अभिव्यंजनाओं के अनुरूप रूपायित होने लगा।···जो जगत् तथा इतिहास की अवहेलना करता है वह स्वयं अपनी निंदा करता है और सामाजिक सत्यों की मशालों को नहीं जला पाता। अद्वैतवाद ने देश एवं काल की सत्ता क्षीण करके भारत में जिस काले सामंतवा[द] की जड़ें मज़बूत कीं उसमें जगत्, जीवन तथा जन के प्र[ति] प्रेम नहीं रहा, आर्थिक सक्रियता तथा सामाजिक परिवर्त[न] की संभावनाएँ कुचल गईं तथा उसमें मौलिकता तथा बौद्धि[-]कता को माया और नास्तिकता घोषित किया गया।" औ[र] वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि "अतीत-वर्तमान-भविष्य[,] जीवात्मा-जगत्-परमात्मा, सृष्टि-स्थिति-संहार, परमशिव[-]पुरुष-प्रकृति आदि सभी त्रित्व चक्राकृत और तालयुक्त हैं। इसलिए इहलोक बनाम परलोक, शरीर बनाम आत्मा, ब्रह्म बनाम माया, प्रत्यक्ष बनाम विवर्त्त, जागृति बनाम समाधि, सुख बनाम आनन्द आदि के पार्थक्य की एक ऐसी सामंतवादी अंधविश्वासों वाली गहरी स्थायी खाई खुदी जो एक हज़ा[र] वर्षों के बाद भी औद्योगीकरण में कटिवद्ध भारत के आधु[-]निकीकरण को मग्न करने के लिए दुर्धर्ष कर रही है। इ[स] विश्व दृष्टिकोण का रहस्योद्‌घाटन करके ही हम आधुनिक ज्ञान, विज्ञान तथा सौन्दर्यबोध के औज़ारों का इस्तेमाल क[र] सकते हैं।"

लगता है यहाँ आकर डॉ० मेघ का वक्तव्य पूरा हो गय[ा] है, किन्तु वे भोज, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज और मधु[-] रस के चिन्तकों की ओर बढ़ जाते हैं। रसेश्वर दर्शन, सिद्ध और योगी तथा शून्य के गणितीय और आध्यात्मिक रूप के निदर्शन में बहुत दूर तक डूबते चले जाते हैं। शून्य की चर्चा करते हुए उनका कथन है : "रसरूप ज्ञान का वेदान्ती आस्वा[द] भी गणितीय पहेलियों का रूपकात्मक रहस्यलोक है। य[ह] निर्विकल्पों का लोक है। विश्वनाथ ने इस लोक को—भोज की तरह—चित्तवृत्तियों की खिदमतगारी से हटाकर चित्त के निर्विकल्प धाम में प्रतिष्ठित करने की पुरजोश कोशिश की है। अतः विश्वनाथ कृत रंग-रूप के प्रतीकीकरण में हम कुछ दार्शनिक समस्याओं के सामाजिक दर्पण भी स्वच्छ क[र] सकते हैं।"

भानुदत्त द्वारा स्वीकृत स्वाप्निक, मानोरथिक तथा औप[-]नयिक एवं माया रस के वर्णन में मेघ 'अस्पष्टता और विभ्रान्ति का बवण्डर' मानते हुए भी एक विचित्र कल्पना करते हैं कि "भानुदत्त को स्वप्न में काव्यसृजन का—कालरिज की भाँति—अनुभव हुआ होगा, और वह सृजन में प्रतिभा के अलावा साहचर्यों की वशीभूतता को भी पहचान चुके होंगे।" और अकस्मात् ही अब तक भुलाये हुए भानुदत्त को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० मेघ की ओर से एक आशंसा—काम्प्लीमेंट—मिल जाती है : "भानुदत्त मायारस एवं लौकिक रस का जो व्याख्यान करते हैं उसकी वजह तो यही मालूम पड़ती है कि वे इस नतीजे पर आ चुके हैं कि व्यावहारिक दृष्टि से न तो किसी को रसानुभव की अनुभूति ब्रह्मानन्द-सहोदर रूप होती है, और न ही किसी को संविद्विश्रान्ति होती है। वस्तुत: ये मात्र आदर्श प्रारूप—माडल—हैं। भानुदत्त ने इसी मोहभंग को प्रकट करने के लिए शायद रस के यथार्थवादी आयामों की अजनबी संभावनाओं को टटोला है, लेकिन अनुभवगम्य प्रखर सचाई को भी ज़रूर तपाया है।" भानुदत्त की छोटी-सी बात को बहुत महार्घ बना देने पर भी डॉ० मेघ रामचन्द्र-गुणचन्द्र की व्याख्याओं को 'घोर भौतिकता से पीड़ित' एक ऐसी निर्मिति मानते हैं "जिसमें यथार्थता के कलात्मक रूपान्तर का बोध अधूरा है।" गोस्वामियों और गौड़ीय वैष्णवों की धारणाओं को पूर्ण-आत्मपरायेपन की स्थिति और यौन के निर्विकल्प प्रतीक की उपलब्धि बताकर वह अन्ततः पण्डितराज पर आ जाते हैं। यहाँ आकर वे फिर शून्य, रहस्यानुभूति और मनोविज्ञान की चर्चा पण्डितराज की 'रमणीयता' को समझाने के लिए करने लगते हैं और उन्हें 'रीतिवाद के द्रष्टा तथा सौंदर्यबोध शास्त्र के औपचारिक प्रतिष्ठापक' कहकर उसके कारण का निर्देश इन शब्दों में करते हैं : "विश्वनाथ ने गुण, अलंकार, अदोषता आदि को रस के उपकरण नहीं बल्कि उत्कर्षाधायक माना था, पण्डितराज ने रस समेत उन्हें रमणीयता के उपकरण मान लिया।" उनकी धारणा है कि पण्डितराज के 'चमत्कार' की अत्याधुनिक व्याख्या संभव है—जिसका उन्होंने निर्देश किया भी है—और इस चमत्कार या काव्य के लोकोत्तर-आह्लाद में "वतुस्तः यथार्थता के रूपान्तरण की ज्ञानगोचरता तथा मानसिक प्रक्रिया की सह-चेतन कार्यवाही का आयत्तीकरण हुआ है।" पण्डितराज की 'रमणीयता' की धारणा में कलात्मक सौंदर्य की व्याख्या को स्वीकार करते हुए मेघ ने उसे 'रमणी' के मध्यकालीन सेक्स-परक रूपक का आध्यात्मिकीकरण बताया है और कहा है : "रमणीयता की धारणाओं में कई सांस्कृतिक संदर्भात्मक इकाइयाँ मिलती हैं। इसमें आलंकारिकों का चारुत्व, अद्वैती शैवों का आनन्दवाद, वेदान्तियों की वेद्यान्तरस्पर्श शून्यता एवं सूफ़ियों का प्रतीकवाद उपनीत है। अतएव रमणीयता का क्षेत्र व्यंजना से बहुत व्यापक है, क्योंकि इसके अन्तर्गत व्यंग्यार्थ ही नहीं, चमत्कारत्व भी शामिल है। वस्तुतः वह नंदतिक सौंदर्यबोध है जिसमें सौंदर्य की आशंसा तथा चर्वणा दोनों ही शामिल हैं। यह 'ज्ञान' एवं 'भावना' के छोरों को मिलाती है। अतः यह बौद्धिक एवं संवेगात्मक, दोनों प्रकार का अनुभव है।" आदि। पण्डितराज की इस उपलब्धि की प्रशंसा में ही डॉ० मेघ उन्हें 'भारतीय सौंदर्यबोधशास्त्र के बामगार्टन' कहते हैं।

डॉ० मेघ का यह सारा प्रयत्न एक बहु-अधीत व्यक्ति का यथार्थ एवं सत्य की खोज में भटकने का प्रयत्न है; अनेक साहित्यिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, सामाजिक, राजनैतिक भूमियों में संचरण का प्रमाण है और इस बात का सूचक भी है कि डॉ० मेघ के पास वह भेदक दृष्टि है जिससे वे सूक्ष्मतम स्तरों को उखाड़कर किसी बात की तह तक पहुँच सकते हैं। किन्तु जैसे इन तहों तक पहुँचना लेखक के लिए आसान नहीं है वैसे ही यह अंग्रेज़ी शब्दों से ठसाठस भरी हुई और वैज्ञानिक तथा गणितीय गुत्थियों, संकेतों और प्रतीकों में लिखी होने के कारण पाठक के लिए भी सहज-ग्राह्य नहीं रह जाती। रस की जटिलताओं को सरलता से हृदयंगम करने के अभ्यासी भी बौद्धिक-श्रम के बिना इसके मूल-तत्त्व को न पा सकेंगे। जो 'गंभीर' आलोचक इसे आधी एक रात में ही पढ़ जाने का दावा करते हैं, उनके प्रति इतना ही कहा जा सकता है कि 'मुखबन्ध' पढ़कर ही उनकी सारग्राहिणी प्रतिभा जागृत हो गई होगी। डॉ० मेघ की, या शायद इस पुस्तक के विवेचन की, यही मजबूरी है कि महत्त्वपूर्ण और मौलिक कथनों पर दुर्बोधता, विस्तृति और पुनरावृत्ति का ऐसा खोल चढ़ता चला गया है कि उन्हें कई बार डुबकी मारकर ही खोजा जा सकता है। इन त्रुटियों के बावजूद यह पुस्तक उनके ज्ञान के प्रति ही विश्वास नहीं दृढ़ करती, बल्कि उनकी विश्लेषण-क्षमता और नई व्याख्याओं में उनकी दक्षता के विश्वास को भी जन्म देती है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आधुनिकता के संदर्भ में एक सार्थक 'सोच''

विजय मोहन सिंह

'मैं वे और आप'[1] हमारी-आपकी कहानी नहीं है, वह पूरी तरह मि० निगम की कहानी है—'अजय की डायरी' वाले मि० निगम की कहानी। चूंकि निगम साहब का उद्देश्य न तो कहानी सुनाना है, न उपन्यास लिखना, बल्कि वे इसे अपने 'सूक्ष्म और ईमानदार पर्यवेक्षण' का 'दस्तावेज़' मानते हैं, इसलिए ज़रूरी है कि इस 'दस्तावेज़' का उसी रूप में विश्लेषण किया जाए।

मि० निगम का यह 'दस्तावेज़'—जो एक हद तक उनकी डायरी भी है (उन्हें इसे 'डायरी' कहने में आपत्ति नहीं है) व्याख्याओं, वक्तव्यों और सूत्रात्मक सिद्धान्तों से भरा हुआ है—क्योंकि वे खुद ज्यादा कुछ करते नहीं, केवल तटस्थ भाव से देखते और अंकित करते हैं—यह और बात है कि उनका देखना तथा अंकित करना—सब उनके अपने सन्दर्भ में ही है—अपनी अहमियत की रक्षा के लिए या अपने को 'जस्टीफाई' करने के लिए।

मि० निगम का अपनी इस 'भूमिका' के बारे में ख़याल है कि 'इस मामले में मैं अपने युग की योग्य सन्तान हूँ यानी आज के मनुष्य का प्रतिनिधि—उसकी चेतना को समूचेपन में ढोनेवाला।' यह बहुत बड़ा दावा है—यानी आज का मनुष्य अपने समूचेपन में मि० निगम है। लेकिन मि० निगम क्या हैं? इसे जानने के लिए मि० निगम को ज़रा नज़दीक से देखना पड़ेगा।

मि० निगम आज के मनुष्य का उसकी चेतना के समूचेपन के साथ प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं और इस रूप में उनके सामने (आज के मनुष्य की) केवल दो ही समस्याएँ हैं: सौन्दर्य और औरत। बल्कि एक ही समस्या है: औरत का सौन्दर्य! अपने पूरे 'दस्तावेज़' में वे भाँति-भाँति की औरतों से टकराते हैं और उनके सौन्दर्य का 'सूक्ष्म पर्यवेक्षण' करते हैं। उनके लिए औरतें दुनिया की 'मरुभूमि में खूबसूरत नखलिस्तान हैं' और एक तरह से तरह-तरह की औरतों के बाहर मि० निगम की दुनिया ही नहीं है। वे चाहे ट्रेन में हों या सिनेमाघर में, 'संगोष्ठी' में हों या सड़क पर—कोई-न-कोई खूबसूरत औरत उनके सामने 'सूक्ष्म-पर्यवेक्षण' के लिए आ ही जाती है। या अगर यह भी न हो तो कोई अभिभावक आकर उन्हें सादर अपनी कन्या के 'सूक्ष्म-पर्यवेक्षण' के लिए अपने घर लिवा जाता है।

सिद्धान्ततः मि० निगम का कहना है कि 'मेरी दृष्टि में फिसलना और चढ़ना दोनों एक ही हैं यानी नीतितः समान हैं।' और यह भी कि 'चीज़ों के स्वभाव से झगड़ना मूर्खता है।' लेकिन वे बाकायदे चीज़ों की अच्छाई-बुराई को परखते हुए चलते हैं। वे मूलतः उस दुनिया के आदमी हैं जो परिवर्तन को देखकर कुढ़ता रहता है और उसकी अधिकांश शिकायतें इसी कुढ़न से पैदा होती हैं, मसलन उनका यह सोचना कि 'अपने देश के छात्रों की हालत यह है कि न वे अंग्रेज़ी ढंग से सीखना चाहते हैं न हिन्दी।' फिर 'फिसलना' और 'चढ़ना' दोनों एक कैसे हैं?

दरअसल निगम साहब के वक्तव्यों और उनके 'होने' में बहुत फर्क है और यह फर्क ज़ाहिरा तौर पर उपन्यास के अपने 'ढंग' को 'अन्कन्विंसिंग' बनाता रहता है।

इसकी यह वजह है कि जिस 'संवेदना' का प्रतिनिधि लेखक मि० निगम को बनाना चाहता है उसमें उसे खुद विश्वास नहीं है और यह अविश्वास इस हद तक है कि लेखक निगम को उस 'संवेदना' के साथ पूरी तरह खड़ा नहीं कर पाता। इस अविश्वास के कारण ही इस 'संवेदना' की जानकारी जहाँ अधूरी पड़ने लगती है वहाँ लेखक उसकी पूर्ति अपने द्वारा करता है।

फिर 'अजय की डायरी' का अगला अंश होने के कारण और लेखक का उससे (अजय से) गहरा जुड़ाव होने के कारण अजय हमेशा निगम के परिपार्श्व में रहता है—अपनी अनुपस्थिति में भी। निगम न केवल घटनाओं और चीज़ों को अजय की उपस्थिति में देखता है बल्कि उसके भीतर हमेशा अजय का एक हिस्सा मौजूद रहता है—क्योंकि लेखक का काम केवल निगम से नहीं चल सकता, उसके लिए अजय ज़रूरी है। सच्चाई यह है कि लेखक कभी इस धारणा से मुक्त नहीं होता कि सही अजय ही है और निगम उसकी रोशनी में अपनी छान-बीन करके वापस लौट आयेगा।

सच्चाई यह भी है कि निगम जिस दुनिया का होने का दम भरता है उस दुनिया का है नहीं—वह हमेशा दुहरेपन

१. मैं वे और आप: लेखक: देवराज; प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६, मूल्य ५.००।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का शिकार बना रहता है। इसीलिए उसे कोई चीज बौद्धिक रूप से खराब या अच्छी लगती है और फिर वही चीज सहज रूप से अच्छी या खराब लगती है। यह सिलसिला अन्त तक चलता है—दीपिका और निर्मला के बीच चुनाव के मसले तक। निगम की आधुनिकता और बौद्धिकता उसके व्यक्तित्व का सहज अंग नहीं है, वह काफी हद तक आरोपित है। यही लेखक का उद्देश्य भी है। वह निगम के द्वारा जिन लोगों की जमात का प्रतिनिधित्व करना चाहता है वे ऐसे ही दुहरेपन में जीते हैं और कुल मिलाकर उनकी बौद्धिकता 'बुद्धि-विलास' से अधिक कुछ नहीं होती। अपनी खोल के भीतर वे प्यारे-प्यारे रूमानी बिम्बों, औरतों की हँसी, फूलों और मौसम पर मरनेवाले ही सिद्ध होते हैं! निर्मला और विमला की हँसी निगम को अच्छी लगती है और उसे देखकर 'दूर तक समतल पर फैली हुई सफेद बर्फ' का एहसास होता है पर बौद्धिक रूप से वे इसे नापसन्द करते हैं।

निगम साहब जिन मान्यताओं के खिलाफ हैं उनसे भी वे पूरी तरह मुक्त नहीं हैं और उन्हें लेकर वे बराबर एक 'अपराध बोध' में रहते हैं। इस रूप में उनका दृष्टिकोण एक नीतिवादी का है—अच्छाई-बुराई की रगड़ से गुज़रते हुए नीतिवादी का! मसलन निगम साहब का कहना है कि 'ज्यादातर फिलासफियाँ अस्वाभाविक और ज़रूरत से ज्यादा अमूर्त होती हैं।' उनकी यह बात उन्हीं के बारे में ज्यादा सच है। उनके जीने का तरीका चीज़ों को 'फिलॉसोफाई' करने का ही है—वे इस क्रम में जीते कम हैं 'फिलॉसोफाइज़' ज्यादा करते हैं। उनकी सारी दिनचर्या व्याख्याओं और वक्तव्यों से भरी हुई है जबकि उन व्याख्याओं तथा वक्तव्यों को जोड़ने वाली स्थितियों का खासा अभाव है। वे बहुत मामूली (पूरी तरह मामूली) स्थितियों पर लम्बी-चौड़ी व्याख्याएँ लादते चलते हैं और अकसर परस्पर विरोधी वक्तव्य देते रहते हैं। मसलन उनका प्रिय विषय औरत और प्रेम है—वे बौद्धिक हैं और औरतों तथा जिन्दगी के मामले में किसी तरह की भावुकता उन्हें पसन्द नहीं है—इसी सन्दर्भ में उनका अपने गहरे मित्र अजय से तीव्र विरोध भी है, लेकिन औरत उन्हें वही अच्छी लगती है जो शिष्ट हो, शालीन हो, मृदुभाषिणी हो तथा स्वच्छ दूधिया और फैली हुई बर्फ की तरह सफेद हँसी हँसती हो। वे केवल कहते भर हैं कि उन्हें 'बौद्धिक प्रखरता' वाली औरतें पसन्द हैं। यही हाल 'प्रेम' का भी है। उन्हें अपने 'प्रथम प्रेम'—सरोज प्रसंग का खयाल आता है तो वे कहते हैं कि 'मैं सरोज के बाह्य आकर्षण, रूप-रंग को प्यार करता था और जब वह आकर्षण खत्म हो गया···तो प्यार भी खत्म हो गया।' और वे अजय को समझाते हैं कि 'मेरे मित्र, तुम्हारी प्रेम की परिभाषा में एक बड़ी खामी है, वह सिर्फ शरीर के प्रति अनुभव किये जाने वाले आकर्षण को नहीं समझा सकती।'

लेकिन यह सब 'वक्तव्य' देने के बाद वे अपनी ही प्रेम की फिलॉसफी भूल जाते हैं 'लेकिन मैं नहीं समझता कि इस तरह की वासना को किसी मानने योग्य अर्थ में प्रेम का नाम दिया जा सकता है।'

इसी तरह निगमजी का तरीका यह है कि वे सूत्र देते हैं, फिर उस सूत्र की पुष्टि के लिए अपनी जिन्दगी की कोई घटना बयान करते हैं और इस तरह उनका 'दस्तावेज' आगे बढ़ता है। लेकिन अकसर होता यह है कि या तो उस सूत्र से उस घटना का बहुत सतही सम्बन्ध होता है या वह पूरी घटना ही सूत्र का विरोधाभास प्रतीत होती है: एक जगह वे 'प्रेम' में उत्पन्न 'बोरियत' के सम्बन्ध में एक सूत्र देते हैं 'अपनी निरन्तर विद्यमानता और करीब स्थिति से वह मानो आपके ध्यान देने और रस लेने की ताकतों को थका देता है और यह थकान एक अजीब-सी ऊब और बोरियत में परिवर्तित हो जाती है।···मुझे ऐसा अनुभव कम-से-कम दो बार हो चुका है और एक बार यहीं आगरे में···।' और इस सूत्र की पुष्टि के लिए निगमजी जो घटना बयान करते हैं उससे पता चलता है कि प्रेम में यह 'विरक्ति' 'निरन्तर सान्निध्य' के कारण नहीं बल्कि शुद्ध आर्थिक कारणों से उत्पन्न हुई थी, 'सर्वजीत से छुट्टी पाकर मैंने राहत की सांस ली। मैं सचमुच बहुत बोर हो गया था और इस बोरियत का एक खास कारण यह था कि मेरी जेब से पूरे आठ रुपये और रिक्शे का व्यय मिलाकर लगभग दस रुपये खर्च हो चुके थे।'

मि० निगम की इन विसंगतियों के बीच उपन्यास का उद्देश्य तथाकथित आधुनिकता—बल्कि तथाकथित 'आधुनिक' की बखिया उधेड़ना है। लेकिन यह फैसला पूरी तरह एकपक्षीय हो जायगा अगर निगम या निगम-जैसे लोगों के बारे में पूरी जानकारी न दी जाय। लेखक की ओर से पोल खोलने वाली यह कोशिश तब पूरी तरह साफ हो जाती है जब वह निगम की ओर से कहता है 'तेरी यह चाल, तौबा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तौबा ! रेडियो-सीलोन की यह धुन मुझे बेहद पसन्द है। जी हाँ, रेडियो पर मैं अकसर सीलोन स्टेशन ही लगाता हूँ। यह गीत मुझे खास तौर पर पसन्द पड़ता है—वह जैसे मेरी संवेदना को उसकी स्थूल असलियत में आकार देता है।'

लेकिन निगम-जैसे लोग केवल सिनेमा की संवेदना में नहीं जीते—तमाम तल्खी और तेज़ी के बावजूद उनका खोखलापन जिस धरातल पर होता है उन्हें केवल 'संचित स्थितियों' के सहारे नहीं पकड़ा जा सकता। उनके लिए स्थितियों की कल्पना उन्हीं की दुनिया के भीतर से करनी होगी। नार्मल मेलर का 'अमेरिकन ड्रीम' या इलिया कज़ान का 'एरेंजमेंट' इस खोखलेपन को उसी आतंकपूर्ण नाटकीयता के साथ उपस्थित करता है। दरअसल 'खोखलापन' दिखाने की यह क्रिया उस 'इतमिनान' के साथ हो ही नहीं सकती जो 'इतमिनान' इस उपन्यास में शुरू से अन्त तक बना रहता है। इसके लिए शायद एक पागल सभ्यता के मस्तिष्क को पारदर्शी बनाने की ज़रूरत पड़ती है।

यहाँ एक बात और स्पष्ट हो जानी चाहिए कि इस 'इतमिनान' के बजाय उपन्यास में एक 'आतंकपूर्ण शीतलता' होती—कुछ उस तरह की जैसी कैमू के 'दी फाल' में है—तब भी उपन्यास इस खोखलेपन को 'आत्मालाप' की सीमा में ही ज्यादा सफलता से खोलकर रख सका होता।

निगम साहब के इस 'हैपी गोलकी' दृष्टिकोण के पीछे भी जटिल स्थितियाँ नहीं हैं बल्कि दो सपाट कारण हैं: सरोज का असफल प्रेम तथा मित्र सुरेन्द्र की असामयिक मृत्यु ('इन घटनाओं ने मुझे अपने अतीत से, यानी उस दुनिया से जिसमें मैं अब तक कुछ सरल-सीधी आस्थाओं के साथ जी रहा था, एकाएक विच्छिन्न कर दिया।') शायद कोई चरित्र इतने 'आसान आघातों' से नहीं बनता। यह एक सरलीकरण है। लेखक ने निगम को चरित्र-निर्माण के इतने सीधे कारणों से नहीं जोड़ा होता तो वह ज्यादा जानदार बन सका होता और उसका विरोध भी ज्यादा ताकत के साथ किया जा सकता था।

पूरा उपन्यास एक 'लगातार सोच' की प्रक्रिया में लिखा गया है—एक गम्भीर 'सोच' की प्रक्रिया में ! इस सोच के आधार पर ही उन्हें स्थितियों से जोड़ा गया है। हिन्दी में कम उपन्यास इतनी 'गम्भीर सोच' के साथ लिखे जाते हैं। साथ ही यह 'सोच' इतनी प्रासंगिक भी है कि एक समूची—पनपती हुई संस्कृति के सम्मुख कुछ अत्यन्त सार्थक प्रश्न खड़े कर सकी है।

उपन्यास में चीज़ों पर गौर करने का तरीका काफी विकसित है—खासतौर पर चेहरों और लोगों के स्वभाव का विश्लेषण लेखक बड़े विकसित गद्य में करता है जिससे उनके ठीक-ठीक पकड़े जाने का पूरा बोध होता रहता है।

भावुकता के बावजूद

नित्यानन्द तिवारी

इधर कुछ दिनों में कई बड़े-बड़े उपन्यास लिखे और प्रकाशित कराये गये। ऐसा लगता है कि एक बड़े फलक पर जीवन की तमाम जटिलताओं को उसके सभी सन्दर्भों के विवरण के साथ रखकर देखने-समझने की आवश्यकता महसूस की गई। परिस्थितियों के उलझाव, मानसिक बनावट के अनेक स्तर और उसके कारण संघर्ष और आदमी के प्रयत्नों के अद्वितीय रूपों में से कुछ को चुनकर ज़िन्दगी की अपेक्षाकृत एक साफ तस्वीर पेश करते हुए औपन्यासिक कलारूप में अपने को व्यक्त करने के स्थान पर इन सबके साथ उलझते-जूझते हुए तात्कालिक और बड़े करीब से जीवन को झेलने का एहसास इन कृतियों में उभरता हुआ लगता है। यह एहसास औपन्यासिक बनावट और कलानुशासन को तोड़ देता है। उपन्यास का विकासक्रम मात्र गतिक्रम में परिवर्तित हो जाता है और प्रभावान्विति का अन्तिम बिन्दु पर संकेन्द्रण सारे परिस्थिति-संदर्भों और उसकी प्रक्रियाओं में बिखर जाता है। इसीलिए केवल अंतिम बिन्दु से लिया गया प्रभाव और उसके आधार पर दिया गया निर्णय सतह का फेन बटोरने से अधिक महत्त्व नहीं रखता—ऐसा मुझे लगता है। कृति को उसकी समग्रता में जाँचने का सवाल काफी दिनों से उठाया जाता रहा है लेकिन उसके साथ-ही-साथ 'अंत गड़बड़ा गया' या 'अंत में उपन्यासकार सम्भाल नहीं पाया' इस तरह का वाक्य भी बराबर लिखा और सुनाया जाता रहा।

'जल टूटता हुआ'[१] पढ़ने के बाद मुझे भी ऐसा ही लगा

१. 'जल टूटता हुआ', रामदरश मिश्र, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, मूल्य १५ रु०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

कि उपन्यासकार ने यह क्या किया । अंत तो कोई प्रभाव नहीं छोड़ता । और फिर इस उपन्यास पर मैंने सोचना छोड़ दिया । यह सोचना—जो प्रभावान्विति के अंतिम बिन्दु पर संकेन्द्रण वाले संस्कार से अनुशासित था—छोड़ने के बाद उपन्यास फिर भीतर-ही-भीतर मुझे जकड़ने लगा । इसका अंत 'राज-पाट लौटाने' वाला जैसा है, सतीश का संघर्ष कभी न पराजित होने वाले नायक के पराक्रम जैसा है और बावजूद इन अप्रा-योगिक कलात्मक अनुशासनों के भी यह कृति क्यों और कहाँ से स्पर्श कर ले रही है । कभी-कभी इस तरह भी मैंने देखने की कोशिश की कि लेखक ने कहीं इन पुराने अनुशासनों का नया कलात्मक उपयोग तो नहीं किया है लेकिन इस कृति में जिस गंभीरता का निर्वाह किया गया है वह इस तरह से सोचने का रास्ता भी नहीं देता । गैर-जिम्मेदाराना मखौलपूर्ण अन्दाज़ और व्यंग्य की काट, जिसके सहारे पुराने का सक्षम कलात्मक उपयोग किया जा सकता है, इस लेखक का रास्ता नहीं है ।

इस उपन्यास में सबसे अधिक प्रभविष्णु है दीनदयाल तिवारी का चेहरा जो अपनी सौम्य सहिष्णुता के साथ आदमी का खून पी लेने की गज़ब की ताकत रखता है और वह सबसे पहले याद आता है जिसके सहारे इस कृति की पाठ-प्रक्रिया फिर से शुरू की जा सकती है, क्योंकि एक बार पूरी पढ़ ली जाने के बाद कृति अपनी समग्रता में पढ़ने का दूसरा क्रम और दूसरा स्तर खोलती है । "दीनदयाल पान की दुकान पर खड़े-खड़े पान चुभला रहे हैं और उनका नौकर उनके लिए गोश्त खरीद रहा है···कसाई के हाथों में बकरा छटपटा रहा है, उसकी आँखें निकल आई हैं, फिर ठंडा हो जाता है । बहे हुए रक्त पर दो कुत्ते लड़ते-लड़ते एक-दूसरे पर चढ़ बैठते हैं । दीनदयाल पान की दुकान से पान खाता हुआ बड़े रस से यह सब देखता है फिर हँस पड़ता है ।" (पृ० २९९) दीनदयाल की इस हँसी और रस में उस अमानवीय और क्रूर बर्बरता की भूमिका खुलती है जो सिर्फ संभावना के नाम पर आदमी के पास बची रह सकी है । आदमी को उसकी तमाम परतों के साथ पहचान लेने में उसकी बड़ी पैनी निगाह है और वह सबसे अधिक मार्मिक जगह और सर्वाधिक उपयुक्त अव-सर पर घात करने में माहिर है । वह इतना लचीला और क्रूर है कि उसे सिर्फ आधुनिक कहा जा सकता है । एक उदाहरण 'अरे जगदीश काका, मैं तो आपका उपकार कर रहा हूँ यह कर्ज बढ़ता ही जाएगा और आप कभी दे सकेंगे इसमें मुझे शक है । मेरी भी झंझट दूर हो जाएगी और आपकी भी, इसलिए मैंने सीधा उपाय सोचा है । कुर्कअमीन साहब काम होने दीजिए, जगदीश काका तो वर्षों से यही कह रहे हैं ।' अमलेशजी, जो विद्वान् वक्ता, कवि और निहायत शरीफ आदमी हैं, भाषण देने लगते हैं—'रुको दीनदयाल, तुमने मुझे समझा क्या है ! तुम्हारे जैसे कमासुत लोगों को चाहूँ तो रोज़ पैदा करूँ।···तुम्हारे जैसे होशियार लोग केवल दूसरों का थूक चाटने के लिए होशियार बनते हैं । हिम्मत हो तो आ जाओ किसी भी मैदान में—साहित्य पर बहस कर लो, हिसाब लगा लो, खेत नाप लो, गाँव और देश की राजनीति पर बातें कर लो, है हिम्मत ? और भी न जाने क्या-क्या !' दीनदयाल उसी मीठे स्वर में अमृत झारते हुए बोले, 'जगदीश काका, आप नाहक मेरे ऊपर नाराज़ होते हैं । आखिर रुपया दिया है तो वसूली भी करनी ही होगी । मैंने आपकी बराबरी भला कब की, आप पंडित, कवि और मस्त व्यक्ति, मैं एक अदना-सा आदमी—खेती-बारी सँभालने में ही ज़िन्दगी बिताने वाला देहाती । खैर आपकी बात का क्या बुरा मानना ?' दीनदयाल की पान चुभलाती हुई मुद्रा अमलेशजी को खा जाती है बड़े सौम्य और सहिष्णु भाव से । उसने किसको नहीं खाया ! सारे गाँव को वह अपनी बेअसर खाल लिए पान की तरह चुभलाता रहता है । अमलेशजी की तरह लोग गाली देंगे, उत्तेजित होकर भाषण देंगे और वह रस लेकर सबको चुभलाता रहेगा । दीनदयाल एक ऐसा कोण बन जाता है जहाँ से सफलता-असफलता की परिभाषाएँ बदल जाती हैं, नैतिकता-अनैतिकता भोथरी हो जाती है, सम्बन्ध और आदमियत इस्तेमाल की चीज़ बन जाती हैं और जीवन परिस्थितियों का सिर्फ गड्डमड्ड । इस उपन्यास में बड़े पैमाने पर परिस्थितियों का गड्डमड्ड और उनमें घिसटते हुए जीवन का दु ख खुभा हुआ है । इन्हीं परिस्थि-तियों के जंगल में यह उपन्यास ले जाकर छोड़ता है (निश्चय ही अंत को ध्यान में न रखें तब) जहाँ एक के बाद दूसरी परिस्थितियाँ और परिस्थितियों के भीतर की परिस्थितियाँ और अधिक उलझती और जकड़ती चली जाती हैं । ग़रीबी, बीमारी, अशिक्षा, बेरोज़गारी, स्वार्थ की कमीनी हरकतें, राजनीति, पंचायत, चकबन्दी, छिनालपन और बहुत-सी बातों को जिन परिस्थितियों में से लेखक ने उभारने का प्रयत्न

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है वह बड़े करीब से ज़िन्दगी का एहसास कराता है। और सबसे बड़ी बात यह एहसास ही है जहाँ से कृति का प्रभाव निर्मित होता है।

यह एहसास और प्रभाव-निर्मिति परिस्थितियों की अनेक वर्तुलाकार पर्तों के भीतर से उभरी हैं। सभी झेलते हैं, जाल रचते हैं, दाँव लगाते हैं। लगभग सभी जानते हैं कि कौन किस तरह की चाल खेल रहा है। कुछ भी ऐसा घटित नहीं होता जहाँ रहस्य और आश्चर्य किया जा सके, लेकिन बचाव की सारी सावधानी अपनाते हुए भी फँसते सभी हैं। रामकुमार, दीनदयाल, दौलतराय, महीपालसिंह, मास्टर सुग्गन, दलसिंगार कोई भी छूटा नहीं है। जानते हुए, सावधानी की तमाम कोशिशों के बावजूद फँस जाने वाली परिस्थितियों का स्वीकार ज़िन्दगी की वह मजबूरी है जिसे न झेलते बनता है न भागते और इस बिन्दु पर आकर लेखक को इन तमाम बातों का रचाव, इतना जटिल, इतना परिचित, इतना सीधा और इतना अद्वितीय बन जाता है जितना स्वयं जीवन। यहीं बिन्दु है जहाँ रामदरश मिश्र सफल होते हैं, हो सकते हैं। सबकी मजबूरी का फायदा सब उठाते हैं। सतीश, रामकुमार पंचायत का चुनाव लड़ने की योजना बनाते हैं, अपनी गोटी बैठाते हैं। मास्टर सुग्गन उनकी सहायता करने के लिए वचनबद्ध हैं लेकिन 'नहीं लड़िएगा तो मत लड़िएगा, बाबू महीपसिंह ने कहलाया था, कह दिया, मुझे क्या?' 'दीनदयाल बात को यहीं अटकाकर चलता बना, वह जानता था कि यह अटकी हुई बात मास्टर सुग्गन के दिल में कँटिया की तरह अटक जाएगी जो न बाहर होगी न भीतर, वह इसी में तड़पेगा।' मास्टर सुग्गन जानते हैं सतीश अच्छे आदमी हैं, उनका साथ देना चाहिए, लेकिन दीनदयाल कँटिया अटका जाता है। महीपसिंह बोर्ड के मेम्बर हैं, मास्टर अगर उनका कहना नहीं मानता तो तराई में तबादला हो जाएगा। घर पर पत्नी है, जवान लड़की है, गरीबी है, अगर तराई में तबादला हो गया तो वह डूब जाएगा। वह निर्णय ले लेता है और दीनदयाल, महीपसिंह ज़बर्दस्ती उसके भीतर से उग आते हैं। वह सतीश के खिलाफ पंचायत के चुनाव में सरपंच के लिए खड़ा हो जाता है। वह सतीश का विरोध करना नहीं चाहता, चुनाव लड़ना नहीं चाहता, दीनदयाल और महीपसिंह का साथ देना नहीं चाहता। लेकिन तराई, जवान लड़की, गरीबी और तबादला। दीनदयाल और महीपसिंह कँटिया की तरह गड़े हैं और वह सब-कुछ करता है। ही नहीं है मन-मुताबिक चुनने और करने का। सारी गति को अपने-आप ओढ़ना है, झेलना है। यह उप आदमी की ऐसी मजबूर परिस्थितियों से भरा हुआ है। मैंने ऊपर परिस्थितियों का जंगल कहा है। बंसी, मह दुबे, कुंजू, गीता पार्वती, बदमी सभी उस जंगल का झेलते हैं। जो सिर्फ तात्कालिक देना-पाना कर सकत चलता रहता है। भावनाशून्य हो सकता है जीता रहता और जिसकी यह काल-धारणा गड़बड़ा जाती है वह निरवधि तनाव में गीता की तरह बंजर और अनस्तित्व बदल जाता है। इस उपन्यास में इस तरह के बंजर और जाते हुए लोगों की एक कतार खड़ी है लेखक जिसका ही क्रूर और भयावह एहसास उपजा सका है। दीनदय चुनाव में हारकर भी जगह-जगह से उभरता और जीत हुआ सतीश के पराक्रम, गीता, बदमी, कुंजू, बंसी, सलोना उनकी वेदनाओं सहित पान की तरह रस से चुभलाता रह है। इस उपन्यास में ज़िन्दगी की वास्तविकता इसी को पर फूटती है और अपनी गुंजलक में पाठक को लपे लेती है।

इस ज़िंदगी के समानान्तर एक और ज़िन्दगी का ए सास लेखक के पास है जिसे वह उभरती और निर्मित हो हुई ज़िन्दगी मानता है। "गाँव टूट रहा है, मूल्य टूट रहे सत्य टूट रहा है, कोई किसी का नहीं, सब अकेले हैं। ए दूसरे के तमाशाई, वही क्यों सबका ठीका लिए फिरे···गाँ टूट रहा है···मगर नहीं एक नया गाँव बन भी रहा किसानों, मजूरों का। जगपतिया का खेत नहीं कटवा स महीपसिंह। वह अकेला नहीं था उसके साथ अनेक हाथ उ गए थे मरने-मारने को तैयार।" सतीश इस नये बनते गाँ और नई बनती ज़िन्दगी का ठीका ले लेता है। चोर, डाकू, ब माश उसके सामने आते ही विनम्र हो जाते हैं, घिघियाने लग हैं। महीपसिंह जैसे प्रभावशाली और दीनदयाल जैसे चाला लोग सामने से कोई घात नहीं कर पाते। वह हरएक क अपने प्रताप से फटकार देता है, सत्य, न्याय और मनुष्यता की रक्षा के लिए कटिबद्ध है और तमाम चालों की संगठि शक्ति के सामने भी वह चुनाव में जीत जाता है। अभावों चूर और नैतिक संवेदना से लबालब भरा यह प्रतापी नायक इस उपन्यास का सर्वाधिक भोथरा और निरर्थक प्राणी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुःख इस बात का है कि लेखक अपनी तमाम संवेदनात्मक क्षमता के साथ इसमें विश्वास करता है। सतीश की गरीबी भी भाई के आई० ए० एस० बन जाने से मिट जाती है और वह हर ओर से विजयी और सुखी नायक बन जाता है। यह भावुकता और गंभीरता इस लेखक की बड़ी भारी कमजोरी है जो उसकी तमाम लेखकीय क्षमताओं की धार को भोथरा और निस्तेज करके छोड़ती है। जगपतिया जो किसानों और मजदूरों की बनती हुई दुनिया का प्रतिनिधि है वह ऐतिहासिक संदर्भ में क्रांति की उभरती हुई ताकत का प्रतिफल न होकर वैयक्तिक और भावुक धरातल पर एक अकड़ू मुद्रा की तरह लगता है जिसकी आज कोई अहमियत नहीं है। शारदा और मास्टर का प्रेम-प्रसंग जो अनेक बाधाओं के रहते अंत में सफल भी हो जाता है जाने क्यों बहुत सारे पन्नों में फैला हुआ है। उस लिजलिजी भावुकता से तो पार्वती का छिनालपन कहीं बेहतर है। भावुकता और सघनता के बीच तटस्थता का बाँध रह-रहकर टूट जाता है और लेखक की प्रतिभा का जल टूट-टूटकर अलग-अलग परिस्थितियों में बहने लगता है।

उपन्यास अपने रंगों, दृश्यों और छवियों में आंचलिक है। मउगा, दलसिंगार, बनवारी, फेकूं, डलवा आंचलिक सरसता और अनोखापन पेश करते हैं। संदर्भ-वृत्तीय शब्दों और वाक्यों का प्रयोग काफी दूर तक सर्जनात्मक धरातल पर हो सका है। सुखद बात यह है कि लेखक आंचलिकता की सीमाओं से परिचित है और उसने उसका उपयोग किया है। जहाँ वह सफल हुआ है उसकी आंचलिकता बाधा नहीं बनी है बल्कि जीवन की तमाम जटिलताओं को संदर्भ-विशिष्ट विश्वसनीयता के साथ उजागर करती है।

अंचल-विशेष में उभरने वाली जीवन की रेखाओं के पर्यवेक्षण में बड़ी गहराई और विस्तार है जो सारे उपन्यास को दीनदयाल के चेहरे से पढ़ने की माँग पेश करते हैं जबकि लेखक सतीश के पराक्रम से इस कृति को पढ़वाना चाहता है। उपन्यास की परिस्थितियों और लेखकीय दृष्टिकोण के अलगाव का संकट मिश्रजी के लेखन की ट्रेजिडी है। जब तक लेखक सतीश और शारदा से अपने को नहीं तोड़ता तब तक उसकी कलात्मक क्षमताओं के पूरे उपयोग की हमें प्रतीक्षा करनी होगी। उस प्रतीक्षा का आश्वासन लेखक की शक्ति और जीवन की पहचान में जरूर मिल जाता है जिसकी उपेक्षा कर पाना संभव नहीं है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनिमय

विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा

कर्णसिंह चौहान

'विश्वविद्यालय में साहित्य-शिक्षा' पर आयोजित संवाद में भाग लेने वाले सभी प्राध्यापक हैं—ऐसे अध्यापक जो न केवल विश्वविद्यालयीय अध्यापन-प्रक्रिया से पूर्णतया सचेत रूप में परिचित हैं बल्कि उस प्रक्रिया को सही संदर्भों में रखकर देख सकने में भी समर्थ हैं और इसीलिए उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे विश्वविद्यालयीय 'अन्तःपुर' के रहस्यों को ही उद्घाटित नहीं करेंगे अपितु साथ-साथ उसे समस्त संदर्भों से जोड़कर पाठक को सकर्मक दिशा प्रदान करने में योग देंगे। 'आलोचना' में ही प्रकाशित पीटर वाइस का एक कथन गूंजता है—"क्या मैं तीसरे शिविर की वह सुविधाजनक स्थिति छोड़ सकता हूँ जो हमेशा मेरे लिए पिछवाड़े का दरवाजा खुला रख आती है···" क्या अभी भी हम बुद्धि-जीवियों की ढुलमुल भूमिका में उतरते रहेंगे? क्या सच्ची बातें कहने का समय अभी भी नहीं आया है? कितना पहले मुक्तिबोध ने कहा था—

> **अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे**
> **उठाने ही होंगे।**
> **तोड़ने होंगे मठ और गढ़ सब।**

हाँ! अब खामियाँ-भर गिनाना पर्याप्त नहीं है, इस या उस बात के दोषपूर्ण होने की ओर उँगली-भर उठाना काफी नहीं है, बात को निरामिष बनाकर कहने से नहीं चलेगा—तीसरे शिविर की सुविधाजनक स्थिति से बाहर आकर विश्वास के साथ कहना होगा कि "सच बात यह है।" सही बात को निःस्संकोच भाव से कहने के लिए आवश्यक हो गया है कि प्रस्तुत संवाद में कुछ जोड़ा जाय।

संवाद पर आएँ तो तीन बातें हैं जो विषय से और परस्पर एक-दूसरे से जुड़ी हैं। अन्य बातें अवान्तर हैं, गौण हैं या उन्हीं से, उन्हीं को लेकर हैं। वे हैं—(१) विश्वविद्यालयीय ढाँचा, (२) पाठ्य-क्रम, (३) अध्यापन।

'विश्वविद्यालय में साहित्य-शिक्षा' पर विचार करते इन तीनों बातों से हमारा सामना होता है, जो एक-दूसरे के साथ इस घनिष्ठ रूप से जुड़ी हैं जिसे सामने लाने के लिए उस भयंकर विराट प्रक्रिया को समझना होगा जो इन सब को एक साथ जोड़ती है। यह आवश्यक इसलिए कि विश्वविद्यालय की 'साहित्य-शिक्षा' एक ओर उस अध्यापक-वर्ग से जुड़ी है जो विभागीय निर्वाचन-प्रक्रिया एवं प्रशासनिक प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं, विभाग जो कि विश्वविद्यालयीय ढाँचे का अभिन्न अंग है, और विश्वविद्यालय सामाजिक व्यवस्था तथा उसकी नियामक शक्तियों के प्रतिफलन व हथियार हैं, तो दूसरी ओर उस पाठ्यक्रम से जिनमें यही सब बातें निर्णय समितियों में विद्यमान हैं; और तीसरी ओर उस अध्यापन-पद्धति से जो उस 'विशेष प्रकार' के पाठ्यक्रम को कुछ 'विशेष ढंग' से पढ़ाकर नियंताओं के सुनियोजित उद्देश्यों की पूर्ति करती है। और इसीलिए इस विषय से सम्बद्ध बातों को न तो अलग-अलग गिनाना भर काफी है, न उसका विच्छिन्न विश्लेषण बल्कि इस सुनियोजित चक्र को सामने खोलकर रखना जरूरी है जिससे कि बातें ग्राह्य हो सकें और दिशा दे सकें।

सबसे पहले जो चीज़ सामने आती है वह है—विश्वविद्यालयीय ढाँचा। विश्वविद्यालय से सम्बन्धित किसी भी चीज़ पर विचार करते हुए या उनमें परिवर्तन की माँग प्रस्तुत करते हुए सबसे प्रथम और अनिवार्य टकराहट इसी के साथ होगी और निश्चित रूप से इसका गठन एवं ढाँचा किसी भी ऐसे परिवर्तन को बरदाश्त नहीं कर सकता जो इसके मूलभूत स्वार्थों को चोट पहुँचाता हो। हम जानते हैं कि समाज (और उसमें भी उत्पादन-सम्बन्ध)

१. लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में एम० लिट० अंतिम वर्ष का छात्र है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार के अनुरूप संस्थाएँ उभरती हैं तथा राजनैतिक, दार्शनिक, कलात्मक आदि विचार उभरते हैं जो 'अधिरचना' (सुपर-स्ट्रक्चर) हैं। और इस प्रकार संस्था होने के नाते विश्वविद्यालय 'अधिरचना' के अन्तर्गत आते हैं। हर समाज में एक शक्ति होती है (सामाजिक वर्ग या उसकी प्रतिनिधि) जो समाज को नियंत्रित करती है। यह नियंत्रण दो तरह से होता है—संस्थाओं और उनमें प्रदत्त विचारधारा द्वारा और राज्य तथा सरकार द्वारा। वस्तुतः राज्य एक माध्यम है जिसमें सामाजिक शक्ति संचित होती है और जो उसका संचालन विविध प्रकार से करता है, ज़ाहिर है कि विश्वविद्यालय भी एक साधन हैं। हमने जन-कल्याण के लिए संसदीय प्रणाली या प्रजातंत्र को चुना था और उससे अपेक्षा की थी कि एक ओर जहाँ वह अपने प्रशासन द्वारा अपना उत्तरदायित्व पूर्ण करेगा वहीं अपने विविध संस्थानों द्वारा भी उसी कल्याण-कार्य को बढ़ावा देगा। लेकिन हुआ क्या? हमारे राज्य का इस्तेमाल पूँजीशाहू वर्ग ने आत्महित के लिए कर डाला और इसीलिए एक ओर जहाँ विशाल जनता शोषण के चक्र में पिसती चली गई, शोषित जनता गहन अंधकार की खोहों में भटक गई है और उसकी भावी आशा एक अन्तहीन प्रतीक्षा-सी दीखने लगी है; वहीं दूसरी ओर इस राज्य द्वारा नियंत्रित संस्थानों ने भी पूँजीशाहू वर्ग द्वारा नियंत्रित राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति में कम योगदान नहीं दिया। राज्य-व्यवस्था के चरित्र के सारे गुण उसमें भी विद्यमान हैं—हमारे विश्वविद्यालय इसके जीते-जागते प्रमाण हैं। विश्वविद्यालयों में गैर-बराबरी वाली मान्यताओं से भरे दिमाग, शक्ति और पद से मोहाच्छन्न लोग, अजनतान्त्रिक क्रियाप्रणाली, बेमानी पाठ्यक्रम और दकियानूसी अध्यापन, पूंजीवादी बुर्जुआ अधिरचना के अनिवार्य परिणाम हैं। एक तरफ गठन और नियंत्रण पर जहाँ राज्य का सीधा कब्ज़ा है तो दूसरी ओर उसके नीचे इजारेदारी अच्छी तरह फूल-फल रही है। दिल्ली विश्वविद्यालय का उदाहरण दूं तो कालेजों को निबंधित (कंट्रोल) करने वाली प्रबन्ध-समितियों में अनपढ़ पूंजीपतियों की स्थिति से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि किस तरह ये इजारेदारी के अड्डे बने हुए हैं। कालेजों को ५ प्रतिशत चंदा देने वाले पूंजीपतियों का संपूर्ण कालेज पर कब्जा होता है, दाखिले से लेकर नियुक्ति तक और प्रबन्ध से लेकर शैक्षणिक मामलों तक इनकी राय एकमात्र निर्णायक होती है।

कहने का अर्थ यही है कि जब हम पाठ्य-क्रम या अध्यापन या अन्य छोटे-मोटे दोषों की ओर ध्यान दिलाकर छुट्टी पा जाना चाहते हैं, या जब हम उनमें परिवर्तन के सुझाव पेश करते हैं तो शायद इसके इस पूर्ण संदर्भ को भूल जाते हैं जो हमें न केवल संपूर्ण विश्वविद्यालयीय गठन व राज्य के साथ उसके सम्बन्धों पर विचार करने के लिए बाध्य करता है बल्कि उसके साथ ही संपूर्ण सामाजिक स्थिति का विश्लेषण करने के लिए भी हमें बाध्य कर देता है। और यहाँ हम पाते हैं कि आधार में अर्थात् सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था में (संक्षेप में कहें तो उत्पादन सम्बन्धों में) परिवर्तन लाये बिना (जिन पर विश्वविद्यालय अधिरचना खड़ी है) इसमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन की बात बेमानी होगी अर्थात् जब तक सही अर्थों में राज्य का जनकरण नहीं हो जाता, जब तक जनता के लोकतन्त्र की स्थापना नहीं हो जाती, तब तक न तो विश्वविद्यालय के गठन में ही जनतंत्रीकरण किया जा सकता है और न अन्य किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन की आशा की जा सकती है। लेकिन इससे इस बात का खंडन नहीं हो जाता कि इसमें वांछित सुधारों की लड़ाई लड़नी होगी, लड़ते रहनी होगी। क्योंकि हर प्रकार के सुधार एक ओर जहाँ उस व्यवस्था को कमज़ोर बनाते हैं तो दूसरी ओर परिवर्तन की ज़रूरत को महसूस कराते हैं और दिलों में एक संगठित विद्रोह की धारणा को मज़बूत बनाते हैं, साथ-ही-साथ उस अनुभव से गुज़रते हैं जिनमें आदमी यह महसूस करता है कि मेरी यह परिवर्तन की लड़ाई सम्पूर्ण व्यवस्था से जुड़ी है और यहाँ वह अकेला नहीं है उस जैसे अन्य भी हैं जो हर जगह परिवर्तन के लिए लड़ रहे हैं। इसलिए मैं कहना चाहता हूँ कि यह आधार और ढाँचे वाला परिवर्तन एक-दूसरे को प्रभावित करता है, एक-दूसरे को योग देता है और क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। निष्कर्ष यही कि चाहे 'साहित्य-शिक्षा' पर ही विचार करें विश्वविद्यालयीय-प्रक्रिया व उससे सम्बद्ध अन्य सभी बातें सामने आती हैं और यह ऐसा आधार है जिसके बिना उससे संबंधित चीज़ों पर बात नहीं की जा सकती। और यहीं हमें समाज का पूरा विश्लेषण प्रस्तुत करने की ज़रूरत होती है।

दूसरी बात पाठ्यक्रम में परिवर्तन को लेकर है जो सीधे तौर पर 'साहित्य-शिक्षा' से जुड़ी है। इससे पहले कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठ्यक्रम में परिवर्तन पर बात की जाय, मैं महसूस करता हूँ कि देश के विश्वविद्यालयों के हिन्दी पाठ्यक्रम को मिलाकर देखा जाय। ऐसा करने पर ऐसी आश्चर्यजनक बातें सामने आएँगी जो बिना अपनी ओर से कुछ भी कहे उसके पीछे के सारे मन्तव्यों को स्पष्ट कर देंगी कि कौन-कौनसे कवि निश्चित रूप से वहाँ हैं और वे क्यों हैं ? इसी तरह यदि सारे विश्वविद्यालयों की हिन्दी परीक्षा में पूछे गये प्रश्न-पत्रों पर ध्यान दिया जाय तो अच्छी तरह समझा जा सकता है कि पाठ्यक्रम को पढ़ाने में नज़रिया क्या रहता होगा और विद्यार्थियों से क्या अपेक्षा की जाती है या उन्हें क्या बनाया जाता है तथा साथ ही यह भी कि क्यों बनाया जाता है ? यह अलग से खोज का विषय है जो इस पूरी प्रक्रिया को समझने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग देगा।

पाठ्यक्रम को लेकर संवादियों ने भी अनेक मौलिक और संगत सुझाव पेश किये हैं और इस बात पर क्षोभ प्रकट किया है कि पाठ्यक्रम में नवीन साहित्य को न रखा जाकर प्राचीन साहित्य को ही रखा जाता है। क्षोभ स्वाभाविक है। और इस बात से पूर्ण सहमति होते हुए भी कि "पुराना साहित्य वहाँ होकर भी नहीं है" नये साहित्य को पाठ्यक्रम में रखने की माँग एक सही कदम है। लेकिन यह इति नहीं है। देखना यह भी होगा कि विभाग-नियंता नये से क्या अर्थ लेते हैं और नये में से किसे स्वीकार करते हैं ? और फिर यह बात कहनी होगी कि नये साहित्य में से भी वह जिसमें प्रगतिशील मूल्यों की प्रतिष्ठा हो जो समाज के प्रति और मानव के सुखद, उज्ज्वल और सुन्दर भविष्य से प्रतिबद्ध हो। लेकिन इसके आगे भी कुछ रह जाता है। मान लीजिए मुक्तिबोध या उस जैसा कोई भी आधुनिक कवि पाठ्य-क्रम में रख दिया जाता है तो उससे कितना बड़ा अन्तर पड़ जाएगा ? हम जानते हैं कि किस प्रकार मैथिलीशरण गुप्तीय साहित्य-रस में निमग्न व्यक्ति एक विशेष निर्वाचन-पद्धति (जिसमें अनेक सेंसर काम करते हैं) से अध्यापक बनता है, तो कैसे उनसे यह अपेक्षा की जा सकती है कि उनके द्वारा मुक्तिबोध के काव्य के बजाय मुक्तिबोध का बिम्ब-विधान एकदम उसी रूप में नहीं पढ़ाया जाएगा जिस रूप में पन्त का प्रकृति-चित्रण पढ़ाया जाता है ? क्या वे भी गुप्त-बन्धुओं की श्रेणी में नहीं रख दिये जाएँगे ? इसलिए केवल नवीनता का आग्रह ही अपने-आप में पर्याप्त नहीं है उसके साथ अनिवार्य रूप से

अन्य दो माँगें भी जुड़ी हैं कि नये में से भी कौन-सा औ
ही कैसे पढ़ाया जाए ? अतः केवल नये पर ज़ोर देने
ही इस बात पर ग़ौर करना भी ज़रूरी है कि गड़बड़
पाठ्यक्रम के चयन में है उससे अधिक उस अ
(चयन+विधि) में है, उस प्रक्रिया में है जो जाने-अ
अध्यापन को एक खास किस्म का होने को मजबूर कर
संक्षेप में यही कि पाठ्यक्रम के चयन में कम-से-कम
का स्पष्ट होना ज़रूरी है; कि साहित्य का ऐसा पाठ्
जो एक ओर संवेदनात्मक ज्ञान को पुष्ट करने में मदद दे
दूसरी ओर उससे विद्यार्थी में इतिहास-बोध का विका
उसका ज्ञानात्मक आधार पुष्ट हो— और स्पष्ट ही यह
अकेले पाठ्य-क्रम का नहीं है, अध्यापन का भी है।

तीसरा और अन्तिम विचारणीय पक्ष है—अध्या
अध्यापक के लिए मात्र व्याख्यापरक और ठेठ सौंद
दृष्टिकोण ही पर्याप्त नहीं है (हालाँकि वह एक खास वि
धारा से सम्बन्धित है या अनजाने में उस विचार को
देता है)। अध्यापक का दायित्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण
बड़ा है। अपने सम्पूर्ण सन्दर्भों में पढ़ाया जाकर ही सा
कुछ उपयोगी हो सकता है—दृष्टि-विस्तार, इतिहास
विकास-प्रक्रिया की समझ। लेकिन यह होगा कैसे ?
सम्बन्ध में समीक्षक के लिए जो मुक्तिबोध ने कहा है व
अध्यापकों के लिए कहना चाहता हूँ—"असल में वास
जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति के अभाव में, सा
के क्षेत्र की समीक्षा थोथी होती है। इसीलिए समीक्ष
आदिकर्तव्य वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा
का विकास करना है। जीवन की परिस्थितियों, प्रवृ
गतिविधियों और उसमें पले हुए व्यक्तियों का संवेदना
ज्ञान जब तक समीक्षक को नहीं है (और वह हो नहीं स
जब तक कि अपने वर्ग, श्रेणी या समाज की व्यापक जि
में समीक्षक की हिस्सेदारी न हो) तब तक समीक्ष
साहित्यिक समीक्षा कुतिया के उस बच्चे के समान है, जि
आँखें नहीं खुली हैं।"

ठीक यही बात मैं विश्वविद्यालयीय अध्यापकों के
में कहना चाहता हूँ। साहित्य से उनका परिचय परी
पूछे जाने वाले प्रश्नों के माध्यम से होता है (उनके
लिखित अधिकांश पुस्तकें व शोध-प्रबन्ध इसके सबूत हैं)
समाज से उनका परिचय विश्वविद्यालयीय-गोष्ठियों, वि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महफिलों में होता है। स्पष्ट है कि विश्वविद्यालयीय अध्यापकों की सब-कुछ से कटी दृष्टि कैसे साहित्य को सही संदर्भों में रखकर देख और दिखा सकती है ? कैसे वह साहित्य की मूल संवेदना को पकड़ सकती है ? जब वास्तविक जीवन में पाये जाने वाले तत्त्व ही साहित्य की कसौटी हैं तो अध्यापक के हवाई सिद्धान्त या उसकी कल्पनाएँ साहित्य को समझा सकती हैं ?

प्रश्न उठता है कि इन तीनों बातों का 'साहित्य-शिक्षा' के संदर्भ में क्या औचित्य है ? जब हम पाठ्यक्रम में परिवर्तन की बात करते हैं तो किसलिए करते हैं ? जब हम अध्यापन में परिवर्तन की बात करते हैं तो क्यों करते हैं ? इसलिए कि हम साहित्य-शिक्षा में बनी हुई उस स्थिति को तोड़ना चाहते हैं जो एक ओर तो स्वयं साहित्य के लिए सबसे बड़ा खतरा बन गई है और दूसरी ओर जो वर्ष-प्रतिवर्ष ऐसे दकियानूस दिमाग तैयार करके समाज में भेज रही है जो न केवल अनुपयोगी सिद्ध होते हैं बल्कि सामाजिक प्रगति के मार्ग में बाधा बनकर खड़े होने के लिए अभिशप्त हैं। अर्थात् इसके द्वारा एक ओर जहाँ हम साहित्य की सही समझ विकसित करना चाहते हैं वहीं इतिहास-बोध और समाज-दर्शन की भी। इसके साथ ही जब हम साहित्य की मूल संवेदनाओं को पकड़ने की बात करते हैं तो उसका क्या मतलब होता है ? उससे हमारा मतलब होता है मानव की मूल संवेदनाओं को पकड़ना, साहित्य के और जीवन के बीच के रिश्तों को पहचानना, साहित्य में पुनर्रचित उस जीवन की समझ जो वास्तव है; और इन चीज़ों पर जब हम आएँगे तो निश्चित रूप से मानव-संवेदना से जुड़े होंगे और मानव-भविष्य के अधिक उज्ज्वल होने से प्रतिबद्ध होंगे, साथ ही हर प्रकार की गैर-बराबरी, शोषण, अमानवीयता, अन्याय और विवेकहीन व अबौद्धिक बातों के खिलाफ व्यक्ति के रूप में और संगठन के रूप में होंगे। तो फिर क्या विश्वविद्यालयीय ढाँचे में जनतांत्रिक परिवर्तन की बात उसके अन्तर्गत नहीं आती ? समाज में फैले हर प्रकार के अन्याय को तरजीह देने वाली व्यवस्था के विरुद्ध लड़ाई की बात उसके अन्तर्गत नहीं आती ? पाठ्यक्रम का अधिक तर्कसंगत बनाया जाना और उससे सही इतिहास-बोध की अपेक्षा करना उसके अन्तर्गत नहीं आता ? हो सकता है 'साहित्यिकों' को यह बात कुछ साहित्य-क्षेत्र से बाहर की जान पड़े या उसका अतिक्रमण करती दिखाई दे, पर बात सच है और इसलिए उसे सीधे शब्दों में कह सकने में कोई संकोच नहीं है। साहित्य को जब तक साहित्य की वर्तमान कूपमंडूकता से बाहर निकालकर अन्य ज्ञानों के साथ नहीं मिलाया जाएगा तब तक न तो साहित्य ही सुरक्षित रहने की सम्भावना है और न ही समाज का ही कुछ भला होगा। और यहीं आकर ये तीनों चीज़ें एक साथ मिल जाती हैं कि किस तरह एक परिवर्तन की माँग दूसरे परिवर्तन की माँग से सम्बद्ध है और उसके लिए सही पाठ्यक्रम यदि सही दिमाग तैयार करेगा तो ठीक अध्यापन भी इस दिशा में अपने दायित्व को निभायेगा।

अन्त में उन प्रश्नों को उठाना आवश्यक जान पड़ता है जो इस प्रक्रिया को समझने में सहायक हैं। और ये प्रश्न अपने प्रश्न के रूप में भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं—

१. कैसे हिन्दी-भाषी प्रदेशों की राजनीति, हिन्दी के समर्थक प्रतिक्रियावादी दलों की राजनीति, विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्षों के कमरों से जुड़ी है, कैसे विभागाध्यक्ष पाठ्यक्रम निर्धारण समितियों से और कैसे रही-सही कसर अध्यापन के उन तरीकों से पूरी की जाती है जो अपने सैद्धान्तिक व प्रभाव रूप में प्रतिक्रियावाद के पोषक हैं।

२. दूसरा सवाल विभागों के अलगाव का है। क्या विभागों को अलग-अलग जागीर का रूप देना संगत है ? क्या साहित्य का विद्यार्थी इतिहास, विज्ञान, दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र आदि से अलग होकर रह सकता है ? या अन्य विभाग के विद्यार्थी को क्या *अन्य* ज्ञानों की आवश्यकता नहीं रहती।

३. यह प्रश्न भी विचारणीय है कि आज हिन्दी का विद्यार्थी हीन-भावना से ग्रस्त क्यों होता जा रहा है। इसके लिए उस प्रक्रिया का विवेचन करना होगा जो जान-बूझकर दकियानूस अध्यापक निर्वाचित करती है, हिन्दी साहित्य के पाठ्य-क्रम को अधिक-से-अधिक अनुपयोगी बनाती है और फल यह होता है कि न तो हिन्दी का स्नातकोत्तर विद्यार्थी साहित्य की समझ ही विकसित कर पाता है और न अन्य सामाजिक दृष्टियों से ही उपयुक्त होता है। फलतः उसमें स्थायी हीनता की भावना घर कर जाती है जो उस कूपमंडूक दृष्टि के कारण पनपती है जो वह विभाग से लेकर निकलता है। और इस प्रकार विभाग द्वारा हिन्दी का जितना बड़ा अहित आज हो रहा है उतना शायद ही किसी द्वारा हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो। दूसरी बात यह भी कि आज हिन्दी विभाग की दीक्षा से निकला हुआ विद्यार्थी न केवल अपने समाज की विषमताओं को समझने में असमर्थ हो गया (क्योंकि उसने तो बिहारी की नायिका के बारे में पढ़ा था) बल्कि उसमें से विद्रोह के तत्त्व भी नहीं बच पाते। बड़ा भयंकर है यह सोचना कि प्रतिवर्ष हिन्दी विभागों से इस प्रकार के वैष्णवी और गऊ-छाप विद्यार्थियों की जमात बहुतायत में निकलकर समाज में आती है।

४. आज के सचेत व प्रबुद्ध छात्र यह पूछना चाहते हैं कि सदियों पुरानी मान्यताओं में जी रहे प्राध्यापक को नवयुवकों को पढ़ाने का अधिकार किस तर्क-पद्धति से दिया जाता है? अवैज्ञानिक दृष्टिकोण को क्या यह छूट दी जा सकती है कि वह वर्तमान का मार्गदर्शन करे? और यहीं वह बात आती है जो इस ओर ले जाती है कि अब अध्यापन की योग्यताओं के मानदंड बदलने होंगे—उन निर्वाचन समितियों (जो और भी दकियानूस हैं) के विरुद्ध आवाज़ उठानी होगी और सरेआम चल रही धोखेबाज़ी का (जिसको साहित्यिक गरिमा के संकोचवश सामने नहीं लाया जाता) अन्त करने के लिए प्रयत्नशील होना होगा। उसकी जगह हम स्वस्थ दृष्टिकोण के लोगों की निर्वाचन समितियों में माँग करेंगे, अध्यापक की योग्यताओं में काव्यशास्त्र की पारंगतता को कसौटी नहीं रहने देंगे बल्कि साहित्य को सम्पूर्ण इतिहास में रखकर समझने, पूर्ण परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने की माँग करेंगे और माँग करेंगे एक सही ज्ञानात्मक आधार की जो हमें जागरूक व क्रियाशील बनाये न कि पंडित और दकियानूस। जो एक सही इतिहास-दर्शन, समाज-दर्शन दे, वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान करे और आज की वास्तविकताओं से हमें जोड़े।

मैं जानता हूँ कि यह बात एकदम नहीं हो सकती, पूरे सामाजिक संदर्भों से काटकर यह सुधार नहीं किया जा सकता, और कि ये अन्तिम बातें हवाई कल्पना जान पड़ सकती हैं (ठीक भी है क्योंकि अभी स्थिति बिलकुल विपरीत है) लेकिन यह बात वही कहेंगे जिनको इतिहास की सही प्रक्रिया का एकदम बोध नहीं है, जो इस समाज से और समाज में आगे बढ़ रही न्याय पाने की इच्छित शक्तियों से कटे हुए हैं और फलतः अपने में भी जिनका विश्वास नहीं है। बहुत बार दकियानूसों ने बाज़ी मारी है, अमानवीय शक्तियों ने पिछले दरवाज़े से जगह कब्ज़ाई है, बहुत दि[...] गये विश्वविद्यालयों में पुष्टिमार्गीय भक्तिभावना [पो[...] तद् (=अध्यक्ष का) अनुग्रहः] पोषण करते हुए—[...] स्थिति बदल गई है और आज ऐतिहासिक रूप से वे बा[...] हार चुके हैं, लोगों के विशाल समूह अपनी-अपनी जगह [...] हो रहे हैं, फिर भी संग्राम तगड़ा रहेगा—यही है मेरी [...] का आधार।

५. पिछले दिनों विभिन्न विश्वविद्यालयों में एम० लि[...] पाठ्यक्रम को लेकर बातें हुई हैं। समाप्त करने से प[...] एम० लिट्० पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। [...] लेख में श्री रमेश कुन्तल मेघ ने उसका 'समर्थन' किया [...] लेकिन मैं दिल्ली विश्वविद्यालय के कुछ शोधार्थियों ([...] पर यह 'प्रयोग' किया गया था) के अनुभवों के आधार [...] यह बताना चाहता हूँ कि उसका जो स्वरूप है उसमें कुछ [...] ऐसा नहीं जिसका कोई भी औचित्य छात्र-हित की दृष्टि [...] सिद्ध किया जा सके। एम० लिट्० का पाठ्यक्रम इस प्रक[...] है—**प्रथम वर्ष** : १०० अंक का शोध-प्रशिक्षण, २०० [...] का एक विशिष्ट पर्चा (पद्य, गद्य एवं काव्यशास्त्र में [...] कोई एक) तथा १०० अंक का आमने-सामने (मौखिक) [...] **द्वितीय वर्ष** : १०० अंक के बराबर भारतीय भाषाओं [...] इतिहास, २०० अंक के बराबर एक लघु शोध-प्रबंध [...] १०० अंक का आमना-सामना। विशिष्टता वाले पर्चे [...] कोर्स वही है जो एम० ए० में पढ़ाया जा चुका होता है। [...] अध्यापन-विधि पर भी विचार कर लिया जाए—विशि[...] योग्यता वाले विषय पर उससे बहुत ही कम भाषण दिये [...] हैं जिससे अधिक वे ही प्राध्यापक एम० ए० में दे चुके ह[...] हैं। इसी तरह भारतीय भाषाओं पर दो भाषण देने से या [...] इतिहास जाना जाता है तो अच्छा है कि यह छात्रों पर छो[...] दिया जाए। 'लघु-शोध-प्रबन्ध' अपने-आप में शक्ति और [...] का अपव्यय है क्योंकि उसका न तो मौलिकता से कोई सम्ब[...] होता है न भावी शोधकार्य से। इस पूरे चक्र को यदि ध्या[...] से देखा जाए तो इसमें विद्यार्थियों के बेशकीमती दो वर्षों [...] व्यर्थ गँवाने के अतिरिक्त कोई मन्तव्य नहीं है। यह इसी बा[...] से सिद्ध हो जाता है कि दिल्ली विश्वविद्यालय के एम० लिट्[...] के छात्रों ने पिछले वर्ष इसके विरुद्ध आवाज़ उठाई थी लेकि[...] नहीं पता चला कि विभागाध्यक्ष के दिमाग में वह कौन-[...] प्रच्छन्न हितैषणा थी जिसके कारण वे इसे विद्यार्थियों [...]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थोपना चाहते थे। हमने बार-बार कहा था कि न तो साहित्य की समझ की दृष्टि से इसका कोई उपयोग है, न ही इस डिग्री को कहीं मान्यता प्राप्त है। लेकिन 'अन्तःपुर' में बिठाकर जो उत्तर दिया गया उसका भावार्थ यह था कि एम० लिट्० के समर्थन का अर्थ है 'प्राध्यापक-पद-प्राप्ति' की दिशा में एक कदम और विरोध का मतलब है उसका उलटा। निश्चित रूप से आज के वातावरण में नौकरी का भय बहुत कारगर होता है। किन्तु हम निरन्तर इस कोर्स का विरोध करेंगे क्योंकि हम जानते हैं कि इसके पीछे विभाग को कुछ अतिरिक्त अधिकार-प्राप्ति व पद-प्राप्ति का मोह है, इसमें विद्यार्थियों का हित न तो है, न सोचा गया है। दूसरी बात जो बड़ी ही भयंकर है वह यह कि एम० लिट्० के सीमित दाखिले से जिन लोगों को अन्दर लिया जाता है और जिन्हें विशेष रूप से प्राध्यापक बनाने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है उसमें समझा जा सकता है कि क्या पढ़ाया जाता होगा। विभाग के पास दो वर्ष का समय यह जाँचने के लिए काफी होता है कि कौन छात्र ऐसा है जिससे विभाग की वर्तमान नीतियों को कोई खतरा नहीं है और उसे प्राध्यापक के योग्य समझ लिया जाता है, इसका अपवाद जो छात्र होता है उसे प्राध्यापक-पद से वंचित करने के लिए एम० लिट्० में द्वितीय श्रेणी थमा देना होता है। पूरे दो वर्ष तक एक ओर तो इन छात्रों को अपने छात्र-समुदाय से काट दिया जाता है, दूसरी ओर इन्हें पूरी तरह इस बात पर आश्रित कर दिया जाता है कि अब प्राध्यापक-पद के अतिरिक्त उनके पास कोई विकल्प नहीं है 'सबै लौ राम सौं लागी'। जहाँ तक छात्र-हित की बात है उसके लिए यह बताना पर्याप्त होगा कि न तो इसे प्रारम्भ करने के लिए उनकी राय ली गई थी बल्कि अपने निहित स्वार्थ ध्यान में रखे गए थे और अब क्योंकि विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग ने इस कोर्स के लिए ग्रांट देना नामंजूर कर दिया है तो न ही इसे समाप्त करने के लिए अब विद्यार्थियों की राय जानी जाएगी। इन और इस तरह की सभी अन्य बातों (जिन्हें सामने रखना कठिन है) के आधार पर हम इसका विरोध करते हैं और आशा करते हैं कि रमेश कुंतल मेघ इस बात पर पुनर्विचार करें।

●

ऊँची शिक्षा के ताजमहल

नरेन्द्र प्रताप सिंह

आलोचना (अक्तूबर-दिसम्बर, '६९) में छपे सम्पादकीय को मैंने बेहद दिलचस्पी से पढ़ा। इस बात से मैं पूरी तरह सहमत हूँ कि शिक्षा का प्रश्न केवल एकेडेमिक नहीं। शिक्षा का प्रश्न सामाजिक व्यवस्था से जुड़ा हुआ है। सही कहा गया है कि भारत जैसे पिछड़े हुए देश में साक्षरता से ज्यादा ध्यान ऊँची शिक्षा पर दिया गया। साक्षरता का विकास यूँ तो अखिल भारतीय स्तर पर भी निराशाजनक रहा, किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि साक्षरता का विकास हिन्दी-भाषी राज्यों में केरल, मैसूर व महाराष्ट्र के मुकाबले बहुत ही निराशाजनक है। यह आकस्मिक नहीं कि हिन्दी-भाषी राज्य, यू० पी०, बिहार, मध्य प्रदेश एवं राजस्थान न केवल साक्षरता के प्रसार में पिछड़े हैं, बल्कि प्रतिक्रियावादी शक्तियों के गढ़ भी बन गये हैं।

नतीजा यह हुआ कि शिक्षा का आकार उस उलटे पिरामिड जैसा हो गया, जिसका आधार संकुचित रहा, किन्तु शिखर फैलता ही गया। एक ओर निरक्षरता बढ़ती रही और दूसरी ओर नये-नये कालेज व विश्वविद्यालय खोले गये। यह आकस्मिक नहीं कि साक्षरता की दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े हुए राज्यों में कालेज व विश्वविद्यालयों के खोलने की होड़ लग गई। अभी पता चला है कि मध्य प्रदेश में दसवाँ विश्वविद्यालय भोपाल में खोला जायेगा। नवाँ विश्वविद्यालय रीवाँ में खोला गया था जिसके विकास के लिए समुचित साधन की व्यवस्था की चिन्ता न तो राज्य सरकार को थी न 'यूनिवर्सिटी ग्रान्ट कमीशन' को। यह भी सुनने में आया है कि मध्य प्रदेश की नवीं व दसवीं यूनिवर्सिटी शुरू करने से पहले यूनिवर्सिटी ग्रान्ट कमीशन की अनुमति लेने की आवश्यकता किसी ने महसूस न की।

लगभग बीस साल के 'योजनाबद्ध विकास' का फल आज हम देख रहे हैं। एक ओर हमारे देश में लगभग ३५ करोड़ निरक्षर हैं। दूसरी ओर हमारे कालेजों एवं विश्वविद्यालयों से एक बड़ी तादाद में नवयुवक एवं नवयुवतियाँ निकल रही हैं, जो बनना तो अफसर चाहते हैं, किन्तु बाबू बनने के लिए भी उनको हर तरह के पापड़ बेलने पड़ते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा का पिरामिड ऐसा उलट गया है कि निरक्षरता भी पनप रही है और बेरोज़गारी भी। पिरामिड के आधार पर ३५ करोड़ निरक्षर खड़े हैं और उसके शिखर पर लाखों डिग्री-धारी बेरोज़गार जमा हैं। लगता है यह उल्टा पिरामिड अब अधिक दिन टिक नहीं सकेगा। दबाव दुहरा है। एक छोर पर निरक्षरता का दबाव है तो दूसरे छोर पर बेरोज़गारी का। इस 'योजनाबद्ध विकास' से और किसी को लाभ हो या न हो, उन लोगों को तो लाभ है ही जो सस्ता मज़दूर चाहते हैं या सस्ता बाबू।

किन्तु अन्तर्विरोध केवल ऊँची शिक्षा के प्रसार एवं साक्षरता के प्रसार के बीच ही नहीं, ऊँची शिक्षा का प्रसार भी अन्तर्विरोध से मुक्त नहीं। कानपुर यूनिवर्सिटी में वैज्ञानिक शिक्षा के सन्दर्भ में भाषण करते हुए सर सी० वी० रमन ने ऊँची शिक्षा के ताजमहल निर्माण करने की प्रवृत्ति की आलोचना की। ऊँची शिक्षा के ताजमहल से उनका इंगित शान-शौकत वाले राष्ट्रीय संस्थानों की ओर था जिनकी इमारत शानदार होती है और कर्मचारी ऊँची तनखाह पाते हैं, किन्तु काम-धाम के नाम पर शिक्षा के ताजमहल कोरे होते हैं। नतीजा यह होता है कि आम स्कूल और कालेजों में साधन के अभाव में न तो अच्छे शोधकर्ता टिक पाते हैं न आम छात्रों को सही माने में ऊँची शिक्षा ही मिल पाती है। ऊँची शिक्षा को साक्षरता से अधिक प्राथमिकता तो मिली, किन्तु उसका आम स्तर बेहद घट गया।

मैं आपका ध्यान इस तथ्य की ओर खींचना चाहता हूँ कि ऊँची शिक्षा के क्षेत्र में भी ब्राह्मण व शूद्र का भेद बना रहा। कुछ चुने हुए विद्यालय एवं संस्थान ऊँची शिक्षा के ताजमहल अवश्य बन गये, किन्तु लगभग २,००० कालेज ऐसे हैं, जिनमें आम घरों के लड़के पढ़ते हैं और उनकी द दयनीय है। सरकारी आँकड़ों से पता चलता है कि लग ८५ प्रतिशत विद्यार्थी साधारण कालेजों में पढ़ते हैं, जिनमें तो शिक्षकों को समय से वेतन मिलता है न पुस्तकालयों पुस्तकें खरीदने का पैसा होता है। ऊँची शिक्षा के क्षेत्र भी मोटेतौर से शिक्षा के ताजमहलों को ब्राह्मण माना ज सकता है और साधारण कालेजों को शूद्र माना जा सक है। बरायेनाम ऊँची शिक्षा हमारे और आपके बच्चों मिलेगी और ऊँची शिक्षा के ताजमहलों पर एकाधिप होगा, कुछ चुने हुए घरों के बच्चों का।

नतीजा यही होगा कि ऊँची शिक्षा के ताजमहल अफ़स पैदा करेंगे और साधारण कालेज दफ्तर के बाबू। यूँ कह के लिए कहा जा सकता है कि ऊँची शिक्षा की बेहद तरक्क हुई है, किन्तु ऊँची शिक्षा के क्षेत्र में भी ब्राह्मण व शूद्र क भेद साफ़ दिखाई देता है। एक-एक ताजमहल के पीछे पचीस घुड़सालें भी नज़र आयेंगी। दोरंगी राजनीति एवं दोरं नैतिकता के साथ-साथ हमारे देश में दोरंगी शिक्षा का स सहज प्रसार हुआ है। कीमती अफ़सर पैदा करने के ताजमह अलग हैं और सस्ते बाबू पैदा करने वाले कालेज अलग शिक्षा का यह दोरंगा रूप कब तक चलेगा कहा नहीं ज सकता। रसेल ने ठीक ही कहा था कि ठोस-से-ठोस समाज वादी नेता भी इस बात को सहन नहीं कर पाता कि उस बच्चे आम बच्चों के साथ आम स्कूल व कालेजों में पढ़ें औ दफ्तर के बाबू बनें।

ऊँची शिक्षा के ताजमहलों को देखकर शिक्षा दोरंगे रूप को भुला देना घातक होगा। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना-पुस्तक-परिवार

के सदस्य बनिये
और अपनी पसन्द की पुस्तकें घर बैठे पढ़िये

उद्देश्य

१. आज तक हिन्दी-प्रकाशन-जगत् अपने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग व्यक्तिगत खरीदार (इंडिविजुअल कस्टमर) की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाया, क्योंकि विक्रेताओं का ध्यान प्राय: पुस्तकालयों, सरकारी विभागों व स्कूल-कालेजों की थोक बिक्री की ओर रहा है, जबकि अन्ततः पुस्तक का पाठक 'व्यक्ति' ही होता है। यदि पुस्तकों की सूचना सीधे पाठकों के हाथों में पहुँचे तो उन्हें अपनी रुचि की पुस्तकों को चुनने में सुविधा रहेगी। अत: 'आलोचना पुस्तक-परिवार' योजना का पहला उद्देश्य होगा, पाठकों तक नये प्रकाशनों की सूचना नियमित रूप से पहुँचाना।

२. हिन्दी पुस्तकों के प्रति भारतीय जनता में जागरूकता लाना और हिन्दी-साहित्य को लोकप्रिय बनाना।

३. हिन्दी पुस्तकों के बारे में लोक-मत को जानना और लेखकों व पाठकों के बीच तादात्म्य स्थापित करना जिससे साहित्य जन-जीवन के निकट आ सके।

४. हिन्दी के साधारण पाठक को उसी मूल्य पर पुस्तकें सुलभ करना जिस पर पुस्तकालयों को प्राप्त होती हैं ताकि लोग अधिक-से-अधिक संख्या में निजी पुस्तकालय बनाने में रुचि ले सकें।

सदस्यता के नियम

१. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्य बनने पर आपको 'राजकमल प्रकाशन' के प्रकाशनों पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा, २० रुपये या इससे अधिक मूल्य के आर्डर पर फ्री पोस्टेज की सुविधा दी जाएगी। 'राजकमल प्रकाशन' की पुस्तकों के साथ यदि आप अन्य प्रकाशन मँगाना चाहेंगे तो उन पर भी साढ़े बारह प्रतिशत कमीशन की सुविधा दी जाएगी। किन्तु बाहरी प्रकाशनों का कुल मूल्य या कुल मूल्य की आधी रकम आर्डर के साथ अग्रिम भेजनी होगी।

२. सदस्यता फार्म भरकर भेजते समय मात्र ३.०० रुपये की राशि सिक्योरिटी डिपॉजिट के रूप में भेजनी होगी जो हमारे पास स्थायी रूप में जमा रहेगी। आर्डर की पुस्तकों की वी० पी० न छुड़ाने की स्थिति में यह रकम जब्त हो जायेगी। यदि कोई सदस्य अपनी सदस्यता समाप्त करके अपना सिक्योरिटी डिपॉजिट कभी वापस मँगवाना चाहेंगे तो उन्हें यह राशि लौटा दी जायेगी। ३.०० रुपये की यह राशि पुस्तकों के पहले आर्डर की अग्रिम राशि के साथ जोड़कर भी भेजी जा सकती है।

३. आर्डर की पुस्तकें नैट मूल्य की वी० पी० पी० द्वारा अथवा पुस्तकों का मूल्य अग्रिम प्राप्त होने पर रजिस्ट्री से भेजी जाएँगी। बड़ा आर्डर होने पर पुस्तकें रेल पार्सल द्वारा भेजकर बिल्टी आदेशानुसार रजिस्ट्री या वी० पी० पी० से भेज दी जायेगी।

४. आर्डर की वी० पी० पी० छुड़ाना सदस्य का नैतिक कर्तव्य होगा।

५. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्यों को हिन्दी प्रकाशनों की जानकारी देने के लिए हिन्दी-प्रकाशन-जगत् का सबसे पुराना मासिक पत्र 'प्रकाशन समाचार' निःशुल्क भिजवाया जायेगा।

६. योजना का सदस्य बनकर आप जब चाहें, पुस्तकें मँगा सकेंगे। प्रतिमास या नियमित रूप से पुस्तकें मँगाने का कोई बन्धन नहीं होगा। न ही किसी कालावधि में किसी खास रकम की पुस्तकें मँगाने का प्रतिबन्ध होगा।

७. इस योजना के अन्तर्गत अश्लील या निम्न स्तर की पुस्तकों के आर्डर स्वीकार नहीं किये जायेंगे।

८. दिल्ली में रहने वाले सदस्यों को 'राजकमल प्रकाशन' में आकर स्वयं पुस्तकें खरीदने पर भी १५ प्रतिशत कमीशन की सुविधा मिलती रहेगी।

९. इस योजना के अन्तर्गत पाठ्य-पुस्तकें नहीं भेजी जाएँगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आलोचना' के स्वामित्व तथा अन्य ब्योरे के विषय में विज्ञप्ति

फार्म ४ *(नियम ८ देखिये)*

१. प्रकाशन का स्थान	दिल्ली
२. प्रकाशन की अवधि	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम	श्रीमती शीला सन्धू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
४. प्रकाशक का नाम	श्रीमती शीला सन्धू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
५. सम्पादक का नाम	डा० नामवर सिंह
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
६. उन व्यक्तियों के नाम और पते, जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयर होल्डरों के नाम और पते, जो पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हों।	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६

मैं, शीला सन्धू, इसके द्वारा घोषित करती हूँ कि ऊपर जो ब्योरे दिये गए हैं, वे मेरी अधिक-से-अधिक जानकारी और मेरे विश्वास में सही हैं।

१ मार्च, १९७०

ह० शीला सन्धू
प्रकाशक

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन की जन्मशती

के उपलक्ष्य में

आलोचना के आगामी अंक में

- लेनिन संबंधी लेख;
- जार्ज लूकाच, अर्न्स्ट फिशर, क्रिस्टोफर काडवेल प्रभृति मार्क्सवादी आलोचकों की समीक्षाएँ;
- नये सोवियत कवियों की कविताएँ;
- हिंदी के नये कवियों की कविताएँ;

तथा

- पुस्तक समीक्षा आदि नियमित सामग्री।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि पंत : छाया-विद्याव्रत

सुमित्रानंदन पंत : जीवन और साहित्य

सुश्री शांति जो

ने युग कवि श्री पंत जी की यह बृहत् जीवनी दो खण्डों में सम्पूर्ण की है। हिन्दी साहित्य के साथ जीने के लिए पंत जी की यह महत् जीवन-गा अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। आर्ट पेपर पर कवि के अने दुर्लभ अप्रकाशित चित्रों सहित प्रथम खंड कवि की ७२वीं वर्षगांठ मई '७० में प्रकाशित किया जा रहा है।

राजकमल प्रकाशन

८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६ साइंस कालेज के सामने, पटना-६

राजकमल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar
श्रीमती शीला सन्धू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैमासिक

आलोचना

सम्पादक : नामवर सिंह

R
८४
36 आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांगड़ी विश्वविद्यालय

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

…तों से विदाई पर एक अभिभाषण
अशोक वाजपेयी १

…कविताएँ
मलयज ८

…व प्रक्रिया
रामस्वरूप चतुर्वेदी १०

… तरह से देखो तो
विपिन कुमार अग्रवाल २२

…हत्य क्यों
नित्यानन्द तिवारी २७

…क और आलोचक : विकासमानता का प्रश्न
देवराज ३१

…भाषा और सृजनशीलता
रमेशचन्द्र शाह ३८

बिलकुल वही
प्रभात कुमार त्रिपाठी ४७

आधुनिक त्रासदी : बलिदान और क्रान्ति
रमेश कुंतल मेघ ४९

एब्सर्डिटी : संप्रत्ययात्मक विश्लेषण
देवकीनन्दन द्विवेदी ६२

ओसिप मेंदलस्तम की पाँच कविताएँ
कमलेश ६८

परिवर्तित नैतिक मूल्य और साहित्यकार की स्थिति
यशदेव शल्य ७२

वक्रोक्ति सिद्धान्त : आधुनिक परिप्रेक्ष्य
विजेन्द्रनारायण सिंह ७९

अमूर्त ज्यामिति से बाहर
मलयज ८७

विजय सोनी की चित्र-प्रदर्शनी पर
शमशेर बहादुर सिंह ९१

• मूल्यांकन :

अप्रासंगिकता के कगार पर ९२
अधुनातन का प्राध्यापकीकरण ९७
} विष्णु खरे

मध्यकालीन रसदर्शन और समकालीन सौन्दर्यबोध
आनन्दप्रकाश दीक्षित १००

आधुनिकता के संदर्भ में एक सार्थक 'सोच'
विजय मोहन सिंह १०६

भावुकता के बावजूद
नित्यानन्द तिवारी १०८

• विनिमय :

विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा
कर्णसिंह चौहान ११२

ऊँची शिक्षा के ताजमहल
नरेन्द्र प्रताप सिंह ११७

वर्ष १८ : नवांक १२, (पूर्णांक ४९) जनवरी-मार्च १९७०, मूल्य ३.००
वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १५.००
विदेशों में—१६.००

शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी० ई० वी०/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८ …ंक २०-१-६८ एवं उपनिदेशक, समाज शिक्षा, राजस्थान के पत्रांक पु० प्र०/१/एफ/११-६८/ …ंक ६-९-६९ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

विचारों से विदाई पर एक अभिभाषण

अशोक वाजपेयी

शायद इस बात से कोई असहमत न हो कि बीसवीं सदी में सारी दुनिया में विचारों का भीषण टकराव हुआ है। कुछ इस तरह का कि इस सदी में यह वैचारिक टकराव किसी भी रचनात्मक या बौद्धिक कर्म का एक स्थायी सन्दर्भ बन गया है। इसके सिर्फ बौद्धिक या रचनात्मक ही नहीं बल्कि मानवीय नतीजे निकले हैं क्योंकि इस टकराव ने संगठित राजनीति के माध्यम से रोज़मर्रा का और साधारण लोगों का जीवन भी प्रभावित और नियमित किया है भले ही उन्हें अक्सर विचारों का सीधा या सार्थक अहसास न रहा हो। अलग-अलग अनुशासनों में विचारों की अलग-अलग भाषाएँ भी विकसित हुई हैं और ऐसी स्थिति आ गई है कि इन भाषाओं में कोई आपसी संवाद लगभग असम्भव हो गया है। लेकिन भाषाओं की बहुलता और उनके बीच संवादहीनता का असर रचनात्मक भाषा पर पश्चिम में बहुत स्पष्ट और गहरा पड़ा है—इस हद तक कि रचनात्मक भाषा के लिए सतह पर आ जाना एक ट्रैजिक-सी बाध्यता हो गई है। शायद यह कहना अनुचित न होगा कि पश्चिम के समूह-समाजों में रचनात्मक भाषा में अभिव्यक्ति की कोशिश करना उस पर बढ़ते दबावों के रहते एक ख़तरनाक और ट्रैजिक निर्णय लेना है। शब्द का सतह पर अपनी जीवंतता के लिए जैसे चिपट जाना पश्चिम की भाषाओं के लिए जिस तरह की अनिवार्यता हो गया है उस तरह की अनिवार्यता या परिस्थिति हिन्दी में बल्कि भारत में पैदा हो गई है, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है।

हमारा सोच-विचार जो थोड़ा-बहुत होता है, हमारी भाषाओं में नहीं है और इसलिए चिन्तन की विशिष्ट शब्दावलियों का रचनात्मक भाषा पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं है। फिर इस सोच-विचार का हमारी रचनात्मक मानसिकता या संस्कारों पर भी कोई सीधा प्रभाव नहीं है। अगर पश्चिम में मनुष्य की हालत को ठीक-ठीक पहचानने और समझने की कोशिश करने का मतलब परिभाषाओं की बहुलता से जूझना है तो हमारे देश में ऐसी कोशिश करना वैचारिक अस्पष्टताओं और अपरिभाषित प्रसंगों का सामना करना है। इस स्थिति का एक नतीजा साफ़ है और वह है भारतीय जीवन में प्रायः हर स्तर पर विचार और कर्म के बीच कटाव और असम्बद्धता। सबसे खुले ढंग से यह संगठित राजनीति के क्षेत्र में है जहाँ विचारों को कर्म में बदलने की रसायन-भाषा अभी तक विकसित नहीं हो पायी है। एक हवाई और धुँधले ढंग से विचार को पकड़ने का एक हश्र हर पार्टी का समाजवाद का पल्ला पकड़ना और उसकी चीख-पुकार करना है। अगर लोक-जीवन में विचार और कर्म कटे हैं याने या तो विचारहीन कर्म है या फिर कर्मच्युत विचार, तो साहित्य में विचार और कर्म अगर असम्बद्ध होते गए हैं तो इसमें अचरज न होना चाहिए।

पर अचरज न सही, दुख तो होता ही है। क्योंकि विचार और कविकर्म की असम्बद्धता में रचनात्मक भाषा और भारतीय मनुष्य की हालत दोनों का एक भयावह सरलीकरण छुपा हुआ है। अगर यह मान लिया जाए कि साहित्य समकालीन मनुष्य की हालत की गहरी पहचान और समझ को चरितार्थ करता है तो यह स्पष्ट है कि इस असम्बद्धता के कारण यह पहचान कितनी धुँधली और यह समझ कितनी उथली हो सकती है।

यहाँ शायद यह स्पष्ट कह देना प्रासंगिक होगा कि यह बिल्कुल ज़रूरी नहीं है कि महान् विचार से महान् कविता पैदा ही हो। शायद बिना विचारों और विचारशीलता के कोई कविता महान् नहीं हो सकती। यह कहना जरूरी न होना चाहिए कि विचार को किसी विचार-प्रणाली से जोड़ना अनिवार्य नहीं है और यदि यह बिलकुल ज़रूरी नहीं है कि

CHECKED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्हीं विचारों का अपने सन्दर्भ की समझने के लिए इस्तेमाल करने वाला कवि किसी विचार-प्रणाली से प्रतिबद्ध हो ही। टी० एस० इलियट की दिलचस्पी पश्चिमी मनुष्य की आध्यात्मिक सचाई की खोज में थी और इसलिए उन्होंने रोमन कैथोलिक ईसाइयत, उसकी आस्थाओं और प्रतीक रूपकों का इस्तेमाल किया, लेकिन इसलिए उसे रोमन कैथोलिक कवि कहकर उसकी कविता का कलात्मक और मानवीय सन्दर्भ सीमित करना उस कविता की महानता और परिणतियों को अधूरा देखना होगा। ठीक इसी तरह मुक्तिबोध ने समकालीन सचाई की भयानकता को पकड़ने के लिए ऐसे औजारों का, जो अस्तित्ववादी जान पड़ते हैं और सचाई को समझने के लिए मार्क्सवादी विश्लेषण और धारणाओं का इस्तेमाल किया। लेकिन इसलिए उनके कृतित्व को मार्क्सवादी या अस्तित्ववादी या दोनों क़रार देना उचित नहीं है। कविता में विचारों का आत्यंतिक महत्त्व नहीं है—सवाल यह है कि क्या वे विचार कुछ प्रासंगिक उजागर करते हैं। अगर नहीं तो वे हस्तक्षेप होकर रह जा सकते हैं। लेकिन यह भी सच है कि बिना विचारों के याने बिना किन्हीं विचारों में जड़ जमाए कविता निरी ऐन्द्रिक फुरफुरी या तुच्छ खिलवाड़ भर रह सकती है। विचारहीन कविता कभी भी मनुष्य की हालत की कोई सार्थक पहचान या कोई समझ उत्तेजित नहीं कर सकती। यह इसलिए भी कि शुद्ध संवेदनात्मक स्तर पर, फिर संवेदना कितनी भी पैनी और धारदार क्यों न हो, आज के मनुष्य और उसकी ज़िन्दगी की जटिलताओं, तनावों और अन्तर्विरोधों को समझ पाना, बल्कि ठीक से पहचान भी पाना, असंभव है। अगर समकालीन दुनिया और सचाई का उनकी पूरी जटिलताओं के साथ साक्षात्कार साहित्य की मूल प्रतिज्ञा है तो यह साक्षात्कार बिना विचारों से उलझे और उन्हें जज़्ब किए न तो पूरा हो सकता है और न ही गहरा और प्रासंगिक। संवेदना की यों भी सीमाएँ हैं हर समय में, लेकिन आज की जटिल और अबूझ होती जाती सभ्यता में तो वे एकदम स्पष्ट और प्रखर हैं। दूसरे, कवि-संवेदना के बौद्धिक ही नहीं मानवीय सन्दर्भ का एक महत्त्वपूर्ण भाग विचार और उनका टकराव है। उनसे कोई सरोकार न रखना या इस टकराव को नज़रन्दाज़ करना इस सन्दर्भ से कटना है, लगभग सन्दर्भहीन हो जाना है।

यह है वह व्यापक ढांचा जिसमें मुझे आज के साहित्य के बारे में कुछ कहना है। अगर थोड़ी अतिरंजना का सहा लेने को आप मुआफ़ करें तो मुझे लगता है कि युवालेखन क एक बहुत बड़ा अंश ऐसा है जिसे विचारहीन लेखन कह जा सकता है। निश्चय ही एक ऐसा भाग भी है जो विचा हीनता की इस नयी दकियानूसी से अलग है और ऐसे भी क लेखक हैं जिनमें किसी हद तक दोनों प्रवृत्तियाँ देखी ज सकती हैं—लेकिन पूरे दृश्य पर अधिक आतंक विचारही लेखन का है और वही सबसे मुखर है। इस विचारहीनता क पहलू कई हैं। कुछेक में यह इसलिए है, जैसे कि औ लेखक, युवालेखक भी बौद्धिक काहिली का शिकार है। औ उनमें न तो इतनी प्रतिभा और न ही इतना धीरज है कि अपनी स्थिति की बौद्धिक और नैतिक परिणतियों की पड़ता कर सकें या उनका सामना करने का साहस कर सकें। तथ कथित अकवियों में से ज़्यादातर इसी कोटि के लेखक हैं अन्यथा उनकी बेहद रूमानियत इतने किशोर-सुलभ बड़बो पन से व्यक्त न होती और न ही स्त्री को एक चीज़ भ मानने की मध्यकालीन हरकत आधुनिकता की एक पर विद्रोहमूलक मुद्रा के रूप में प्रस्तुत होती। अकवियों असंगति को भी अपने साहित्यिक दर्शन का एक मुद्दा बना है। इस मुद्रा की निपट दरिद्रता और अप्रासंगिकता बताने लिए इतना ही कहना काफ़ी होगा कि उसके पीछे भारती मनुष्य की हालत का कोई बखान नहीं है और सारी बात ए समुन्नत समाज और समूह-संस्कृति के सन्दर्भ में ही समझ आ सकती है। यह भले ही बड़ा खेदजनक हो, लेकिन सही कि हमारा तात्कालिक सन्दर्भ न तो समृद्धि का है और न समूह-संस्कृति का। अकविता इसीलिए एक स्तर पर हम मध्यवर्गीय उठाईगीरपन की एक अभिव्यक्ति है जैसे पब्लिक स्कूलों में पढ़ रहे बच्चों का रहन-सहन, सोचने ढंग और उनके खेल-तमाशे। एक दूसरे स्तर पर वह अकवि के सामाजिक पिछड़ेपन की कुण्ठा को दुरुस्त करने का ए ज़रिया है क्योंकि उससे एक ऐसे अभिजात्य में शामिल हु जा सकता है जिसमें समृद्धि के सभी नये और उठाईगी प्रतीक जमा हैं और जहाँ एक अतृप्त 'टीनएज', स्त्रियों अभाव और ऐसी ही दूसरी ललकों को पूरा करने का कम-से कम एक शाब्दिक छद्म बन सकता है। भारतीय जीवन क सबसे क्रूर विसंगतियाँ उस दुनिया की नहीं हैं जहाँ बड़े शह और उनके रेस्तराँ, क्लब-डिस्कोथिक् हैं बल्कि उस दुनिया क

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं जहाँ हर स्तर पर जाति-प्रथा का कड़ा होता शिकंजा है, साधारण मनुष्य को अपनी भाषा की दुनिया से काटने की अमानवीयता है, आदि-आदि। इन सचाइयों को अगर अकविता नज़रन्दाज़ करती है तो इसलिए कि इन्हें रचनात्मक स्तर पर खोजने के लिए जिस वैचारिक निष्ठा और बौद्धिक पड़ताल की ज़रूरत है उसके लिए आसानी से उपलब्ध समृद्धिमूलक विसंगतियों के आकर्षण के रहते न तो फ़ुरसत है और न ही उसके लेखे ज़रूरत ही। स्थापित व्यवस्था को इस बौद्धिक काहिली से मदद भी मिलती है और अन्यथा करने से उसे चोट पहुँच सकती है जो करना अकवि नहीं चाहते। स्त्री-पुरुष की एक अमूर्त दुनिया को ही अपना केन्द्र बनाने में एक स्पष्ट राजनीति है—उससे मध्यवर्गीय कुत्सा और सनसनीखेज़ी तुष्ट होती है और स्थापित व्यवस्था भी कोई आघात या आपत्ति महसूस नहीं करती। वैचारिक दलिद्दर और गड्डमड्ड आधुनिक स्थापित व्यवस्था के बहुत अनुकूल हैं और वैचारिक स्पष्टता के जो नैतिक और भौतिक निष्कर्ष निकलते हैं उनसे इस तरह साफ़ और सुरक्षित ढंग से बचा जा सकता है।

बौद्धिक काहिली के अलावा और अकवितावादियों से अलग भी युवा कवियों की एक बड़ी जमात ऐसी है जिसने अबुद्धिवाद या इरैशनल को अपनी रचना का मूल आधार बनाया है और एक नयी आदिमता प्रतिष्ठित करने की कोशिश की है। अगर कुछ समुन्नत-समृद्ध-समाजों में बुद्धिवाद के विरुद्ध ऊब या अरुचि हुई है तो इसलिए कि उस पर आधारित चिन्तन-भाषाओं ने उसे उसकी अन्तिम परिणतियों तक याने एक अन्धे अन्त तक पहुँचा दिया है। दूसरे, यूरोप में दूसरे महायुद्ध के रूप में बुद्धिवाद की एक भयानक परिणति, ख़ासकर नाज़ियों द्वारा उसके कुछ प्रमुख औज़ारों, जैसे सूक्ष्मता और सक्षमता, के इस्तेमाल के रूप में, हुई और इसलिए बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। लेकिन यह अबुद्धिवाद सभ्यता और सवाल की जटिलताओं से कतराने का तरीका नहीं बल्कि उन जटिलताओं के लिए बुद्धिवादी औज़ार और धारणाएँ अपर्याप्त हो जाने के कारण बुद्धिवाद की सीमाओं से आगे जाने की कोशिश है। वह बुद्धि का नकार उतना नहीं जितना कि उसका अतिक्रमण है। लेकिन युवा कवियों का अबुद्धिवाद अक्सर इस किस्म का नहीं है—वह बुद्धिवाद का उसकी सीमाओं का नाकाफ़ीपन के कारण अतिक्रमण नहीं, बुद्धि-विरोध है। बुद्धि से अबुद्धि की ओर जाना कोई नयी या आधुनिक प्रक्रिया ही है ऐसा नहीं है। बल्कि एक माने में तो सारी महान् कला अबुद्धि में अपनी जड़ें फेंकती है। लेकिन हाल ही एक कवि मुक्तिबोध में इस प्रक्रिया को ज़्यादा सीधे देखा जा सकता है। मुक्तिबोध के काव्य-संसार में बौद्धिकता के साथ-साथ अबुद्धि, अर्थात् बुद्धि से परे का दबाव बहुत गहरा है। मुक्तिबोध का चारित्रिक फार्म फेण्टेसी बुद्धि से अबुद्धि की ओर जाने का, दोनों के बीच अन्तर्क्रिया का ही माध्यम है। लेकिन इस अत्यन्त समृद्ध मानवीय कविता में कहीं भी बुद्धि से अपसरण या बुद्धि-विरोध नहीं है और यह भी एक कारण है कि इस कविता में सारे समकालीन तनाव जीवन्त और तात्कालिक होकर उसे जटिल बनाते हैं और बुद्धि-विरोधी कविता का आयासहीन सरलदिमाग़ीपन उसमें असम्भव है। लेकिन युवा कवियों का बुद्धि-विरोध सीधा, सपाट और सरलदिमाग़ी है। सौमित्र मोहन की लम्बी कविता 'लुकमान अली' और मणि मधुकर की 'खण्ड खण्ड पाखण्ड पर्व' इसी बुद्धि-विरोध और उससे निकलने वाले सरलदिमाग़ीपन के दिलचस्प उदाहरण हैं। उनके पीछे किसी तरह की वयस्क समझ नहीं है भले ही छिट-पुट सौन्दर्यमूलक आस्वाद के लिए कुछ विचारों को किशोर-उत्साह में इधर-उधर फेंक दिया गया हो। बल्कि लगता है कल्पनाशीलता को अविवेक का पर्याय मान लेने का ये कविताएँ सीधा नतीजा हैं। विचारों के प्रति ऐसे कवियों की दृष्टि का बखान कैलाश वाजपेयी के इन शब्दों में किया जा सकता है—

पर जब सभी कुछ
ऊल ही जलूल है
सोचना फ़िज़ूल है···

यह एक दिलचस्प संयोग है कि स्थापित व्यवस्था के प्रायः सभी पक्षों में सोचने का फिज़ूलपन एक तरह से मूल प्रतिज्ञा है। जातिप्रथा, नौकरशाही, गोहत्या-विरोध, साम्प्रदायिक दंगे, इन सबकी पकड़ हिन्दुस्तानी नागरिक पर इसीलिए है कि उसने सोचना फिज़ूल मान लिया है—विवेक की ओर हलकी-सी कोशिश भी इन पर यानी स्थापित व्यवस्था पर चोट करती है। उस समाज में, जिसमें अधिकांश लोगों को सिर्फ़ अविवेक और अबुद्धि के कारण अमानवीय ज़िन्दगी बिताने, "मनुष्य से एक दर्जा नीचे"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहने को बाध्य होना पड़ता है, सोचने को फिजूल मानना (भले ही इस धारणा में कितना ही विद्रोही लटका हो) इस अमानवीयता का समर्थन करना है, स्थापित व्यवस्था को मुँहमाँगा सहयोग देना है। उस सबके प्रति सहानुभूति रखना है जो हमारे जीवन में मनुष्य-विरोधी है। इसी सिलसिले में यह बात भी उल्लेखनीय है कि पश्चिम की तरह भारतीय भाषाएँ चिन्तन और विचार का माध्यम नहीं बन पाई हैं। जो कुछ थोड़ा-बहुत सोच-विचार है वह अंग्रेज़ी में ही है—भारतीय भाषाओं में जो शुरुआत इधर हुई है उसे पकने और इस्तेमाल के योग्य बनने में अभी देर है। इसलिए एक भारतीय लेखक को ऐसे विचारों को पाने-खोजने के लिए स्वयं कोशिश करनी पड़ती है जो भारतीय मनुष्य की आज की हालत को समझने में सहायक हो सकें। भले ही इससे छद्म दार्शनिकता का खतरा काफ़ी वास्तविक बना रहा हो, भारतीय लेखक एक स्तर पर अपनी बौद्धिक समझ और पकड़ को प्रासंगिक और पैनी करने के लिए विचारक बनने को बाध्य है। युवा लेखक अगर सोचने को फिजूल मानते हैं तो रचनात्मक भाषा के इस आपद्कर्तव्य को तो बलाए-ताक रखते ही हैं, भारतीय मनुष्य की सच्ची स्थिति से अपना किसी भी तरह का सरोकार समझ के स्तर पर काट लेते हैं।

विचारों से कटाव, बुद्धि-विरोध और समझ के अभाव का ही एक नतीजा बहुत सारे युवालेखन का छिछोरापन और तुच्छता है। हिन्दी के रचनात्मक मुहावरे के साथ जुड़ी जो यादें, प्रतीक-ध्वनियाँ, चित्रमालाएँ, विन्यास हैं उनका तो युवा-संवेदना से कोई सम्बन्ध बाकी रहा नहीं है और विचारों से विदाई ले लेने के बाद तो इस लेखन का उस पूरे जातीय संसार से हिन्दी के मातृलोक से कोई सरोकार ही नहीं रहा है। कहीं-न-कहीं सपाटबयानी इसकी ही एक अभिव्यक्ति है— विचारों और अपने मातृलोक से कटी भाषा में जानबूझ-कर या किसी ट्रैजिक विडम्बना के स्तर पर नहीं, अपनी असमर्थताओं के कारण सपाटता और सतहीपन है। यही नहीं कि वह एक विपन्न भाषा है, वह एक चरम अर्थ में अनुत्तर-दायी भी है। अगर आप फिर अतिरंजना करने की मोहलत दें तो मुझे लगता है कि इस सिलसिले में यह कहना ग़लत न होगा कि यह लेखन मातृभाषा का या मातृभाषा में लेखन नहीं है।

भाषा को उसके मातृलोक से और उसकी जड़ों से काटने का मतलब अन्ततः उसे 'डिह्यूमेनाइज़' करना है। इसका सिर्फ एक पहलू उन कविताओं में उभरता है जो लीलाधर जगूड़ी, चन्द्रकान्त देवताले, सौमित्र मोहन, आदि से लेकर मंगलेश डबराल और त्रिनेत्र जोशी जैसे कवियों ने जनतंत्र, प्रजातन्त्र, संविधान, संसद, देश आदि शब्दों का इस्तेमाल करते हुए लिखी हैं। धूमिल, कमलेश, श्रीराम वर्मा और विनोदकुमार शुक्ल जैसे कवि भी, जिन्होंने उत्तरदायी कवि-कर्म की संभावना को अपने दूसरे कृतित्व द्वारा जीवंत रखा है, इसके शिकार हुए हैं। इन कविताओं में समझ और नैतिक विवेक दोनों का दिवालियापन ज़ाहिर होता है। इन शब्दों का इस्तेमाल इन्हें चीज़ों के रूप में, उनमें व्यंजित विचार-पद्धति या जीवन-पद्धति या मूल्य को बिल्कुल नज़रन्दाज़ कर रिड्यूस करके किया जा रहा है।

इक्कीसवीं शताब्दी को—
इस बेरौनक गोचर लोकतंत्र में जब जीना है तो
वेश्या की सार्वजनिक योनि से संभव करना है।
न्याय की सड़ी हुई गलियों में
वह सम्भोग और संविधान के बीच
चीज़ों के चेहरे मिटा देगा

(मंगलेश डबराल)

जिस पर कोई नहीं खाना चाहता
आज़ादी एक जूठी थाली है।

(लीलाधर जगूड़ी)

गोया मैंने ही हत्या कर दी है
राह चलते हुए उस एक निरपराध व्यक्ति की
वह राष्ट्रीयता भी हो सकती है
और गणतंत्र भी

(देवेन्द्रकुमार)

इन सब कविताओं में गणतन्त्र या संविधान या आज़ादी जैसे शब्दों का उपयोग सिर्फ़ 'चित्र' के रूप में किया गया है और युवा छिछोरेपन का एक और नमूना है। विचार के प्रति घोर ऊब किस तरह नैतिक असंवेदना की ओर ले जाती है—यह भी इन कविताओं में साफ़ दीख पड़ता है। दूसरे प्रजातन्त्र या संविधान या देश पर कुछ भी कहने का, लफ़्फ़ाज़ी करने या अपनी चुस्तबयानी आज़माने का अधिकार बिना किसी तरह के वैचारिक टकराव के सिर्फ़ भाषायी धौंस के दम पर पा लिया मान लेना न सिर्फ़ अतर्कित है बल्कि कवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के निकट अनुत्तरदायी या बाक़ी सबको बेवक़ूफ़ मानने की ही नतीजा हो सकता है। यह कविता हिस्सेदारी की कविता नहीं है: मेरा गणतन्त्र, मेरा देश, मेरी आज़ादी में 'मेरा' 'मेरी' शोभापरक विशेषण भर है अन्यथा ज़्यादातर कविताओं में गणतन्त्र या देश कवि से बिलकुल अलग-थलग 'वहाँ' रखी हुई चीज़ें हैं जिन पर उसे किसी भी तरह का फ़ैसला देने की फ़ुरसत और हक़ किसी नैतिक विवेक के अनुपस्थित होने के कारण सहज प्राप्त है।

यह आकस्मिक नहीं है कि ऐसी अधिकांश रचनाओं का स्वर या तो पैग़म्बराना है या शहीदाना। दोनों ही स्थितियों में कवि लोकतंत्र या देश से नैतिक दृष्टि से बेहतर प्रगट होते हैं। सारे देश और प्रजातंत्र को, राजनीति, संविधान और संघ संसद को शूद्र और अधम करार देते हुए ये कवि-लेखक नये ब्राह्मण हैं जिन्हें शास्त्र से शूद्रों का भाग्य-निर्णय करने का असीम अधिकार है। अगर अकवियों की कविताएँ तथाकथित पिछड़ेपन के संदर्भ में अपने सामाजिक उन्नयन का इज़हार है तो कहीं-न-कहीं श्रीकान्त वर्मा जैसे कवियों की कविताएँ अपनी नैतिक श्रेष्ठता का वक्तव्य बन जाती हैं—

कुछ लोग मूर्तियाँ बनाकर
फिर
बेचेंगे क्रान्ति की (अथवा षड्यन्त्र की)
कुछ और लोग
सारा समय
कसमें खाएँगे
लोकतन्त्र की।
मुझसे नहीं होगा।

इस पैग़म्बराना अन्दाज़ में "मैं सब-कुछ जानता हूँ" की मुद्रा भी छिपी हुई है। मणि मधुकर और धूमिल की 'खण्ड खण्ड पाखण्ड पर्व' और 'पटकथा' जैसी कविताओं में यह मुद्रा बहुत स्पष्ट है। चूँकि इस मुद्रा का कोई वैचारिक आधार कविताओं में उपलब्ध नहीं है उन्हें भीषण नैतिक अनुत्तरदायित्व के अलावा कुछ और कहना सम्भव ही नहीं है। यह नैतिक अनुत्तरदायित्व सिर्फ़ सामाजिक सचाइयों तक सीमित नहीं है। जिस तरह की क्रम-परम्परा संविधान गण-तंत्र को लेकर है, कुछ उसी तरह की परम्परा स्त्री को लेकर भी है। गणतंत्र की तरह स्त्री को भी एक अधम चीज़ के स्तर पर रिड्यूस किया गया है और यहाँ भी अपने कल्पित-अकल्पित पुरुषत्व की 'इमेज' में गिरफ़्तार युवा लेखकों ने स्त्री पर कुछ भी कहने और उसके साथ कुछ भी करने का अधिकार हथिया लिया है। यहाँ भी पुरुष को स्त्री से श्रेष्ठ मानने-दिखाने का जतन किया गया है।

शहीदाना अन्दाज़ के कवि वे हैं जो अपने को 'लोकतंत्र के शहीद' दिखाने की कोशिश करते हैं जैसे लीलाधर जगूड़ी:

लोकसभा से संयुक्त राष्ट्र संघ तक
हमारी कोई उपयोगिता नहीं
विश्वयोनि में बहुत दिन तक
हम चरित्र की तरह खुजला नहीं सकते

ऐसे कवियों में भी हिस्सेदारी का भाव नहीं है जैसा मसलन् मुक्तिबोध में था। जो कुछ हो रहा है उसका दोष प्रजातंत्र या दूसरों पर डालकर अपने को शहीद बताना न केवल नाबालिग़ समझ है बल्कि एक भयानक नैतिक संवेदनहीनता है।

इस नैतिक संवेदनहीनता का भी कुछ खुलासा ज़रूरी है। नैतिक से मुराद भद्राचार से नहीं, अच्छे-बुरे के भेद से है। अपने को छोड़कर बाकी सबको एकषड्यंत्र में भागीदार समझना, जो हुआ है उसके लिए दूसरों को, फिर दूसरे गणतंत्र हों, भीड़ हो, स्त्री बल्कि स्त्रियाँ हों, दोषी ठहराना और कभी-कभार सौजन्यवश अपने को भी कुछ उत्तरदायी मान लेना नैतिक विवेक का प्रत्याख्यान है। बल्कि यह अपने और दूसरों के बीच के रिश्ते को नीतिहीन अर्थात् अमानवीय बना देना है। इस तरह की 'अमानवीयता' से एक खास तरह का दम्भ और 'हीरोइज़्म' टपकता है। यह आकस्मिक नहीं है कि ऐसे कवियों का मूल स्वर 'हीरोइक' है। कैलाश वाजपेयी जैसे कवियों में तो यह हीरोइक्स उपलक्षित ढंग से किसी 'हीरो' की प्रतीक्षा ही बन जाती है:

कोई भी। नहीं बताना तुम्हें
इस सुअर सभ्यता का
मल ढोते हुए
तुम्हें कहाँ जाना है।

या दूसरी ओर ईसा की तरह का 'हीरोइज़्म' है:

दुनिया भर के आधे पागलों
लफंगों, धूर्तों, सत्तान्धों को लेकर
शर्मिन्दा हूँ।

मुख्तसर यह कि पैग़म्बराना और शहीदाना दोनों ही स्वर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक-दूसरे से घुल-मिलकर [illegible] बनाते हैं। हालाँकि कभी-कभार "संशय की भाषा में बड़-बड़ाने" की बात भी एकाध कवियों ने की है लेकिन ज़्यादातर यह 'रेटोरिक' अत्यन्त आश्वस्त 'रेटोरिक' है और इन कवियों में अपने ग़लत होने की सम्भावना का कोई क्रियात्मक एहसास नहीं है जो कि बौद्धिकता और विचारशीलता का मूलाधार होता है। भारतीय मनुष्य की पीड़ा से इस रिटोरिक का क्या रिश्ता है? लेकिन उसके पहले यह पहचानना ज़रूरी है कि साहित्य से अलग जानकारी के सूत्रों से पता चली यह पीड़ा और अन्तःसंघर्ष क्या है। जाति-प्रथा और नौकरशाही में समायी अमानवीयता, अहमदाबाद के दंगे, आन्ध्र प्रदेश में हरिजन बालक को जलाने की घटना, नरबलियाँ आदि लोक-जीवन में उनकी कुछ अभिव्यक्तियाँ हैं। यह 'रिटोरिक' अधिक-से-अधिक इनका अपने काव्य-संसार को विचित्र या रंगारंग बनाने के लिए दृश्यपट के रूप में तो इस्तेमाल करता है लेकिन रचनात्मक स्तर पर इनकी कोई गहरी या सार्थक पड़ताल नहीं करता। हमारे प्रजातंत्र की सही विसंगतियाँ सम्भोग और संविधान के चतुर द्वन्द्व में नहीं शायद ऐसी घटनाओं में हैं। यह 'रेटोरिक' इन विसंगतियों को चरितार्थ नहीं करता—शुद्ध वक्तव्य के स्तर पर ही उनका महत्त्व युवा कवि के लिए तिरोहित हो जाता है। दरअसल यह रिटोरिक और उसके पीछे सक्रिय काव्य-संवेदना में मानवीय पीड़ा के वास्तविक प्रसंगों से प्रतिकृत होने की कोई क्षमता और उत्सुकता नहीं है। जैसाकि जार्ज स्टाइनर ने कहा है कि जो हमें उदासीन छोड़ता है हम उसमें भागीदार हैं। सच्ची अमानवीयता और पीड़ा के सम्मुख उदासीन युवा कविताएँ अपने फलितार्थों में इस अमानवीयता की भागीदार बन जाती हैं।

यह एक दिलचस्प संगति है कि इस लेखन की कुछ विशेषताएँ हमारी राजनैतिक-सामाजिक ज़िन्दगी में व्याप्त वैचारिक गड्डमड्ड, नाबालिग़पन और दृष्टिहीनता से सीधा मेल खाती हैं। शायद इस मेल में यह विडम्बना भी छुपी हुई है कि जो लेखन राजनीति, विचार और संगठन का विरोधी है वह उसी गड्डमड्ड और उठाईगीरपन का इज़हार हो या शिकार हो जिनसे हमारे यहाँ बहुत सारी राजनीति और संगठन ग्रस्त हैं। शायद इसकी और पड़ताल अलग से ज़रूरी होगी कि किस हद तक यह संगति आकस्मिक है और किस हद तक इन दोनों की जड़ें हमारे सामाजिक जीवन के मू[illegible] कहीं पोषण पाती हैं।

लेकिन यह दृश्यालेख अधूरा रहेगा अगर युवालेखन [illegible] उस पक्ष की चर्चा न की जाय जिसने विचार-विरोध की [illegible] दकियानूसी से अपने को अलग रखा है। यह पहले ही [illegible] जा चुका है कि कुछ ऐसे भी कवि हैं जिन पर इस दकियानू[illegible] का खिंचाव कभी-कभी पड़ा है और वे उसके शिकार भी [illegible] हैं, लेकिन कुल मिलाकर उन्होंने वयस्क और विवेकपूर्ण ज़िम्[illegible]दारी से लिखना जारी रखा है। दरअसल इस दकियानूसी [illegible] इतना आतंक है कि यह ज़रूरी था कि विस्तार से उसके [illegible] पहलुओं का विश्लेषण किया जाए।

धूमिल, कमलेश, रघुवीरसहाय, विनोदकुमार शुक्[illegible] ऋतुराज और श्रीराम वर्मा के नाम लिए जा सकते [illegible] धूमिल और रघुवीरसहाय की कविताओं में, फिर वे 'मो[illegible] राम' या 'उस औरत की बगल में लेटकर' हो या 'आत्मह[illegible] के विरुद्ध' और 'गिरीश की मृत्यु' हों, वयस्क विचारशील[illegible] है और भले ही इन दोनों कवियों से ही जनतंत्र, संसद व[illegible] चालू मुहावरों का सूत्रपात हुआ हो उन्होंने स्वयं ज़्यादा[illegible] उनका 'शब्दीकरण' या उन्हें निरी चीज़ों के रूप में रिड्[illegible] कर उनकी मानवीयता और मूल्यवत्ता को अवमूल्यित न[illegible] किया है। धूमिल, कमलेश और विनोदकुमार शुक्ल [illegible] ज़्यादातर कविताओं में किसी तरह का 'हीरोइक्स' नहीं [illegible] और उनकी भाषा अपने मातृलोक से कटी नहीं है ब[illegible] मसलन् कमलेश में अपनी जड़ों की ओर उत्कटता से जा[illegible] है। इन कवियों में आत्मस्फूर्ति और बड़बोलेपन का लट[illegible] भी प्रायः नहीं है। धूमिल की 'मोची राम', कमलेश [illegible] 'जरत्कारु', विनोदकुमार शुक्ल की 'उदरस्थ' या 'रा[illegible] नैतिक बहस' में ऐसी कविताएँ हैं जिनमें एक सूक्ष्म [illegible] स्पष्ट नैतिक चेतना है और वे कैलाश वाजपेयी के 'रुख', '[illegible] दिमाग़ एक चकला है' में व्याप्त सरलीकरण और चुस्तबया[illegible] से साफ़ बचकर खोज और तलाश, टटोल के मुहावरे [illegible] कविताएँ हैं। रघुवीरसहाय, कमलेश और धूमिल की कवि[illegible]ताओं में भी 'मीड़े' हैं लेकिन वे इस बहाने सामाजिक संघ[illegible] और समाज को सरलीकृत नहीं करते। सरलीकरण से मुक्[illegible] रहने का ही एक नतीजा है कि जहाँ पहले किस्म के कवियों [illegible] की बड़बोली विद्रोही रचनाएँ ज़्यादा-से-ज़्यादा चौंकाती हैं [illegible] विनोदकुमार शुक्ल की अबोध—मासूम लगती कविताएँ बेह[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शान्त होते हुए भी विचलित करती हैं। धूमिल ने कहा है, "मुझे अपनी कविताओं के लिए दूसरे प्रजातंत्र की तलाश है। यह हमारी प्रजातांत्रिक व्यवस्था की अपर्याप्तता को पहचान कर प्रजातंत्र को शब्दछद्म न मानकर एक सचाई के रूप में स्वीकार करना है और भारतीय मनुष्य की समकालीन तलाश का, उसकी नयी आक्रामकता का सीधा और नाटकीय वक्तव्य भी। अगर आप एक सामान्यीकरण करने की इजाज़त दें (सामान्यीकरण की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए) तो मैं इन दूसरे कवियों को, दूसरे प्रजातंत्र की तलाश के कवि कहना चाहूँगा। विकल्प की खोज हमेशा मानवीय है और वयस्क कर्म भी। उसमें न पैग़म्बर होने का भाव है और न शहीद होने की आत्मदया। यह खोज सोचने को व्यर्थ नहीं मानती बल्कि सचाई को समझने-बूझने और बदलने के लिए सोचना अनिवार्य समझती है, वह सोचने का संकल्प करती है यही खोज साक्षात्कार की खोज है।

अन्त में विचारहीनता वाले लेखन की ओर फिर लौटा जाए जैसे रचनात्मक स्तर पर बुद्धि और विवेक की आवश्यकता और मूल्य में विश्वास समाप्त हो रहा है वैसे ही आलोचना के क्षेत्र में यह भरोसा धीरे-धीरे ख़तम हुआ जा रहा है। किसी भी धारणा या स्थापना का प्रतिकार बौद्धिक या तर्क के स्तर पर किया जा सकता है। दूसरे से नैतिक श्रेष्ठता की मुद्रा ही कुछ लेखकों को दूसरों की नीयत पर शक करते रहने की ओर ले जाती है। इन दिनों ज्यादातर आलोचना नीयत पर शक करने का व्यायाम-भर रह गयी है और विचारों की वहाँ भी बेइज्ज़ती होने लगी है। चरित्र-हत्या, छिछोरेपन और रेटारिक ने आलोचना-कर्म की जगह ले ली है। पूरा वातावरण ऐसा हो गया है कि बौद्धिक चुनौतियों की कोई गुंजाइश ही नहीं रह गयी लगती। बहुत-कुछ अजब बिरादरीपने के भाव से तर्क के बल पर नहीं, उग्र रिटोरिक की धौंस पर चलने लगा है। कुछ लोग तो विचारों का विरोध या सवालों का निपटारा बौद्धिक धरातल और भाषा से दूर सड़क पर करने की बात भी करने लगे हैं।

बुद्धि-विरोध, युवा उग्रता, बिरादरी-भाव और आदिमता इन सबका मेल भयंकर ऐतिहासिक परिणतियों तक पहुँच सकता है। नैतिक श्रेष्ठता का भाव, हीरोइक रिटारिक वास्तविक मानवीय पीड़ा के प्रति उदासीनता, विरोधी के प्रति अनादर अगर हमारे युवा लेखन के एक बड़े और मुखर भाग की विशेषताएँ हैं तो इस साहित्य की राजनैतिक-सामाजिक परिणतियों को नज़रन्दाज़ नहीं किया जा सकता। चूँकि ऐसा साहित्य स्पष्ट रूप से राजनैतिक-सामाजिक तथ्यों और कुछेक सचाइयों का (भले ही शुद्ध ऐच्छिक धरातल पर) उल्लेख करता है, वह स्वयं ऐसी परिणतियों की बात उठाने की ओर उकसाता है। अगर हमारे देश में अधिनायकवाद या किसी तरह की तानाशाही सिर उठाती है और प्रजातांत्रिक व्यवस्था नष्ट होती है तो शायद ऐसी तानाशाही को, भले ही वह स्वतंत्रता और रचनात्मकता की घोर शत्रु हो, ऐसे साहित्य में अपना समर्थन प्राप्त होगा। केदारनाथ सिंह ने कहा है कि "बहस किस बात पर हो रही है, यह जानना व्यर्थ है।" यह एक ख़तरनाक बात है, ऐन इस समय यह जानना बिलकुल सार्थक है जैसे कि यह पूछना भी दो टूक कि विचारों को विदाई देने के लिए खुले दरवाज़े से कौन आ रहा है। ●

['आलोचना' की गोष्ठी में १६ जनवरी '७० को पठित।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाँच कविताएँ

मलयज

: १ :

खरोंच पर मज़ाक की धूल डाल
स्टेज-फ़र्श की धप् धप्
और फालतू दर्शक की कुर्सी के तीन पायों से
अपने को बचाकर चलता हुआ मैं
सिर के गंजा होने
और नाई की दुकान पर
मुफ़्त नाखून न कटा पाने के दुख से
प्रमुख हो गया हूँ।

एक सीधा सच
कि मुझे आलू पसंद है कहते
तमाम सारी डालियों में उलझे चिमगादड़ों को
तकता कवि क्यों याद आता है ?

देर से भुना हुआ मन
फजीहतों में सिर्फ़ सोंधा हुआ जाता है।

: २ :

कहानी-कविता की पत्रिकाएँ एक धुई
एक रिकार्ड के पृष्ठभूमि-संगीत पर अटक गईं
एक संतरा जिसे स्वतंत्रता-दिवस पर छीलना शुरू
किया
पहले निकले बीज फूल पत्तियाँ
फिर पेड़ ठिठक सोचता सा
सारा देश हो जायेगा सोख्ता सा
एक नंगी डालों वाला अंतरा
घी में डूबी कलम पकड़े
टेढ़ी अँगुलियोंवाले लोग
उसके नीचे बैठ कर कहते हैं :
'दो और दो चार'
परस्पर सहमत हो जाने के बाद
सभा विसर्जित कर देते हैं।

: ३ :

एक अध-लिखा खत
उड़ कर आया और कहने लगा
मुझे पढ़ो
उसने सिगरेट सुलगा ली
और अँधेरे में हँसने लगा
मुझे समझो और सिर धुनो
सब शराबों के नाम उसे याद थे
पर ईमानदारी को वह 'आनेस्टी' कहता था
फुटपाथ पर सैकड़ों लोग बैठे थे
और हाथों के सिग्नल की तरह उठाये किसी के
चले जाने की इंतज़ारी में थे
उनके उठे हाथों बीच
अँसुवन जल सींच भींच होंठों को
दोनों हाथों को
जोड़ वह सैकड़ों को नमस्ते कर रहा था
कहाँ है कहाँ है कह
प्रेम-बेल बो रहा था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ४ :

गंदे फ़र्श, अस्त-व्यस्त बिस्तर, बिखरे कपड़े मैले
हत्थे-टूटे प्याले, मसले अखबारों
तकाज़ों, इलाजों और पार्कों में चरते गधों के बगल
से ही निकालनी है

जाड़े के दिन आज खूब घनी बदली है और आज
ही इतवार है
किसी स्वप्न को देखती नहीं सोचती हुई आँखों में
गुबार है, दिल में नहीं
चार दोस्त बैठे हैं बुखार के इंतज़ार में
मुर्दनी है लिखी हुई कविता
जो छपी नहीं

छुरा भोंक कर एक गहरा जख्म करता हूँ रात
निकलती है कटी हुई फाँकों में एक-एक कैद
फाँद कर दीवार बाइस साल बाद टप् से गिरता है
पक कर भाषा की ज़मीन पर आतंक
चक्खेगा कौन इतराते हुए इरादों में ?

निकालनी है जूते के तालू में गड़ी हुई कील मुँह में
दबी हुई चीख एक सूरत है कम कम मरते हुए को
मारने की
मेज़ के नीचे बढ़ी हुई मुट्ठी में कुछ धर आने की
कटी हुई जीभ को ले कर तमाशे में ग़ायब हो
जाने की ।

: ५ :

कुछ नया नहीं पहले के
पेंसिल-निशानों को महज़ और गहरा किया है
'सिर कटाने के लिए प्रस्तुत'-जैसी स्थितियों में
हथियार पैने किये हैं पत्थर पर बस—
ट्रेजिडी का पथ इतना लम्बा है
कि उसे तय करने में साहस की नहीं
डर की ज़रूरत है सफ़ेदपोश आत्मा पर
जो रेंग रहा है सिर्फ़
एक अदबी कीड़ा है
और दोनों पक्षों के झंडों पर
मसौदों के जाले लटके हैं
मेरे प्राण नहीं ।

एक दस्तखत किया हुआ सादा कागज़
रोज़ सलाखों में से बाहर गिरता है मय उस हाथ के
जो रोज़ अपना गरेबाँ चाक करता है
सब-कुछ जो कड़ुआ है उसे दवा
की घूंट समझने का दिलासा देता हुआ
पर खून इतना पारदर्शी है कि
सच की तस्वीरें आँखों की पट्टियाँ बन गयी हैं
और पकड़ में आने वाली सब दिशाएँ शुरू से अंत
की ओर
चिरी हुई हैं
मैदान की लूट में दो बित्ता नाक
और पुछल्ले के साथ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिम्ब-प्रक्रिया

रामस्वरूप चतुर्वेदी

इधर बिम्ब-सम्बन्धी कई विवेचन प्रकाशित हुए हैं; कुछ पुस्तकाकार और कुछ लेख-रूप में। इनमें कई जगह तो बिम्ब-जैसी संश्लिष्ट प्रक्रिया के अधिक-से-अधिक वर्गीकरण का आग्रह है, कहीं चिन्ता इस बात की है कि बिम्ब का विभावन पारम्परित भारतीय काव्यशास्त्र में से कैसे खोज निकाला जाए! यह देखा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र में दो अंतर्धाराएँ साथ-साथ चलती हैं—एक ओर जितना सूक्ष्म तात्त्विक विवेचन है, दूसरी ओर उतना ही स्थूल ब्यौरेवार वर्गीकरण है (रचना-प्रक्रिया की समझ कई बार दोनों जगह, खास तौर से दूसरे ढंग में, उपेक्षित रह जाती है)। हिन्दी समीक्षा में संस्कृत का सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तन तो विरल हो गया है, पर सरल वर्गीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती पर है, जिससे बिम्ब-जैसी विशिष्ट रचना-प्रक्रिया को समझना संभव नहीं हो पाता।

'काव्यभाषा का स्वरूप' के अंतर्गत इस विषय की कुछ आरम्भिक मान्यताओं को उपस्थित किया गया है। प्रस्तुत विवेचन में बिम्ब की अपनी प्रक्रिया के विश्लेषण का अधिक अवसर होगा। प्रतीक और बिम्ब काव्यभाषा की निर्माण-प्रक्रिया के विशिष्ट तत्त्व हैं। ये दोनों ही विभावन मूलतः पश्चिमी समीक्षा के हैं। भारतीय साहित्य-चिन्तन का अलंकार-विधान प्रस्तुत और अप्रस्तुत को प्रायः साथ-साथ ले चलने के कारण रचना-शिल्प या रचना-कौशल का अंग तो है, पर काव्यभाषा के विकास में पर्यवसित नहीं हो पाता। प्रतीक और बिम्ब अप्रस्तुत होते हुए भी भाषिक प्रक्रिया में प्रस्तुत के स्थानापन्न हो जाते हैं, अतः भाषा के अत्यन्त संवेदनशील स्तर पर रूपांतरित हो जाते हैं, भाषा हो जाते हैं। जबकि अलंकार अपने नाम से भी और अपनी स्थिति में अतिरिक्त सजावट के रूप में देखे जा सकते हैं, भाषा की रचना-प्रक्रिया का अभिन्न अंग नहीं बन पाते।

प्रतीक किसी सूक्ष्म भाव की अभिव्यक्ति के लिए एक अपेक्षया स्थूल तत्त्व का चुनाव है। जैसे सूर्य ज्ञान का प्रतीक है, अँधेरा विभ्रम का प्रतीक है, कमल स्निग्धता और मंगल का प्रतीक है। कालांतर में प्रतीक भाषा की सामान्य शब्दावली की तरह बहुप्रचलित और स्वीकृत हो जाते हैं, जैसे कि उपर्युक्त प्रतीक हो गए हैं। फिर कविता के विकास-क्रम में नये प्रतीक बनते हैं और क्रमशः स्वीकृत होकर रूढ़ बन जाते हैं। प्रतीक-विधान का यह रूप काव्यभाषा के विकास का पहला स्तर है। अगला और अधिक विकसित स्तर बिम्ब-प्रक्रिया का है। बिम्ब या भावचित्र की प्रक्रिया अधिक संश्लिष्ट होती है। वह कई तत्त्वों से निर्मित होने के कारण स्थिर न होकर गतिशील होता है, और उसका प्रतीक की तरह पूर्व-स्वीकृत अर्थ नहीं होता। इसलिए कविता में अर्थ को स्वायत्त तथा विकसनशील बनाए रखने का मुख्य दायित्व बिम्ब पर होता है।

अधिकतर आधुनिक पश्चिमी समीक्षक (आर्किबाल्ड मैकलीश-जैसे रचनाकार समीक्षकों को अपवाद मानना होगा) बिम्ब का महत्त्व उसके चाक्षुष संवेदन के कारण मानते हैं। बिम्ब में चित्र का भाव आता ज़रूर है, पर चित्र का दृश्य भाव यहाँ प्रधान नहीं है, वरन् चित्र का संश्लिष्ट रूप—'कम्पोज़ीशन'—होना प्रमुख बात है। इस तरह चाक्षुष पक्ष यानी कि एक दृश्य प्रतिमा का निर्माण कर सकना वस्तुतः बिम्ब-विधान का एक प्राथमिक और गौण स्तर है। मुख्य बात यह है कि संश्लिष्ट गठन होने के कारण बिम्ब में उसके विभिन्न तत्त्वों के बीच संपर्क और टकराहट से एक द्वन्द्वात्मक (डाइलैक्टिक) प्रक्रिया परिचालित होती है, जो अर्थ को विकसनशील बनाती है। इस तरह बिम्ब प्रधानतः और अनिवार्यतः एक अर्थ-संश्लेष है और इसलिए रचना में काव्यभाषा या कि काव्य बनने की मुख्य प्रक्रिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा के सामान्य प्रयोग में बात, और जिस भाषा में वह बात कही जा रही है, उनके बीच शाब्दिक स्तर पर साम्य होने पर भी अनुभवगत अंतर होता है। पर कविता की भाषा में, यानी अधिकतम सर्जनात्मक भाषा में, यह अंतर नहीं रह जाता, बात और भाषा में अभेद रहता है। प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने अभिधा और व्यंजना का जो लक्षण निर्धारित किया है, उसमें स्थिति इसके कुछ विपरीत है। वहाँ बात और भाषा में, व्यंजना शब्द-शक्ति के अंतर्गत सीधा सम्बन्ध नहीं रह जाता। वस्तुतः ऐसा मानना व्यंजना के चमत्कारी पक्ष पर अधिक बल देना है। यों व्यापक रूप में कविता की अर्थ-प्रक्रिया के लिए 'व्यंजना' बहुत उपयुक्त शब्द है। पर पारिभाषिक रूप में शास्त्रीय लक्षणकारों ने व्यंजना को अच्छे ढंग से उपस्थित नहीं किया। यह सारी पड़ताल शब्दशः अर्थ की दृष्टि से की गई है, अनुभव की दृष्टि से नहीं। अधिकतम सर्जनात्मक काव्यभाषा में—जो व्यंजना से अभिप्रेत है—'मुख्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ' की अलग-अलग परिकल्पना नहीं रह सकती। वहाँ तो समूचा अर्थ समरस और संश्लिष्ट है, और 'व्यंग्यार्थ' के ही सूक्ष्म स्तरों की टकराहट से व्यंजना परिचालित होती है, 'मुख्यार्थ' का स्वयं कोई अलग रूप नहीं रह जाता। पश्चिमी साहित्य-चिन्तन में कहीं यह ठीक ही कहा गया है कि कविता का कोई अर्थ नहीं होता, कविता स्वयं होती है। आधुनिक रचना-प्रक्रिया तथा साहित्य-चिंतन के सन्दर्भ में जब हम बात और भाषा के अभेद और अद्वैत की बात कहते हैं तो हम तनाव पर उतना ही बल देते हैं जितना कि अभेद पर। अनुभव और अर्थ का यह सम्बन्ध समझना कविता और सर्जनात्मकता की प्रक्रिया को संभवतः अधिक गहरे और प्रकृत रूप में समझना है। यही भाषा और संवेदना का अद्वैत है, जहाँ दोनों एक नहीं हैं, पर अलग-अलग होकर भी एक हो जाते हैं। साहित्य के क्षेत्र में इस अद्वैत का परिचालन प्रतीक और बिम्ब-जैसे भाषिक-रचनात्मक तत्त्वों की अपनी प्रक्रिया से होता है।

रचना में अर्थविकास-प्रक्रिया की यह समझ आधुनिक पश्चिमी तथा भारतीय, साहित्य-चिंतन के दोनों क्षेत्रों में अभी नयी है। इलियट—जो बिम्बवादी आन्दोलन से भी सम्बद्ध रहे हैं—का प्रख्यात विभावन 'ऑब्जैक्टिव कोरिलेटिव', उदाहरण के लिए, अर्थ की इस सूक्ष्म, सुकुमार प्रक्रिया को अनदेखा कर जाता है। आधुनिक कविता ने यह क्षमता विकसित की है कि यहाँ पूरी रचना का अर्थ एक ओर सीधा नहीं है, पर रीतिकालीन शिष्ट काव्य की तरह दो अलग-अलग अर्थ भी नहीं हैं, वरन् एक ही अर्थ के दो सूक्ष्म स्तर अपने तनाव और संश्लेष से एक वृहत्तर अर्थ की सृष्टि करते हैं। रचना में अर्थ का यह अद्वैत भाव शरीर-संभोग और ब्रह्म-साक्षात्कार जैसी सृजन-प्रक्रियाओं के समानान्तर देखा जा सकता है। 'झरना' में संकलित प्रसाद की प्रसिद्ध कविता 'विषाद' ("किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत वह सुख का कण है। उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है") में हृदय में विषाद और बाहर छाया मानो एक ही अनुभव के अंग हैं। इलियट छाया को 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' कहता, आंतरिक विषाद के भाव को व्यक्त करने के लिए। पर इस विश्लेषण से प्रसाद की कविता के संश्लिष्ट अनुभव के साथ न्याय नहीं हो सकता। वस्तुतः विषाद और छाया (अथवा संध्या) एक ही समग्र अनुभव के अंग हैं, एक ही अर्थ के दो सूक्ष्म स्तर हैं, जो अपनी टकराहट में अर्थ की गहरी क्षमता विकसित करते हैं। बिम्ब-रचना द्वारा परिचालित अर्थ की यह प्रक्रिया आधुनिक काव्य-विधान का अभिन्न अंग है, और जटिलतर होते अनुभव-अर्थ-संश्लेष को उसकी समग्रता में पकड़ने तथा व्यक्त करने का अचूक माध्यम है। साहित्य यदि बिखरे और खंडित जीवनानुभवों और यथार्थ की पुनर्रचना है तो बिम्ब-विधान इस पुनर्रचना-प्रक्रिया का मुख्य अंग है। काव्य जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करता है, और आधुनिक काव्य की सूक्ष्म अर्थवत्ता बिम्ब से निर्मित होती है।

जैसा पहले कहा गया, समीक्षा के क्षेत्र में बिम्ब की उद्भावना मूलतः पश्चिम की है। वहाँ यह उद्भावना प्रसिद्ध दार्शनिक हुल्म तथा कवि पाउण्ड के सहयोग से बीसवीं शती के आरम्भ में क्रमशः आन्दोलन के रूप में परिणत हुई, और फिर शीघ्र ही, प्रायः १९१७ ई० के आसपास उसकी विरोधी प्रतिक्रिया भी हुई। पर बिम्ब के इस पक्ष और प्रतिपक्ष के बीच, और इन विवादों के परिशमित होने पर, समझ का एक ऐसा स्तर बराबर रहा है जहाँ बिम्ब-विधान को कविता भाषा की समूची प्रक्रिया में केन्द्रीय स्थान दिया जाता है। इस रूप में बिम्ब-प्रक्रिया का महत्त्व आधुनिक समीक्षा में प्रायः अक्षुण्ण रहा है। पर बिम्ब की समझ में पश्चिम के अधिकतर रचनाकार और समीक्षक अधिकतर दृश्यमयता के तत्त्व को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक महत्त्व देते रहे हैं। हिन्दी समीक्षा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बिम्ब-विधान का बढ़िया विश्लेषण और उपयोग किया है। बिम्ब-विधान के सन्दर्भ में उन्होंने 'संश्लिष्ट' शब्द का प्रयोग करके रचना-प्रक्रिया के इस रूप को अच्छी तरह समझा। पर हिन्दी के परवर्ती समीक्षक अपने पश्चिमी स्रोतों की तरह बिम्ब की दृश्यमयता की ही चर्चा करते हैं, और इस दृश्य तत्त्व के आधार पर बिम्ब-विधान का विश्लेषण फूलों से बने बिम्ब और पशु-पक्षियों से बने बिम्ब के वर्गीकरणों में करते-कराते हैं। शुक्लजी द्वारा संकेतित बिम्ब-विधान के संश्लिष्ट रूप को वे आसानी से भूल गए।

बिम्ब का दृश्य पक्ष उसका आरम्भिक स्तर है, और शास्त्रीय समीक्षक प्राय: उसी में उलझे रहे हैं। बिम्ब के माध्यम से कविता में अर्थविकास की सूक्ष्म और स्वायत्त प्रक्रिया को उन्होंने परिलक्षित नहीं किया। दृश्य पक्ष या शिक्षण-शास्त्र में जिसे 'विजुअल एड्स' कहते हैं, ज्ञान के माध्यमों में प्राथमिक सीढ़ी है। सामान्य बातचीत में, अलंकारों में और विविध शास्त्रों में 'दृष्टान्त' के प्रयोग के पीछे इस दृश्य पक्ष को ही उभारने की चेष्टा रहती है। उदाहरण के लिए काव्य और दर्शन की भाषा में तुलना की जा सकती है। अनुभव-स्तर की समानता होने पर भी दोनों की भाषिक सर्जन-प्रक्रिया अलग-अलग है। दर्शन की भाषा में, बहुत-कुछ विज्ञान की तरह, शब्दों के निर्दिष्ट और चौकस प्रयोग पर बल है। काव्य में शब्द का समूचा अर्थ न लेकर उसके अर्थ-विस्तार की सजगता उत्पन्न करते हुए भी उसकी किसी आंशिक, वैकल्पिक छाया की ओर संकेत किया जाता है। आधुनिक कविता में एक शब्द की मिलती-जुलती अर्थछायाओं के बीच तनाव उत्पन्न करके अर्थ और अनुभव को विकसित किया जाता है। काव्य में अर्थ का निश्चित-निर्दिष्ट रूप इसीलिए काम्य नहीं है कि वह ग्रहण किए जाने में एकबारगी खत्म न हो जाए। वहाँ अर्थ की एक दिशा है, जिस ओर वह गतिशील होता रहता है। इसीलिए जीवन की ही तरह काव्य में अर्थ की अनन्त सम्भावना है।

अन्य शास्त्रों की तरह दर्शन की भाषा में अर्थ का निश्चित रूप ग्रहण करने के लिए दृष्टान्त का प्रयोग होता है, काव्य में अर्थ और अनुभव को विकसनशील बनाए रखने के लिए बिम्बयोजना का केन्द्रीय महत्त्व है। कभी-कभी तो एक ही प्रकार के उपकरणों से दर्शन का दृष्टान्त और काव्य-बिम्ब दोनों बनते हैं। कुम्हार का घड़ा दर्शन में दृष्टान्त है, कवि... में बिम्ब है। दर्शन में जहाँ वह दृष्टान्त है, वह उक्ति का ... माध्यम भर है, जिससे जीवन के किसी एक पक्ष पर प्रका... डाला जा रहा है। दर्शन ग्रंथों के अन्तर्गत मनुष्य-जीवन ... संसार के घड़े से तुलना में घड़े का उपयोग ज्ञान के संवर्द्धन ... लिए दृश्य-उपकरण (विजुअल एड्स) की तरह हो रहा ... पर जब कबीर कहते हैं—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहिर भीतरि पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समानां यहु तत कथौ गियानी।

तो यहाँ घट का बिम्ब अनुभव को समृद्ध करता है, और ... के 'स्पष्टीकरण' का साधन न बनकर स्वयं में ही अर्थ ... 'विकास की प्रक्रिया' हो जाता है। इस माने में बिम्ब का ... का दृश्य-उपकरण न होकर अर्थ की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है, ... क्रमश: अद्वैत की ओर उन्मुख होती है।

भारतीय काव्य-परम्परा तथा शास्त्र में सांगरूपक ... दृश्य-विधान के लिए प्रयोग कवियों ने प्रभावशाली ढंग ... किया है। तुलसी की रचना-प्रक्रिया में सांगरूपक का केन्द्र... महत्त्व है। 'रामचरितमानस' के अनेक श्रेष्ठ प्रसंग ... माध्यम से निर्मित हुए हैं। अयोध्याकांड में कैकेयी का ... प्रयाग और चित्रकूट के वर्णन, जनकजी की सेना का राम ... आश्रम में आना आदि प्रसिद्ध दृश्य अपने पूरे विस्तार ... वैविध्य में सांगरूपक के सहारे अंकित हुए हैं। इस दृष्टि ... 'संश्लिष्ट' वर्णन के लिए सांगरूपक का विशिष्ट महत्त्व ... पर अर्थ के सूक्ष्म और स्वायत्त विकास की दृष्टि से बिम्ब ... तुलना में सांगरूपक कमज़ोर पड़ जाता है, क्योंकि सां... रूपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का उल्लेख साथ-साथ चल... है :

दोउ बर कूल कठिन हठ धारा।
भँवर कूबरी बचन प्रचारा॥
ढाहत भूपरूप तरु मूला।
चली बिपति बारिधि अनुकूला॥

यहाँ एक ओर 'बर', 'हठ', 'कूबरी बचन', 'भूप', 'बिप... का उल्लेख होता है, और दूसरी ओर 'कूल', 'धारा', 'भँव... 'तरु' और 'बारिधि' का दृश्य खड़ा किया जाता है। प्रस्... का साथ-साथ चलने वाला यह उल्लेख अप्रस्तुत विधान ... सूक्ष्म व्यंजनाक्षमता को कमज़ोर कर देता है। इसी स्थि... को यदि बिम्ब-रूप में विकसित किया जाता तो केवल कैके...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की बात कहकर फिर उसके लिए बढ़ती-उमड़ती नदी का बिम्ब बनता, कैकेयी प्रसंग का ब्यौरा न दिया जाता। यह ब्यौरा दृश्यमयता भले बढ़ाता हो अर्थप्रक्रिया को समृद्ध नहीं करता, स्थूल स्तर पर साहृश्य को स्थापित करता है पर सूक्ष्म अर्थ-स्तरों के विकास को बाधित करता है। सांगरूपक का दृश्य विधान पाठक की कल्पना-शक्ति को कुछ उत्तेजित तो करता है, पर एक सीमा के बाद वह उस दृश्यमयता में ही उलझ जाती है, और अर्थ की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को परिचालित नहीं होने देती।

अर्थ-वैविध्य के प्रसंग में यहाँ बिम्ब-प्रक्रिया के स्पष्टीकरण के लिए श्लेष-विधान से तुलना की जा सकती है। संस्कृत और मध्यकालीन हिन्दी काव्य में श्लेष के सहारे एक शब्द के कई-कई अर्थ सम्भव किए जाते थे। इस प्रक्रिया में बल अधिकतर चमत्कार और कौशल पर था, अर्थ को सघन और विकसनशील बनाने पर नहीं। चमत्कार की कसौटी यही थी कि कितने असम्बद्ध अर्थ एक शब्द के सहारे जुटाए जाएँ। पर कुशल कवि लाक्षणिक अर्थों की भावात्मक अन्विति पर ध्यान देते थे। "कहै कबीर गुर दिया पलीता सो झल विरलै देखी", यहाँ 'झल' में प्रकाश और आध्यात्मिक अनुभूति के अर्थ परस्पर संबद्ध हैं। इसलिए यहाँ चमत्कार प्रधान नहीं, वरन् अर्थ को प्रशस्त करने का गहरा उपक्रम है।

सहज श्लेष प्रयोगों के सहारे रत्नाकर ने 'उद्धव शतक' में अपना प्रसिद्ध सांगरूपक बाँधा है—"रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगिन के जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।" इस कवित्त में गोपियों का कठोर विरह और विषम ज्वर तुलनीय हैं और श्लिष्ट शब्द समान संगति और उपयुक्तता के साथ दोनों सदृश सन्दर्भों में अर्थ ध्वनित करते हैं। कहीं भी दूरारूढ़ अर्थ की आवश्यकता नहीं होती इस दृष्टि से आधुनिक काल के आरम्भ में रचित यह श्लेषयुक्त लम्बा सांगरूपक रीतिकाल की अपनी कला को भी समृद्धतर बनाता है। पर श्लेष के दोनों पक्षों में समाकर अर्थ समाप्त हो जाता है।

आधुनिक रचनाकार के बिम्ब-प्रयोग श्लेष के भिन्न अर्थों को न लेकर एक ही शब्द की मिलती-जुलती अर्थ-छायाओं में हल्का तनाव उत्पन्न करते हैं, और इस तरह अर्थ को सूक्ष्म स्तर पर गतिशील रखते हैं। 'कामायनी' के श्रद्धा की मुस्कान के अंकन के लिए प्रयुक्त किसलय पर अलसाई किरण का बिम्ब बहुचर्चित है :

और उस मुख पर वह मुसक्यान !
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।

यहाँ 'अलसाई' शब्द में थकान का जितना आलस है, उतना ही सौंदर्य और मद का आलस है, और साथ ही अलसाने की संक्षिप्त अवधि भी व्यंजित होती है। इसी तरह अलसाने में जितनी थकन की व्यंजना है उतनी ही ताज़गी की भी। एक सामान्य नामधातु की इन विविध संबद्ध छायाओं के परस्पर तनाव से वैसा ही सूक्ष्म और सुकुमार प्रभाव निर्मित होता है जैसा श्रद्धा के सौंदर्य अनुभव के लिए कवि रचना-स्तर पर उचित मानता है। एक कुशल कवि के लिए कहने और न कहने के बीच सही अनुपात साध पाना कितना ज़रूरी है, यह ऐसे ही संवेदनशील अंकनों में समझा जा सकता है।

काव्य-रचना में सामान्यतः भाषा के दो स्तर परिलक्षित किए जा सकते हैं—सामान्य वर्णन की भाषा और बिम्बों की भाषा। कविता के रचना-विधान में बहुत बार बिम्बात्मक भाषा अपने आन्तरिक संस्पर्श से वर्णन की सामान्य भाषा को भी आलोकित करती है। यह तो स्पष्ट है कि कविता का अधिकांश वर्णन की सामान्य भाषा में होता है, जबकि कविता का पूरा रचना-संघटन कुछ विशिष्ट प्रयोगों से समग्रतः दीप्त हो उठता है। उदाहरण के लिए प्रसाद का एक प्रसिद्ध और संक्षिप्त गीत लिया जा सकता है :

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी।
अधरों में राग अमन्द पिये
अलकों में मलयज बन्द किये—
तू अब तक सोई है आली !
आँखों में भरे विहाग री !

इस गीत के रचना-संघटन का यदि हम विश्लेषण करें तो जो बात आसानी से समझ में आ जाती है वह कविता का नाद-सौंदर्य है। पर यह भी स्पष्ट है कि अकेले नाद-सौंदर्य का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता की रचना-प्रक्रिया में निर्मायक महत्त्व नहीं है। गीत के पूर्वार्द्ध में प्रातःकाल का जो रूप अंकित हुआ है वह प्रधानतः वर्णनात्मक है। इन पंक्तियों में यद्यपि दो बिम्ब भी आते हैं—'ऊषा नागरी' तथा 'मधु मुकुल नवल रस गागरी', पर ये दोनों बिम्ब इतने बहुप्रयुक्त अप्रस्तुत विधान पर आधारित हैं (ऊषा की युवती, और कली की रस-गागर) कि इन्हें काव्य-बिम्ब संकोच के साथ ही कहा जा सकता है। खग-कुल और और किसलय वाली पंक्तियाँ तो सीधे ही इतिवृत्त-प्रधान और वर्णनात्मक हैं। अतः यहाँ तक कविता में नाद-सौन्दर्य के अतिरिक्त कोई शक्ति विकसित नहीं होती।

पर अंतिम चार पंक्तियाँ कविता की सारी भंगिमा को बदल देती हैं। यहाँ कवि ने दो सर्वथा नये और सूक्ष्म बिंब विकसित किए हैं—'अलकों में मलयज बन्द किये' तथा 'आँखों में भरे विहाग री'। दोनों बिंब—'मलयज', 'विहाग' एकशब्दीय हैं, और यदि उनका वैसा सूक्ष्म रूप न होता तो उन्हें बिंब कहना कठिन था। पर अपने सूक्ष्म और अमूर्त स्तर पर वे अर्थ की गहरी छायाएँ विकसित करते हैं। 'मलयज' से कोमलता, सुगंधि, आकर्षण, सलज्ज भाव, मादकता और इनसे मिलती-जुलती न जाने कितनी व्यंजनाएँ संभव होती हैं। यों सामान्यतः एक शब्द से बिंब-रचना कम होती है, हाँ प्रतीक का रूप बनता है। पर 'मलयज' के सूक्ष्म-अमूर्त रूप ने एक अकेले शब्द से ही एक समूचे बिंब का निर्माण होने दिया है। दूसरा बिंब आता है 'विहाग' का, जो वैसा ही सुकुमार, सूक्ष्म और अमूर्त है जैसा कि 'मलयज' का बिंब, और इसी-लिए उतना व्यापक और संश्लिष्ट भी है। रात्रिकालीन राग 'विहाग' देर रात तक जागरण, खुमार, अलस भाव और संगीतात्मकता की विविध छायाओं को व्यंजित करता है। फिर दोनों बिंबों की भाव-प्रक्रिया परस्पर संबद्ध है। इसी स्तर पर आकर कविता का आरंभिक प्रातःकाल-वर्णन सौंदर्य और यौवन के उन्मुक्त अनुभव में रूपांतरित हो जाता है। इस प्रकार गीत में कविता बनती है अन्त के इन दो बिंबों के सहारे, जो क्रमशः पूरे गीत में परिव्याप्त हो जाती है पूर्व-प्रभावी—रेट्रस्पेक्टिव—ढंग से। इन बिंबों के अभाव में पूरी कविता का नाद-सौन्दर्य बेकार होता, और यह गीत प्रातः-काल का इतिवृत्तात्मक वर्णन मात्र होकर रह जाता।

बिंब-विधान को जगह-जगह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'संश्लिष्ट' कहा है। इसका एक अच्छा उदाहरण प्रसाद का काव्य प्रस्तुत करता है। व्याकरणिक भूलें जो उनके काव्य जगह-जगह मिलती हैं, उनके बिंब-प्रसंगों में नहीं के बरा हैं। इससे समझा जा सकता है कि बिंब और उसका अनु समग्रतः विकसित होता है। उसमें यदि भूल होगी तो संश्लेष में, न कि अलग-अलग टुकड़ों में। यथार्थ अनुभव उसकी संपूर्णता और गतिमयता में पकड़ने के लिए बि रचना साक्षात्कार का दक्ष उपाय है। साधारण शब्द अनु को जड़ और निःशेष कर देता है, पर बिंब अनुभव को केवल उसकी वर्तमान स्थिति में वरन् उसकी संभावना में उसकी पूरी जटिलता और सूक्ष्मता के साथ अंकित करता है श्रद्धा के सौन्दर्य-वर्णन के अन्तर्गत उसकी मुस्कान का बि परक अंकन फिर से स्मरण करना होगा। यहाँ यदि श्र की मुस्कान की तुलना केवल किरण से की जाती तो ए प्रतीक बनता (मुस्कान=किरण), और वह मुस्कान अनुभव को ऐसे समग्र और सूक्ष्म रूप में व्यंजित न कर पात पर यहाँ एक पूरा बिंब रचा गया है—नये सूर्य की दूर से आ हुई किरण, जो कुछ थक गई है और एक रक्तिम, कोम किसलय को पाकर क्षणभर के लिए—क्षणभर के लिए क्योंकि उसे दूर जाना है—विश्राम की मुद्रा में अलस भाव लेटी हुई है। यह पूरा बिंब या भावचित्र कई तत्त्वों से निर्मि हुआ है, और उनका आपसी सम्बन्ध और टकराहट मुस्का के रूप को अधिकाधिक गहरे और सूक्ष्म स्तर पर विकसि करते हैं, जहाँ उसकी ताज़गी, सूक्ष्मता, अलस भाव औ सौन्दर्य सब मिलकर एक संश्लेष बन जाते हैं। मुस्का जितनी सूक्ष्म है उतनी ही कलापूर्ण और भावात्मक है। क ने अनुभव के इसी वैशिष्ट्य को अंकित करना चाहा है, औ बिंब-रूप में अंकित करते-करते न केवल उसे अभिव्यक्त कि है, वरन् मानो स्वयं भी उसे और अच्छी तरह समझा है भाषा इस स्तर पर आकर अभिव्यक्ति ही नहीं, अभिव्यक्ति और अनुभव दोनों एक साथ हो जाती हैं।

हिन्दी कविता के विकास-क्रम में मध्यकालीन कवियों अधिकतर प्रकृति-वर्णन के समय बिंब-विधान का एक खा रूप में प्रयोग किया है, पर उनका ध्यान दृश्यमयता तत्त्व पर अधिक है। वस्तुतः हिन्दी तथा अंग्रेज़ी कविता की रचना-प्रक्रिया में उतना अंतर नहीं जान पड़ता जितना कि भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र की प्राथमिकताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीच है। बिंब भारतीय काव्य-शास्त्र में न हो, कविता में है। जायसी और सूर की बिंबग्राहिणी शक्ति की आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सही सराहना की है। जायसी ने प्रकृति-वर्णन के अतिरिक्त विरह-दशा के संदर्भ में भी कुछ मार्मिक बिंब विकसित किए हैं। जहाज़ टूटने पर मूर्च्छित पद्मावती बहते-बहते किनारे जा लगती है, जहाँ समुद्र की बेटी लक्ष्मी की एक सहेली उसे देखती है। पद्मावती की दीन दशा का वर्णन वह इस प्रकार करती है—

जो देखा, तिवइ है साँसा। फूल मुवा, पै मुई न बासा।

मूर्च्छित पद्मावती के लिए मुरझाया फूल, पर निर्गंध नहीं—यह बिंब सटीक और मार्मिक है। जाग्रत होने पर पद्मावती प्रिय को स्मरण करती है, और प्रिय के न होने पर अपनी 'निरवलंबता' के बारे में कहती है—

आवा पवन बिछोह कर, पाट परी बेकरार।
तरिवर तजा जो चूरि कै, लागों केहि के डार ?

इस बिंब-विधान की व्याख्या आचार्य शुक्ल ने इस प्रकार की है—"विरह-दशा के भीतर 'निरवलंबता' की अनुभूति रह-रहकर विरही को होती है। देखिए कैसा परिचित और साधारण प्राकृतिक व्यापार सामने रखकर कवि ने इस 'निरवलंबता' का गोचर प्रत्यक्षीकरण किया है—" (जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ४३)। यहाँ स्पष्ट है कि शुक्लजी 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' पर अधिक बल दे रहे हैं, जो इसलिए ठीक भी है कि 'बिंब' में 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' से आगे 'अर्थ संश्लेष' का भाव तो आधुनिक छायावादी काव्य में विकसित हुआ है। भारतीय काव्यशास्त्र में 'बिंब' की परिकल्पना भले न हो, पर भारतीय काव्य में 'बिंब', या उससे मिलते-जुलते प्रयोग बराबर देखे जा सकते हैं। कहीं ये उत्प्रेक्षा हो सकते हैं, और कहीं सांगरूपक। पर मध्यकालीन काव्य में ऐसे बिंब-प्रयोग 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' के लिए ही हैं, अर्थ की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का परिचालन वहाँ अकल्प्य है। इस प्रसंग में बिंब-विधान से संबद्ध शुक्लजी की मान्यता उद्धृत करना उचित होगा—"काव्य में बिंब-स्थापना (Imagery) प्रधान वस्तु है। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों में यह पूर्णता को प्राप्त है। अंग्रेज़ी कवि शेली इसके लिए प्रसिद्ध है।" (जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ११७)

कबीर के लिए प्रकृति-वर्णन का विशेष अवकाश नहीं, पर उन्होंने भक्त की विविध मनःस्थितियों के अंकन के लिए कहीं-कहीं अच्छे बिंब विकसित किए हैं। भक्त के लिए बालक और ईश्वर के लिए पिता या माता की उपमा पुरानी है। कबीर ने इस सादृश्य को लेकर एक सरल और मार्मिक बिंब रचा है—

हरि जननी मैं बालक तेरा।
काहे न अवगुन बकसहु मेरा॥
सुत अपराध करत है केते।
जननी के चित रहैं न तेते॥
कर गहि केस करै जो घाता।
तऊ न हेत उतारै माता॥
कहै कबीर इक बुद्धि बिचारी।
बालक दुखी दुखी महतारी॥

माँ और बेटे के सम्बन्धों की स्नेहपूर्ण सरलता पूरे बिंब में परिव्याप्त है। कबीर, जैसा कि जन-विश्वास है, पढ़े-लिखे भले न हों, और परंपरित काव्यशास्त्र में बिंब की धारणा भी भले न हो, पर यह पूरा छन्द 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' की दृष्टि से बढ़िया बिंब है।

सूरदास की कला प्रकृति और मानवीय सौन्दर्य के विविध दृश्यों को अंकित करने के कारण बिंब-रचना के अपेक्षया अधिक निकट है। सौन्दर्य के दृश्य-विधान में कवि का प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा है, 'जिसमें भेद-ज्ञानपूर्वक उपमेय में उपमान की प्रतीति होती है'। बिंब की विशेषता है कि वह भेद-ज्ञान को नहीं उभरने देता, इसीलिए वहाँ 'जानो'-'मानो' (उत्प्रेक्षा के चिह्न) जैसे प्रयोग विशेष अपेक्षित नहीं हैं। इस दृष्टि से उत्प्रेक्षा बिंब की निकट स्थिति में होने पर भी अपनी 'बल-पूर्वक संभावना' के कारण विधान में बिंब-जैसी सहज प्रवाह-युक्त नहीं होती। अपने रचना-संगठन की इस सीमा के बावजूद सूरदास की उत्प्रेक्षाएँ दृश्य-विधान में बेजोड़ हैं। रासलीला का दृश्य है, प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण नृत्य कर रहे हैं—

मानो माई घन-घन अन्तर दामिनि
घन दामिनि दामिनि घन अन्तर सोभित हरि ब्रज-भामिनि

कृष्ण और गोपी के अनेक युग्मों के लिए काले बादल और चमकती बिजली की घनिष्ठता के चित्र बहुत उपयुक्त हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि पद का आरम्भ उत्प्रेक्षा से हो जाता है, प्रस्तुत का हल्का-सा उल्लेख बाद में होता है। कृष्ण के लिए बादल और युवती के लिए बिजली का उपमान पुराना हो सकता है, पर दोनों की पारस्परिक स्थिति की इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में परिकल्पना उत्प्रेक्षा की विशेषता है। इन तत्त्वों के आपसी सम्बन्ध पर बल देना—'कम्पोज़ीशन' को उभारना—जैसे बिब-प्रक्रिया के विकास की आरम्भिक स्थिति हो! कृष्ण-लीला और उससे सम्बन्धित अनेक चित्रों में सूर की उत्प्रेक्षाएँ जीवन को एक विराट् उत्सव के रूप में प्रस्तुत करती हैं।

सूर के लिए जैसी प्रिय उत्प्रेक्षा है, तुलसी के सन्दर्भ में वही स्थिति सांगरूपक की है। उन्होंने ये सांगरूपक भी प्रायः उत्प्रेक्षा के सहारे विकसित किए हैं (अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ीं। मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी), और इस प्रकार इन दोनों का योग एक खास ढंग से बिंब की समीपवर्ती स्थिति में आता है। सांगरूपक अपनी प्रकृति से विस्तृत और ब्यौरेवार अधिक होता है, फलतः उसमें चित्रमयता अधिक होती है। पर जैसा कहा जा चुका है, सांगरूपक में प्रस्तुत का साथ-साथ ब्यौरेवार उल्लेख होना, बिंब की तुलना में, अप्रस्तुत विधान की व्यंजनाक्षमता को क्षीणतर बना देता है। इन अलग-अलग उल्लेखों के कारण चित्र की संश्लिष्टता भी आहत होती है। कुल मिलाकर अपने ब्यौरे के कारण सांगरूपक में चित्रण की समग्रता तो हो सकती है, पर अनुभव की सूक्ष्मता विकसित नहीं हो पाती।

बिंब-विधान की वास्तविक शुरुआत आधुनिक काल में खड़ीबोली काव्य के विकास के साथ होती है। मैथिलीशरण गुप्त, जो सामान्यतः अपनी इतिवृत्तात्मकता के लिए प्रख्यात हैं, जगह-जगह इस नये ढंग के बिंब-विधान में रुचि लेते दिखते हैं। 'साकेत' के आठवें सर्ग में राम अपनी माँ को सहसा वैधव्य वेष में देखते हैं—

> **जिस पर पाले का एक पर्त-सा छाया,**
> **हत जिसकी पंकज-पंक्ति, अचल-सी काया।**
> **उस सरसी-सी, आभरणरहित, सितवसना,**
> **सिहरे प्रभु माँ को देख, हुई जड़ रसना।**

अपेक्षया स्थूल सादृश्य पर आधारित होने पर भी यह बिंब प्रसंग की असहाय करुण-भावना को भलीभाँति व्यक्त करता है। सादृश्य सटीक होने में बिंब की सफ़ाई है, पर उससे बड़ी सफलता दृश्य की जड़ता के प्रभाव को व्यंजित करने में है। दोनों स्थितियों की सफ़ेदी जीवन के जड़ हो जाने, जम जाने की द्योतक है। और यहीं बिंब की अपनी द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया गति पकड़ लेती है। ब्रजभाषा से खड़ीबोली में रूपांतरण का समय ही उत्प्रेक्षा-सांगरूपक के बिंब में रूपांतरण का भी समय क्यों और कैसे है, यह एक महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प पर स्वतंत्र खोज का विषय है। इसके पूर्व का रीतिकाव्य शास्त्रीयता के समानान्तर चलने के कारण परम्परित अलंकार-विधान पर ही बल देता रहा।

फिर आधुनिक बिंब-प्रक्रिया छायावादी कवियों—विशेषतः प्रसाद में आरम्भ होती है। अनुभव की सूक्ष्मता, जटिलता और समग्रता पर बल बढ़ता है, और इसकी अभि-व्यक्ति के लिए बिंब-विधान को अधिकाधिक दक्ष बनाने की कोशिश होती है। प्रसाद की बिंब-प्रक्रिया का वैशिष्ट्य कई रूपों में देखा जा सकता है। रचना के स्तर पर सबसे अधिक चिन्ता कवि को इस बात की है कि उसके बिंब अनुभव के सूक्ष्म और जटिल तराशों को भलीभाँति रूपायित कर सकें। इसके लिए उसने मानवीय सौन्दर्य के रीतिकाल, और फि[र] द्विवेदी-युग में प्रचलित स्थूल अप्रस्तुत विधान को निरस्त करके बिंबों को नये सूक्ष्म स्तर पर विकसित किया है। स्थू[ल] पदार्थ बाहरी और स्थिर सादृश्य को ही अधिकतर प्रस्तु[त] करते हैं, जबकि सूक्ष्म स्तरों से लिये गए बिंब प्रभाव और अनुभव-प्रक्रिया को व्यंजित करते हैं। प्रसाद के प्रसिद्ध बिं[ब] की बनावट में इन्द्रजाल, चाँदनी, सौरभ, मलयज, किसलय पर अलसाती किरण, शून्य, ज्योत्स्ना-निर्झर, सिंधु की हिल[ोर], कोर, दक्षिण का समीर-विलास, जल चुकी अगरबत्ती का हल्का सुगन्धित धुआँ-जैसे अपेक्षया अमूर्त तत्त्वों का प्रयो[ग] अधिक हुआ है। जहाँ बिंब-विधान के परंपरित तत्त्व ले लिया भी गया है, वहाँ उसे सर्वथा नया सन्दर्भ देने का प्रयत्न कवि ने किया है। श्रद्धा के सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंग में शरीर के अधखुले अंग को रूपायित करने के लिए कवि ने फूल का बिं[ब] लिया है, पर यह फूल साधारण नहीं है—

> **खिला हो ज्यों बिजली का फूल**
> **मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।**

बादलों के वन में 'बिजली का फूल' कितना सूक्ष्म होगा, उसमें कितनी तड़प और चमक होगी, इसका अनुभव यह बिं[ब] भलीभाँति संप्रेषित और विकसित करता है। ऐसा ही एक अन्य प्रसंग तब आता है जब काम अपनी पुत्री का सौन्दर्य-वर्णन मनु की अंतश्चेतना में करता है—

> **रंगों ने जिनसे खेला हो**
> **ऐसे फूलों की वह डाली**

यहाँ भी बिंब का आधारभूत तत्त्व फूल है, पर 'रंगों ने जिनसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खेला हो' कहकर कवि ने फूलों की आकृति को पीछे करके रंग-वैभव और उसके उल्लास को सूक्ष्म स्तर पर संप्रेषित किया है। ऐसे अनेक प्रसंग मिलेंगे, जहाँ कवि अपेक्षया स्थूल उपकरण को लेकर भी उसके सूक्ष्म रूप और अनुभव को ही अभिव्यक्ति देता है।

इस प्रसंग में प्रसाद के सूक्ष्म और अमूर्त बिंब-विधान के दो-एक उदाहरण देना समीचीन होगा। 'कामायनी' में मनु प्रेम और उसके आकर्षण की मादकता का पहला अनुभव कर रहे हैं। यह स्मरणीय है कि यह मानवीय सृष्टि का प्रथम प्रणयानुभव है, क्योंकि देव सृष्टि में तो स्थूल भोग-विलास था, काम का अनंग रूप और सूक्ष्म प्रणय-स्तर मानवीय सृष्टि में ही विकसित होता है। इस प्रथम प्रणयानुभव की मादकता और बेचैनी काम-सर्ग में मनु के स्वगत में व्यक्त होती है—

है स्पर्श मलय के झिलमिल-सा
संज्ञा को और सुलाता है

पहले प्रणय-स्पर्श का सूक्ष्म अनुभव वैसे ही सूक्ष्म बिंब-विधान में विकसित हुआ है। 'मलय' अपने में अमूर्त तत्त्व है, उसे और सूक्ष्म तथा अमूर्त बनाने के लिए कवि 'झिलमिल' का प्रयोग करता है, और फिर एक सामान्य-सा अव्यय 'सा' उस झिलमिल की प्रकृति को और अनिर्दिष्ट बना देता है। एक-एक शब्द व्याकरणिक और काव्य रचनात्मक दृष्टि से साव-धानी के साथ प्रयुक्त हुआ है, 'सा' का प्रयोग जिसका अच्छा उदाहरण है। 'मलय के झिलमिल' की बिंब-प्रक्रिया पहले मानवीय प्रणय की सूक्ष्म और जटिल अनुभूति को कला के स्तर पर वैसे ही अस्पष्ट रूप में व्यंजित करती है, जैसी अस्पष्ट और अनिर्दिष्ट वह मनु के लिए रही होगी।

मनोविकारों का रूप अपने में सूक्ष्म है, फिर आदिम मानव के क्रमशः जटिल होते हुए मनोविकारों की पकड़ और कठिन है। मनु के प्रणय-निवेदन को सुनकर और यह समझ कर कि मनु पहली बार श्रद्धा को नारी के रूप में पहचान रहे हैं, श्रद्धा के मन में प्रणय के प्रतिदान और उससे उत्पन्न क्रीड़ा और अनिश्चय का जो प्रथम अनुभव होता है उसका सूक्ष्म कलात्मक अंकन कवि इस प्रकार करता है—

धूम लतिका-सी गगन तरु पर न चढ़ती दीन
दबी शिशिर निशीथ में ज्यों ओस भार नवीन।
झुक चली सव्रीड़ वह सुकुमारता के भार,
लद गई पाकर पुरुष का नर्ममय उपचार;

पुरुष और नारी के लिए वृक्ष और लता का बिंब पुराना है। पर इस अतिपरिचित बिंब के भीतर आकाश के वृक्ष, और शिशिर की रात में ओस के भार से दबती किंतु ऊपर उठने का यत्न करती धुएँ की लता का रूप, पुरुष तथा नारी के नये और कोमल संबंधों को एक नये अनुभव-स्तर पर विकसित करता है। जिसे प्राचीनों ने 'भाव शबलता' या मिलते-जुलते शब्दों से अभिहित किया है उससे व्यापकतर अनुभव-संश्लेष की अभिव्यक्ति के लिए 'बिंब में बिंब' के ऐसे प्रयोग बड़े दक्ष और सार्थक सिद्ध होते हैं।

तरह-तरह के जटिल बिंब-विधान पर प्रसाद का असा-धारण अधिकार है। एक का उल्लेख अभी हुआ। यहाँ एक प्रचलित स्थूल बिंब के भीतर एक अन्य सूक्ष्म बिंब को विक-सित किया गया है। ऐसे भी स्थल हैं जहाँ कवि ने दो सूक्ष्म बिंबों को एक-दूसरे पर संयुक्त और आरोपित करके (व्याकरण की संयुक्त क्रियाओं की तरह) अनुभव को व्यक्त करना चाहा है। 'आँसू' और 'कामायनी' में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। देव सृष्टि के विनाश पर श्रद्धा सर्ग के आरंभ में मनु को सारा जीवन अर्थहीन और निःसार लगता है, इसकी अभिव्यक्ति उन्होंने एक पूरी बिंब-माला से की है—

क्या कहूँ, क्या हूँ मैं उद्भ्रांत?
विवर में नील गगन के आज
वायु की भटकी एक तरंग,
शून्यता का उजड़ा सा-राज

बिंब-माला फिर आगे बढ़ती है, तथा उसमें 'विस्मृति का स्तूप' और कई अन्य बिंब विकसित होते हैं। उद्धृत पंक्तियों में 'शून्यता का उजड़ा सा-राज' आरोपित बिंब-प्रक्रिया का अच्छा उदाहरण है। शून्य अपने में ही जीवन की निःसारता को व्यक्त करने के लिए प्रचलित प्रतीक या बिंब—जिस भी रूप में प्रयुक्त किया जाए—है। उसे और सूक्ष्म बनाने के लिए 'शून्यता' का प्रयोग किया गया। फिर 'उजड़ा राज' भी विनाश और निःसारता का द्योतक है। यहाँ 'शून्यता' के बिंब पर 'उजड़ा राज' के बिंब को आरोपित करके अनुभव को अधिक सूक्ष्म धरातल पर उतारा गया है। 'उजड़ा-सा' में 'सा' उजड़ने के भाव को कम न करके और फैला देता है। इस प्रक्रिया में कवि ने बिंब को सूक्ष्म करके उसे अधिक संश्लिष्ट बनाया है। यदि सूक्ष्म, और फलतः संश्लिष्ट न बनता तो अपने अकेले रूप में 'शून्य' एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीक रह जाता।

प्रसाद की काव्य-भाषा में प्रतीकों के माध्यम से बिंब को विकसित करने की सूक्ष्म प्रक्रिया भी देखी जा सकती है। इड़ा सर्ग का प्रसिद्ध गीत है—'जीवन निशीथ के अंधकार!' यहाँ अंधकार मनु के अपने ही मन के विभ्रम का प्रतीक है। इस अंधकार के समूचे अनुभव को अधिक यथार्थ तथा जटिल स्तर पर प्रेषणीय बनाने के लिए कवि एक बिंब-माला की रचना करता है। इन बिंबों में कच्ची इच्छाओं के जलने का धुआँ है, 'यौवन मधुवन की कालिंदी' है, मायाविनी युवती के नेत्रों का अंजन है, और अतीत के धुँधले चित्रों का संकलन है। इस पूरे छंद में एक प्रतीक तथा उसके लिए प्रयुक्त कई बिंबों का परस्पर गठन इतना संश्लिष्ट है कि अर्थ की प्रक्रिया बड़ी सघन और भारी, यद्यपि निर्मल लगती है। रचना में अर्थ कैसे अशेष रूप में रहता है, और कभी पूरी तरह खत्म नहीं किया जा सकता, यह प्रसाद के बिंब गठन में अच्छी तरह समझा जा सकता है। बिंब और बिंब, तथा प्रतीक और बिंब के ऐसे विविध संघटन छायावादी काव्य की श्रेष्ठतम उपलब्धि हैं। रूप के अभिमान में उन्मत्त होकर फिर चूर-चूर हो जाने वाली कमला की अनेक मनःस्थितियों के तनाव का अंकन प्रसाद ने अपनी लंबी कविता 'प्रलय की छाया' में इन अचूक विधानों से किया है। उदाहरणार्थ एक बिंब प्रस्तुत है, जिसके विश्लेषण का प्रयत्न अब नहीं होगा—

कृष्णागुरुवर्तिका
जल चुकी स्वर्ण पात्र के ही अभिमान में
एक धूम-रेखा मात्र शेष थी;
उस निस्पन्द रंग मंदिर के व्योम में
क्षीण-गंध निरवलंब।
किंतु मैं समझती थी, यही मेरा जीवन है।

निराला में प्रसाद जैसा बिंबों का वैभव नहीं है, यद्यपि अपनी सूक्ष्म परिकल्पना में वे पीछे नहीं हैं। 'राम की शक्ति पूजा'—जो अपने रचना संघटन में बेजोड़ है—में विशिष्ट बिंब-प्रयोग अपेक्षया कम हैं। युद्ध से लौटे राम के शरीर पर जटा-जूट खुल जाने से बालों की लटें बिखरी हैं। यहाँ कविता की पंक्तियाँ हैं—

दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार;

इन पंक्तियों में बिंब का रूप प्रस्तुत से कुछ आक्र होने पर भी राम के दृढ़ चरित्र और उनकी वर्तमान अस्थि मनःस्थिति को एक साथ और उनके द्वन्द्व में अंकित क है। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात यह समझी जानी चाहिए बिंब के प्रयोग से ही श्रेष्ठ कविता रची जाए, यह आवश्य नहीं है। रचना के अन्य उपकरण भी हैं, बिंब-प्रक्रिया आ निक कविता के संदर्भ में शायद सबसे विकसित है। यों कि की व्यापक परिकल्पना के अंतर्गत निराला की 'संध्या सुन्द 'जुही की कली', 'बादल राग' और 'स्नेह निर्झर बह गया जैसी प्रसिद्ध कविताओं का विधान आता है। उनके का 'तुलसीदास' के अनेक छंदों में बिंबों का बड़ा सटाक सुकुमार प्रयोग हुआ है। महिमाशाली बुन्देलखण्ड मु काल में कैसा श्रीहत हो गया है, इसका अंकन निराला ने किया है—

निश्चल अब वही बुँदेलखण्ड, आभा गत,
निःशेष सुरभि, कुरबक-समान
संलग्न वृंत पर, चिंत्य प्राण,
बीता उत्सव ज्यों, चिह्न म्लान, छाया श्लथ।

यहाँ दो बिंब परस्पर जुड़े हुए हैं—'निःशेष सुर कुरबक' और 'बीता उत्सव'। पहला मूल बिंब है, और दू उसमें संलग्न है। दोनों मिलकर मुगल काल में हिंदी के जातीय मानस और संस्कृति के विघटनशील और निष्प्रा से होते रूप का सजीव (?) चित्र प्रस्तुत करते हैं। 'संल वृंत पर' बड़ा सावधान पर्यवेक्षण है, जो गिरने और न गि के बीच की स्थिति है, एक तरह से न गिरने की प्रक्रिया है ऐसी सूक्ष्म स्थितियों और मनःस्थितियों के अंकन में बिंब रचना-क्षमता अच्छी तरह प्रमाणित होती है।

छायावादी कवियों में सुमित्रानंदन पंत आरंभ से अपने लाक्षणिक प्रयोगों के कारण आकर्षण के केन्द्र रहे हैं लाक्षणिक प्रयोग या 'मैटाफर' सारे अप्रस्तुत विधान पहली कड़ी है, क्योंकि दो भिन्न अर्थ-संदर्भों को वह परस संपर्कित करके इस प्रक्रिया में एक नये अर्थ-संदर्भ उद्भासित करता है। पंत के प्रतीक और बिंब-विध आरंभिक लाक्षणिक प्रयोगों से विकसित होकर प्रकृति त मनुष्य के एक नये समीकरण की तलाश में संलग्न हैं। उन प्रसिद्ध लम्बी कविता 'परिवर्तन' में बिंबों की रचना कोम तथा कठोर के संयोग से हुई है, जिनमें से होकर कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल वस्तु विकसित होती है। यों कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए विख्यात कवि की रचना में अधिक प्रभावशाली बिंब जीवन और प्रकृति के कठोर-उग्र पक्षों से लेकर रचे गए हैं। इनमें से वासुकि नाग का लम्बा बिंब सांग-रूपक के सहारे चलता है। फिर नृशंस नृप और शतदल कमल के बिंब आते हैं। और इनके बाद एक प्रलय-चित्र है जो कई बिंबों से बना है। इसमें क्षुब्ध सागर और आकाश का चित्रण इस प्रकार है—

आलोड़ित अंबुधि फेनोन्नत कर शत शत फन,
मुग्ध भुजंगम सा, इंगित पर करता नर्तन !
दिक् पिंजर में बद्ध, गजाधिप सा विनतानन,
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन !

सागर का मुग्ध सर्प और आकाश का मतवाला हाथी एक ओर बिंब-प्रक्रिया को परिचालित करते हैं, और दूसरी ओर पुराण-कथा के सांकेतिक रूप में उभारते हैं, इतिवृत्तात्मक रूप में नहीं। आकाश, सागर और पवन की यह टकराहट मानो मानवीय तत्त्वों का ही सूक्ष्म द्वन्द्व है, यथार्थ की असली बनावट है।

छायावादोत्तर परिदृश्य पर प्रयोगवादी तथा नयी कविता का बिंब-विधान जीवन के व्यापकतर क्षेत्रों से विकसित होता है। अज्ञेय के बिंब अधिक जटिल हुए संसार में सामान्य और अकिंचन क्षेत्रों से आते हैं। 'नदी के द्वीप' जैसी प्रभावशाली कविता का बिंब एक स्तर पर सामान्य प्रकृति-क्षेत्र से लिए जाने पर भी स्वयं प्रकृति के अपने संघटन को एक नये स्तर पर परिभाषित करता है, और जिस स्थिति के लिए यह बिंब है वह तो अपने में एक नयी जीवन-समस्या है ही। व्यक्ति और समाज की अंतर्प्रक्रिया, जो आज के जीवन की एक मुख्य चिंतना है, इस कविता में मानवीय अनुभव के रूप में व्याख्यायित होती है।

अज्ञेय और नयी कविता के अन्य कवियों के बिंब-विधान में क्रमशः प्रस्तुत पक्ष का उल्लेख कम होता जाता है, फलतः रचना की निर्भरता बिंब-प्रक्रिया पर बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए अज्ञेय की 'बावरा अहेरी' में पहली पंक्ति में 'भोर' का उल्लेख आता है, उसके बाद तो भोर का बावरा अहेरी बिंब-रूप में समूची कविता में परिव्याप्त हो जाता है। एक दूसरी छोटी कविता में प्रस्तुत सिर्फ़ शीर्षक में है, कविता बिंब से बनी है। शीर्षक है—'दूज का चाँद'—

मेरे छोटे घर-कुटीर का दिया
तुम्हारे मंदिर के विस्तृत आँगन में
सहमा-सा रख दिया गया।

छोटे-छोटे बिंबों से बनी ऐसी प्राकृत कविताएँ 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में मिलकर एक विराट् पर आत्मीय प्रकृति-चित्र उपस्थित करती हैं। इस शृंखला की एक कविता है 'धूप'—

सूप-सूप भर
धूप-कनक
यह सूने नभ में गई बिखर।
चौंधाया
बीन रहा है
उसे अकेला एक कुरर।

अज्ञेय के ऐसे सामान्य-साधारण जीवन से लिए गए बिंब (जो प्रसाद के सूक्ष्म सौंदर्य-विधायक बिंबों से साफ़ तौर पर अलग देखे जा सकते हैं) साधारण मानव-जीवन की प्रक्रिया और अनुभव को अर्थवत्ता प्रदान करते हैं, जो उनकी रचना की मूल वस्तु है।

नयी कविता की इस बिंब-प्रक्रिया का बड़ा सुकुमार विकास शमशेर की कविताओं में होता है, जिसमें कहीं-कहीं प्रसाद से अधिक सूक्ष्म विधान और अज्ञेय से अधिक मित-कथन देखा जा सकता है। प्रकृति और मानवीय अनुभव की अंतर्प्रक्रिया उनका मूल स्वर है, जिसे वे अपने बहुत-से स्पष्ट, और कुछ कलात्मक रीति से अस्पष्ट बिंबों के सहारे परिचालित करते हैं। वस्तुतः शमशेर में बिंब से कविता नहीं बनती, वरन् बिंब और कविता एकाकार हो जाते हैं—

एक नीला आइना
बेठोस-सी यह चाँदनी
और अन्दर चल रहा हूँ मैं
उसी के महातल के मौन में।
मौन में इतिहास का
कन किरन जीवित, एक, बस।

और कविता का अंत होता है—

रह गया सा एक सीधा बिंब
चल रहा है जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शान्त इंगित सा
न जाने किधर ।

यहाँ काव्य-अनुभव की शुरुआत और परिणति बिंब में ही होती है । दोनों में अन्तर यह है कि शुरू का बिंब व्याख्यायित है, जबकि अंत में एक अज्ञात-अनाम बिंब का अनुभव मात्र शेष रह जाता है । कुछ कविताओं के अंश और उद्धृत हैं—

अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
सांध्य तारक-सा
अतल में । (एक पीली शाम)

चाँदनी की उँगलियाँ चंचल
क्रोशिये से बुन रही थीं चपल
फेन-झालर बेल, मानो । (सागर-तट)

दूसरी कविता के ठीक अंत में 'मानो' की स्थिति देखकर लगता है कि बिंब जैसे उत्प्रेक्षा को मुँह चिढ़ा रहा हो ।

नयी कविता के अपने विकास में बिंब का क्षेत्र आसमान से लेकर घर के खपरैल तक व्याप्त हो जाता है । गजानन माधव 'मुक्तिबोध', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और लक्ष्मीकांत वर्मा के प्रयोग नयी कविता की भंगिमा को निखारते हैं । यों प्रगतिवादी दौर में केदारनाथ अग्रवाल के ऐसे प्रयोग विशेष रूप से आकर्षक रहे हैं—

धूप चमकती है चाँदी की साड़ी पहिने
मैके में आई बेटी की तरह मगन है

मुक्तिबोध, सर्वेश्वर और लक्ष्मीकांत का बिंब-विधान रचनात्मक दृष्टि से बहुत अलग न होने पर भी संवेदनात्मक विस्तार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । मुक्तिबोध के बिंबों में भय और आत्मीयता का एक विचित्र मिश्रण है, जो उनके लिए आज की औसत भारतीय निम्न-मध्यवर्गीय ज़िंदगी का असली रूप है । उनके काव्य की शक्तिमत्ता अधिकतर इस बिंब-विधान से उपजती है और 'गरबीली गरीबी' के समूचे वैविध्य को रूपायित करती है । सर्वेश्वर और लक्ष्मीकांत में भय के विस्तार की जगह व्यंग्य का तीखापन विकसित होता है । मध्यवर्गीय जीवन का अंकन वे सामान्य व्यक्ति के सामान्य अनुभवों में करते हैं । घास काटने की मशीन या लैटरबाक्स या राख का स्तूप में नयी कविता के साधारण जीवन की पहचान साफ़ देखी जा सकती है । इन कवियों के बिंब-प्रयोग आत्मीय बोध के साथ-साथ मानवीय अनुभव के समकालीन तनाव और बेचैनी को पूरी क्षमता के साथ अंकित करते हैं । पर कहीं-कहीं बिंबों का फैलाव रचना का संतुल[न] बिगाड़ भी देता है ।

रचनात्मक स्तर पर बिंब-विधान के कुछ नये रूप र[घु]वीरसहाय की कविताओं में विकसित हुए हैं । अपनी भा[षा] के रचाव में उन्होंने वर्णन और बिंब के भेद को क्रमा[गत] मिटाया है । कविता की भाषा को सही अर्थ में बोलचा[ल] और अखबार की भाषा से संबद्ध करने में वर्णन और बि[ंब] का अन्तर डूब जाए, यह स्वाभाविक है । इस प्रक्रिया [में] सामान्य भाषा की रचनात्मक क्षमता का बिलकुल नया अ[ौर] प्रीतिकर अहसास रघुवीरसहाय के संकलन 'आत्महत्या [के] विरुद्ध' की कविताओं में होता है, वे कविताएँ चाहे रा[ज]नीति के अनुभव-क्षेत्र से संबद्ध हों या कि प्रेम के अनुभव-क्षे[त्र] से, अथवा प्रकृति के मानवीय चित्र हों । अंग्रेज़ी में एक प[रि]भाषा दी गई है कि कविता उत्कृष्ट शब्दों का उत्कृष्ट क्र[म] है, पर आधुनिक कवि की रचना सामान्य शब्दों के साम[ान्य] क्रम से बनती है । रघुवीरसहाय की कविताओं में वर्णन-बि[ंब] का अभेद कैसे संभव होता है, यह समझने के लिए कुछ उ[दा]हरण प्रस्तुत हैं—

सिंहासन ऊँचा है सभाध्यक्ष छोटा है
अगणित पिताओं के
एक परिवार के
मुँह बाये बैठे हैं लड़के सरकार के
लूले काने बहरे विविध प्रकार के
हल्की-सी दुर्गन्ध से भर गया है सभाकक्ष ।
(मेरा प्रतिनि[धि])

एक ग़रीबी, ऊबी, पीली, रोशनी, बीबी
रोशनी, धुंध, जाला, यमन, हरमुनियम अदृश्य
डब्बाबंद शोर
गाती गला भींच आकाशवाणी
अन्त में टड़ंग
(आत्महत्या के विरु[द्ध])

पहले उद्धरण में किसी सामान्य सभाकक्ष का वर्णन [भी] है, और किसी विशिष्ट सभाकक्ष का बिंब भी है । वर्णन [और] बिंब के स्तरों की टकराहट अर्थ को असाधारण विस्तार दे[ती] है । यही स्थिति दूसरे उद्धरण के 'वर्णन-बिंब' की है । [और] यह संभव होता है कविता में बोलचाल की भाषा के प्र[योग] के कारण, जो रचना को विशिष्ट बनाते हुए भी उसे स[ामान्य]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन से प्रजातांत्रिक रखती है। वर्णन और बिंब, प्रजातांत्रिक और विशिष्ट को एक साथ समोने में रघुवीरसहाय की कविताओं का रूप साधारण अर्थ और अनुभव को एक विराटता देता है; उनकी कविताओं में बहुप्रयुक्त शब्द 'लोग'—'लोग लोग लोग चारों तरफ है मार तमाम लोग'—में ये दोनों (तथा अन्य भी!) व्यंजनाएं साथ-साथ चलती हैं। छोटी कविताओं के विधान में यह प्रक्रिया कुछ भिन्न और सुकुमार ढंग से समझी जा सकती है—

बच्चा गोद में लिए
चलती बस में
चढ़ती स्त्री
और मुझमें कुछ दूर तक घिसटता जाता हुआ।

(चढ़ती स्त्री)

प्रार्थना में नमित रहकर
जरूरत भर
जब
सिर उठाया
तब
सुबह हो गई
डाल पर ठहरा हुआ है खिंचा फूल गुलाब का।

(खिंचा गुलाब)

इन कविताओं का विधान जापानी 'हाइकू' का स्मरण दिला सकता है, और तब अनायास ही ध्यान जाता है कि जापानी भाषा की वर्णमाला और उसकी चित्रलिपि एक-दूसरे में कैसे घुल-मिल गए होंगे! इन कविताओं में वर्णन और बिंब का अभेद, अद्वैत बहुत-कुछ उसकी समानांतर प्रक्रिया जैसा है।

यदि सांगरूपक और उत्प्रेक्षा को बिंब की एक पूर्व-स्थिति के रूप में स्वीकार किया जाए तो देखा जा सकता है कि हिन्दी कविता में बिंब के विकास में प्रस्तुत का उल्लेख क्रमशः क्षीणतर होता जाता है, और रचना की व्यंजना-क्षमता के लिए अप्रस्तुत पर बल बढ़ता जाता है। समकालीन कविता तक आते-आते एक तरह से प्रस्तुत का लोप हो जाता है, या यों कहें कि आधुनिक बिंब-प्रक्रिया में प्रस्तुत-अप्रस्तुत अभेद हो जाते हैं। मानव-जीवन और अनुभव अपने में जटिल, संश्लिष्ट तथा गतिशील प्रक्रिया है, इस अनुभव को खंडित होने दिए बिना कविता उसकी पुनर्रचना करती है। और यह संश्लिष्ट पुनर्रचना सबसे अधिक संभव होती है बिंब-प्रक्रिया से, जो अपनी प्रकृति में अर्थ के द्वन्द्व को परिचालित करती हुई भी अर्थ और अनुभव के अद्वैत की ओर उन्मुख है।

R
८४
पि. ३६आ
ज. नं. ६०
पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक तरह से देखो तो

विपिनकुमार अग्रवाल

कविता के महान् होने का यदि कोई एक निश्चित माप है तो सूरदास और रघुवीरसहाय दोनों महान् कवि नहीं हो सकते। यदि तुलसीदास या सुमित्रानंदन पंत को महान् कवि माना जाता है, तब साफ है कि लक्ष्मीकान्त महान् कवि नहीं हैं। लेकिन अगर लक्ष्मीकांत महान् कवि नहीं हैं तब तो न कबीर हैं और न ही श्रीकान्त। पर जो भी हो, यद्यपि रघुवीरसहाय महान् कवि नहीं हैं, तुलसीदास और कबीर दोनों हैं। अतः कविता महान् होने का कोई एक निश्चित माप नहीं हो सकता। और जिस तत्त्व का निश्चित माप नहीं हो सकता उसकी चर्चा करना बेकार है क्योंकि उसके सहारे हम किसी निश्चित नतीजे पर नहीं पहुँचेंगे।

कविता की भाषा में, नाटक की भाषा में, उपन्यास की भाषा में, अखबार की भाषा में और ज्ञान की भाषा में अन्तर होता है। इस अन्तर का कारण यह है कि जो एक में अनकहा रह जाता है वह दूसरे में व्यक्त हो जाता है। हर विद्या में भाषा का रंग और ठाठ बदल जाता है। जिन्हें जो अच्छा लगता है वे उसके हो जाते हैं।

मुझे अगर कविता पढ़ने में मज़ा आता है तो मैं कवि हूँ। कविता की भाषा में जो अनुभव उपयुक्त ढंग से ढल सकता है उसका मैं साझीदार हूँ। मुझमें और कवि में कविता के लिख जाने के बाद कोई अन्तर नहीं रह जाता। कविता के लिखे जाने के पहले मुझमें और कवि में महज़ इतना अन्तर है कि जहाँ वह अनुभव के उपयुक्त भाषा को ढूँढ़ लेने की समस्या का हल निकाल लेने की तरकीब जानता है और इस इच्छा से पीड़ित है, वहाँ मैं पिछड़ जाता हूँ या कोशिश ही नहीं करता। मैं एक तरह का बेहद आलसी कवि हूँ। पर कविता के लिखे जाने के बाद मैं उसे सही ढंग से पढ़ सकता हूँ, उसकी खूबियों और कमियों के प्रति आगाह हो जाता हूँ। यदि कविता अच्छी है तो मुझे सहज ही पूर्णरूप से कवि बना देती है, अन्यथा अधूरा। इस अधूरेपन को अपने से पूरा कर ले की क्षमता मुझमें नहीं है। पर कविता पढ़कर कवि के सम आ जाने की चाह मुझमें मौजूद है। मैं कविता रचते या और पढ़ते समय अपने साझे के अनुभव के कच्चे माल ढाँचा प्रदान करता हूँ, या नयी व्यवस्था प्रदान करता हूँ अनुभव के उस पहलू को उजागर करता हूँ जो ढँका-मुँदा अनखोजा रह जाता यदि भाषा को खास ढंग से तैया करके इस पहलू को परखा न जाता।

यदि बार-बार कविता की प्रकृति के अनुसार भाषा ऐं कर अनुभव को परखने और व्यक्त करने के लिए तैयार न की जाती तो पूरा समाज एक प्रकार के अनुभव को प्राप्त क की क्षमता ही खो बैठता है। अतः अनुभव के विभिन्न पहलु को बनाए रखने और बनाते रहने के लिए मेरे लिए कवित (या अन्य विद्या, या साहित्य) रचते या / और पढ़ते रहन ज़रूरी है। इसमें इत्तफ़ाक बस इतना है कि यह भार मे ऊपर पड़ा है, मेरे पड़ोसी पर नहीं।

अगर हमें कविता लिखते या / और पढ़ते रहना है त प्रश्न उठता है, कैसी? संक्षेप में और सरल-सा उत्तर दे चाहें तो कहेंगे कि हमें ऐसी कविता से सरोकार रखना है ज हमारे अनुभव के दायरे को विभिन्न दिशाओं में बढ़ाने की संभावना प्रदान कर सके। उस कविता द्वारा दिखायी गई नयी दिशा या यथार्थ की नयी व्यवस्था में भले ही हम अपने अनु भव को न ढालने का निर्णय लें, पर महज़ इससे कि हमारे चुनाव की संभावनाओं में वृद्धि हुई हम कह सकते हैं कि हमने अपने को जड़ स्थिति से मुक्त कर लिया। इस चुनाव की संभावना का अज्ञान ही हमें पिछड़ेपन में क़ायम रखता। चुनावों की संभावना को बढ़ाना ही आधुनिकता है। युग में अन्तर चुनावों में गुणात्मक परिवर्तन का आना है।

नवीनतम होना आधुनिक होना नहीं है। हमने भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में जब अपनी मोटर बनाई तो कैडिलैक या रोल्सरॉयस के बाद बनाई। हमारा मॉडल नवीनतम है पर आधुनिक नहीं है, क्योंकि विज्ञान मोटर बनाने में आज जो सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है उनका पूरा उपयोग कैडिलैक में ही उपस्थित है। पर अपना मॉडल बनाकर हम अपने पूर्वजों से आधुनिक अवश्य हो गए जो केवल बैलगाड़ी बना सकते थे। हम दोनों बना सकते हैं। अपना मॉडल बना लेने के पहले हमारे बुद्धिजीवी इस बात से आगाह थे कि दुनिया में बैलगाड़ी भी है और मोटर भी। पर हम आधुनिक हैं क्योंकि न केवल हम मोटर के प्रति आगाह हैं बल्कि हमने उसे बना लेने का निर्णय भी ले लिया है। इसलिए सिर्फ़ संभावनाओं के प्रति आगाह हो जाना और उन्हें नुमाइश में लगी वस्तुओं की तरह देखना काफ़ी नहीं है। जब हम सम्भावना को ठोस रूप देते हैं तभी आधुनिक होते हैं। रेगिस्तान के बीच अगर हमें किसी स्थान पर पहुँचना है तो आज हम रेगिस्तान के किनारे तक मोटर से जा सकते हैं और रेगिस्तान के अन्दर ऊँट से। ऊँट रेगिस्तान में अब भी उचित सवारी है इसलिए उस पर तय करके चढ़ना आधुनिक है। आधुनिकता इस पर निर्भर नहीं है कि हम मोटर पर चढ़ते हैं या बैलगाड़ी पर, बल्कि इस पर कि लक्ष्य पर पहुँचने की समस्या पर विचार करते समय हम सभी साधनों के प्रति आगाह हैं, उनमें से उपयुक्त या सार्थक को चुनते हैं और चुनकर उसका निर्माण और उपयोग कर सकते हैं। सिर्फ़ इतने से कि हमारे पूर्वज मोटर की कल्पना नहीं कर सकते थे और हम उसके आगाह हैं, उसे सैद्धान्तिक ढंग से जानते हैं, उसकी तस्वीर देखी है, या उसे अपना भर सकते हैं आयात करके, हम आधुनिक नहीं हो जाते। मोटर और ऊँट दोनों खड़े हों तो अपने से वे हमें नहीं बता सकते कि क्या उपयुक्त और सही है। मोटर का होना आवश्यक है हमें आधुनिक बनाने के लिए, पर काफ़ी नहीं। क्योंकि जो मोटर बनाना और चलाना नहीं जानता है वह वास्तव में मुक्त होकर चुनने की स्थिति में नहीं है। वह बेबस है ऊँट ही को चुनने के लिए। जीवन में बुद्धिजीवी और साहित्य में कवि, सब तरकीबें जानता है और चुनाव करता है। भले ही वह मोटर को त्याग करके ऊँट को चुने। पर मोटर का उपयोग करने की सामर्थ्य होते हुए, उपस्थित समस्या की माँग के अनुकूल ऊँट को चुनना आधुनिक होता है। मोटर के आ जाने से चुनाव में संख्यात्मक अन्तर आया, और इन सब चुनावों के बीच किसी एक का, ऊँट का, या साइकिल का, या मोटर का, चुनाव करना एक गुणात्मक भिन्न स्थिति का सृजन करना है, इसलिए संभावना को बढ़ाना है। एक देश, एक साहित्य आधुनिकता के भिन्न स्तरों पर आकर रुक जा सकता है। वह महज़ संसार में संभावनाओं के पैदा हो जाने की बात सुनकर संतुष्ट हो जा सकता है, रुचि नहीं लेता। रुचि ले तो उसे स्वीकार मात्र करने तक की या सिर पर आ पड़े तो उसे सह लेने तक की। या बनाने की बात सोचे या निर्णय ले तो उतना भर जितना ग्रहण आसानी से हो जाए, बिना पूर्व में कोई अन्तर डाले। वास्तव में वह आधुनिक तब होता है जब सब संभावनाओं के प्रति जागरूक होकर, समकालीन समस्या के अनुरूप उपयुक्त ढंग को चुनता है, उसे कार्यरूप में परिणत करने का खतरा मोल उठाता है, और इस सिलसिले में जो अन्तर आना आवश्यक हो जाता है उसे सहज स्वीकार करता है।

इस सिद्धान्त को अगर हम कवि पर लागू करें तो पूछेंगे कि कबीर, तुलसी, भूषण, भारतेन्दु, मैथिलीशरण, प्रसाद, पंत आदि के बीच यदि उसे आज के 'जटिल' जीवन से प्राप्त अनुभवों को व्यक्त करने का ढंग चुनना है तो कौनसा ढंग सबसे उपयुक्त या सार्थक होगा। यदि इनमें से कोई ढंग उपयुक्त नहीं है, तब तो उसे सर्वथा नया ढंग ढूँढ़ना ही पड़ेगा।

किसी एक ढंग को चुनने के माने यह नहीं होंगे कि वह उसी प्रकार उसे उपयोग में लाए जैसे वह पहले लाया जाता था। आज की आवश्यकता के अनुसार वह उसे बदलेगा, लचाएगा अधिक दक्ष बनाएगा और कुल मिलाकर वह उस ढंग को विकसित करेगा। यह भी मुमकिन है कि इस क्रिया में वह ढंग को बिल्कुल बदल डाले। जब वह ऐसा कर रहा हो तब परम्परा के नाम पर उसे रोकना परम्परावादी बनना होगा।

अब देखा जाए कि आज के माने गए जटिल संदर्भ में उस कविता के क्या गुण हैं जो अनुभवों की बनावट को भाषा के माध्यम से उपयुक्त ढंग से परख सके और व्यक्त कर सके। इसके लिए जटिल होने के क्या माने हैं, तय कर लेना उचित होगा। आज के जीवन को देखें तो गति, एक ही समय में एक स्थान पर बहुत से दबावों की उपस्थिति, हर दिशा में प्रगति की अति की खोज, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म का साक्षात्कार और उसमें भी संरचना की उपस्थिति, आदि जटिलता के लक्षण मिलते हैं। ऐसे में किसी समाकलित अनुभव की आशा करना समस्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को न समझना होगा। सब उलझा है, किसी घटना को देर तक अलग करके समझना मुमकिन नहीं है, और हर दिशा में (अक्सर विपरीत दिशाओं में जैसे परमाणविक और खगोली) एक साथ सीमाएँ लाँघी जा रही हैं। ऐसे में यदि किसी व्यवस्था का आभास, किसी स्थिति की समझ, या किसी राह का संकेत पाना है, तो जिस संकेतक या निर्देशक का सहारा लें, उसमें खुद का कोई बहुमुखीपन नहीं होना चाहिए। यदि हुआ तो घपला और बढ़ जाएगा।

साहित्य में हमारा मुख्य निर्देशक कवि है। कवि का उपकरण भाषा है। अतः कवि के अन्तर को बहुसंयोजकता से और भाषा को अस्पष्टता से मुक्त रखना नितान्त आवश्यक है। ये दोनों बातें हमें मैथिलीशरण गुप्त में प्राप्त होती हैं। मैथिलीशरण अपने को एक विनयशील सरल, और प्रभाव-ग्रहण-इच्छुक प्रेक्षक के रूप में रखकर बाह्य जगत् का निरीक्षण करते हैं। वे इसके लिए अपने को तैयार करते हैं जब कहते हैं :

हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी ।।

समस्याओं के बीच घिरे होने की जागरूकता उन्हें प्रेरित करती है कम-से-कम अपनी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए। इसके विपरीत, कवि जब स्वयं अपने अन्तरमन में जटिल होने का रास्ता अपनाता है तो उसे अपनी बात दक्ष तरीके से कह लेने के लिए यथार्थ को सपाट और सरल बना लेना पड़ता है। इस मजबूरी का कारण यह है कि जब वह अपने अन्तरमन की जटिलता का बखान करने बैठता है, तब जिस यथार्थ के सहारे वह बात कहता है, उसकी जटिलता का मिश्रण हो जाने पर जो कहना चाह रहा था वही विकृत हो जाता है। अभाग्यवश, जब अन्तरमन की जटिलता को सपाट बाह्य के सहारे (जो कि उपयुक्त ढंग है इसके लिए) व्यक्त करने बैठता है तो उसकी कविता हमें यथार्थ के अनुभव से कही हुई लगती है, नकली लगती है, क्योंकि हमें बाह्य संसार सपाट दीखता नहीं। जो दीख रहा है उसे झुठलाकर कवि के अन्तरजगत् को थाहने के लिए मन तैयार नहीं होता। अब और भी नहीं जब संचार और यातायात के साधन बाह्य जगत् को तीव्र गति से पास लाते रहते हैं, बदलते रहते हैं, और उनसे जूझने के लिए हमें मजबूर करते रहते हैं।

सबके जाने-बूझे उलझे अनुभव में से जब कवि अपने को सपाट और भाषा को सरल करके एक व्यवस्थित, चाहे पुनः संयोजित, संसार हमें दिखलाता है तब हम उसके साथ सहज ही कवि बन जाते हैं। वह तुरन्त हमारा विश्वास जीत लेता है। कविता लिखने का यह अन्दाज़ हमें मैथिलीशरण में मिलता है। उनकी कविता में अविश्वसनीय आन्तरिक ज्वालाओं के बजाय हमें बाहर की स्थितियों की परतों के खुलने का आभास मिलता है। इसको हासिल करने के लिए उन्हें अपनी भाव को ठंडा और खास ढंग से कसा हुआ बना लेना पड़ता है :

निधि खोले दिखला रही प्रकृति निज माया
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया
कहता है कौन कि भाग ठगा है मेरा ?
वह सुना हुआ भय दूर भगा है मेरा
कुछ करने में अब हाथ लगा है मेरा
वन में ही तो गार्हस्थ्य जगा है मेरा।

इन पंक्तियों में सीता की स्थिति की समझ की परतें एक के बाद एक खुलती चली जाती हैं। स्थिति की विडम्बना के बीच से ही सीता का चरित्र अन्तिम पंक्ति में निखर आता है, छलकता नहीं। भाषा का भी कविता के संगठन की माँग के अनुरूप उपयोग है। 'कुटिया' और 'राज-भवन', 'भाग ठगा' और 'हाथ लगा', 'भय' और 'गार्हस्थ्य' ऐसे शब्द पास-पास आकर एक-दूसरे के अर्थ को पैना और गहरा बनाते चलते हैं। शब्दों और स्थितियों के अन्तर-तनावों को एक सीमा तक पहुँचाकर मैथिलीशरण आगे आने वाले कवियों के लिए एक नयी चुनौती की स्थिति पैदा करते हैं।

इस चुनौती को स्वीकार किया लक्ष्मीकांत और सर्वेश्वर ने। नमूने के लिए लूँ तो मैथिलीशरण की तरह इन्हें भी अपनी स्थिति के बारे में प्रश्न पूछ लेने की ज़रूरत हुई :

कहाँ हूँ मैं
कहाँ है अर्जुन
ओ कुरुक्षेत्र
कहाँ हूँ मैं···? (लक्ष्मीकांत)

अक्सर सोचता हूँ
मैं कहाँ खड़ा हूँ !
··· ···· ···
मैं कहाँ खड़ा होऊँ !
··· ···· ···

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कैसी विचित्र है यह जिन्दगी
जिसे मैं जीता हूँ ! (सर्वेश्वर)
मैं हूँ अपने ही लघु अस्तित्व से जन्मा
व्यापक परिवेश का साक्षी और साक्ष्य ।
(लक्ष्मीकान्त)

इस अपरिचित नगर में
जहाँ भी मैं खड़ा होता हूँ
चारों ओर के रास्ते
डायनामाइट से उड़ते दिखाई देते हैं । (सर्वेश्वर)

खुद न व्यापक और विचित्र होकर, जो आसान है, ये कवि अपने को लघु और सरल इकाई मानकर संसार को, जीवन को, यथार्थ को, अजीब, रणस्थल-सा और उड़ते-बदलते रूप में देखते हैं, देखने का जोखिम उठाते हैं । इसमें हम सहज ही अपने साझे के अनुभव की बैसाखी का सहारा ले इनके साथ यात्रा पर निकल पड़ते हैं । इनके साथ हम भी कवि बन जाते हैं और वाह्य दबावों को महसूस करते हैं :

तुम्हारे साथ रहकर
अक्सर मुझे ऐसा महसूस हुआ है
कि दिशाएँ पास आ गयी हैं
हर रास्ता छोटा हो गया है
दुनिया सिमट कर
एक आँगन-सी बन गयी है
जो खचाखच भरा है
कहीं भी एकान्त नहीं
न बाहर, न भीतर । (सर्वेश्वर)

मैथिलीशरण की परम्परा को आगे बढ़ाकर ये कवि इस आपत्तिकाल में उलझे वाह्य को समझने के लिए अपने को परिभाषित कर, स्थिरांक या इकाई मान, यथार्थ के कुछ हिस्सों को लचाकर आकार दे देते हैं, या उसे परखते हैं :

एक बहुत बड़ा नक्शा है
... ...
उन करोड़ों के साथ-साथ
मैंने देखा है—
उन्हीं में से एक मैं हूँ
यानी करोड़ों का अन्तिम करोड़वाँ हिस्सा
यानी एक अकेली इकाई
... ...
शाम को थका-मांदा
... ...
मैं किसी स्थिति का पूरक हूँ । (लक्ष्मीकांत)

हर चीज़ का आकार घट गया है
पेड़ इतने छोटे हो गए हैं
कि मैं उनके शीश पर हाथ रख
आशीष दे सकता हूँ
आकाश छाती से टकराता है
मैं जब चाहूँ बादलों में मुँह छिपा सकता हूँ । (सर्वेश्वर)

अतः मैथिलीशरण की सीता की तरह इन कवियों का 'मैं' भी इस बदली हुई स्थिति में आश्रय की, अपने को पुनः पाने की, कोशिश करता है ।

मुझे एक स्थिति दो
उस स्थिति का वातावरण दो
मैं उसके अनुकूल
उस प्रवाहित क्षण के दायित्व को
वहन कर लूँगा । (लक्ष्मीकांत)
तुम्हारे साथ रहकर
अक्सर मुझे महसूस हुआ है
कि हर बात का एक मतलब होता है
... ...
तुम्हारे साथ रहकर
अक्सर मुझे लगा है
कि हम असमर्थताओं से नहीं
सम्भावनाओं से घिरे हैं । (सर्वेश्वर)

सीता को गार्हस्थ्य घेर लेता है, मैं को दायित्व और सम्भावनाएँ । पर नये कवियों का ढंग अधिक विकसित है, अधिक सधा हुआ है, अधिक पका हुआ है । उनमें प्रथम अन्वेषी का अटकाव, जो मैथिलीशरण में था, अनुपस्थित है । मैथिलीशरण से लेकर श्रीराम वर्मा तक की पृष्ठभूमि में ही हम नयी कविता के महत्त्व को, तरीके को, समझ सकते हैं ।

अब देखा जाए कि नयी कविता एक दौर है या नहीं और इस दौर में बने रहने की कितनी क्षमता है । एक दौर की उत्पत्ति कैसे होती है ? इस प्रश्न के सब पहलुओं पर विचार करना मुश्किल है । पर कुछ छोटी-मोटी बातें कही जा सकती हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक दौर सिर्फ इसलिए नहीं पैदा होता कि परम्परा बदल जाती है, या ईश्वर के बारे में भावना बदल जाती है, या यातायात के साधन बदल जाते हैं। जिस परम्परा से पंत उधार लेते हैं उसी से लक्ष्मीकांत भी, जितना ईश्वर को पंत मानते हैं उतना लक्ष्मीकांत भी (इधर शायद ज्यादा ही), जिस रेल पर पंत अपनी जवानी में चढ़ते थे उसी पर लक्ष्मीकांत भी। प्रकृति जितनी पहले थी उतनी अब भी है। अन्तर इसलिए आया कि प्रश्न दूसरे पूछे गए। जिज्ञासा की दिशा में परिवर्तन आ गया, जैसे भीतर से बाहर की ओर। यथार्थ का भिन्न हिस्सा दृष्टि के केन्द्र में लाकर फ़ोकस किया गया। इसके अलावा, ऐसे प्रश्न, ऐसी जिज्ञासा, ऐसी दृष्टि रखने वाले लोग इत्तफ़ाकन एक जगह मिल गए। कम-से-कम इतना सामान जुटने पर ही एक दौर का पैदा होना मुमकिन होता है। नयी कविता को यह सब प्राप्त हुआ।

यदि एक दौर को दूर तक प्रभावशील बने रहना है तो कम-से-कम उसमें दो गुण होने चाहिए। एक यह कि उसे पूरा एहसास होना चाहिए कि हर दौर में भाग लेने वालों के सम्पूर्ण अनुभवों का एक दायरा होता है या एक क्षितिज होता है। जब इसे अस्वीकार करके, सीमित को सारा मान करके, दौर आत्मसंतोष महसूस करने लगता है और अपनी उम्र को बड़प्पन समझने लगता है, तभी उसकी जिज्ञासा बुझने लगती है, प्रश्न दुहराए जाने लगते हैं और यथार्थ का स्थान 'यथार्थ की तस्वीर' ले लेती है।

दूसरा आवश्यक गुण पहले गुण से सम्बन्धित है। समकालीन क्षितिज पर भविष्य की घटनाओं की आहटें आती रहती हैं। यदि दौर में लोच अभी बाकी है तो वह नए प्रभावों को ग्रहण करने के लिए तत्पर रहेगा। दूसरे शब्दों में, यदि क्षितिज का आभास है तो नए प्रभावों के आने की संभावन[ा] के प्रति सजगता भी होगी, और यदि सजगता है तो इ[न] प्रभावों को स्वीकार करके अधिक तनावदार और जटि[ल] बनने की लियाकत भी होगी। पर यहाँ एक खतरे की ओ[र] ध्यान आकर्षित करना भी ठीक होगा। जिन्हें क्षितिज क[ा] आभास नहीं है, जो अपनी सीमा को अस्वीकार करके सा[रे] इतिहास, सारे वर्तमान और सारे भविष्य को आत्मसात क[रने] की रूमानी प्रवृत्ति के शिकार हो जाते हैं, उनसे भी अक्स[र] अपने दौर को बनाए रखने के लालच में नए प्रभावों क[ो] आश्रय देने का रोग पैदा हो जाता है। यह बहुत घात[क] स्थिति होती है क्योंकि तब दौर स्वयं तो निस्तेज हो ही जा[ता] है पर साथ ही नए दौर के आने के लिए आवश्यक रोक-टो[क] वाली ज़मीन भी तैयार नहीं करता। यदि क्षितिज का भा[न] हो, पर सीमित दृष्टि से लगाव पैदा हो जाने के कारण न[ए] प्रभावों से बचने की आदत बन जाए, तो बहुत बुरा नहीं[;] क्योंकि नए प्रभावों की वर्जना में नए दौर के पैदा होने[के] बीज पड़ जाते हैं।

नयी कविता में दौर के दोनों गुण (१) समकाली[न] क्षितिज का एहसास, और (२) नए प्रभावों की सजग[ता] और उन्हें स्वीकार करने की लोच, मौजूद थे; और लगता[है] आज भी मौजूद हैं। नए भाग लेने वालों की दृष्टि में यथा[र्थ] का भिन्न हिस्सा (जैसे, देह का) फ़ोकस में आ गया हो[,] अलग बात है। यथार्थ की जगह तस्वीर ने नहीं ली है य[ह] मुख्य बात है।

* परिमल पर्व (फरवरी '७०) पर एकत्र लेखकों के सम्मुख [यह] निबंध का प्रारूप पढ़ा गया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य क्यों ?

नित्यानंद तिवारी

मानवीय प्रयत्न की संस्कृति-विरोधी दिशा को आज आमतौर पर इन्कार नहीं किया जा सकता, जबकि इसके पहले इस तरह का दबाव इतने गहरे और व्यापक रूप में मस्तिष्क और संवेदना को प्रभावित नहीं करता रहा। इसका सीधा परिणाम खीझ, तनाव, संघर्ष और मखौलपूर्ण व्यवहार में होता है। जब सारे-के-सारे युग के व्यवहार का मिज़ाज इस तरह का हो तब वह मिज़ाज अपने-आपमें चुनौती का रूप ग्रहण कर लेता है। आज जीवन और विद्या के हर क्षेत्र में यह चुनौती उभर आई है।

अगर हम मान लें कि साहित्य का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में जीवन से है ही, तो जीवन के अनुरूप साहित्यिक हल्के में भी चुनौती को स्वीकार करना ही पड़ेगा। जिस तरह यह प्रश्न उठाया जाता है कि जीवन ही क्यों ? उसी तरह साहित्य के लिए भी यह प्रश्न उठ सकता है, जिसे आज उठाया गया है। इसलिए जीवन और साहित्य का यह अस्तित्वपरक प्रश्न बिल्कुल एक है।

इसके अलावा इस तरह भी बात को उठाया जा सकता है कि जीवन तो हमें मिल गया है, उसे जीना-ढोना है ही, लेकिन इस अनिवार्यता के साथ साहित्य का भार भी क्यों ढोया जाय ? तब साहित्य का अस्तित्व अवश्य विवादात्मक हो जाता है। या फिर जीवन को भी न ढोकर आत्महत्या कर ली जाय, ऐसी हालत में किसी भी अस्तित्व के बारे में चिन्ता करने को नहीं रह जाता। लेकिन जो आत्महत्या की बात करते हैं, वे भी जीवन की चिन्ता करते हैं और आत्महत्या का विचार उनकी चिन्ता का ही परिणाम है।

जीवन के साथ-साथ हम साहित्य को भी इसलिए ढोएं कि वह जीने को बेहतर बनाता है और हमारी योग्यता और क्षमता को संगठित कर दिशा देता है तो आज के तमाम सम-सामयिक साहित्य के प्रमाण और साक्ष्य पर इस प्रतिज्ञा को अस्वीकार करने में कठिनाई नहीं होगी। अर्थात् **आज गहरे-से-गहरे उपयोगपरक अर्थ में भी साहित्य की सार्थकता प्रमाणित करने का प्रयत्न असंगत लगने लगता है।** इसलिए उपयोग (चाहे वह नैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक किसी भी प्रकार का हो) से अलग किसी तात्त्विक बिन्दु से यह अस्तित्व-मीमांसा शुरू करनी होगी।

तात्त्विक बिन्दु से क्यों ? क्या ऐतिहासिक परिवर्तन में नई विकसित वास्तविकता की पहचान से यह उत्तर नहीं दिया जा सकता ? हमारा पिछला अनुभव और इतिहास साक्षी है कि उस पहचान से उत्तर दिए-पाए जाते रहे हैं। तो क्या उसी तरह आज भी हम अपने उत्तर की तलाश कर कर सकते हैं ? क्या परिवर्तन केवल स्वरूप को चुनौती देता है, अस्तित्व को नहीं ? क्या कलिदास और तुलसी **जिस तरह** अपने साहित्य की प्रयोजनीयता का उत्तर पाते हैं **उसी तरह** आज का साहित्यकार भी अपने 'क्यों' का जवाब पा सकता है ? अगर पा सकता है तो सिर्फ स्वरूप को चुनौती मिली है उस '**तरह**' को नहीं। हो सकता है कालिदास का उत्तर हमारी सहायता न करे लेकिन '**तरह**' तो फिर भी सहायता करेगा। लेकिन ऐतिहासिक परिवर्तन '**तरह**' को भी बदलता है, बदल सकता है। '**तरह**' तब बदलता है जब मौलिक और मूलभूत परिवर्तन हो जाता है। यही नहीं, ऐतिहासिक परिवर्तन की धारणा भी बिल्कुल भिन्न हो जाती है जो ऐसे बिन्दु पर ले जाकर छोड़ देती है, जहाँ लगता है कोई भी क्रम-प्रक्रिया हमारी सहायता नहीं कर पायेगी। ऐसी हालत में एक नई शुरुआत के सामने हम खड़े हो जाते हैं और अस्तित्व के मूलभूत बिन्दु से हमारे सवाल उभरते हैं।

'किसी' भी 'कुछ' के लिए—अगर वह 'कुछ, अनुपस्थित हो तो भी—जीना हमारी मौलिक क्रिया और बाध्यता है (निश्चय ही जब तक आत्महत्या का निर्णय न कर लिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय)। अब हमारी जीने की यह क्रिया किस तरह के संदर्भों में घिरी है? क्यों बार-बार ये संदर्भ मानवीय संस्पर्शों को उपहासास्पद और असंगत बना देते हैं? बार-बार लोगों ने इस तथ्य को लक्षित किया है कि बनाने और रचने के विशेष प्रयत्न के साथ जो जीवन जिया जाता है उसे आज की तकनीकी सभ्यता ने स्वचालित, सामान्य और समानुरूप क्रिया में परिवर्तित कर दिया है, अर्थात् मनुष्य की सर्जक और विशिष्ट प्रकृति स्वचालित सामान्य सांस्कृतिक परिवेश में घिरी हुई है। मानवीय प्रकृति और सांस्कृतिक परिवेश का इतना गहरा विरोध और इतनी गहरी खाई मानव-जीवन ने अपने इतिहास में इस तीखेपन और तात्त्विक रूप में कभी महसूस नहीं की। ऐसी हालत में जीना अगर निर्विशेष सामान्य में बह जाना है तो उसका अस्तित्व कहाँ रहा? वह जीना केवल मूलप्रवृत्त्यात्मक है और ऐसे जीवन के लिए 'अर्थ' अर्थहीन हो जाता है। इसके विपरीत जीवन का अस्तित्व कायम रखना आदमी की अपनी प्रतिभा, महत्त्वाकांक्षा और जिज्ञासा पर निर्भर करता है, जो अपने प्राकृतिक परिवेश से आगे निकल जाना चाहता है और इसलिए उसके प्रयत्न विविध प्रक्रियाओं में प्रतिफलित होने लगते हैं। उसके प्रयत्न की यह विविधता सभी क्षेत्रों में प्रायोगिक विधियों और प्रायोगिक मस्तिष्क की माँग करती है। प्रश्न यह है कि क्या तकनीकी और वैज्ञानिक प्रयोगक्षमता के साथ जीवन के हर क्षेत्र में यह प्रयोगक्षमता उतनी ही तेज़ी से प्रतिफलित हुई है या हो रही है? असल में तकनीकी स्वचालन और समनुरूपता और मनुष्य के सर्जक रूप का यह संघर्ष उतना भयानक नहीं है, जितना मस्तिष्क की अप्रायोगिकता और प्रायोगिकता की कशमकश। इस प्रकार सबसे भयानक संकट अप्रायोगिकता का है। दुनिया में सब जगह आधुनिक और आधुनिकतावादी कहे जाने वाले चिन्तकों और साहित्यकारों ने इस अप्रायोगिकता के ही कारण जीवन को असंगतिपूर्ण और निरर्थक घोषित करने का साहस किया—ऐसा मुझे लगता है। मुझे तो कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि अपने प्रायोगिक और गत्यात्मक मस्तिष्क के सहारे वे किसी आत्यन्तिक मूल्य की भी खोज करने लगते हैं और चूँकि अन्तिम स्वयंपूर्ण अर्थ देना इस पद्धति का स्वभाव नहीं और इसलिए भी शायद उन्हें जीवन अर्थहीन लगने लगता है। खैर यह तो उनकी परिणति की कथा है, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि मस्तिष्क के इन दोनों स्वभावों और अनुशासनों की विरोधी प्रतिक्रियाओं के कारण जीवन में बड़ी व्यापक और सर्वग्रासी विसंगति उपजी है; यहाँ तक कि आदमी, उसके आसपास और चीज़ों में कोई रिश्ता ही नहीं रह गया है। बिना रिश्ते के जीना आज की सबसे बड़ी हक़ीकत हो गई है और बिना रिश्ते के किसी तरह की पहचान संभव नहीं है—

मैंने एक बड़े आदमी से पूछा
'तुमने यह कोट कहाँ से पाया'
उसने मुझे घूरकर देखा
और कोट उतारकर फेंक दिया
मैंने उससे पूछा 'तुमने यह चश्मा कहाँ से पाया'
उसने चश्मा भी उतारकर फेंक दिया
और अंधा हो गया!
जब मैंने पूछा
'बड़े आदमी तुम आदमी तो हो न!'
तो वह नंगा हो गया और मर गया।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

आदमी से पूछना कि 'तुम आदमी तो हो न!' इससे सीधा सवाल और क्या हो सकता है! लेकिन यह छोटा-सा सवाल उसे बेपर्द कर देता है। बड़बोले दर्शन और वाचाल व्यवस्थाएँ इस छोटे-से सवाल से दरक जाती हैं और आदमी अनस्तित्व में घुलने लगता है। फिर या तो जीवन विसंगति के सामने (विरोध में भी) खड़ा हो और अपने अस्तित्व को प्रमाणित करे या फिर अमानुषिक बर्बर संदर्भों में खो जाये जिसके लिए उसे कोशिश करने की जरूरत ही नहीं है। सामने खड़ा होना और अस्तित्व की मीमांसा और प्रमाण देना आदमी की निरन्तर प्रायोगिकता पर निर्भर है क्योंकि स्थापित प्रमाण और मीमांसा अपने तमाम रिश्तों के साथ अर्थहीन हो चुके हैं। यह संदर्भ किसी खास देश या कि कुछ लोगों का ही नहीं तमाम दुनिया के लोगों का है। उसके उत्पन्न होने के विवरण अलग हो सकते हैं और दिए जा सकते हैं, लेकिन इससे प्रश्न के स्वरूप और विश्लेषण में कोई बहुत बड़ा फ़र्क नहीं पड़ने वाला।

आखिर इस विसंगति में जीने की कोशिश की जाये या नहीं? अगर नहीं तो हम जी लिए जाएँगे और एक पुर्जे या कि पत्थर के टुकड़े से अलग जीवन की कल्पना असंभव होगी। इस तरह भयानक विसंगति में भी जीने की हरकत और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोशिश संभवतः उसकी अपनी आन्तरिक प्रकृति और प्रक्रिया के लिए ज़रूरी है न कि अंतिम और स्वयंपूर्ण अर्थवत्ता पाने के लिए।

मान लीजिए यह कोशिश अगर शुरू होती है तो कहाँ से और कैसे होगी? आदमी जिन छोटी-बड़ी, अच्छी-बुरी, कुरूप-सुन्दर परिस्थितियों में घिरा है उनके भीतर से गुजरने के अलावा वह और क्या कर सकता है। ऐसी हालत में एक-एक परिस्थिति और अनुभव को वह जितना निचोड़ सकता है, निचोड़ ले। लेकिन वह कैसे और क्या निचोड़ेगा सिवा इसके कि तटस्थ सचेतनता के साथ उन्हें झेलने की एक मानसिक तैयारी कर ले। यह मानसिक तैयारी, मेरा खयाल है, बहुत दूर तक परिस्थितियों को बदल देती है और आदमी के गौरव को उभारने लगती है जो निश्चित रूप से उपदेशित और आरोपित गौरव और सार्थकता से भिन्न होती है। आज जीवन की यह बुनियादी शर्त और मौलिक क्रिया है। सवाल यह है कि इस बुनियादी शर्त और मौलिक क्रिया में साहित्यिक क्रियाएँ कहाँ तक उसकी अंगभूत हैं। इस बिन्दु पर जीवन और साहित्य जो अपने-अपने प्रतिमानों के साथ प्रमाणित और भिन्न सत्तात्मक प्रतीति थे उनका अंतर नहीं रह जायेगा और कला और साहित्य अपने बने-बनाये मानदण्डों को लेकर अपनी सार्थकता खोजने का यत्न करेंगे तो वह हास्यास्पद और असंगत क्रिया मात्र होगी।

क्या कारण है कि आज की सारी कला और सारा साहित्य अमानवीय बर्बरतापूर्ण हरकतों में ही संगत और प्रभविष्णु लगता है? वास्तविकताओं को विरूप और व्यंग्यात्मक पुट देकर गैर-जिम्मेदाराना अंदाज़ में उछालता है? उसे क्यों लगता है—

तमाम किताबों के बीच
घिरा हुआ
मैं जानवर सा चुप हूँ।

—गोविन्द उपाध्याय

क्या कारण है कि ज्ञानरंजन की कहानी का आदमी थोड़ी-सी शराब के लिए एक तथाकथित सभ्य आदमी का घंटा बनता है और एक मामूली-सी हँसी आ जाने के कारण बेहद अपमानित होता है और पिटकर रेस्तराँ से नीचे उतर आता है। हँसी जो उसका निजत्व, उसकी ज़िन्दगी है, पिटकर, अपमानित होकर ही क्यों प्रभावित करती है? रवीन्द्र कालिया की कहानी का 'छोटा' क्यों बकरा बनता है? क्या है जिससे उसे यह करना और कहना पड़ता है "तुम्हें कैसे समझाऊँ उससे मेरा कोई ताल्लुक नहीं है। मेरी बात पर यकीन करो और रुक जाओ। वह केबिन की प्रेमिका है। मैं तो सिर्फ बकरा हूँ। मैं केबिन के बाहर के दाँत हूँ। इसी नाटक के लिए पिछली बार मुझे डबल इन्क्रीमेण्ट मिला था। मैं इस नाटक में हिस्सा न लेता तो काला रजिस्टर मुझे खा जाता। मेरा कोई कसूर नहीं, यकीन मानो मैं सिर्फ बकरा हूँ।" और "हालत इतनी बकवास हो गई/कि हर किसी को/आजादी के नाम पर/अदालत जाने की लत पड़ गई है/आदमी की जात कहीं से भी दबोचो/ढीली पड़ गई है/"—लीलाधर जगूड़ी। ये सारे एहसास कविता और साहित्य नहीं हैं क्योंकि "किताबों के भीतर/नज़रों का खेल खत्म हो जाने के बाद/कुछ नहीं मिलता है/" इसलिए "तुम्हारे माथे पर/कविता नहीं हाथ रखूँगा/"—लीलाधर जगूड़ी।

जीने की क्रिया और इन पंक्तियों में कोई अन्तर नहीं है और यद्यपि यह जल्दीबाजी हो सकती है, फिर भी कहा जा सकता है कि **आज साहित्य लिखना सिर्फ जीने की मौलिक क्रिया और एहसास है** (यह मूल प्रवृत्यात्मक नहीं सचेत प्रयास का प्रतिफलन है) जिसमें इनसे अलग अर्थ कहीं से नहीं आयेगा—

अर्थ उगते हैं/गोया तुमने इन्हें नहीं बोया/
जरूर कहीं कोई छेद है/जो तुम्हारी आँख से होकर
उतना नहीं/
जितना तुम्हारे अण्डरवीयर और बनियान से है/

—लीलाधर जगूड़ी

अपने आस-पास की परिस्थितियों में आदमी जिस तरह आज जीता है, ये पंक्तियाँ उस जीने की आंतरिक प्रकृति और प्रक्रिया की अंगभूत हैं। इसके अलावा न उनका कोई उपयोग है न कोई सार्थकता—ऐसा मुझे लगता है। वह हमारी और जीवन की सत्ता का स्वयं प्रमाण है।

साहित्यिक कृतियाँ हमारे पृथक्-पृथक् आचरण हैं। जिस तरह आचरण और कार्य हर व्यक्ति के लिए भिन्न हैं उसी प्रकार वे भी अनन्य और अद्वितीय हैं। जीवन का प्रत्येक क्षण हमारे कर्तृत्व के लिए अवसर देता है और सवाल खड़े करता है। उसका सामना करना हमारे अपने विवेक और प्रयोगधर्मी साहसिकता पर निर्भर करता है। यह अवश्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि ऐसी हालत में जीवन सिर्फ तात्कालिक और साथ-साथ अवधिहीन भी बन जाता है। हमारी समय की धारणा अव्यवस्थित हो जाती है। जीने की शक्ति क्षरित होने लगती है। आदमी अपनी नितान्त निजता में इतना संसक्त हो जाता है कि वह भावनाशून्य हो जाता है और वास्तविकता के प्रति बहुत अधिक शंकालु। तब केवल यही एक चारा रह जाता है कि हम भविष्य में और गतिक्रम में विश्वास रखें, क्योंकि इस विश्वास के बिना हमारी प्रायोगिकता चरितार्थ ही नहीं हो सकती। अक्सर ऐसा होता नहीं, लेकिन लोग अक्सर जीते ही कहाँ हैं ?

'अर्थ' या 'क्यों' का जवाब अनुभवों के भीतर से ही दिया जा सकता है और हर-एक की जीवन की भिन्नता के अनुसार उसका उत्तर भिन्न होगा। यह उत्तर सर्वथा निजी और बिना किसी की सहायता के खुद खोजना होता है। हम लोगों का 'क्यों' का प्रश्न उठाना अपने-आप में इस बात का प्रमाण है कि आदमी इसके बिना शायद रह ही नहीं सकता। डॉ० फ्रैंकल ने 'मैन्स सर्च फॉर मीनिंग' में नाज़ियों के कंसेण्ट्रेशन कैम्प की भयंकर यंत्रणा[ओं] का विवरण दिया है और मौत तथा यंत्रणा के भयंकर क्ष[णों] के भीतर से गुज़रते हुए उनके अनुभवों का सार है—"[...] मनोवैज्ञानिक स्थितियों के विवरण से ऐसी धारणा बनती [है] कि मनुष्य संभवतः परिस्थितियों का दास है। तो क्या आद[मी] में संकल्प जैसी कोई चीज नहीं ? क्या उसे अपना रास[्ता] चुनने का अधिकार नहीं ? अनुभव बताता है कि मनुष्य [के] पास यह अधिकार है। मुझे याद है, ऐसे भी लोग कैम्प में [थे] जो दूसरों को सांत्वना देते थे और २४ घंटे में मिलने वा[ली] एक ही रोटी के टुकड़े भी दूसरों को दे देते थे। भले ही [वे] मुट्ठी-भर ही हों लेकिन ऐसे एक आदमी का अस्तित्व भी [इस] बात का प्रमाण है कि आदमी का सब-कुछ छीना जा सक[ता] है किन्तु परिस्थितियों के प्रति वह क्या मनोवृत्ति अपनाए [यह] स्वतंत्रता उससे नहीं छीनी जा सकती।" यही स्वतंत्रता कि[सी] भी चुनौती के सामने आदमी को खड़ा कर सकती है औ[र] कुरूप, भदेस, अमानवीय होकर भी आज का साहित्य इस[का] प्रमाण है, कम-से-कम मुझे ऐसा ही एहसास होता है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक और आलोचक : विकासमानता का प्रश्न

देवराज

'आलोचना—९' में प्रकाशित श्री विष्णु खरे द्वारा की गयी 'जो बँध न सका' की समीक्षा पढ़कर मन में कुछ प्रश्न उठे, जिन पर, एकालाप के रूप में ही सही, विचार करने की प्रेरणा हुई। यों स्मरण होता है कि प्रस्तुत लेखक ने एक बार 'आलोचना' के वर्तमान सम्पादक को यह सुझाव दिया था कि वह 'लेखकीय विकास' के प्रश्न पर अपनी पत्रिका में लिखित परिसंवाद का आयोजन करें। सम्भवतः माननीय सम्पादक को वह सुझाव पसन्द नहीं पड़ा—शायद इसलिए कि उक्त प्रश्न को एक उत्तेजक बहस का रूप नहीं दिया जा सकता था। या फिर यह कि ऐसे प्रश्नों का अनुचिन्तन आलोचना-प्रत्यालोचना की प्रचलित शैलियों के अनुकूल नहीं पड़ता। श्री विष्णु खरे की समीक्षा जिस स्वर और तर्ज में लिखी गई है वह वाद-विवाद की प्रचलित शैलियों का कम-बढ़ प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए उसके द्वारा उकसाये गये प्रश्नों का सम्बन्ध आधुनिक हिन्दी के, समग्र नहीं तो अधिकांश, समीक्षात्मक लेखन से हो सकता है।

श्री खरे के संक्षिप्त समीक्षा-लेख का शीर्षक है, 'आदतन लिखते रहने की नियति'। उनका कहना है कि : 'गिरिजा-कुमार तथा उनके हमउम्र कवि के सामने उनकी वरिष्ठता एक विचित्र समस्या उपस्थित करती है। वह इकट्ठे तीन चीजें होना चाहते हैं—अग्रणी, समसामयिक तथा जैसे वह वास्तव में हैं।' श्री खरे द्वारा प्रयुक्त पदावली के अनुसार समस्या बहुत-कुछ मनोवैज्ञानिक है—तथाकथित वरिष्ठ लेखक कुछ 'होना' चाहते हैं। इस मनोवैज्ञानिक अथवा विशिष्ट जीवनियों से सम्बन्धित (बायोग्रैफिकल) प्रश्न में—जिसके एक समीक्षात्मक लेख में उठाये जाने के औचित्य में शंका की जा सकती है—हमें एकदम ही रुचि नहीं है। हम यह भी नहीं मानना चाहेंगे कि प्रश्न केवल 'सामयिक' या 'समसामयिक' है। किसी सांस्कृतिक परिवेश में कौनसे प्रश्न 'सामयिक' या 'समसामयिक' समझें जायेंगे—यह मुख्यतः इस पर निर्भर करता है कि संस्कृति-विशेष के लेखकों और प्रवक्ताओं का स्तर क्या है। मनुष्य-जीवन के चरम अर्थ अथवा नियति का प्रश्न, एक तरह से, चिरन्तन प्रश्न है; वह चिर-सामयिक प्रश्न भी है, इस अर्थ में कि—विशेषतः ऐसे युगों में जब धर्मग्रन्थों में आस्था खत्म हो चुकी हो—हर बड़े लेखक और (दार्शनिक) विचारक को किसी-न-किसी रूप में, उससे उलझना पड़ेगा। सच यह है कि मानव-संस्कृति के इतिहास में समझदार लेखकों-विचारकों द्वारा पूछे गये अधिकांश प्रश्न, कमोबेश परिवर्तित रूप में, आज के लिए भी महत्त्वपूर्ण बने हुए हैं। यह दूसरी बात है कि किसी वर्तमान संस्कृति या समाज मे, कुछ मानसिक ऊर्जा की कमी या सीमित मात्रा के कारण, कुछ फैशनपरस्ती या गतानुगतिकता के प्रभाव से, और कुछ युगीन रुचियों की एकांगिता के सबब से, सिर्फ कुछ प्रश्नों को ही महत्त्वपूर्ण करार देकर विवाद और विमर्श का विषय बनाया जाय। उदाहरण के लिये पिछले दशक (१९५१-६०) में हिन्दी जगत् के समीक्षात्मक चिन्तन का एकमात्र विषय था—प्रयोगवाद; वर्तमान दशक (१९६१-७०) के समीक्षकों के बीच एक प्रच्छन्न-सा समझौता रहा है कि 'प्रयोग' का विषय उतना महत्त्वपूर्ण या उल्लेखनीय नहीं है। क्लॉसिकी लेखकों एवं चिन्तकों पर लिखनेवालों की एक उपयोगिता यह भी होती है कि वे पुराने या पिछले प्रश्नों की ओर वर्तमान पीढ़ी का ध्यान दिलाएँ; लेकिन, सौभाग्यवश, नई पीढ़ी के हिन्दी-लेखक इस तरह के किसी बोझे को ढोते हुए चलना पसन्द नहीं करते। एक दशक में सिर्फ एक प्रश्न, एकाध वाद (जैसे रसवाद या छायावाद) अथवा लेखक (अज्ञेय, मुक्तिबोध) की बुराई-भलाई पर बहस करते हुए वे अपनी बौद्धिक जिज्ञासा और ऊर्जा दोनों के प्रति पूरा-पूरा न्याय कर लेते हैं। दूसरी दृष्टि से यह कहा जा सकता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि, विशेषत: हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं का क्षेत्र, उस तरह के प्रश्नों को छेड़ने के लिए उपयुक्त नहीं होता जो उक्त सीमित अर्थ में 'समसामयिक' नहीं है।

हमारा निवेदन है कि 'आदतन लिखते रहने की नियति' एक लेखक की भी हो सकती है, और समीक्षक की भी; दूसरे वह नियति किसी भी युग के लेखक-समीक्षक की हो सकती है। इसलिए श्री खरे द्वारा उठाया गया प्रश्न सिर्फ 'समसामयिक' नहीं है, और उसका सम्बन्ध एक या दूसरे लेखक से जोड़ा जाना भी उचित प्रतीत नहीं होता।

वरिष्ठ होने की नियति, जीवधर्म के नाते, सभी के हिस्से में पड़ती है। यहाँ एक रोचक प्रश्न उठता है : एक लेखक को किस उम्र तक लिखना चाहिए? कब वह इतना वरिष्ठ हो जाता है कि उसका लेखन 'युग के लिए अनुपयोगी' होने लगता है? कालिदास आदि के बारे में हमारे पास ठीक सूचना नहीं है (संभवतः सूर-तुलसी के बारे में वैसी सूचनाएँ उपलब्ध हैं। या नहीं हैं?), लेकिन मेरा अनुमान है कि विश्व के अनेक बड़े लेखक—प्लेटो, अरस्तू, कान्ट, हेगेल, गेटे, बर्गसाँ, हाइडेगर, ह्वाइटहेड, आदि—काफी उम्र तक लिखते रहे; इनमें से कुछ के काफी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बड़ी अवस्था में लिखे गये। सार्त्र और रसेल अभी तक लिख रहे हैं—रसेल की महत्त्वपूर्ण 'हिस्टरी ऑफ़ वेस्टर्न फिलासफी' संभवतः ७६ वर्ष की अवस्था में लिखी गयी थी और उसकी आत्मकथा कुछ ही वर्ष पहले निकली है।[१]

कुछ लोगों की दृष्टि में एक अन्य प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है। दुनिया के साहित्य को कुछ देने की आकांक्षा रखनेवाला लेखक किस उम्र में, लेखन का प्रश्न छोड़ भी दें तो, अपनी कृतियों का प्रकाशन शुरू करे? एक रईस लेखक अपनी स्कूल की उम्र में लिखी गई कृतियों का प्रकाशन कर सकता है; लेकिन यह देखते हुए कि देश की कागज आदि सम्पत्ति सीमित होती है, वैसे प्रकाशन को प्रोत्साहन देना उचित नहीं कहा जा सकेगा। (यों हमारी कम उन्नत भाषाओं में स्थिति उलटी ही है; यहाँ घटिया जासूसी उपन्यास और 'आवारा' तथा 'गुलशन नन्दा' जैसे लेखकों की रचनाएँ धड़ल्ले से प्रकाशित होती और बिकती हैं।) मेरा संकेत एक ज्यादा बड़े प्रश्न की ओर है : कब, किस निम्नतम अवस्था तक पहुँचने पर, हम किसी लेखक से सही तौर पर यह आशा कर सकते हैं कि वह हमारे साहित्य को कमोबेश प्रौढ़ कृतियाँ दे सके? माना जा सकता है कि विभिन्न लेखकों में प्रतिभा का योग कम-बढ़ होता है; बुद्धि और जिज्ञासा के अनुपात से उनकी 'सीखने' की रफ्तार भी अलग-अलग हो सकती है। फिर भी, यह देखते हुए कि आज के मनुष्य को, ज्ञान-विज्ञान और हर तरह के साहित्य के अपार विस्तार के कारण, अपने को सुशिक्षित बनाना एक लम्बा काम है, इस सम्भावना को स्वीकार किया जा सकता है कि एक खास उम्र तक पहुँचे बिना कोई लेखक सचमुच ऐसी कृति का प्रणयन नहीं कर सकता जो समझदार पाठकों को आकृष्ट कर सके। या कर सकता है? हिन्दी में—पता नहीं इसे सौभाग्य कहा जाए या दुर्भाग्य—अभी तक रोमांटिक साहित्यशास्त्र की यह धारणा प्रचलित है कि सर्जनशील प्रतिभा को विशेष शिक्षा-दीक्षा की जरूरत नहीं है। सिद्धान्त में नहीं तो व्यवहार में—इसके बावजूद कि आज के अधिकांश लेखक छायावादी मनोवृत्ति के विरोध को अपना पवित्र और क्रान्तिकारी कर्तव्य मानते हैं—हिन्दी साहित्य-जगत् की यह प्रचलित धारणा है कि अच्छा लेखन करने के लिए इतना काफी है कि लेखक विशेष, जन्म-तिथि और जिन्दगी की परिस्थितियों के हिसाब से, तथाकथित नई पीढ़ी का सदस्य हो। जहाँ तक शिक्षा का प्रश्न है, यह काफी समझा जाता है कि उसने एम० ए० की डिग्री ले ली हो (पी०-एच० डी० की उपाधि नौकरी के लिए जरूरी समझी जाती है, न कि लेखन के लिए)। इसके अलावा उदीयमान लेखक का अस्तित्ववाद, बीटनिक साहित्य आदि से चलताऊ परिचय होना आवश्यक माना जा सकता है। यदि आइन्स्टाइन, विटगैन्सटाइन जैसे कुछ नामों से परिचय हो तो, रौब जमाने की दृष्टि से, उपयोगी है। इन सबके अलावा सिर्फ इतना और अपेक्षित है कि उसका लिखने और बोलने का एक खास अन्दाज हो—वह 'वस्तुतः' की जगह नियम से 'दर-असल', 'रचना' या 'संरचना' की जगह रचाव, बनावट या बुनावट जैसे शब्दों का प्रयोग करे; वगैरह वगैरह। पता नहीं नया और महत्त्वपूर्ण लेखक बनने के ये नुसखे अंग्रेज़ी, फ्रेन्च आदि भाषाओं के साहित्यकारों को अभी तक ज्ञात हो सके हैं या नहीं। कम-से-कम इस मामले में हिन्दी के युवा लेखक विश्व के साहित्यिकों को बहुत-कुछ

१. बर्ट्रेंड रसेल की ९७-९८ वर्ष की अवस्था में ३ फरवरी, १९७० को मृत्यु हो गयी। सार्त्र की अवस्था इस समय ६५ के लगभग होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिखा सकते हैं।

इधर नयी पीढ़ी से नये अनुभव पर विशेष ज़ोर दिया दिया जाने लगा है। चूंकि तथाकथित वरिष्ठ लेखकों का अनुभव अपने समय की नयी पीढ़ी के समान नहीं होता, इसलिए उन्हें लिखते रहने का अधिकार नहीं रह जाता। हमारी सम्मति में इस तरह की मान्यता एक अर्ध-सत्य है। हर लेखक और हर पीढ़ी का लेखक, स्वभावतः अपने अनुभव को अभिव्यक्ति का विषय बनाता है; इसमें शिकायत की बात क्या है? देश के इतिहास में कुछ वर्ष और दशक अन्न की कमी या बेकारी के हो सकते हैं और कुछ अपेक्षाकृत ज्यादा अच्छी स्थिति वाले। निश्चय ही इन स्थितियों का सम-सामयिक मनोवृत्ति, नैतिकता और दृष्टि पर असर पड़ता है। यों, अपनी-अपनी आर्थिक-सामाजिक स्थिति के हिसाब से, हर लेखक का अनुभव और मनोवृत्ति भिन्न हो सकती है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि किसी खास अनुभूति को शब्दबद्ध करने वाला साहित्य आवश्यक रूप में अच्छा या बुरा होता है। आज हम कालिदास, शेक्सपियर और टॉलस्टाय को इसलिए पढ़ना और सराहना बन्द नहीं कर देते कि उनकी अनुभूतियाँ हमारे युग के अनुभव से भिन्न थीं। यदि नई पीढ़ी के इस तर्क को छोर तक पहुँचाया जाए तो निष्कर्ष यह होगा कि एक दशक या पीढ़ी का लेखन सिर्फ उसी दशक या पीढ़ी के लिए होता है, और यह कि उसका सही मूल्यांकन उसी दशक या पीढ़ी में हो सकता है। सम्भव है आज के कुछ लेखकों की महत्त्वाकांक्षा इतनी सीमित हो, लेकिन हम उस महत्त्वाकांक्षा को स्वस्थ और दाद देने लायक मनोवृत्ति का सूचक नहीं कह सकेंगे। किन्तु हम श्री खरे से इस बात में पूर्णतया सहमत हैं कि किसी लेखक को उस अनुभूति को प्रकट करने का दावा और कोशिश नहीं करनी चाहिए जो उसकी अपनी नहीं है।

हमारी मान्यता है कि किसी भी लेखक को तब तक लिखते रहने का अधिकार है जब तक, एक शब्द में, वह विकासशील है। असली महत्त्व का प्रश्न यह है कि इस विकासशीलता का स्वरूप और पहचान क्या है।

एक अर्थ है जिसमें किसी व्यक्ति या लेखक की अनुभव-क्षमता एक खास उम्र तक ही सक्षम और क्रियाशील बनी रहती है। साहित्य-सर्जना की दृष्टि से अर्थवान् एवं महत्त्वपूर्ण अनुभव वह है जो हमारे समूचे अस्तित्व को झकझोरता या संसक्त बना लेता है।

शुरू उम्र के अनुभवों में कुछ आवेग प्रधान रहते हैं; तब शायद प्रकृति, और खास उम्र के स्त्री-पुरुष ज्यादा दिलचस्पी जगाते हैं। लेखक की अपनी और आसपास की संघर्षमूलक आर्थिक स्थितियाँ और विषमताएँ भी आक्रोश और गुस्से से भरी प्रतिक्रियाएँ उकसाती हैं। शुरू की जिन्दगी में हर लेखक, शायद, द्रष्टा की अपेक्षा भोक्ता अधिक होता है। यों तो साहित्यकार सदा ही जीवन में आसक्ति रखनेवाला व्यक्ति होता है, पर एक तरह की आसक्ति है जो क्रमशः द्रष्टा की अनासक्ति से सम्पृक्त हो जाती है। उस स्थिति में लेखक स्वयं अपने भोगे हुए जीवन को मनुष्यमात्र के जीवन का प्रतीक मानते हुए देखना, आँकना और चित्रित करना सीखता है। सम्भवतः यहीं से उस प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है जो लेखक को प्रौढ़ता के धरातल पर ले जाती है। जीवन को आँकने की क्रिया में जैसे-जैसे विकास होता है, वैसे-वैसे लेखक उसे इतिहास और संस्कृति के व्यापक परिवेश में रखकर देखने का अभ्यस्त बनता है।

संक्षेप में, लेखकीय विकास के क्रमों के आयाम नैतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक या दार्शनिक हैं। इन आयामों में समुचित प्रवेश पाने के लिए यह ज़रूरी है कि लेखक गहरे अर्थ में पृच्छाशील और अन्वेषी हो—वह सहज ही किसी नये-पुराने वाद या फ़ैशन के प्रति आत्मसमर्पण कर देनेवाला न हो। अन्ततः बड़ा लेखक प्रखर और गहरे व्यक्तित्व-सम्पन्न लेखक होता है। इस तरह का व्यक्तित्व जहाँ लेखक को केवल सामयिक फैशन या आन्दोलन की बाढ़ में बह जाने से रोकता है, वहाँ वह उसे इतना आत्म-विश्वास भी देता है कि वह तरह-तरह के विरोधों और विरोधी आलोचनाओं की ज्यादा परवाह न करके, चुपचाप, अपने अनुभव को गठित करते हुए, उपयुक्त अभिव्यक्ति के माध्यमों की खोज करता रहे।

जो लेखक जितना ही बड़ा होता है, वह अपने और बिगत युगों के ज्ञान-विज्ञान, चिन्तन और लेखन का उतना ही ज्यादा ऋणी होता है। एक महत्वपूर्ण लेखक का व्यक्तित्व, उसकी चेतना और दृष्टि, जिन अनगिनत प्रश्नों और समाधानों, उलझनों और द्वन्द्वों की कशमकश में गुजरकर प्रौढ़ता प्राप्त करती है उनकी गहरी पकड़ और परिचय सिर्फ चन्द लेखकों, दो-चार आन्दोलनों और साहित्यिक इतिहास के दस-बीस वर्षों की सीमा में बँधे रहकर नहीं हो जाता। उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए लेखक को मानवीय जीवन और संस्कृति का लम्बा लेखा-जोखा लेना पड़ता है। अन्ततः युग-युग का द्रष्टा बनने लायक जीवनी शक्ति और योग्यता से (जो प्रतिभा और परिश्रम का यौगिक है) सम्पन्न लेखक ही युग का महत्त्वपूर्ण लेखक बन सकता है। जिन्हें लेखकीय विकास की ये शर्तें ज्यादा सख्त जान पड़ें, उनसे निवेदन है कि वे ठीक-ठीक अन्दाज़ा लगाने की कोशिश करें कि कालिदास और भवभूति, सूर और तुलसी, दान्ते और वर्जिल, टॉल्स्टाय, जेम्स ज्वायस, इलियट—वे कोई भी लेखक जो इतिहास पर थोड़ी-बहुत छाप छोड़ सके हैं—कहाँ तक अपने समय के प्रबुद्ध सांस्कृतिक बोध से सम्पन्न थे, और कहाँ तक जीवन की महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक समस्याओं का गहराई से अनुभव कर सके थे।

श्री खरे ने चलते-चलते टी० एस० इलियट के 'फोर क्वार्टेट्स' और उसकी प्रसिद्धि का संकेत किया है। निःसन्देह, उन्हें पता होगा कि इलियट की 'संस्कृति' 'इतिहास' और 'अध्यात्म' (विशेषतः ईसाई धर्म) में गहरी अभिरुचि थी। निश्चय ही इलियट की मान्यता का श्रेय दसवर्षीय आन्दोलनों और दससाला लेखन का ख्यापन करने वाले हिन्दी-समीक्षकों की विवेक-बुद्धि को नहीं दिया जा सकेगा। यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिस देश में रहकर इलियट ने अपना लेखन किया वहाँ 'इतिहास' की सस्ती (यानी जोशीली) अवज्ञा का चलन नहीं था; वहाँ ट्वायनबी जैसे लेखक बारह जिल्दों में इतिहास की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। स्मरण होता है कि श्री गिरिजाकुमार माथुर ने, धर्मयुग में प्रकाशित अपने किसी लेख में, दो-तीन पंक्तियों में 'मानववाद' को असामयिक या कुछ ऐसा ही कहकर बरखास्त कर दिया था। अपने देश में साहित्य और चिन्तन की प्रगति के लिये शायद यह बिलकुल ही ज़रूरी नहीं है कि किसी विचार या प्रश्न को संजीदगी से लिया जाय। हिन्दी-जगत् में प्रचलित होनेवाले वाद भी बहुत-कुछ जटिलताओं से मुक्त और एकांकी होकर रह जाते हैं; किसी मसले को इतनी गंभीरता से लेना कि उस पर, भूल से भी, कोई छोटी-मोटी 'क्लासिक' कही जा सकनेवाली पुस्तक तैयार हो जाय, यह हमें सह्य नहीं है। उदाहरण के लिए, हमने पिछले दशक में प्रयोगवाद पर पूरे ज़ोर-शोर से चर्चा की, लेकिन प्रयोग के विभिन्न रूपों और आयामों को उद्घाटित करनेवाली एक सौ पृष्ठ की सुचिन्तित एवं सुसंघटित पुस्तिका तैयार करने की भूल नहीं की। हम, शायद विनम्रतावश, यह महत्त्वाकांक्षा पालने की धृष्टता न करते, कि हमारे अपने दशक में चलनेवाले बहस-मुबाहसे कोई ऐसी यादगार रह जाय जो हज़ार-पाँच सौ नहीं तो दो सौ वर्ष बाद तक भी जातीय मस्तिष्क को किसी तरह उत्तेजना या प्रेरणा दे सके। हमारी अधिकांश शक्ति पिछले दशकों को कोसने और अपनी परिपूर्ण आधुनिकता का अलापने में खत्म हो जाती है।

हम कह रहे थे कि लेखकीय व्यक्तित्व के विकास का अर्थ उसकी नैतिक-आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चेतना का विकास और परिष्कार है। लेखक के लिए विकासशील का अर्थ है सांस्कृतिक सम्पन्नता और निजी जीवन-दृष्टि निर्माण की ओर उन्मुखता। लेखन के लिए अनुभव आवश्यक है, लेकिन केवल अनुभव का महत्त्व सीमित है। जिन्हें दुनिया का ज्यादा अनुभव है, वे आवश्यक रूप में बड़े लेखक हो जायँ, यह जरूरी नहीं है। इसके विपरीत अक्सर देखा जाता है कि खासतौर से वे लेखक जो अपने समाज में फैले तरह-तरह के भ्रष्टाचार से—बड़े व्यवसायियों, नेताओं, सरकारी कर्मचारियों, पुलिस आदि की कुटिलताओं से—ज्यादा परिचय रखते हैं, अपने में एक तरह की 'सिनिसिज़्म' पैदा कर लेते हैं, जो उन्हें मूल्यों-सम्बन्धी-सूक्ष्म विभेद देखने में अक्षम बना देती हैं। अच्छा लेखक सिर्फ तात्कालिक जीवन की परिस्थितियों को ही नहीं देखता, वह उन उच्च प्रवृत्तियों की उपेक्षा भी नहीं करता जिनकी सिर्फ झलकें ही दिखाई पड़ती हैं। व्यक्तिगत या जातीय जीवन द्वारा उकसायी जाने वाली सब तरह की कटुता या 'सिनिसिज़्म' से ऊपर उठकर अच्छी और ऊँची प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना—पाठकों में उस तरह का विवेक पैदा करना जो भलाई-बुराई, ऊँचाई-नीचाई के सूक्ष्म प्रभेदों को देख सके—लेखक का विशिष्ट दायित्व होता है।

लेखक की सांस्कृतिक सम्पन्नता—उसकी नैतिक-आध्यात्मिक-बौद्धिक दृष्टि की जटिलता—उसके साहित्य को कई तरह से प्रभावित करती है। सच यह है कि वह उसकी रचना में प्रकट होनेवाली अनुभूति के प्रत्येक अवयव को, उसकी समग्रता को विशेषित करती है। लेखक की सांस्कृतिक अवगति का पहला और सीधा प्रभाव यह होता है कि वह जीवन की विभिन्न स्थितियों और उनसे सम्बद्ध अनुभवों को कम-बढ़ महत्त्व देना सीखता है। कोई स्थिति या घटना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक महत्त्वपूर्ण होती है जहाँ तक वह किसी मनोवैज्ञानिक, नैतिक या दूसरे वैसे तथ्य या मूल्य का वहन और उद्घाटन करती है। मतलब यह कि लेखक की चयन-क्रिया लगातार उसकी सांस्कृतिक दृष्टि से नियन्त्रित रहती है। आज के युग में शास्त्रीय अन्वेषणों की विविधता और व्याख्या-प्रकारों तथा दृष्टियों की अनेकता व आपसी विरोध के कारण एक ही स्थिति या घटना अनेक, कभी-कभी विरोधी, मूल्यों के संकेत दे सकती है। तात्पर्य यह कि आज के सजग साहित्यकार का मूल्य-बोध अनेकरूप और जटिल है; यह जटिलता लेखक के समूचे अनुभव को, उसकी सांस्कृतिक सम्पन्नता के अनुपात में, उलझा हुआ और तनावपूर्ण बना देती है। अनुभव की यह विविधरूपता जहाँ लेखकीय प्रतिक्रियाओं की संभावनाओं में वृद्धि करती है, वहाँ वह उसकी अपने अनुभवों को समेटने और संघटित करने की क्रियाओं को कठिन भी बना देती है।

सांस्कृतिक दृष्टि के दबाव से जहाँ हमारे अलग-अलग होनेवाले अनुभव जटिल और विविध रूप अख्तियार करते हैं, वहाँ जीवन की समग्रता—उसकी अर्थवत्ता और नियति से सम्बन्धित प्रश्न—लेखक के सामने उपयुक्त गौरव और, उसके प्रतिविम्वभूत शिल्प की, दूसरी समस्याएँ खड़ी कर देते हैं। इन दूसरी कोटि की समस्याओं से उलझता हुआ लेखक माध्यम और शिल्प के तरह-तरह के प्रयोग करने को बाध्य हो जाता है।

जिसे हम सांस्कृतिक सम्पन्नता या दृष्टि और चेतना की जटिलता कहकर पुकार रहे हैं वह लेखक के सर्जन-प्रयत्नों को मुख्यतः दो रूपों में नियन्त्रित एवं प्रभावित करती है। प्रथमतः वह लेखक की चयन-क्रिया को निर्धारित करती हुई उसे समझदार पाठकों के लिए अधिक रोचक बनाती है। एक बड़े आकार के उपन्यास को प्रस्तुत करने वाला लेखक यदि सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न मूल्य-चेतना से सम्बन्धित उलझनों, विसंगतियों और शब्दों या तनावों की पर्याप्त अवगति रखने वाला नहीं है, तो वह स्तरीय पाठकों की दिलचस्पी को कायम नहीं रख सकेगा। प्रेमचन्द के, और उनके ढंग पर लिखने वाले दूसरे कई लेखकों के, अधिकांश उपन्यास यदि आज के पाठक को रोचक नहीं जान पड़ते तो उसका प्रमुख कारण उनमें सन्निहित मूल्य-बोध और बौद्धिक अवगति की सरलता या सादगी है। 'गोदान' के कुछ अंश भी, जैसे मेहता और मालती से सम्बन्धित प्रसंग—इस सादगी से आक्रान्त हैं। यों 'गोदान' में ग्राम्य-जीवन का चित्रण उसकी पूरी सांस्कृतिक जटिलता में हुआ है, जिसके कारण वह उपन्यास स्तरीय बन सका है। एक प्रकार से कालिदास के मूल्य-बोध में भी उलझन और तनाव के तत्त्व नहीं हैं—वैसे तत्त्व इधर के युगों की सांस्कृतिक चेतना की निजी चीज हैं—किन्तु कालिदास का भारतीय संस्कृति-बोध के जटिल और ऊँचे रूपों से पूरा-पूरा परिचय है।

ऊपर के विवेचन का एक निष्कर्ष यह है कि संस्कृति-सम्पन्न लेखक की रचना में अनावश्यक विस्तार नहीं होता; वहाँ अर्थपूर्ण और आवश्यक विस्तार ही रहता है। एक जटिल भाव-बोध वाले लेखक को, ठीक और स्पष्ट गौरव देने की कोशिश करते हुए, इतना-कुछ कहने को रहता है कि वह, कदम-कदम पर, मितभाषी होने को बाध्य होता है।

भाव-बोध की जटिलता, और अपनी जीवन-सम्बन्धी संवेदना और दृष्टि को अनेक सन्दर्भों में उचित गौरव के साथ प्रकाशित करने की बेचैनी, लेखक को लगातार सृजनशील बने रहने की प्रेरणा देती है। इसके विपरीत, अपनी लेखन-यात्रा के दौरान में, जो साहित्यकार अपनी सांस्कृतिक चेतना को विकासशील नहीं रख पाता, वह कुछ वर्षों के बाद, अपने को चुका हुआ पाने लगता है। जैसा कि हमने पहले संकेत किया था वरिष्ठ साहित्यकार से हम नयी अनुभूतियों की आशा नहीं करते; उससे हम यह ज्यादा बड़ी अपेक्षा करते हैं कि वह हमें जीवन-स्थितियों और उनमें अनुस्यूत मूल्यों के जटिलतर क्रिया-प्रतिक्रियामूलक सम्बन्धों की अवगति देते हुए पाठकों और जातीय परम्परा के सांस्कृतिक बोध को समृद्ध करें।

अन्ततः चेतना के विस्तार और गहराई के आयाम परस्पर सम्बद्ध और अन्योन्याश्रित होते हैं। ज्यादा महत्त्वपूर्ण बोध या अवगति वह है जो, कुछ पात्रों द्वारा युगजीवन को और युगबोध के द्वारा इतिहास में फैले मानवजीवन को उद्भासित करती है। हमारे लिए गहरे अर्थ में प्रभावशाली या महत्त्वपूर्ण वह है जो सम्पूर्ण मानव जाति और उसके इतिहास के लिए सार्थकता रखता है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य का इतिहास सिर्फ उसका राजनैतिक और आर्थिक इतिहास ही नहीं है; वह उसकी आस्थाओं, उसके सौन्दर्य-बोध और नीति-बोध, उसकी नियति-सम्बन्धी धारणाओं और सम्भावनाओं का इतिहास भी है। साहित्यकार की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टि में मनुष्य का इतिहास मुख्यतः उसके सुख-दुख की संभावनाओं और उसके मूल्य-बोध का इतिहास है। साहित्यकार के समस्त प्रयत्न, उसका समूचा कृतित्व, इस इतिहास की कड़ी बनने और उसे आगे बढ़ाने के लिए होता है।

अन्ततः लेखक और आलोचक दोनों के विकास की दिशाएँ वही होती हैं। विकसित साहित्य या साहित्यकार अनुभव और मूल्यबोध के जिन आयामों को अभिव्यक्ति देता है—और ऐसा करते हुए जिन उलझनों और जटिलताओं से जूझता है—उनका संश्लिष्ट विश्लेषण और अभिव्यक्ति देने वाले शिल्प का उद्घाटन और मूल्यांकन, यही आलोचक के मुख्य कार्य हैं। इसका एक निष्कर्ष यह है कि संस्कृति-सम्पन्न समीक्षक ही वैसे साहित्य की माँग करते हुए उसका समुचित विश्लेषण और मूल्यांकन कर सकते हैं। यह भी सही है कि, अन्ततः, बड़ी कृतियों की समुचित परीक्षा-समीक्षा कर सकने और करनेवाला आलोचक ही अपने कृतित्व को आपेक्षिक स्थायित्व दे पाता है। यों, समीक्षा के इतिहास में, चिन्तक समीक्षक ही—जिनमें अधिकांश स्वयं लेखक थे, यानी साहित्यकार या दार्शनिक—क्लासिकों की श्रेणी में पहुँच पाये हैं।

हम लेखकीय विकास के आयामों की चर्चा कर रहे थे। पुराने युगों में विविध मूल्यों—मूल्य-बोधों—का आकलन और उनका सर्जनात्मक (रचनात्मक) विस्तार महज बुद्धि, प्रतिभा और परिश्रम की अपेक्षा रखता था; आज द्वन्द्व-मूलक तनाव उसकी आवश्यक शर्त बन गया है। इधर कविता के नये प्रतिमानों में तनाव की अक्सर चर्चा होती रही है। यहाँ हम सिर्फ एक बात पाठकों के विचारार्थ रखेंगे। तनाव के लिए प्रतिबद्धता या उसकी ओर नैसर्गिक रुझान एक आवश्यक स्थिति है। जिस लेखक में ये वृत्तियाँ जितनी गहरी होंगी, वह, विपरीत साक्ष्य या दबावों की उपस्थिति में, उतना ही ज्यादा तनाव महसूस करेगा। साधारण लेखक तनावहीन रूप में आदर्शवादी होते हैं; कुछ का तनाव अखबारी स्तर की समस्याओं को लेकर होता है। ऐसे लेखकों की रचनाएँ जल्दी ही समझदार पाठकों के लिए बासी पड़ जाती हैं। ज्यादा बड़े प्रश्नों में एक तरह की चिरन्तनता, चिरनवीनपन, रहता है; उन पर केन्द्रित तनाव भी सदाबहार रूप में दिलचस्प लगता है।[1]

लेखकीय विकास के प्रश्न की उपेक्षा के खराब परिणाम मुख्यतः लेखकों को ही झेलने पड़ते हैं, विशेषतः प्रतिभा संपन्न लेखकों को। शुरू यौवन में किसी आन्दोलन के अंग बनकर सहज प्रशंसा पाते हुए ये लेखक क्रमशः उस साधना से विरत हो जाते हैं जो लेखक-चेतना के बहुमुखी विकास के लिए ज़रूरी है। 'डिबंकिङ्' और छिछले विद्रोही नारों के साथ ज़िन्दगी का प्रारम्भ करते हुए युवा लेखक बड़ी समस्याओं से गंभीरता के साथ उलझने की मनोवृत्ति बनाने में अयोग्य बन जाते हैं, फलतः दस-बारह वर्ष के भीतर ही उनके सर्जन-प्रयत्न शिथिल और रचनाएँ आवृत्ति-परक होने लगती हैं। लेखक को वरिष्ठ होकर, अपने देखे-सोचे को नई, सशक्त अन्विति में ढालने के प्रयत्न में, ज्यादा प्रौढ़ सृष्टि कर सकना चाहिए—यह अपेक्षा हिन्दी जगत् में नहीं की जाती। आन्दोलनों का कोलाहल युवा लेखक को, फिर चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो, एकांकी दृष्टि के घेरे में खींच कर जीवन और इतिहास की उन अनगिनत भंगिमाओं और

---

१. इधर के दो महत्त्वपूर्ण हिन्दी उपन्यासों—'मैला आँचल' और 'राग दरबारी'—के लेखकों में प्रतिबद्धता-मूलक तनाव नहीं दीखता। फणीश्वर रेणु समस्त जीवन को विनोदपूर्ण स्वीकृति देते जान पड़ते हैं, श्रीलाल शुक्ल सब-कुछ पर व्यंग्य कसते हुए। यों दोनों उपन्यास प्रखर रूप में बौद्धिक हैं। 'राग दरबारी' में दूसरी तरह का तनाव है—अर्थात् पाठक की प्रत्याशाओं—पक्षपातों और चित्रित परिस्थितियों के बीच। (ऐसा ही कुछ तनाव शरच्चन्द्र के 'शेष प्रश्न' में है।) 'मैला आँचल' में, शायद, मूल्यों के तारतम्य को नकारने की, सब-कुछ को समान भाव से, विनोद की मुद्रा में, देखने की प्रवृत्ति पाठक की चेतना को झकझोरती है। संभवतः तनाव-हीन, एकरस दृष्टि इस कोटि के लेखकों द्वारा दूसरी, भिन्न कोटि की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत किये जाने में बाधक हो जाती है। (आधा पढ़ जाने पर 'राग दरबारी' की एकरसता भी खलने लगती है।) प्रश्नों और चरित्रों के सरलीकरण की प्रवृत्ति और कमोबेश अखबारी (आर्यसमाजी ?) स्तर का नैतिक तनाव एवं द्वन्द्व प्रेमचन्द तथा उनके समानधर्मा लेखकों में पाया जाता है। मूल्यों की अपेक्षा में गहरी प्रतिबद्धता, सुचिन्तित आस्था और विकसित व्यक्तित्व की माँग करता है—वह कच्चे मस्तिष्क की हठवादिता मात्र नहीं है। तनाव की सशक्त अभिव्यक्ति के लिए यह जरूरी है कि लेखक या उसका प्रमुख पात्र (नायक या नायिका) विरोधी तथ्यों और स्थितियों का दूर तक साक्षात्कार और मुकाबला करे, न कि उनकी अनदेखी। शायद कमजोर भावुकता और दृढ़ आस्था-मूलक प्रतिबद्धता में यही मुख्य अन्तर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जटिलताओं को देखने के अयोग्य बना देता है जिनकी तीखी अवगति लम्बे मानसिक विकास की भूमिका तैयार करती है। युवा अवस्था ज़िन्दगी और उसे देखने के कोणों की विविधता से परिचित होने का समय है, न कि कठमुल्लापन की स्पिरिट में किसी एकांगी वाद को पकड़ बैठने का; विद्रोह और क्रान्ति, सन्देह और अनास्था की आबहवा से गुज़रते हुए युवा मानस को, महापुरुषों और बड़ी कृतियों के निकट संपर्क में, क्रमशः सौन्दर्य, शुचिता, निष्ठा और श्रद्धा की वृत्तियों से परिचय करने की कोशिश करनी चाहिए। उनमें इतिहास के प्रति अपने दायित्व की चेतना और उसे आगे बढ़ाने की महत्त्वाकांक्षा भी जागृत होनी चाहिए। इन मनोवृत्तियों से संपन्न लेखक ही बड़ी सृष्टि के प्रयत्न और उनके अनुरूप शिल्प-विधान के ठोस प्रयोग कर सकता है। निश्चय ही यह रास्ता छोटी, ईमानदार, परिश्रम व साधना की अनभ्यस्त प्रतिभाओं के लिए नहीं है। (हमारा विचार है कि अन्ततः बड़ी प्रतिभाएँ ही ईमानदार और परिश्रमशील तथा ज़िम्मेदारी की भावना से संयुक्त भी होती हैं। इसीलिए उनके कृतित्व में मानव, व्यक्ति और समाज के मौलिक मूल्य मूर्त्त रूप में प्रकाशित होते और सुरक्षित रहते हैं।)

लेखक के लम्बे अरसे तक विकासशील रहने के लिए ईमानदारी और अध्यवसाय से सहचरित प्रतिभा के अलावा शायद एक और चीज़ ज़रूरी है—विनयशीलता। किसी सुभाषितकार की यह उक्ति कि विद्या विनय देती है, सांस्कृतिक प्रगति की प्रक्रिया की गहरी जानकारी व्यक्त करती है। किसी लेखक का जीवन के जटिल रूपों और प्रश्नों से ज्यों-ज्यों परिचय बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह उससे चकित और अभिभूत होता जाता है।[१] न जाने कितनी प्रतिभाओं ने कितने शिल्प-विधानों की परिकल्पना करके मानवीय मन-चित्त की कुटिलता और जिह्मता, भावप्रवणता और उदारता, क्षुद्रता और मनस्विता, विगलित श्रद्धा और संशयशीलता की असंख्य संभावनाओं का उद्घाटन किया है, फिर भी वे संभावनाएँ कहीं चुकती नहीं दीख पड़तीं। मानव-जीवन की इन बेशुमार वृत्तियों और संभावनाओं को आन्दोलन-विशेष के दो-एक नारों में बाँध लेने की कोशिश हास्यास्पद है। उसी तरह कलासृष्टि के मिज़ाज और सूक्ष्म-बड़े प्रभावों के बारे में इने-गिने सूत्र बोलकर उन पर निरपवाद गौरव देना भी अपरिपक्व मनोवृत्ति का परिचायक है। साहित्य-रचना के स्वास्थ्य, सप्राणता और स्थायित्व की दृष्टि से सिर्फ रोमांटिक तत्त्वों या उनके पूरे बहिष्कार पर ज़ोर देना भी वैसे ही कच्ची समीक्षा-बुद्धि का सबूत है।

सेमुएल जॉन्सन से लेकर आजतक के दर्जनों बड़े समीक्षक, अपनी-अपनी दृष्टि और संवेदना के हिसाब से, शेक्सपियर का मूल्यांकन करते आये हैं; प्रत्येक बड़ा समीक्षक उक्त लेखक में कुछ ऐसी चीज़ें ढूंढ़ लेता है जो दूसरों को नहीं दीख सकी थीं। इससे ज़ाहिर है कि एक बड़े कृतित्व का विश्लेषण दो-एक नारों के आधार पर नहीं किया जा सकता। सच यह है कि अतीत के बड़े लेखक हर नये समीक्षक की दृष्टि और विश्लेषण-क्षमता को चुनौती देते हैं। उनकी समीक्षा का इतिहास उसे अहंकारशून्य और विनययुक्त होने की सीख भी देता है। हरेक प्रतिभासंपन्न और महत्त्वाकांक्षी समीक्षक का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वह, अपनी नयी दृष्टि या एप्रोच की प्रतिष्ठा के लिए, किसी बड़े, हो सके तो सौ-दो-सौ वर्ष पहले के, लेखक का विश्वसनीय विश्लेषण और मूल्यांकन प्रस्तुत करे। हमारी आस्था है कि एक बड़ा साहित्यकार—जो कालिदास-भवभूति-भारवि और सूर-तुलसी आदि के निकट पहुँचने का दावा कर सकता है—सब तरह के प्रतिमानों के लिए विश्वसनीय साक्ष्य उपलब्ध करा सकेगा। हम मानते हैं कि अपने हर प्रस्तावित प्रतिमान के समर्थन में, एक प्रबुद्ध और समर्थ नया समीक्षक दो-चार ऐसे लेखकों का निश्चित रूप में हवाला दे सकेगा जो समयदेवता के द्वारा प्रतिष्ठित करार दे दिए गये हैं। इसकी सौ-फीसदी संभावना है सूरदास और शेक्सपियर, कालिदास, तुलसी और दान्ते, टॉल्स्टाय, दास्ताएव्स्की, प्रूस्त और हैनरी जेम्स में से दो-चार की बड़ी कृतियों में हर तरह के विश्वसनीय प्रतिमानों के समर्थक तत्व मिल जाएँ। अवश्य ही वैसे तत्वों को देखने-खोजने के लिए समीक्षक-विशेष को ज्यादा प्रबुद्ध और परिश्रमशील बनना पड़ेगा; उसे संगठित किन्तु अपरिपक्व पाँच या दसवर्षीय आन्दोलनों की नारेबाज़ी से ऊपर उठने की साधना भी करनी पड़ेगी। अन्ततः कोई प्रतिमान सुप्रतिष्ठित महत्त्ववाले दो-चार लेखकों पर लागू होकर ही अपने को प्रमाणित करता है। ●

१. यह आकस्मिक नहीं है कि कालिदास ने 'क्व चाल्पविषया मतिः' कहकर अपनी नम्रता प्रकट की है और ग़ालिब ने 'हम कहाँ के दाना थे' लिखकर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा और सृजनशीलता

रमेशचन्द्र शाह

सर्जनात्मकता मात्र और भाषा के अन्तःसम्बन्धों का अध्ययन इसलिए भी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है कि यह एक विलक्षण सम्बन्ध है। इस मानी में कि एक ओर बौद्धिक चिंतन—ज्ञान-विज्ञान के अनेकानेक क्षेत्रों में सक्रिय चिन्तनात्मक ऊर्जा—और भाषा के बीच के सम्बन्ध, तथा दूसरी ओर इससे निचले स्तरों पर मात्र समसामयिक जीवन-प्रवाह और भाषा के बीच के सम्बन्धों से यह सर्जनात्मक सम्बन्ध एक भिन्न धरातल पर घटित होता है। निश्चय ही उपरोक्त दोनों सम्बन्धों से यह सम्बन्ध नितान्त अप्रभावित नहीं रह सकता। तो भी इस प्रभाव-ग्रहण में यांत्रिक निरीहता नहीं होती। पचाने और रूपान्तरित करने की विकलता ही उसकी असल प्रेरणा है।

यह विकलता आज पहले की अपेक्षा कई गुनी बढ़ गई है। कारण, एक ओर तो सामान्य जीवन और अनुभव की प्रक्रियाओं पर उक्त बौद्धिकीकरण की प्रक्रियाएँ हावी हो रही हैं—उनके जीवित सन्दर्भों को खा रही हैं—प्रत्यक्ष और निकट-संवेद्य को परोक्ष व गुणातीत अमूर्तनों में बदलती जा रही हैं; तो दूसरी ओर वे बौद्धिक विश्लेषण की प्रक्रियाएँ स्वयं अपने-आपमें एक मूल्यनिरपेक्ष और मूल्यद्रोही जिज्ञासा की सर्वग्रासी आक्रामकता से प्रेरित होने को बाध्य हैं।

प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र अपने लिए एक विशेषीकृत भाषा बना लेता है। धीरे-धीरे ये विशेषीकृत भाषिक अमूर्त्तन भाषा के दैनंदिन सामान्य प्रवाह में संक्रमित होने लगते हैं और उसकी व्यंजनाओं को प्रभावित करने लगते हैं। प्रारंभ में यह प्रभाव भाषा की व्यंजकता को बढ़ाता प्रतीत होता है क्योंकि वह रूपकात्मक अभिव्यक्ति को प्रोत्साहित करता है। क्रमशः ये रूपक अपनी चमक खोकर सामान्य सरलीकरणों में स्खलित हो जाते हैं और वस्तु (अनुभव भी) तथा व्यक्ति के बीच की सीधी प्रतिक्रियाओं को विस्थापित करने लगते हैं। ज्यों-ज्यों विश्लेषण के औज़ारों के रूप में प्रयुक्त होते-होते शब्द एक यांत्रिक अनुशासन में ढलते जाते हैं त्यों-त्यों वे अमूर्त बौद्धिक धारणाओं के रूप में वस्तुओं से, उनकी सगुण वस्तुमत्ता से, और उनसे संघर्षित सीधी विचारणा से विविक्त होते-होते एक परोक्ष नियामकता और पूर्वनिर्दिष्ट आचरण अख्तियार कर लेते हैं। गोचर वस्तुओं के संवेदन तक इन परोक्ष विश्लेषणासिद्ध सूत्रों से निर्दिष्ट और संचालित होने लगते हैं—यहां तक कि वह सीधी और निजी संवेदनात्मक विचार-प्रक्रियाएँ ही इन अमूर्त परिभाषाओं और बौद्धिक सूत्रों में जकड़ती-जकड़ती लुप्त होने लगती हैं। इस प्रकार एक ओर तो आदमी की चेतना लगातार इस यांत्रिक निरीहता से ग्रस्त होती जाती है और दूसरी ओर उसका विवेक स्वयं इस दुश्चक्र से उबरने की चेष्टा करने की बजाय उसकी रफ्तार बढ़ाता चला जाता है। अमूर्तनों की यह अव्यक्त तानाशाही भाषा में निहित—सदियों से संगृहीत होते चले आए मानवीय 'अर्थ' और अनुभव को अवहेलित करती है: उनको उनके समूचे सन्दर्भ से काटकर अपने संकीर्ण अनुशासन और प्रयोजन के अनुरूप चलने को बाध्य करती है। चूंकि ज्ञान की प्राप्ति आदमी का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है—अहंभावना को सबसे अधिक पुष्ट करने वाला; अतः जीवन-जगत् को विश्लेषित और व्याख्यायित करने तथा उसे अपने मस्तिष्क से संचालित करने की सामर्थ्य जिन तर्क-प्रक्रियाओं से हासिल होती है, उनके प्रति आग्रह होना स्वाभाविक है। किन्तु यह आग्रह अपने स्वभाव से ही अन्य आग्रहों और निष्ठाओं को भीतर से खोखला देता है। बौद्धिक जिजीविषा की गति अप्रतिहत और स्वतःचालित होती है; वह सब-कुछ को अस्थिर कर देती है।

सर्जनात्मकता इस स्थितिहीन गत्वरता का—यांत्रिक निरीहता का—प्रतिकार करती है। यहाँ पर एक प्रश्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठता है। कहा जाता है कि जब तक आदमी की यह बौद्धिक जिजीविषा सृष्टि और जीवन के केन्द्र में नहीं पैठी थी—सब-कुछ को विश्लेषित और व्याख्यायित करने की क्षमता और महत्त्वाकांक्षा से युक्त नहीं हुई थी, तब तक सब-कुछ ठीक ही था। बुद्धि को केन्द्रीय नियामकता प्राप्त हो जाने के फलस्वरूप ही यह अराजकता—मूल्यों की, उद्देश्यों की—उत्पन्न हुई है। किन्तु सर्जनात्मक कल्पना के बारे में भी ज़माने से यही दावा किया जाता रहा है कि उसका भी स्वभाव सृष्टि और जीवन के केन्द्र में पैठकर वहाँ से सारी वस्तुओं को नियंत्रित और विन्यस्त करने का होता है। तो प्रश्न यह उठता है कि यदि बौद्धिक जिजीविषा का स्वभाव भी उसी केन्द्रीय शक्ति और अधिकार की ओर उन्मुख होता है तो इस पर कैसे और क्यों अंकुश लगाया जा सकता है? यदि जो सर्जनात्मकता का धर्म है, वही विश्लेषणात्मक बुद्धि का भी धर्म है तो इसमें नाजायज़ क्या है? क्या इससे उल्टा यही निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि, बुद्धि की भी महत्त्वाकांक्षा अन्ततः सर्जनात्मक ही है। बुद्धि अस्पष्टता और अराजकता को सहन नहीं करती, वह नियम और सूत्रों की खोज के द्वारा उसे व्यवस्थित्व करती है। तो क्या सर्जनात्मक वृत्ति भी उसी बुनियादी बेचैनी से प्रेरित नहीं होती—जो अव्यक्त है, उसे व्यक्त करने की? यदि ऐसा नहीं है तो यूनिटी, संगति और सौष्ठव की चर्चा उसके सन्दर्भ में क्यों की जाती है! वहाँ भी नियम हैं; भले ही उन्हें इतनी आसानी से सूत्रबद्ध न किया जा सकता हो।

पहले के युगों में शास्त्रकार और रचनाकार के बीच में इतनी दूरी नहीं थी। दोनों एक-दूसरे की भाषा समझते थे। शास्त्र रचना की समग्रता को स्वीकारता था और उसके प्रति नम्र और यथासंभव पर्युत्सुक भी रहता था। बल्कि शास्त्रकार रचनाकार की उपलब्धियों का—उनके जरिए भाषा में विकसित क्षमताओं का भरपूर उपयोग भी करता था। आज वह स्थिति नहीं रही। रचनाकार तब भी अधिक उदार है। वह शास्त्र से जूझने की, उसका उपयोग करने की आवश्यकता को स्वीकार करता है। मगर शास्त्रकार अपने समय की—बल्कि किसी भी समय की—गंभीरतम सर्जनात्मकता से लगभग असम्पृक्त ही दिखाई देता है। पहले बौद्धिक जिजीविषा और संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं के बीच ऐसा तीव्र विभाजन नहीं था। इसीलिए भाषा की समग्र मानवीयता के खण्डित होने का खतरा भी उस तरह नहीं था। आज विज्ञान की तरह रचना में भी ध्रुवीकरण की स्थिति है और यह सर्वथा स्वाभाविक घटना है। विडम्बना यह है कि बुद्धि की केन्द्रीय शक्तिमत्ता अभी हाल की चीज़ होने पर भी बौद्धिक में अधिक आत्मविश्वास है और सर्जनात्मकता की केन्द्रीयता का विश्वास काफ़ी पुरातन होने पर भी आज का सर्जक अत्यधिक संशयात्मा है। विज्ञान और सर्जनात्मक साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में उच्चतम स्तरों पर जो काम हो रहा है, वह दोनों में समान रूप से दुरूह और दीक्षागम्य होता जा रहा है। यह स्थिति स्वाभाविक और सार्थक है। यह बराबरी की टक्कर है। दोनों का ध्येय साधनों की पवित्रता को पूरी तरह क़ायम रखते हुए अपने 'स्वधर्म' में प्रतिष्ठित रहना है। विज्ञान का स्वधर्म है निश्चित अर्थ और प्रयोजन वाले औज़ारों का प्रयोग करते हुए सत्य को अधिकाधिक एकाग्रता के साथ अनावरित करते जाना। और सर्जनात्मक साहित्य का भी ध्येय वही है। अन्तर—और महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि सर्जनात्मक साहित्यकार के लिए वह 'प्रिसीज़न' आवश्यक नहीं जो कि वैज्ञानिक विचारक को काम देता है। बल्कि, कहना चाहिए कि उससे भिन्न और विपरीत प्रकार का 'प्रिसीज़न' ही उसे इष्ट होता है। वैज्ञानिक उसी भाषा का आग्रह रखेगा जो मानवीय संदर्भों से अधिकाधिक निर्लिप्त हो: जो ज्यादा से ज्यादा निर्गुण, धारणात्मक और गणितीय हो। जबकि कवि और कथाकार को ठीक ऐसी ही भाषा से सबसे ज्यादा परहेज़ होगा। यदि वह ज़रूरत पड़ने पर उस भाषा का उपयोग भी करेगा तो इस तरह, और ऐसी भाषा की संगति में करेगा कि उसकी मानवीय सम्पन्नता वापस आ जाय या उसकी विपन्नता ही अपने समूचे विद्रूप में कौंध-कौंध जाय।

सर्जक भाषा को एक ऐसे प्रवाह के रूप में अनुभव करता है जो एक साथ अतीत, वर्तमान और भविष्य है। भाषा की जड़ों का चिन्तन और विवेक उसके रचना-कर्म से अभिन्न है। क्योंकि मानवीय इतिहास में 'अर्थ' के लिए किये गए संघर्ष की, समग्र मानवीय अनुभव की स्मृति उन्हीं जड़ों में निहित होती है। इस यथार्थ को सबसे ज्यादा कवि पहचानता है और बार-बार लोप होते जाते पूर्वजों के उस 'संचित पुण्य' के उद्धार की चिन्ता भी उसी को सबसे ज्यादा होती है। नितान्त समकालीन और नितांत आदिम मानसिकताओं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह अपने भाषिक संवेदन के चुम्बकीय बल से संयुक्त करके एक नई अर्थवत्ता, नया विन्यास पैदा कर सकता है और इस प्रकार भाषा पर निरन्तर पड़ रहे उन दबावों (बौद्धिकीकरण और अमानवीकरण) का सार्थक और अत्यावश्यक प्रतिकार संभव होता है जिनके कारण भाषा की प्रवृत्ति अधिकाधिक अमूर्त और परोक्ष होती जाती है और शब्द अनुभव की नवजात सक्रियता (स्फूर्ति) को सुरक्षित और वहन करने की बजाय उसका मार्ग ही अवरुद्ध करने लगते हैं—उसके स्थानापन्न बन बैठते हैं।

इसी कारण अपनी भाषा के साथ साहित्यकार का रिश्ता अधिकाधिक सचेतन हो गया है। कहानीकार और उपन्यासकार को भी इस संघर्ष में कवि का हाथ बँटाना ज़रूरी हो गया है। आज डेढ़ सौ साल पहले जो 'ज्ञान' चेतना की सतह से नीचे—रहस्य और विस्मय की वस्तु था—जिसमें झाँकने और डुबकी लगाने का श्रेय कभी-कभार केवल कवियों और दार्शनिकों को (समग्र दृष्टि वालों को) मिलता था, उसे आज मनोविज्ञान, नृतत्त्व, उच्च भौतिकी आदि शास्त्रों ने खींचकर चेतना की सतह पर ला दिया है और उसे नाम दे-देकर, भाषा में लाकर आदमी के लिए अति-परिचय की चीज़ बना दिया है। चूँकि सामान्यतः आदमी की प्रवृत्ति भाषा के प्रति महज़ कामचलाऊ और विवेकशून्य होती है, अतः उसकी भाषा में ये शब्द आ तो बड़ी आसानी से जाते हैं मगर वह इनके उपयोग के विषय में सचेत नहीं रह पाता। वह उनकी पृष्ठभूमि और प्रक्रिया से अनजान केवल उनके परिणमित साँचे-ढले रूप का ही व्यवहार कर सकता है। वे उसके अनुभव का अंग नहीं बनते, न उसकी सामान्य जीवनानुभूति के अवयवों से कोई जीवन्त सम्बन्ध स्थापित कर पाते हैं। कुल मिलाकर परिणाम यही निकलता है कि **'ज्ञान' अधिकाधिक अनर्जित, अवैयक्तिक, अनुभव-रिक्त और अमूर्त होता जाता है और उसी अनुपात में अनुत्तरदायी भी।** दूसरी ओर एक विशिष्ट शास्त्र की अनुशासित शब्दावली में प्रशिक्षित विशेषज्ञ की स्थिति भी इस माने में एक औसत शिक्षित जन की स्थिति से बेहतर नहीं होती, क्योंकि उसकी भी प्रवृत्ति उसी नियंत्रित संसार के चश्मे में से सब-कुछ को देखने के दुराग्रह की होती है। अनुभव की शक्ति और वृत्ति ही धीरे-धीरे शिक्षार्जित अमूर्तनों के दक्ष व्यवहार की सामर्थ्य से विस्थापित होती चली जाती है। मानवीय संवेदन और अनुभूति के विपरीत इस प्रकार के निर्वैयक्तिक विचार की प्रवृत्ति आक्रामक और हावी हो जाने की है। इस प्रकार की अनुसंधित्सा में एक अहंकार होता है शब्दों को अपने पीछे चलाने का, उन्हें एक पवित्रतावादी, साम्राज्यवादी, वर्ण-व्यवस्था देने का, और उनके जरिए दूसरों को भी (परम्परा-प्राप्त अर्थों वाले शब्दों को भी) अपने ढब में ढालने का। अंशज्ञान की इस अधिनायकवादी महत्त्वाकांक्षा पर समग्रता का कोई अंकुश नहीं रहता। दूसरों की विशिष्टता का स्वीकार या चेतना भी यहाँ नहीं होती; केवल अपने ही विशेषीकरण में दूसरी विशिष्टताओं को सरल कर लेने या धुला देने की ज़िद होती है। खण्ड और समग्र का, सत्य और तथ्य का यथार्थाग्रह और सौन्दर्याग्रह का तनाव सर्जनात्मक कर्म में इस प्रकार के अतिचार और एकाधिपत्य को असंभव बना देता है। किन्तु अपने तथाकथित शुद्धतावादी अनुशासन में 'सत्य' में यह नम्रता नहीं होती।

आज हालत यह है कि मानवीय अर्थ और प्रयोजन के लिए, अभिव्यक्ति के साधनों की पवित्रता और गरिमा के लिए कवि या साहित्यकार की ओर कोई नहीं उन्मुख होता। क्योंकि अर्थ, प्रयोजन और गरिमा तो वहीं मानी जाती है, जहाँ तत्कथित 'वैज्ञानिक दृष्टि' हो। और कवि या कथाकार में वैज्ञानिक दृष्टि भी हो सकती है, ऐसा विश्वास किसी को क्यों होने लगा! सभ्यता के इतिहास में, या उससे भी पहले से मनुष्य की भाषा में उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा जो भी, जितना भी मानवीय अर्थ और प्रयोजन संगृहीत होता आया था, उसे शास्त्रों ने, ज्ञान-विज्ञान की इस अभूतपूर्व बाढ़ ने अपने तथाकथित वैज्ञानिक प्रयोजनों से न केवल आच्छादित और आतंकित कर दिया है, बल्कि उसे अपने ढंग और ढब में ढालने की कोशिश भी की है। यह स्थिति घुसपैठ की है, समायोजन की नहीं। इसके फलस्वरूप भाषा में एक अभूतपूर्व विघटन और भ्रंश की प्रक्रिया चल पड़ी है। शब्द अपना अर्थ खो रहे हैं और उनका संचित पुण्य लगातार विकृत हो रहा है। कवि-कर्म अधिकाधिक दुरूह होता जा रहा है। सत्य को अनावरित करना चाहने वाले शास्त्र के उच्चतम शिखरों के समानान्तर ही मानवीय सत्य को उद्घाटित करना चाहने वाले कवि का कर्म भी—आत्मरक्षा के बुनियादी तर्क से—दुर्गम-दीक्षागम्य होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में कथा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार—प्रतिभा का कार्य भी गुणात्मक ढंग से परिवर्तित होता गया है। स्टेण्डल ने उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही जो खतरे की घण्टी बजा दी थी कि आने वाले समय में कवि का स्थान उपन्यासकार ही ले लेगा। इस चेतावनी में निहित यथार्थ से इनकार नहीं किया जा सकता। इसमें डींग ही नहीं, दायित्व की चिन्ता भी है। कवि का स्थान उससे छीनकर नहीं, बल्कि उसके विशेष दायित्व को स्वीकार करके ही प्राप्त हो सकता है। वह विशेष दायित्व क्या है?···जीवन के ही नहीं, बल्कि भाषा के भी प्रवाह और स्रोतों को भी अक्षुण्ण रखने की गहरी चिन्ता···केवलमात्र भाषा का दक्ष उपयोग कर लेने की ही नहीं, बल्कि उसकी संवेदनशीलता और जीवित स्मृति-परम्परा को सारी विकृतियों और भ्रष्ट सरलीकरणों से बचाकर नहीं, बल्कि उनके बीचोबीच से अक्षत और अनाहत निकाल लाने और कायम रखने की चिन्ता···। अतीत में—मनुष्य जाति की समग्र-सम्पूर्ण स्मृति में—अर्जित मानवीय अर्थ और तत्त्व से भाषा की यह खतरनाक वंचना, और नितान्त समकालीनता से बलात्कृत भाषा की बढ़ती जाती परोक्षता (जिसमें सजीव मानवीय उपस्थिति के प्रत्यक्ष तथ्य की अवहेलना निहित है)—कहना न होगा कि—सर्जनात्मकता मात्र के लिए सबसे बड़ा खतरा है। क्योंकि यह प्रवृत्ति सर्जनात्मकता के बुनियादी स्रोतों को ही सुखा देने वाली है। अब यह कोई नहीं कह सकता कि इस विपत्ति, इस विघटन का सर्जनात्मक प्रतिकार करनेवाली रचना में उपन्यास-कथाकारों ने कवियों की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यह इसीसे स्पष्ट है कि अनेक ऐसे उपन्यासकार, अनेक ऐसे उपन्यासकार व कथाकार हैं जिनकी रचना का स्वभाव हमें स्पष्ट प्रतीति देता है कि यदि वे आज न होकर दो-तीन सौ वर्ष पूर्व लिखते होते तो गद्य में नहीं, बल्कि पद्य में कार्य करते। मसलन जेम्स ज्वाइस, वर्जीनिया वुल्फ़, ही जैसे। यह एक तथ्य है कि भाषा में निहित और विकसित 'सुकृत' को विकृत होने से बचाने के लिए समस्त संसार की सर्जनात्मकता 'एकजुट' हुई है चाहे वे कवि हों, चाहे उपन्यासकार। कई बार तो उपन्यासकार ने उपन्यास के अन्दर ही कविता के अस्त्र से वास्तविकता के व्यूह को अन्तःप्रविष्ट करने की कोशिश—और कामयाब कोशिश की है। उसने ऐसे स्थलों पर शब्द की सामान्य क्षमता को अपर्याप्त पाकर उसे कविता के चरम तापमान पर सक्रिय करने की विवशता अनुभव की है। ज़ाहिर है कि भाषा पर पड़ रहे अतिरिक्त दबावों को काटकर शुद्ध अभिव्यंजना तक पहुँचने के लिए संवेदना में भी अतिरिक्त ताप और ऊर्जा का होना जरूरी हो जाता है ताकि 'कथ्य' बिना किसी 'डिस्टॉर्शन' के अपनी समग्रता और शुद्धता में संप्रेषित हो सके। पास्तरनाक का 'डाक्टर ज़िवागो' भी इस दृष्टि से एक विशिष्ट उदाहरण है जिसमें न केवल उक्त प्रकार से कविता का उपयोग है बल्कि उपन्यास के अन्त में कथानायक की कविताओं को देने की कल्पना भी अत्यन्त सार्थक प्रतीत होती है। ये कविताएँ उस चरित्र की मानसिक-आध्यात्मिक विकास-यात्रा के महत्त्वपूर्ण सोपानों का ही नहीं, बल्कि उपन्यास के मार्मिकतम स्थलों का—उसके केन्द्रबिन्दुओं का सच्चा अभिलेख और सूक्ष्म 'ग्राफ़' है। वर्जीनिया वुल्फ़ के 'द लाइटहाउस' के विन्यास को ही लीजिए। उसमें रचनेवाली संवेदना का गहनतम संकेन्द्रण और प्रज्वलन-विन्दु वहाँ आता है जहाँ न कोई चरित्र है, न चेतना-प्रवाह, न घटना, न कथोपकथन, न नाटक, न उस तरह का जीवन। वहाँ है एक खाली घर··· मानवीय अनुपस्थिति का पुंजीभूत प्रतीक···जिसमें से जीवन का हर चिह्न, हर स्वर, सहसा मिट गया है···रंगों और ध्वनियों और लालसा-जिज्ञासा के अन्तहीन उद्वेगों से भरा हुआ संसार जैसे सहसा एक इन्द्रजाल की तरह अन्तर्धान हो जाता है और सूने रंगमंच पर सहसा सभ्यता के पूर्व और पश्चात् का चिरादिम महामौन छा जाता है···देखते-देखते यह मौन एक चरम तीव्र नाटक बन जाता है—पुरुषहीन प्रकृति का, आदिम तत्त्वों का महारास···ऋतुओं का ताण्डव जिसके कन्ट्रास्ट में दूर कहीं नेपथ्य में आभासित मानवीय जीवन और मृत्यु दोनों अयथार्थ, धुँधले और अर्थहीन हो जाते हैं। कहानी पर कविता का यह आकस्मिक, अप्रत्याशित आक्रमण—सम्पूर्ण विस्थापन—सहसा चरित्र और कथा-स्थिति को—पूरे यथार्थ को—इस तरह विद्युन्मय कर देता है कि रचने वाली मनीषा को आक्रान्त करने वाला युगचेतना का घटाटोप—अनभिव्यक्ति का आतंक—सहसा चिर जाता है और एक जीवनव्यापी विकलता एकबारगी अपने समूचे सन्दर्भ के साथ कौंध जाती है। अनात्म को चीर देती आत्म-साक्षात्कार की यह विह्वल तड़प 'सर्जनात्मक शब्द' की निखालिस ठोस विजय है : सार्वजनिक और अमानवीकृत सत्याभासों से दूषित युग की वाचालता पर। ऐसा मैं समझता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हूँ। वर्जीनिया वुल्फ़ और जेम्स ज्वाइस के उपन्यासों में हमें आधुनिक मनोविज्ञान की उपलब्धियों का भी कविता-संभव उपयोग मिलता है। भाषा के इस प्रकार के प्रयोग का औचित्य थोड़ा विचार करने पर ही स्पष्ट हो जायगा। मनोविश्लेषण-शास्त्र ने युगांतरकारी तथ्यों की खोज की; और उन खोजों के सूत्रबद्ध होकर भाषा में चालू हो जाने के बाद हर कोई उनकी धड़ल्ले से चर्चा भी करने लगा। किन्तु विडम्बना यह है कि परोक्ष को प्रत्यक्ष करने वाला—सार्वजनिक ज्ञान बनाने वाला—शास्त्र व्यक्ति की संवेदना और ज्ञानात्मक चेतना को और अधिक प्रगाढ़ और संकेन्द्रित करने की बजाय उसे विघटित करने लगता है। परोक्ष चेतना की सतह का विषय बनकर और भी अधिक परोक्ष हो जाता है। भाषा और ज्यादा सतही होने लगती है। किन्तु यह आदमी की बौद्धिक विजय तो है ही; अतः जीवनानुभूति पर, विचार-प्रक्रियाओं पर और भाषा के व्यक्तित्व पर उसका दबाव पड़े बिना कैसे रहेगा?

यहीं पर साहित्यकार-सर्जक की असली कसौटी सामने आती है। यह उसके स्वधर्म का तकाज़ा है कि वह उस सार्वजनिक और सुलभ—क्योंकि सतहीकृत—हो गए ज्ञान को फिर से उसके स्रोत तक—अर्थात् अपनी संवेदना के केन्द्रीय क्षेत्र में ले जाए और इस प्रकार उसे उसकी सही जगह पर संदर्भित करे, ताकि उसके अनिष्ट संक्रमण से—अमूर्त, व्यक्ति-संवेदनानिरपेक्ष भाषा की उस परोक्ष तानाशाही से—असली भाषा की स्वतन्त्र ऊर्जा, चेतना का अंतःसलिल प्रवाह सुरक्षित रह सके या कम-से-कम अपने प्रत्यासन्न खतरों के प्रति सतर्क-जागरूक ही बना रहे। साथ-ही-साथ मनुष्य के आत्मज्ञान में जो वृद्धि इस आविष्कार से हुई है, वह वास्तव में उसे अनुभूत हो और उसका सही उपयोग करने का विवेक उसमें जाग्रत हो, यह चिन्ता भी रचनाकार को अपनी तरह से होती है। भाषा के कुल जीवन में उस शास्त्रप्रसूत भाषा की सही जगह इसी तरह रचनाकार के मौलिक कर्म द्वारा ही निर्धारित होती है। एक ओर विवेकहीन भीड़, जिसके लिए शब्दचिंतन का स्थानापन्न,—मात्र एक नशा और बुनियादी चिन्ताओं से बचाने का आसान नुस्खा है; और दूसरी ओर संकीर्ण परिभाषाओं से घिरा शास्त्रज्ञ, जिसके लिए भाषा मनुष्य और मनुष्य तथा मनुष्य और सृष्टि के बीच के सम्बन्धों की जीवित-सनातन स्मृति-परम्परा न होकर मात्र उनकी व्याख्या के लिए गढ़े हुए कुछ सूत्रों का समुच्चय भ[ा]त्र है! और जिसकी कल्पना-शक्ति अमूमन सामान्य एवं भोथ[री] हुआ करती है! ...इन दोनों के बीच खड़ा रचनाकार भाषा के संतुलन और स्वास्थ्य को, उसके जीवन्त प्रवाह को कायम रखने के लिए संघर्षरत रहता है। कौन कह सकता है कि इस संघर्ष में जेम्स ज्वाइस या क़ाफ़्का ने टी० एस० एलियट या रिल्के की अपेक्षा कम सार्थक भूमिका निबाही है!

क़ाफ़्का ने समसामयिक जीवन और अभिव्यक्ति की इस अराजकता और अमानवीकरण को एकदम उसके स्रोत पर पकड़ने और 'क्रिस्टलाइज़' करने के लिए भाषा के भी केन्द्र में काम करने वाले उस तत्त्व का आशय लिया है जिसे हम 'मिथ' कह सकते हैं। जेम्स ज्वाइस की तरह भाषा में तोड़-फोड़ मचाकर एक पूर्ववर्ती सभ्यता की केन्द्रीय मिथ (ओडेसी) के पैटर्न में नितान्त समसामयिक चेतना के बिख[राव] को ढालकर नहीं, बल्कि एक सर्वथा नवीन और युगीन वास्तविकताओं के भीतर से उपलब्ध और साक्षात्कृत मिथ का आविष्कार करके। उसने मिथ और पैरेबल के सरलतम स्ट्रक्चर में समसामयिक यथार्थ को पुनःसृजित और प्रत्यक्ष किया है: उस परोक्ष तानाशाही के घटाटोप धुंधलके को चीरने का प्रयत्न किया है जो मानवीय सार्थकता के प्रश्न को—मानवीय चेतना मात्र को—अप्रासंगिक और व्यर्थ किए दे रही है। दूसरी ओर टामस मान ने भी जर्मन विद्वत्ता और जर्मन सर्जनात्मक प्रतिभा की अन्तर्राष्ट्रीय रुझान के अनुरूप ही आधुनिकतम शास्त्रों की भाषा से अपनी संवेदना को और फिर इस प्रकार लैस अपनी मनीषा से समसामयिक यथार्थ और समसामयिक चेतना की अन्तहीन जटिलताओं को अन्तःप्रविष्ट करने का ज़बर्दस्त उद्यम अपने उपन्यासों में किया है। उसकी भाषा का भारी-भरकम विन्यास युग के इस जटिल अम्बार को एक गहरे आत्म-विद्रूप से उभारता है और उसके तल में झाँकने का—आदिम और सभ्य मानसिकता के इस तरह घुटकर गड्डमड्ड हो गए तत्त्वों को पुनःसंयोजित करके मानवीय सार्थकता के सनातन प्रश्न से जूझने का प्रयत्न करता है। अतिबौद्धिकता के अस्त्र से ही चेतना के इस व्यापक बौद्धिकीकरण का सर्जनात्मक प्रतिकार करता है। यूरोपीय संदर्भ से भी आगे जाकर अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भों में इस प्रकार मानवीय यथार्थ की जड़ों में पैठने का यह अतिजागरूक सं[घर्ष] कितना दूरगामी महत्त्व रखता है, इसका विवेक हमें—हि[न्दी]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथाकार को खास तौर पर होना ही चाहिए।

इस प्रकार आज के सर्जनात्मक लेखन की एक बुनियादी समस्या यह भी है कि रचना के केन्द्र में ही तोड़-फोड़ मचाने वाली इस अनवरत और दुर्निवार्य घुसपैठ का सर्जनात्मक प्रतिकार कैसे किया जाय ? इसके लिए दो रास्ते कथाकार-प्रतिभा ने निकाले हैं। भाषा की अर्थवत्ता को—महज़ अर्थ-वत्ता का—अनुभव-मात्र ही आज जितना दूभर हो गया है उतना कभी नहीं हुआ था। रचनाकार के सम्मुख एक समस्या तो स्वयं अपने-आप में भाषा के उस एकाग्र अनुभव को—सच्चे और खरे भाषिक संवेदन को—उपलब्ध करने की होती है और दूसरी समस्या यह प्रबन्ध करने की भी, कि इस अनुभूतिप्रवण प्रिसीज़न की भाषा का वैसा ही तात्कालिक, तीव्र और सुनिश्चित आघात उसी उत्कटता के साथ पाठक के मानस पर भी अंकित हो। इसी स्थिति के तर्क से कथाकारों ने एक ओर तो कविता के स्तर पर कविता के उच्च दाब और तापमान पर शब्द की शक्ति और सक्रियता को रियलाइज़ करने की आवश्यकता अनुभव की है और दूसरी ओर उस अत्याधुनिक बौद्धिकता के अवगाहन की—ज्ञानविज्ञानों के तांत्रिक अनुशासनों के भीतर पैठने की—उनके द्वारा भाषा में संक्रमित अमूर्तनों की असलियत को आर-पार देखने की; ताकि समसामयिक चेतना में उनकी व्याप्ति और प्रभाव-शालिता को पूरी तरह, यथार्थतः आँका जा सके और इस प्रकार अतिशय बौद्धिकता और अतिशय संवेदना के, अतीत और वर्तमान के, सभ्य मानसिकता और आदिम मानसिकता के, काल और इतिहास के उस निरन्तर गतिमान् और अस्थिर—किन्तु परमावश्यक सन्तुलन की चेतना को क़ायम रखा जा सके, जिसके बिना जीवनानुभूति संभव नहीं, और जो न केवल मनुष्य की रचनात्मक जिजीविषा के, बल्कि स्वयं बौद्धिक जिजीविषा के भी नैरन्तर्य और स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए एक बुनियादी पूर्वप्रतिज्ञा है।

आधुनिक हिन्दी कहानी को हिन्दी कविता के विकास के समानान्तर बहुत कम समय में विकास-यात्रा के अनेक सोपानों से गुज़रना पड़ा है। पहले की मंज़िलों पर विकास जितना स्पष्ट और निश्चित दीखता है, उतना आज नहीं दीखता। भाषा और जीवनानुभूति के बीच का अंतराल जो इस विकास के कई चरणों पर क्रमशः कम होता दिखाई देता है, आज जैसे अचानक फिर से बढ़ने लगा है। एक व्यापक अधैर्य और संभ्रम की स्थिति आज की कथा-रचना में मौजूद है। एक कारण तो कम-से-कम यही प्रतीत होता है कि कथाकार अपने अनुभव की जटिलता से नहीं, बल्कि उसके बौद्धिकीकरण से पीड़ित हैं। पीड़ित इसलिए हैं कि वे स्वयं उसका आग्रह रखते जान पड़ते हैं। उनकी भाषा उस बौद्धिकी-करण की भाषा को काटती नहीं, बल्कि उससे निरीह ढंग से परिचालित होती प्रतीत होती है। सूत्र के ढंग से स्थिति की परिभाषा करें तो कहना होगा कि अनुभव का बौद्धिकीकरण और उसके समूचे तौर-तेवर तो मौजूद हैं, मगर स्वयं उस बौद्धिकीकरण का सचेत अनुभव और उसका रचनात्मक प्रतिकार करनेवाला विवेक और भाषा क्षीण है। निश्चय ही कुछ खास मनःस्थितियों के चित्रण में कथाकार अधिक अन्तराभिमुख, अधिक बारीक संवेदनक्षम भाषा को अर्जित कर सके हैं जिसे देखकर वास्तव में भाषा की बढ़ी हुई क्षमता का विश्वास होता है जैसे उदाहरण के लिए—

"सुबह उठा तो अफ़सोस सोई बाँह की तरह मेरे साथ उठा। मैंने अपने को झाड़ा, जैसे कुत्ता झाड़ता है। पर्दा हटाया। खिड़की का एक पाट खोला। दिन जड़ पदार्थ की तरह खड़ा था। लगा जो कुछ हुआ नकली-सा था। दरअसल मैं वहीं था, जहाँ से शुरू हुआ था। कोरा। सब-कुछ आगे था। नहीं, न आगे, न पीछे। वहीं।"

कुछ सेल्फ़-कांशस ट्रिक्स के बावजूद यह भाषा उस एकाग्र आत्म-निरीक्षण के क्षण की खास क्वालिटी को पकड़ने और प्रेषित करने में कामयाब हुई है। किन्तु यही कथाकार जब अपनी एक दूसरी कहानी में इस प्रकार की भाषा का इस्तेमाल करता है···"तीनों औरतें हाथों में रस के गिलास लिए साथ-साथ बैठी थीं। जिन्दगी की ऊब की तरह जो इंतजार करते हैं कि कब यह पागल खेल खतम हो और लोग उन्हें अपने-अपने घर ले जायँ।" ···तब हम शंकित हो जाते हैं। यह 'जिन्दगी की ऊब' हममें 'सोई बाँह' की तरह कोई विशिष्ट अनुभव नहीं जगाती। हममें कोई प्रतिक्रिया नहीं उठाती। हमें आशंका और सही आशंका होती है कि ये शब्द, यह फ्रेज एक चालू सिक्के की तरह महज़ सुविधा के तर्क से उठा लिया गया है। यह 'सृजित' शब्द (अर्थात् सार्थक शब्द) नहीं है, महज एक आयातित, बौद्धिकीकरण की सुविधा में से इस्तेमाल कर लिया गया शब्द—बल्कि पूरा वाक्य ही है। इसी तरह महेन्द्र भल्ला की एक दूसरी कहानी 'शेर' मैंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ समय पूर्व पढ़ी थी। उसकी भाषा का पूरा विन्यास मुझे शुरू से आखिर तक कृत्रिम और अतिरंजित लगा था। ऐसी हालत में कहानी की मूल प्रेरणा ही संदिग्ध लगने लगती है। जिस अनुभव को अन्तःप्रविष्ट न किया जा सके उसे उसकी बुद्धिजन्य भाषा के सतही विन्यास के द्वारा कैसे 'रचना' में बदला जाता है, यह समझ में नहीं आता।

चमकदार और चुस्त-चालू मुहावरों का यह आकर्षण आज की कविता की तरह आज की कहानी में भी अन्धाधुन्ध मचा रहा है। अनुभूति की प्रामाणिकता का प्रश्न इस तरह आसानी से ओझल हो जाता है। इस तरह भाषा का संवेदन भोथरा पड़ता है और कथाकार चेतन रूप से न सही, अनजाने ही उन शक्तियों से समझौता कर लेता है जो उसकी भाषा को भाषा नहीं रहने देना चाहती—उसे अपने प्रयोजनों के अबाध प्रचार के लिए कुन्द और सपाट कर लेना चाहती है। महज़ चलन में आ जाने से, महज़ बौद्धिकता की मुहर लग जाने से भाषा रचनाकार की भाषा नहीं बन जाती। भाषा कोई बने-बनाए अर्थसकेतों का राजपथ नहीं है जिस पर बेहिचक चल दिया जाय। न रचनाकार का 'अर्थ' ही कोई ऐसा दिव्य, अविकारी तत्त्व है जिसके और सारे अर्थों से सर्वथा विच्छेद्य, विलक्षण और अछूता रहने की गारण्टी दी हुई हो, जिस पर भाषा की सामान्य विकारग्रस्तता का कोई असर ही न हो सके। प्रत्येक सार्थक रचना अपनी भाषा को नए सिरे से तलाश करती है। पर्याप्त और अनुरूप भाषा के लिए यह संघर्ष रचना के अपने आत्म-संघर्ष के ही समतुल्य है। वह उससे अलग एक गौण वस्तु नहीं। रचनाकार का अनुभव अपनी नवजात सक्रियता में पाठक को—और स्वयं रचनाकार को भी तभी महसूस होगा जब उसकी भाषा में भी वही नवजात-ता महसूस हो। भाषा भी उतनी ही सक्रिय और स्फूर्त होनी चाहिए। यह तभी हो सकता है जब अभि-व्यक्ति की छटपटाहट में रचनाकार बार-बार उसी अनिश्चय और अपर्याप्तता के अहसास से गुजरे जिससे भाषा की अत्यन्त अविकसित अवस्थाओं में मनुष्य गुज़रा होगा। जबकि 'वाक्' की 'शक्ति' के रूप में अनुभूति कल्पना नहीं, बल्कि वास्त-विकता थी। तभी रचनाकार का अनुभव और मर्म अपने अनुरूप और अपने टक्कर की भाषा को जन्म दे सकेगा। तभी वह भाषा के गहरे संस्कारों और सतही संस्कारों के बीच की कशमकश में से अपना मार्ग निकाल सकेगा और बौद्धिकीकरण को अन्तःप्रमाणीकरण से काट सकेगा। भाषा व्यक्तिगत अनुभूति का वस्तुगत प्रमाण बनती है रचनाकार के लिए; लेकिन तभी, जब उसके साथ संघर्ष किया जाय—उसे हर बार नए सिरे से खोजा जाय। सुविधा का तर्क रचना का तर्क कभी नहीं हो सकता। जब कोई कथाकार लिखता है··· "उस कार्टून के नीचे अजब साम्य से कोई-न-कोई चेहरा खड़ा रहता है; वह सोचती है हम किसी विराट अव्यवस्था के कार्टून के नीचे खड़े हैं···पर एक नीला आसमान है जो यहाँ से दिखाई देता है, भीड़ की गूँजों का एक संगीत है जो वह सुनती है और···और वह सोचती है, अभी इस जगह उसे कल भी आना है, कल-परसों और दिनों के एक लम्बे क्रम में ···वह पारदर्शक शीशे के पार देखती है। लोग रिसेप्शनिस्ट के चारों तरफ घिरे होते हैं। रोज़ की तरह और कई और रोज़ों के लिए···" तो ये शब्द और वाक्य हमारे मस्तिष्क की ऊपरी झिल्ली पर ही रेंगते रह जाते हैं··· हमें कोई अनु-भव नहीं कराते। क्योंकि उनमें व्यवित या परिवेश किसी का जीवित स्पन्दन न होकर महज़ बौद्धिकीकरण है। 'विराट अव्यवस्था' और 'कार्टून', और 'भीड़' और 'संगीत' और 'दिनों का लम्बा क्रम'···ये सब सार्वजनिक अनुभव की क्षीण प्रतिध्वनियाँ हैं—अधिक-से-अधिक अनुभव की दूराकृष्ट व्याख्या हैं। ये अतिपरिचित मुहावरे हममें कोई नई अर्थगूंज पैदा नहीं करते। इनमें वही यांत्रिक निरीहता है; वही भाषा में बढ़ती जाती अमूर्त और परोक्ष की तानाशाही का सर्ज-नात्मक प्रतिकार करने की बजाय उसका शिकार हो जाने की विवशता···।

प्रसाद, प्रेमचन्द, अज्ञेय, जैनेन्द्र, रघुवीरसहाय, निर्मल वर्मा, मुक्तिबोध जैसे कथाकारों के हाथों मँजते-मँजते जो भाषा आज के कथाकार को प्राप्त है, वह इन सारे व्यक्तित्वों के एकाग्र प्रयत्नों के फलस्वरूप पहले की अपेक्षा काफी दक्ष और लचीली (अनेक प्रयोजनों और दबावों को वहन करने में सक्षम) हो गई है। मितकथन और क्षिप्र प्रभावांकन आज पहले की अपेक्षा अधिक आसान है। प्रसाद की 'तितली' में जब हम इन्द्रसेन की डायरी पढ़ते हैं—

"मनुष्य का हृदय जब शीतकाल की उस नदी के समान हो जाता है जिसमें कुछ जल बरफ़ की कठोरता धारण कर लेता है, तब उसके गहन तल में प्रवेश करने का कोई उपाय नहीं। ऊपर-ऊपर भले ही वह पार की जा सकती है। आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवंचनाओं की बरफ़ की मोटी चादर मेरे हृदय पर ओढ़ा दी गई है। मेरे भीतर का तरल जल बेकार हो गया है। किसी की प्यास नहीं बुझा सकता। कितनी विवशता है!"

···तब इन वाक्यों के मार्मिक आशय से भरपूर संवेदित होने के बावजूद हम इनकी शिथिल विलम्बित लय के प्रति अधैर्य और असन्तोष से भर उठते हैं। प्रसाद के समकालीन पाठक के लिए यही स्वाभाविक लय थी। किन्तु हम परवर्तियों के लिए वैसी सहज-प्रतिक्रिया संभव नहीं क्योंकि तब से भाषा में परिवर्तन आ गया है। अब हमें उसी सत्य को, उसी कथ्य को उसी शक्ति से अनुभव कर सकने के लिए अधिक दक्ष और मितव्ययी भाषा,—शब्दों का अधिक क्षिप्र संयोजन—चाहिए। प्रसाद की भाषा में जो दोष नहीं था वह आज की भाषा में हमें दोषवत् ही प्रतीत होगा। उपरोक्त वाक्यों को पढ़ते हुए हम स्वयं की कल्पना करते हुए पाते हैं कि यही पात्र यही बात आज लिखे किसी उपन्यास में कहता तो उसकी भाषा कैसी होती! यह तो हम अनुभव कर ही लेते हैं कि प्रसाद की भाषा प्रसाद की बात को—उस चरित्र के उस विशिष्ट 'क्षण' की मर्मानुभूति को बहुत खूबी और बारीकी से प्रेषित करती है। दूसरे शब्दों में, प्रसाद का कथाकार अपनी बात कहने के लिए किसी प्रचलित शास्त्रीय या चालू मुहावरे या कवि-सुलभ भावुकता का आसान तरीका नहीं अपनाता; बल्कि अनुभव के अनुरूप और समरूप भाषा की एकाग्र शोध करता है। जो प्रतीक उन्होंने उस क्षण चुना, वह आज कई जगह व्यवहृत होते-होते भले सामान्य और अतिपरिचित हो गया हो; मगर उस वक्त वह सुलभ नहीं था। उसे खोजा गया था, अनुभव के समानान्तर सिरजा गया था। अतः वह नवजात था। और ऐतिहासिक दृष्टि-सम्पन्न संवेदनशील पाठक आज भी उस 'नवजात-ता' का कायल हो सकता है। किन्तु अब कोई उस भाषा का, उस प्रतीक का वैसा उपयोग करेगा तो वह न विस्मित कर सकता है, न आश्वस्त। वह स्रष्टा और रचयिता न होकर केवल अनुकर्ता होगा।

चूँकि हम उस भाषा में लिखने-पढ़ने के आदी हैं जो प्रसाद और अज्ञेय और जैनेन्द्र के हाथों से गुज़र चुकी है··· उनके आत्मदान से समृद्ध हो चुकी है, अतः प्रसाद की उक्त पंक्तियों की भाषा हमें अपर्याप्तता का—बल्कि अतिकथन का अहसास कराती है। हम कुछ और सूक्ष्म की, कुछ और स्पन्दनशील की, कुछ और गतिमयता की अपेक्षा करने लगते हैं। हमें निर्मल वर्मा की याद आती है। मायादर्पण की 'तरन' की···

"उस पल उसे कुछ भी नहीं महसूस हुआ। ···बरसों पहले की एक धुंधली-सी अनुभूति कहीं भीतर धीमे से उमड़ आई है। लगता है जैसे वह टब के पानी में अपनी नंगी देह पसारे लेटी है। बीच में कुछ भी नहीं है, कोई घटना नहीं घटी है। जो बीता है, जो कुछ भी घटा-बढ़ा है, वह सब पानी के ऊपर है···

—सो गई तरन? बुआ ने पूछा।

इस बार तरन स्वयं निश्चय नहीं कर सकी कि वह नींद के इस तरफ़ है या उस तरफ़···पानी के ऊपर छायाएँ तिरती हैं, किन्तु उसके नीचे कितना ढेर-सा मौन बिखरा है!···"

आज की कहानी की भाषा में प्रभावांकन की सूक्ष्मता बढ़ी है। मितकथन का आग्रह भी है। भाषा में लचीलापन भी पहले की अपेक्षा अधिक होना चाहिए। फिर क्या कारण है कि भाषा की इस बढ़ी हुई क्षमता का कलात्मक उपयोग उतना नहीं हो पा रहा है। विषय और टेकनीक के इतने वैविध्य के बावजूद उतनी भी सार्थक संवेदना, जीवन की उतनी भी आलोचना कहानी के अन्दर एकाग्र नहीं हो पाती जितनी कि पहले की श्रेष्ठ कथा-रचनाओं में हो जाया करती थी। क्या यह रचनात्मक प्रतिभा का ह्रास है? या केवल एक अनिवार्य संक्रमणकालीन स्थिति, जिसमें फ़िलहाल कलात्मक साधना की एकाग्रता संभव नहीं, और प्रतिभा का विकेन्द्रित बिखराव लाज़िमी हो गया है।

एक और बात···। पहले की कथाकार-प्रतिभाओं की भाषा की रेंज जितनी बड़ी थी, उसे देखते हुए तुलनात्मक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि यह रेंज आज के कथाकारों में कम होती गई है। प्रसाद के कथाकार की प्रतिभा भाषा के जितने बड़े व्यास में काम करती है, अज्ञेय की तो शायद उतनी ही पहुँच हो भी; किन्तु निर्मल वर्मा की भाषा का व्यास अपेक्षाकृत बहुत कम है। परवर्ती कथाकारों में यह और भी कम होता गया है। कारण चाहे जो भी हो, पर यह स्थिति चिन्तनीय है क्योंकि इसके चलते आज की भाषा में एक अजीब, अस्वस्तिकर एकरसता और घुटन पैदा हो रही है। क्या हम बुद्धि का काम संवेदना से, संवेदना का काम एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुखार्जित बौद्धिकता किंवा भावुकता से लेने के आदी पड़ते जा रहे हैं ? प्रसाद की एक प्रसिद्ध कहानी मेरे सामने है। उसमें मैं पढ़ता हूँ—

"कुछ भी नहीं फिरोजा ! हमारी धार्मिक भावनाएँ बँटी हुई हैं; सामाजिक जीवन दंभ से और राजनीतिक क्षेत्र कलह और स्वार्थ से जकड़ा हुआ है। शक्तियाँ हैं, पर उनका कोई केन्द्र नहीं ! किस पर अभिमान हो, किसके लिए प्राण दूं।"

और इसके कुछ ही आगे···

"फिरोजा गाने लगी। उसके गीत की ध्वनि थी—'मैं जलती हुई दीपशिखा हूँ और तुम हृदयरंजन प्रभात हो। जब तक देखती नहीं, जला करती हूँ और जब देखती हूँ तभी मेरे अस्तित्व का अन्त हो जाता है मेरे प्रियतम !'···संध्या की अँधेरी झाड़ियों में गीत की गुंजार घूमने लगी।"

एक ही कहानी में से उठा लिये गए प्रसाद की भाषा के ये दो उदाहरण हैं। ये दो अभिव्यक्तियाँ हैं दो बिलकुल भिन्न प्रयोजनों से संयोजित। और प्रत्येक अपने अभीष्ट निर्वाह के लिए कितना सक्षम और तत्पर ! स्पष्टता और पूर्णता की जो आत्म-विश्वस्त मुद्रा पहले उद्धरण में है, वही दूसरे में। जबकि एक-दूसरे से दोनों कितने भिन्न और असम्बद्ध हैं। प्रसाद में यह सामर्थ्य थी एक ओर संवेदना की, राग की स्वत: सम्पूर्ण सृष्टि निर्मित कर सकने की—भाषा को एकदम गीत के-से लाघव से समस्त स्थूल प्रयोजनों से ऊपर उठा देने की; और दूसरी ओर उसे घनी बौद्धिक विकलता और आलोचनात्मक ऊर्जा से संयुक्त करके जीवन की जटिल समस्याओं के बीचोबीच स्थापित कर देने की···। भाषा की यह नम्यता, कथ्य के साथ उसकी यह एकाग्र समायोजन-शीलता स्पृहणीय हो उठती है। निविड़ रागात्मकता से लेकर घोर बुद्धिवादी यथार्थनिष्ठा तक प्रसाद की भाषा की गति है।···'शक्तियाँ हैं पर उनका कोई केन्द्र नहीं'···आज की भाषा-दृष्टि से यह कथन सामान्य—क्योंकि अतिपरिचित प्रतीत होता है। किन्तु जिस वक्त इसे लिखा गया, उस वक्त यह एक नितान्त मौलिक उन्मेष था निस्सन्देह। तत्कालीन परिवेश की यह उत्कट आलोचना एक उच्चकोटि की मनीषा के बिना संभव नहीं थी। आज इसे पढ़ते हुए हमें यीट्स की उक्ति स्मरण आती है—'थिंग्ज़ फाल एपार्ट, द सेण्टर कैन नाट होल्ड'···। प्रसाद की भाषा अपने समय के चालू मुहावरों, शास्त्रीय व्याख्याओं तथा सतही आन्दोलनों के संक्रामक से सर्वथा मुक्त है। न वह किसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा से आतंकित है। एक विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा और धार्मिक दृष्टि का गौरव उन्हें है। पर यह ऐसा गौरव है जो अपनी ही आत्मतुष्ट अहम्मन्यता की धज्जियाँ उड़ा दे सकता है: प्रखर और निर्मम व्यंग्य द्वारा। हिन्दू धर्म में दीक्षित होने की इच्छुक अंग्रेज़ लड़की शैला को अपनी संस्कृति पर धुआँधार प्रवचन दिलाकर प्रसाद एक झटके से—उसी साँस में बाबा रामनाथ के उत्साह की शल्य क्रिया कर डालते हैं—"बाबा रामनाथ धार्मिक जनता के उस विभाग के प्रतिनिधि थे जो संसार के महत्त्वपूर्ण कर्मों पर अपनी ही सत्ता, अपना ही दायित्वपूर्ण अधिकार मानती है और संसार को अपना आभारी समझती है। उनका दृढ़ विश्वास था कि विश्व के अन्धकार में आर्यों ने ही अपनी ज्ञान-ज्वाला प्रज्वलित की थी। वह अपनी सफलता पर मन ही मन बहुत प्रसन्न थे।"

लेख के प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में भाषा-दृष्टि की कुछ समस्याओं का विवेचन हुआ है। ऐसा नहीं लगता कि उनके प्रति पर्याप्त जागरूकता इस पीढ़ी के रचनाकारों में है। एतद्देशीय सन्दर्भ में भी भाषा के जिस व्यापक भ्रंश और सतहीकरण की प्रक्रिया धीरे-धीरे ज़ोर पकड़ रही है, उसके प्रति गहरी चिन्ता का भाव भी हमारी रचनाओं में लक्षित नहीं हो रहा। इसका एक कारण यह भी है कि हमारे रचनाकारों में अपनी भाषा की परम्परा का, उसकी सांस्कृतिक जड़ों का वैसा चिन्तन-मंथन नहीं है जैसा कि अमूमन दूसरे देशों के साहित्यकारों में स्पष्ट महसूस होता है। न उसके प्रति वैसी गहरी रागात्मक सम्बन्ध-चेतना ही। पिछली पीढ़ियों में यह जागरूकता, यह संसवित मेरे खयाल से कुछ अधिक थी। यह भी एक कारण है कि समसामयिक जीवन और विचार के प्रति भी हमारी सर्जनात्मक प्रतिक्रियाएँ अक्सर इतनी अनिश्चित, अनेकाग्र, उथली और अतिरंजित हो उठती हैं। भाषा-दृष्टि की वे मूलभूत चिन्ताएँ ही हमारी नहीं जो साहित्यिक रचना की आधारशिला हैं; जो रचना के नैरन्तर्य को, सर्जनात्मकता की परम्परा को जिलाए रखने की पूर्व-प्रतिज्ञा हैं। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिलकुल वही

(रघुवीरसहाय की कविताएँ पढ़कर)

प्रभात कुमार त्रिपाठी

फिर से एक बार
शुरू करने की इच्छा होती है
और अकचका कर गिनने लगता हूँ
कतार में कितने पेड़ हैं
किस जगह पर मुड़ती है गली
और बढ़ती ही चली जाती है नदी की तरफ
एक उदास लड़की की आँखों में
एक डबडबाता फूल है
और सुनो—कितना धीमे-धीमे गा रहा है वक्त
तुम्हारे बचपन का वह तुतला-तुतला गीत !
पेड़ों की छतनार छाँह और खुरदरी चट्टान
और निरभ्र आकाश और···
कहाँ चली गई है तमाम सड़कें ?
अभी, इस जगह पर क्या हुआ है अचानक ?
नींद के आखिरी सिरे पर
यह कौन-सी आग है ?
कि जागने की—फिर से एक बार—
जागने की इच्छा होती है;

नहीं !
मैं अब कोई भी चेहरा देखना नहीं चाहता
आँखों को कोई दूसरा काम दो
एक दूसरा नाम दो
बकवास से बड़ा और भद्दा—एक दूसरा नाम
एक अश्लील गाली दो मेरे लिए
और मैं इस कायर-अँधेरे से चिपटा हुआ
इसी तरह भुनभुनाता रहूँ;
सुनो,
यह सब, गलत है—गलत है—गलत है
कहते हुए भी
मैं अपने बिस्तर पर से उठकर नहीं जाऊँगा
कई दिन हुए इस बात को
जबकि रात को भी आँखों में,—
दहकता था तुम्हारा आमंत्रण
दौड़ने—लगातार दौड़ने के वे दिन
किस कदर धुँधले स्मरण हो गये हैं
अब अचानक कुछ होने पर भी
सोता हुआ सोचता रहता हूँ
कि क्यों फिर एक आरंभ हो
नया आरंभ, नया दंभ, नयी कायरता
रहने दो, इस पुरानी चुप्पी के बिस्तर पर
इसी तरह पड़े रहने दो
बीच-बीच में इस तरह तुम्हारा करवट बदलना
किस कदर गैर-दुनियादार-बात है
ताज्जुब है कि तुम्हारा हथियार-हीन चेहरा
सिर्फ़ एक नदी, एक पेड़, एक लड़की
और एक खुरदुरी चट्टान की याद में
तमतमाने लगता है
और तुम नींद-भरी आँखों से टटोलने लगते हो
जागरण के मरे हुए दिन
कविता कीमियागिरी नहीं है जादू नहीं है
इंद्रजाल नहीं है कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकाल है अकाल, मरी हुई, दरकी हुई ज़मीन
बंजर, खामोश वीरान
उदासी और खुशी से अलग
एक नामहीन विशेषणहीन क्रियाहीन क्रिया है कविता
और इसके सहारे···?
नहीं ! मैं तुम्हें निहत्था नहीं जाने दूँगा
लड़ाई के मैदान में;

आखिर तुम कैसे शुरू करोगे ?
मरण के इस रेगिस्तानी उत्सव में
कहीं भी नहीं है उस छतनार पेड़ की छाँह
वह थरथराती हुई पागल बाँह
और आँखों से पिघलकर बहता हुआ
वह ऊष्म संगीत
कहीं भी नहीं है
नदियाँ सोखने वाले इस मरुस्थल में
मत फेंको अपने आबदार शब्द
क्योंकि कुछ भी नहीं है
जिसे शुरू किया जा सकता है—दुबारा
जिया जा सकता है
सिर्फ़ वही, सिर्फ़ वही
शरारती पुकारों की आड़ में षड्यंत्र है षड्यंत्र
लोकतंत्र है खालिस लोकतंत्र
खाने, पीने और मुटाने का मंत्र
लेटे रहने, पड़े रहने सपने चाटते रहने की
बेशुमार सुविधाओं की सेज है
कुर्सी है—मेज है—घर है—दफ्तर है
रुको, कहाँ जा रहे हो ?
ठंडे दिल से सोचने के बाद
आज़ादी से सोता है आदमी
नींद के आस-पास टहलने वाली आग से कहो
कि चुप रहे
अच्छी लगती है आँच और चुप्पी
लेकिन सुलगना और जलना और राख होना
फालतू बात है--एक आदिम फालतू बात है
फिर से शुरू करना—मरना ही तो है
युद्ध के इस रूमानी नाम को चिपका कर
तुम जिसे खुश करने निकले हो
वह तुम्हें वोट नहीं देगा
पूछो, तोंद वाले सेठजी से पूछो
कि राष्ट्रपति के चुनाव के दिन
अनाज के, सोने के, चाँदी के, रूई के
बाज़ार-भाव क्या थे ?
वे तुम्हें ज़रूर बताएँगे
कि साइत अच्छी नहीं है
किसी लंबी यात्रा पर निकलने की
पड़ोस के रसोईघर में सूखा पड़ा है
और चंबल की घाटियाँ हो गई हैं गलियाँ
किसी भी वक्त—किसी का भी खून हो सकता है
कहते हैं समझदार लोग और अखबार
मेरे यार !
वोट के लालच से बेहतर है
कोट सिलवा लो
आग तुम्हें इसी तरह चूतिया बनायेगी
कोट में ढके रहोगे
तो कभी-न-कभी बुझ जायेगी
और शुरू करने की इच्छा
नहीं !
फिर से एक बार—कुछ नहीं होगा
या फिर वही होगा—बिलकुल वही !
बिऽऽलऽऽकुऽऽल वऽऽहीऽऽऽ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक त्रासदी : बलिदान और क्रान्ति

रमेश कुंतल मेघ

ईसा से तीन-चार शताब्दियों पहले यूनान में ईस्किलस, सोफोक्लीज, यूरिपाइडीज़ की त्रासदियों का महायुग था जब 'भय' के सहकार में, महाकाव्ययुगीन 'लालसा' (पैशन) के स्थान पर, 'करुणा' की प्रतिष्ठा हुई थी। भारत में भी भरत, वात्स्यायन, कौटिल्य, चरक और मनु आदि का सांस्कृतिक रिनैसाँ वाला युग जब आया तब युद्ध के भयानक अनुभवों और प्रेम के विलासी अनुभवों के साथ बौद्ध करुणा की भी समावेश होता गया। इस तरह करुणा की लहर के साथ ही विश्व में कई बार मानवता की एकता के युग पुष्पित हुए हैं। बुद्ध और ईसा के विश्वव्यापी प्रभाव मानवीय करुणा द्वारा ही समाज और संस्कृतियों में फैले हैं। अतः करुणा के विराट् माध्यम से खुद विश्व-इतिहास संस्कारित हुआ है। इस मानवीय करुणा के लिए ही कार्लमार्क्स का दर्शन क्रान्ति का आधुनिक माध्यम प्रयुक्त करता है। अतः क्रान्ति और करुणा की एकता कला और जीवन की सनातन एकता भी है। आज भरत के आनन्द-वादी 'रूपक' और अरस्तू की संत्रासवादी 'त्रासदी', दोनों ही हमारे लिए प्रामाणिक एवं प्रासंगिक नहीं रहीं। आज हमारी आधुनिक त्रासदी फूहड़ (एब्सर्ड) हो रही है। इसके ऊपर विडम्बना यह है कि संस्कृति के ललित कलाओं वाले सूक्ष्म रूपों को हम सामाजिक यथार्थता तथा दैनंदिन त्रासदी से अभी तक विच्छिन्न किये हुए हैं। इसलिए केन्द्रीय सवाल यह है कि हम सौंदर्यबोधशास्त्र को दैनिक तथा दैनंदिन त्रासदियों से कैसे सम्बन्धित कर दें। शताब्दियों से हमने त्रासदी की परंपरागत दुर्भाग्यपूर्ण संरचना का, तथा नाटक का जो सौभाग्यपूर्ण आकृतिबंध कायम किया है उसमें निजी और सामाजिक जीवन के मामूली दुःखभोग तथा दैनिक त्रासदी का निषेध हुआ है; प्रत्युत उन्हें असल में त्रासद तक नहीं माना गया। हमारे भारतीय जीवन में 'कर्मसिद्धान्त' ने तीन पीढ़ियों तक को (पूर्वजन्म, इहजन्म और आगामी जन्म) बर्बाद तथा निकम्मा कर दिया; 'सौभाग्यवादी दृष्टि' ने मानवतावाद की भ्रान्ति फैलाई तो 'मायावादी दृष्टिकोण' ने जगत् को मिथ्या बना डाला। अतः भारतीय जीवन में परम्परागत त्रासद रूप तक नहीं उभर सके क्योंकि हमने अठारहवीं शताब्दी तक इतिहास का यथार्थता-बोध ही नहीं विकसित किया। अतः ऐतिहासिक अनिष्ट अथवा बुराई से हमारा सामना 'भ्रान्ति', अथवा 'माया', अथवा 'पाप', अथवा 'राक्षस' के अन्यथाकृत रूपों में हुआ। हम यह स्वीकार ही नहीं कर सके कि इतिहास के कर्म-चक्र में केवल सौभाग्योन्मुख नियति ही नहीं; बल्कि बराबर से टकराने वाले अनिष्ट या अशुभ के विजयी एवं पराक्रमी तथ्य भी हैं। ऐतिहासिक बुराई या अनिष्ट भी इतिहास में अपूरणीय और अपरिहार्य हैं। अतः आनंदवाद और आत्मवाद के विश्वदृष्टिकोणों को अपनाकर परम्परागत भारतीय बौद्धिक चिंतन में अनुभवातीत अनिष्ट को बिलकुल अस्वीकार किया गया। अतः रसानंदवाद की प्रतिष्ठा हुई और, दुःखपूर्ण करुणा के सत्य का जघन्य निषेध! 'अपाय'-रूपी छोटी बाधाओं का अतिक्रमण करता हुआ भारतीय इतिहासदर्शन—लघु-लघु परिवर्तनों को झुठलाता हुआ—अंततः संत-सफलता में आकर अचल-अटल हो जाता है। काल के अक्ष में इसका एक सुनिश्चित प्रवाह होता है जो महान् परिवर्तनों तथा अशुभ घटनाओं को वर्जित करता हुआ अंततः 'फलागम' में आत्यंतिक उपचार पाता है। अतः भरत के बाद का त्रासद अनुभव भयानक युद्ध की पूर्ण त्रासदी घटने ही नहीं देता। वह प्रचंड युद्ध के समतोल में विलासैश्वर्यपूर्ण रोमांटिक प्रेम (शृंगार) को प्रधान बना देता है। अतः रसानंदवाद की ऐस्थेटिक्स भारतीय इतिहास में बलिदान एवं मृत्यु, दोनों को वर्जित करती है। यहाँ इतिहास में हमेशा उद्धार होता है किन्तु यह उद्धार हमेशा कर्म-सिद्धान्त की सौभाग्यवादी दिशा में होता है : या अलौकिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवतार अथवा वैयक्तिक पुण्य वरदान से। अतः हमारी त्रासदी और क्रान्ति की सभी महान् घटनाएँ हज़ारों साल वाले भारतीय इतिहास के फलक से पोंछकर मिटा दी गईं। समाज की क्रूरताएँ और सामंतों के नृशंस अत्याचार, आततायियों की बर्बरताएँ और वर्गों के पाखंड प्रमाणित करने के लिये कला में त्रासदी का हाशिया खुलना अनिवार्य था। किन्तु भारतीय संदर्भ में वह 'कलियुग' बनकर एक रूढ़ि बन गया। फलतः वास्तविक त्रासद प्रामाणिकता को तो मिथकीय काल में फैला दिया गया, किन्तु यूतोपियाई 'सतयुग' (रामराज्य) को आरोपित ऐतिहासिक प्रारब्ध बना दिया गया। अतः हमारी उस आनंदवादी एवं आत्मवादी जीवन-दृष्टि ने हमें चिरंतन त्रासद अनुभव के ही अयोग्य बना डाला क्योंकि रसानंदात्मवाद ने मानवतावाद की अद्वैतवादी भ्रान्ति फैला दी। हमारे दीर्घ मध्यकाल में इतिहासदर्शन के अन्तर्गत सांस्कृतिक-जीवन की यही विडंबना रही है। और आज जब हम शताब्दियों से आच्छादित तथा संचित ऐतिहासिक अशुभ, सामाजिक अत्याचार, सामंतीय क्रूरता और पूँजीवादी उत्पीड़न के आमने-सामने नंगधड़ंग आ खड़े हुए हैं; जब हमारे वैयक्तिक 'मोक्ष' के भ्रम टूट गये हैं; जब वर्णव्यवस्था की विषमताओं ने सामाजिक न्याय की भावना को नहीं उभरने दिया है; जब उच्चवर्गीय (सामंत, साहूकार, पूंजीपति, पुरोहित) समाज का करुणा-स्रोत सूख गया है; तब हमें एक आधुनिक एवं अंतर्राष्ट्रीय विश्व में बेरहमी से फेंक दिया गया है। आधुनिक समाज की **'त्रासदी'** और अंतर्राष्ट्रीय विश्व की 'क्रान्ति' के महान्दोलनों के बीच बूढ़ा भारत डावांडोल हो रहा है। आधुनिक एवं शापित हम भरत-पुत्रों के संसार से आनन्द विलीन हो चुका है और आधुनिक समाज की **त्रासदी**, तथा आधुनिक संस्कृति की **फूहड़ता** हमें किंकर्त्तव्य-विमूढ़ कर रही है! तथापि कई आधुनिक एवं रसीले रसवादी आचार्य और छबीले मानवतावादी नेता क्रमशः आधुनिक फूहड़ता और अमानवीय अत्याचारों के अस्तित्व को आज भी नामंजूर करते हैं!!

अगर भारतीय सांस्कृतिक पैटर्न में 'त्रासदी' के रूपों तथा दैनंदिन त्रासदियों, दोनों को अस्वीकृत एवं वर्जित किया गया तो पश्चिम में भी परम्परागत त्रासदी रूपों को स्वीकार करके दैनिक त्रासदियों को नामंजूर किया गया। वहाँ की संस्कृति में बाक़ायदा जो संभ्रम फैला उससे फूहड़ताबोध के एक प्रमुख आधुनिक रूप का जन्म हुआ। इसकी नींव अस्ति... वादी दर्शन है। इसके अलावा पश्चिमी त्रासदी में नायक... **गति** की उसके समापन (मृत्यु) में ही इतिश्री मान ली... जबकि असली त्रासदी तथा ज्यादा महत्त्वपूर्ण तो वह... है जो कि नायक के माध्यम से संचरणशील होती है।... अतिक्रांत (दूसरी) गति सामाजिक क्रूरताओं का वास्त... दुनिया में सामना करती है। अतः यही दूसरी गति... गति की त्रासद प्रामाणिकता बनती है। इस तरह कला... और असली दुनिया की तुलना पर परम्परागत त्रासदी... 'रूपक') का आग्रह नहीं रहा है। ज्योर्ज्यी लुकाक्श ने... तुलना को 'झटिति' (Shock) कहा और इसे ही 'विरे... दशा' माना :—अपोलोनियन विरेचन-दशा!

इसी बिन्दु से **रेमण्ड विलियम्स** भी शुरुआत करते हैं।... रेमण्ड विलियम्स की मौलिक कोशिशें दो रही हैं... (क) साहित्यिक एवं दैनिक अनुभवों के बीच सेतु, तथा (ख)... परम्परा एवं आधुनिक जागरूकता के बीच सेतु की तल... और रचना। अतः उन्होंने (ग) परम्परागत त्रासद रूपों... आधुनिक रूपों से संबंधन, एवं (घ) कला में तथा जीवन... त्रासद का संबंधन किया। इस सौंदर्यवास्तविक क्रान्ति द्वा... ही उन्होंने सौंदर्यबोध शास्त्र को दैनिक अथवा दैनंदिन त्रा... दियों की समस्या से संबद्ध कर दिया।

अनेक प्रकार के मानवतावादों से प्रयाण करते हुए रे... विलियम्स मार्क्सवादी दर्शन में अधिष्ठित **क्रान्तिकारी मान... वतावाद** का नज़रिया अख्तियार करते हैं। वे अपनी 'आ... निक त्रासदी' को 'क्रान्ति' से प्रतिबद्ध करने का प्रोग्राम... करते हैं। वे 'त्रासद' **हताशा** तथा 'फूहड़तावादी' विद्रो... दोनों को सांस्कृतिक संभ्रम की उपज मानते हैं। अतः... 'त्रासदी' और 'क्रान्ति' का सवाल उठाते हैं— क्रान्ति... द्वारा पूर्ण उद्धार!

क्रान्तिकारी मानवतावादी दृष्टिकोण से वे बताते हैं... चारों ओर फैली आधुनिक अव्यवस्था गहरी है, और त्रा... है। अतः अव्यवस्था की फूहड़तावादी (अस्तित्ववादी) संतुष्टि... के रूप में केवलमात्र **विद्रोह** तो अधिकाधिक भ्रांति फैला... है। क्रान्ति इस अव्यवस्था की फूहड़तावादी संतुष्टि नहीं...

1. "The Modern Tragedy": Chatto & Windu... London [1966]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती क्योंकि वह इसी गहरी एवं त्रासद अव्यवस्था के बीच-से जो उभरती है। क्रान्ति केवल आह्लाद भी नहीं हो सकती। यह त्रासद भी है क्योंकि अव्यवस्थित एवं भ्रान्तानक पर्यावरण में कठोरताएँ, क्रूरताएँ और कठिनाइयाँ भी होती हैं। अतः क्रान्ति में भी वेदनाभोग (सफ़रिंग) अनिवार्य है। यह क्रान्ति ही त्रासदी को आधुनिक बनाती है तथा दैनिक त्रासदियों से जुड़कर उन्हें स्वीकार करती है। क्रान्ति ही जीवन और मृत्यु के असली सवालों को त्रासद धारणाओं में प्रविष्ट करा सकती है। अतः क्रान्ति ही संपूर्ण उद्धार (Total redemption) करती है। इस क्रान्तिकारी तथ्य को पुनः दुहरा दिया जाय: आज सौन्दर्यबोधशास्त्र को दैनिक अथवा दैनंदिन त्रासदियों से संबंधित होना चाहिए। अतः आधुनिक (क्रान्तिकारी) त्रासदी में करुणा का उन्नयन **'बलिदान'** (Sacrifice) तथा भय का उन्नयन 'क्रान्ति' (Revolution) के नाटकीय संवेगों में होता है। यह दूसरा प्रवर्तक सूत्र है। इसलिए हमारे युग की आधुनिक त्रासदी को, **दैनिक जीवन की त्रासदियों** से जुड़कर, प्रमुखरूपेण **क्रान्ति के अनुभव** का भी समावेश करना चाहिए। इस प्रकार आधुनिक त्रासदी केवल अकेले त्रासद नायक या एक सद्वंशी चतुर्धीर की गाथा न होकर समष्टि रूप मामूली इंसान की सामूहिक एवं क्रान्तिकारी त्रासदी है। इस तरह रेमंड विलियम्स एक वैचारिक तथा वास्तविक ज्वालामुखी-प्रश्न को सुलगा देते हैं जो मानवीय इतिहास में अभी तक लापता-सा रहा था।

समारंभ वेदनाभोग (सफ़रिंग) से हो सकता है।

पहले तो यह तय कर लें कि साहित्य में अंकित **कला-संभूत वेदनाभोग** के मुकाबले में निजी तथा सामाजिक जीवन के **मात्र वेदनाभोग** का परित्याग अब कतई नहीं हो सकता। छठे दशक के कहानीकारों ने 'अनुभूति की सच्चाई' का जो आधार बनाया था उसका काफी अंश इस 'मात्र' वेदनाबोध को उभारता था। यह वेदनाभोग समाज तथा जीवन में अनिष्ट या बुराई के तथ्य को अपरिहार्य एवं असंशोधनीय मानकर चला था। तब उस पात्र के वेदनाभोग हमें अपील करते थे क्योंकि वे **अनिवार्य** थे। अतः छठे दशक की कहानी और कविता अनिवार्य वेदनाभोग को लेकर उभरी जबकि पूर्ववर्ती कथाचेतना में वेदनाभोग अनावश्यक, या आकस्मिक, अथवा वर्जनीय भी था। छठे दशक के कथाकारों ने विशेष रूप से वेदनाभोग का उत्स ढूंढ़ निकाला। उन्होंने **'संबंधता'** (रिलेशनशिप) में इसे पाया। उन्होंने **अनुभव** किया कि किसी भी व्यवस्था तथा कानून में जब गलत संबंधता स्थापित होगी तब **हमेशा और अनिवार्यतः** हताशा और वेदनाभोग होगा। अतः छठे दशक में मोहन राकेश ('जानवर और जानवर', 'एक और जिन्दगी'), राजेन्द्र यादव ('टूटना'), कमलेश्वर ('खोई हुई दिशाएँ'), मार्कण्डेय ('हंसा जाई अकेला') आदि ने विशेष रूप से इसका अन्वेषण करके इसे ही एकांगी रूप से **'आधुनिकताबोध'** की संज्ञा दे डाली। इनके बाद के कहानीकार निर्मल वर्मा, दूधनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, काशीनाथ सिंह ने अनिवार्य वेदनाभोग से बढ़कर **'त्रासद जागरूकता'** को प्राप्त किया। निर्मल ने 'लंदन की एक रात' और 'कुत्ते की मौत' में, दूधनाथसिंह ने 'आइसबर्ग' में, राजकमल चौधरी ने 'दाम्पत्य' में इसे गहराई से महसूस किया। किन्तु मात्र वेदनाभोग से त्रासद जागरूकता की ओर संवर्धित होने वाली इस सांस्कृतिक चेतना को इन्हीं अकथा-लेखकों ने 'अभिशप्तनियति' की धारणा के द्वारा पीछे फेंक दिया। इन लेखकों ने संबंधों को पीछे फेंककर केवल **तनावों** को स्वीकार किया। तनावों को लेने के कारण इनकी कहानी की त्रासदी में **कर्म** गायब होता गया; मानवीय **संयोजन** धुँधले होते गए तथा केवल **अकेलापन** शेष रह गया। अतः **केवल** वेदनाभोग से केवल अकेलापन! बस इस तरह विशिष्ट परिस्थितियों को निर्विकल्प मान लेने पर उनके लिए नियति या 'अभिशप्त नियति' का पर्याय लाना पड़ा। इसके बाद अभिशप्त नियति का यह मुखौटा उलटकर वेदनाभोग को पंगु बनाने लगता है। अतः व्यक्ति भी विलीन हो जाता है और यह मुखौटा नैतिकता तथा सामाजिकता, दोनों का विरोधी हो जाता है। इस हाशिये पर न तो वेदनाबोध प्रबुद्ध रह पाता है; और न ही सामाजिक अन्याय के प्रति जागरूकता चौकस रहती है। फलतः क्रान्ति की माँग कुंठित हो जाती है। नवलेखन के विचारकों—विशेषतः विमलवर्मा, हर्ष, चन्द्रभूषण तिवारी, हृषीकेश, माहेश्वर, कंचनकुमार, सुरेन्द्र चौधरी आदि—ने समकालीन लेखक के इस खतरे को पहचानकर यह स्पष्ट किया कि मानवीय अनुभव विशिष्ट हैं, ऐतिहासिक हैं, विलक्षण हैं। प्रत्युतः वे वैश्वक, शाश्वत और अनिर्वचनीय नहीं हैं। नवलेखन ने प्रतिबद्धता के सवाल से शुरुआत करते हुए बताया कि इतिहास के त्रासद तथ्यों से कोई भी **केवल समय** के अंदर उद्धार नहीं कर सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैयक्तिक समय-खंड के परे भी वेदना और व्यथा चलती रहती है। यही मानवीय प्रारब्ध है। नवलेखन में मात्र वेदना-भोग और अभिशप्त नियति की दशा **'व्यर्थताबोध'** के नाम से अभिहित हुई। अतः अद्यतन समय में त्रासद जागरूकता **और क्रान्तिजन्मा उद्धार** में आकर **'नव'-आधुनिकताबोध'** अपना उन्मेष प्राप्त करता है।

वेदनाभोग अनिवार्य है। वेदनाभोग की अनिवार्यता ही क्रान्ति की स्वतंत्रता से जुड़ती है। अतः वेदनाभोग से बचने के लिए क्रन्ति से नहीं बचा जा सकता। वेदनाभोग से उद्धार का रास्ता क्रान्ति है। अतः **क्रान्ति की त्रासदी** भी हमें स्वीकार करना है क्योंकि वेदनाभोग भी अनिवार्य है। किन्तु कई ऐसे त्रासद तथ्य हैं जिन्हें इतिहास में घटने से रोका भी जा सकता है: महज़ कई लावारिस, असंबद्ध त्रासद तथ्य। अगर हमारे समाज का पुनर्निर्माण समाजवादी दिशा में शुरू हो गया होता तो हम भूख, गरीबी, अज्ञान, शोषण, अत्याचार के कई त्रासद तथ्यों को बचा सकते थे; हमारा समाज क्रूरता और पाशविकता की पूंजीवादी यंत्रणा से बच सकता था; हमारे जन की चेतना का क्रान्तिकरण और समाज का आधुनिकीकरण सामूहिक उद्धार द्वारा हो सकता था! अतः अनिवार्य वेदनाभोग हमारा उद्धार कर सकता था और निर्दोष वेदनाभोग से हम बच सकते थे। लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था के आपाधापी आगमन के साथ-साथ हमारी संस्कृति में भी जो सुनियोजित संभ्रांतियाँ फैलीं उनसे वेदना-भोग के अंतर भी धुंधले पड़ गये और दोनों प्रकार के वेदना-भोग केवल 'फूहड़ता' के अनुभव में तिरोभूत होते गए। यह हमारी दर्दनाक सांस्कृतिक त्रासदी है: 'त्रासदी' का संबंधन 'फूहड़ता' से हो गया और निराली क्रान्ति की 'केवल जलती मशाल' से वह आलोकित नहीं हो सकी। अतः हमारे मूल्यों में, व्यक्तित्व में, वेदनाभोग में, राष्ट्रीय जीवन में अंधी यंत्रणा तो रही किन्तु उसमें अनिवार्यता और परिहार्यता को छाँटने का प्रकाश नहीं फैला और उसमें से त्रासद जागरूकता का आविर्भाव नहीं हुआ। अंधेर है कि हम अपनी दैनिक त्रासदियों तथा त्रासद अनुभवों में क्रान्ति के अनिवार्य अनुभव को नहीं शामिल कर सके! हमारे सामने क्रान्ति एकपक्षीय आतंक और संत्रास, अत्याचार और बर्बरता के रूप में ही पेश की गई, जबकि क्रान्ति अनिवार्य है और क्रान्ति का अनुभव भी एक आह्लाद-कारी त्रासदी है। अपनी त्रासदी को क्रान्तिकारी अर्थों से गर्भित करना ही हमारा 'भारतीयकरण' है।[1]

पंजाब के शहरों में दास-युगीन गुलामों की तरह जाते हुए गन्दे-गरीब-निरीह-दुबले बिहारी-उत्तरप्रदेशी मज़दूरों के झुंड के झुंड; अहमदाबाद में सांप्रदायिक दंगे आग में बूढ़े से लेकर दुधमुँहे बच्चे तक झोंका गया निरपराध मुसलमान-परिवार; नौकरी पाने के लिए के साथ सोकर आई शिक्षित युवती; झूठे इल्जाम से बरी के लिए पत्नी का मंगलसूत्र बेचकर रिश्वत देने वाला नौजवान; किसी गलत युद्ध या दुर्घटना में मर गया पिता का इकलौता जवान बेटा आदि हमारी दैनिक की मिसालें हैं जिनमें निरपराध यंत्रणाभोग है। ये मनुष्य त्रासद अस्तित्व की साखी हैं और मनुष्य के अस्तित्व की स्थायी बुराइयाँ हैं! मनुष्य के त्रासद अस्तित्व की बुरा

१. ध्यातव्य हरिदत्त शर्मा का उद्धरण: "स्वामी विवेकानंद ने था कि...भारत का उत्थान भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ और समाजवाद के अपनाने से होगा।...नेताजी सुभाष बोस प्रभृति नेताओं ने इस भावना को आगे बढ़ाया, इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि मार्ग में कपट-मुनि इस देश की दीन-हीन जनता को ठग लिया और मंज़िल बड़ी कर दी। निर्धन जनता के जागरूक तत्व इस तथ्य को पहचान रहे हैं और संघर्ष का शंखनाद कर हैं। यह भी सही है कि इनमें से कुछ लेनिन, माओ-त्से चे गुवेरा के दिशा-निर्देशों के अनुसार सशस्त्र क्रान्ति संघर्ष की राह पर चलने लगे हैं। इसे देखकर कुछ लोग चिल्लपों मचाते हैं कि ये विदेशों से क्यों प्रेरणा ले रहे ...जब वे सब भारत के इस विशाल जनसमूह के दुख को समेटने में असफल हो गये तो इन्हें जो रास्ता सूझा उसी पर चल रहे हैं।...ये साफ-साफ देख रहे हैं कि के स्वार्थी तत्त्व आज भी इनके नाम पर विदेशों से अर्थ सहायता लेकर गुलछर्रे उड़ा रहे हैं।...इसलिए अपने तरह की लूट के विरुद्ध ये वीर-भाव से उठने के लिए हैं और उन सबसे हाथ मिला लेना चाहते हैं जो विदे उन्हीं के वर्ग के हैं। उनका कहना है कि जब सामन्त और पूँजीवादी तत्त्व विदेशी सामन्तवादियों और पूँजीव से मिलकर अपनी ताकत बढ़ा रहे हैं तो हम भी विदेशी श्रमजीवी जनता की ओर हाथ बढ़ाएँ?...उनका राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद का विरोधी है और उस अन्तर वाद का मित्र है जो सारी वसुधा को सुखी और नि देखना चाहता है।"—'भारतीयकरण का मुहाना है श्रम जनता' शीर्षक लेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्दय इतिहास-गाथा हैं। अतः इन पर इतिहास के रंगमंच पर ही विजय पाई जा सकती है—इतिहास से परे अतिक्रमण करके नहीं। इतिहास का अधिनायक मनुष्य है। अतः मनुष्य ही अपने मानवीय अस्तित्व के ऐतिहासिक अशुभ को जीत सकता है। इसके लिए इतिहास किसी भी **काव्यात्मक न्याय** को स्वीकार नहीं करता। रेमंड विलियम्स इस विजय को व्यक्ति की **आत्म-मुक्ति** तथा समष्टि का समग्र या **संयुज-उद्धार** (Total redemption) घोषित करते हैं। त्रासद अस्तित्व के मूल से ही त्रासद जागरूकता का उन्मेष मनुष्य के वेदनाभोग को आत्म-मुक्ति (सेल्फ़-लिबरेशन) में रूपांतरित करता है। विशिष्ट और वास्तविक ऐतिहासिक परिस्थिति को अगर आत्मलक्षी ढंग से निर्विकल्प भाग्य का पर्याय न बनाया जाए, तो वह एक लंबी क्रांति की भूमिका बनती है। इस लम्बी क्रांति में संघर्ष प्रबलतर होते हैं और आवश्यक वेदनाभोग भी भीषणतर होते जाते हैं। इस दीर्घ क्रांति में मनुष्य का आत्मनिर्वासन भी होता है (जैसा कि कई समाजवादी देशों में भी घट रहा है) किन्तु लंबी क्रांति का मार्ग इतिहास है और इतिहास की त्रासद गति ही आत्म-उद्धार का स्रोत बन सकती है। अतः यही गति अन्ततोगत्वा समाधान (नियताप्ति) तथा व्यवस्था के साँचे उपलब्ध करती है। एक गहरी एवं त्रासद अव्यवस्था के अन्तराल से ही क्रांति का अवश्यंभावी क्रियान्वयन होता है।

क्रांति के अनुभवों से गुज़रने पर मनुष्य की **मानवीय दशा** (ह्यूमन कंडीशन) में नया अनुभव होता है। यह नया अनुभव प्राणपीड़क तथा महिमामंडित, दोनों ही एक साथ होता है। एक मनुष्य का जीवन-कर्म एवं चेतना के आयत्तीकरण के सिलसिले में जब स्वयं ही शनैः-शनैः **क्रांतिकारी स्थिति** (रिवोल्यूशनरी सिचुएशन) में उलझता या अंतर्लिप्त होता चला जाता है तब वह **बाह्य परिस्थितियों** (आब्जेक्टिव सर्कमस्टान्सेज़) के भौतिक पारिश्रमिक की आकांक्षा नहीं करता। यहाँ से त्याग एवं बलिदान की नैतिकता का सूत्रपात होता है। यहीं से दैनिक त्रासदी के क्रांति द्वारा उद्धार की शुरुआत होती है।

"एक मुद्दत से मनुष्य स्वयं को आत्मनिर्वासन से मुक्त करने के लिए कला और संस्कृति को माध्यम बनाता आ रहा है। आठ या उससे ज्यादा घंटों के दौरान, जब वह अपनी मेहनत बेचता है, तब वह रोज़ मरता है। बाद में अपनी आत्मिक क्रियाविधियों द्वारा ही वह पुनर्जीवन पाता है। लेकिन इस उपचार में भी उसी रोग के कीटाणु मौजूद हैं।···समाज के सुपरिगठन में ही ऐसी फ़रमानी होती है कि कलाकार की तदाकृत तालीम हो जाये। विद्रोही इसकी व्यवस्था से दबा दिये जाते हैं और केवल बिरली प्रतिभाएँ ही अपनी निजी कृतियाँ रच पाती हैं। बाकी तो बेशर्म भाड़े के टट्टू हो जाते हैं या कुचल दिये जाते हैं। अतः कलात्मक 'स्वतंत्रता' के एक स्कूल का जन्म होता है।···इस तरह निरर्थक व्यथा और भदेस मनोरंजन ही मानवीय चिंता के सुविधापूर्ण एवं सुरक्षामय निकासपुटक बन जाते हैं।···अतः 'स्वतंत्रता' शब्द की आड़ में पलायनवादी अवधारणा छिप जाया करती है।"[1]

हमारे समाज में जिस ढंग का गड्डमड्ड, बड़े बुर्जुओं और बड़े ज़मींदारों तथा इज़ारेदारियों के गठजोड़ वाला जो आर्थिक नीवाँधार कायम हुआ है वह मानवीय चेतना तथा संवेदना के विकास की जड़ें खोदने का अपना काम पहले से ही पूरा करता आ रहा है। अतः **नये मनुष्य** की रचना के लिए हमें **नये आर्थिक नीवाँधार** की आवश्यकता है। इस व्यवस्था में सामान्य मनुष्य और साधारण जन को अब आगे बढ़ने की कोई संभावना नहीं है। अतः मानवीय चेतना की उन्नति भी असंभव है।क **मंसिद्धान्त** (शूद्रों और शोषितों को मृत्यु के बाद पुरस्कार) एक झूठे विश्वास को शताब्दियों से फैलाता आ रहा है कि जो सुफल भोग कर रहे हैं और ऐश्वर्य से पूर्ण हैं वे पुण्यात्मा या अच्छे मनुष्य हैं (शोषक, आततायी और कपटी नहीं)। इसी के साथ **'हमारी संस्कृति'** अर्थात् **वर्ण-व्यवस्था** और **वर्गविभाजन** को एक साथ अंगीकार करने वाली भारतीय संस्कृति के नाम पर यह मानवतावादी भ्रांति फैलायी जाती है कि स्वतंत्रता एवं समतावाला समाज यहाँ है जिसमें कोई भी राष्ट्रपति हो सकता है क्योंकि हरेक ईमानदारी से **आत्म-निर्मित इंसान** है। राष्ट्र की औसत चेतना अभी भी इन सफेद झूठों का शिकार है जिसको चारों ओर सत्ता और व्यवस्था की टट्टी घेरे हुए है। "इसलिए यह बहुत ज़रूरी है कि सामूहिक मनुष्य को संघटित करने के औज़ार सही ढंग से चुने जाएँ। बुनियादी तौर पर यह औज़ार **नैतिक चरित्र** वाला हो किन्तु उसे **भौतिक प्रोत्साहन**

१ चे गुएवारा : 'Socialism and Man', pp. 12, 13, 17.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सही उपयोग की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।··· **संपूर्ण रूप** से समाज को ही एक महाकाय स्कूल में तब्दील कर देना चाहिए।"[1] और यही प्रक्रिया क्रांति है जो **संपूर्ण उद्धार** कर सकती है। जब ऐतिहासिक बुराइयों को नैतिक चरित्र से जुदा कर दिया जाता है, जब ऐतिहासिक बुराइयों को दबाने में लिज़लिजे मानवतावाद के कारण लापरवाही बरती जाती है, तब मानवतावाद की ऐसी सर्वव्यापी महामाया फैल जाती है जो सारे अत्याचारों, अन्यायों, अपराधों, अधोपतनों के प्रति मानवीय स्नायु-चक्रों को ही कुंठित कर डालती है। **केवल नवसमृद्ध** (न्यूरिच), इस व्यवस्था में नवतुष्ट रहते हैं और केवल **नवरुष्ट** (युवा पीढ़ी) इस व्यवस्था में नवफूहड़ होते जाते हैं। हमारे घपलेवाले पूंजीवादी समाज का कोषाणु अकेली जिन्स (कमोडिटी) है। अतः उत्पादन के संगठन में इसके प्रभाव (मुनाफों की लूट, आर्थिक तबाही का प्रसार, अवमानवीयकरण) संचित होकर **मानसिक फान्तासी** में ढल जाते हैं। और; चेतना में भी इसके प्रभाव (आत्म-निर्वासन, आत्म-विनाश, आत्म-पराजय, पाशविकीकरण) संचित होकर **अकेलेपन** में अपने गुल खिलाते हैं। अतः मार्क्स के शब्दों में—"समाज में एक ऐसे क्षेत्र का निर्माण होना चाहिए जो **परंपरागत** प्रतिष्ठा का दावा न करके केवल **मानवीय** प्रतिष्ठा का दावा करे: ···एक ऐसा क्षेत्र जो समाज के अन्य क्षेत्रों से अपना विमोचन किये बगैर स्वयं अपना उद्धार नहीं कर सकता। अतः वह उन सभी क्षेत्रों का उद्धार किये बगैर स्वयं अपना उद्धार नहीं कर सकता। इस तरह यह मानवता की संयुज् या **'संपूर्ण हानि'** है और इसका उद्धार भी **'मानवता के संयुज् उद्धार'** द्वारा ही हो सकता है।"[2] सो, मनुष्य की **आत्म-विमुक्ति** (Self-liberation), क्रान्ति द्वारा, मानवता के **समग्र उद्धार** से गुंथी है। इस रिश्ते में इतिहास की आवश्यकता है और यह रिश्ता अनिर्वचनीय, अन्तहीन तथा अनायास के कुहासों से धुल गया है।

आधुनिक त्रासदी दैनिक त्रासदी तथा परम्परागत त्रासद रूपों का जेस्टाल्ट है। इसमें **'भय'** के संपूर्ण महाभाव अर्थात् **'क्रान्ति'** को स्वीकार किया गया है। अतः क्रान्ति में केवल भय ही नहीं, बल्कि, 'एक चमकीला निडर-सा आह्लाद' भी जुड़ा है। अतः क्रान्ति के नाटकीय एवं सामूहिक संवेग में **व्यथा** एवं **आह्लाद** का सामंजस्य है; इसका रंगमंच स्वयं इतिहास है तथा इसका अभिनेता वर्गसमाज है।

जिस तरह 'भय' का 'क्रान्ति' के महाभाव में रूपकल्प हुआ है उसी तरह 'करुणा' का 'बलिदान' (सेक्रिफाइस) के महाभाव में कायाकल्प।

इस तरह सौंदर्यबोधशास्त्र और दैनिक-दैनंदिन जीवन, इन दोनों की संयुज् त्रासदी में क्रांति (भय) और बलिदान (करुणा) के महाकर्मी भाव केन्द्र में प्रतिष्ठित हो गये हैं। और **नव आधुनिकता-बोध** की हमारी सिद्धि यही द्वंद्वात्मक एकता है।

'बलिदान' के महाभाव के अंतर्गत त्याग, उत्सर्ग, अर्पण के साथ-साथ आत्म-नाश, आत्म-त्याग, आत्म-आग्रह भी शामिल हैं। इसके निषेधी हाशिये में ही आत्म-हत्या और अकेलापन आकर जुड़ता है। रेमंड विलियम्स **ज़िन्दगी के स्थायी या शाश्वत** अंतर्विरोध के रूप में जीवन-मरण के ध्रुवांत को निवेदित करते हैं।

बलिदान का चरमोत्कर्ष मृत्यु है; मृत्यु के बाद का उत्तर जीवन और इतिहास है। मृत्यु ज़िन्दगी के अन्तर्विरोध को निर्मल, स्वच्छ और निर्विकल्प स्पष्टता प्रदान कर देती है। क्रांति तथा क्रांतिकारी स्वभावों वाले मनुष्यों के लिये बलिदान एक **त्रासद पुनरुज्जीवन** है। परंपरागत त्रासदियों में नायक के विनाश के साथ कर्म का अंत हो जाता है। आधुनिक त्रासदी में नायक **आत्म-नाश** करता है। अतः नायक की गति से ज्यादा महत्त्वपूर्ण नायक के माध्यम से आलोड़ित गति है। बलिदान लंबी क्रांति का एक उद्धारक संदर्शन है जो इतिहास के त्रासद तथ्य के उद्धार की प्रक्रिया को एक व्यक्ति के जीवन-खंड से आगे ले जाता है। अतः बलिदान सुदीर्घ क्रांति से जुड़ा है और एक त्रासद पुनरुज्जीव है। भारत के क्रांतिकारी आंदोलन में भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद, राजगुरु, अशफ़ाकउल्ला ख़ाँ आदि ने जो बलिदान किये वे क्रांति की मशाल को तेज़ करने के लिए और राष्ट्र के संयुज् उद्धार के लिये थे। आधुनिक भारत में श्रीकाकुलम्, मुसहरी, डेबरा-गोपीवल्लभपुर में कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों ने बलिदानों की जो परंपरा कायम की है वह राष्ट्रीय उद्धार का संघर्ष है। उसे मायावाद से ढँकने की अनंत कोशिशें हो रही हैं। शहीद

१. चे गुएवारा: वही, पृ० ७।
२. रेमंड विलियम्स द्वारा उद्धृत, 'माडर्न ट्रेजेडी', (१९६६) पृष्ठ सं० ७५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगतसिंह की तरह क्या हम क्रांतिकारी निर्मला पंचदी कृष्णमूर्ति नामक युवा नारी को गद्दार बता सकते हैं जो किसान-विमुक्ति की एक मुठभेड़ में अपने क्रांतिकारी पति के खेत रहने के बाद स्वयं हाथ में रायफल लेकर क्रांति द्वारा आत्म-उद्धार प्राप्त करती है और मारी जाती है? क्या हम उन विद्रोही नक्सलपंथी किसानों और युवकों को डाकू, समाजविरोधी, हत्यारे मानेंगे जिन्हें राष्ट्रीय पुलिस पकड़ने के बाद जंगल में ले जाकर गोलियों से भून देती है। और मुठभेड़ में उनके मारे जाने की सरकारी विज्ञप्ति प्रकाशित करती है? चाहे भगतसिंह हों या निर्मला कृष्णमूर्ति, दोनों को ही हर प्रकार की व्यवस्था हत्यारे, लुटेरे, कायर और गुमराह कहती आई है।

बलिदान अथवा सुखभोग—इन दो रूपों में जीवन की धारणा प्रस्फुटित होती है। बलिदान वह त्रासद प्रामाणिकता है जो बाहरी समाज की साक्षात् क्रूरताओं में साबित हो जाती है। अंततोगत्वा केवल बलिदान ही त्रासद पुनरुज्जीवन और आह्लादक आत्मोद्धार है। बलिदान में आत्म-नाश होने के बावजूद आत्महत्या की नपुंसकता, और मृत्यु का अस्तित्ववादी व्यर्थता-बोध नहीं है। आत्मोत्सर्ग वाला बलिदान आत्म-हत्या के विरुद्ध है। अतः जीवन की धारणा में हम बलिदान को बहिष्कृत नहीं कर सकते। व्यवस्था के सुखभोग अथवा सत्ता के आतंक में बलिदान को कायरता, गद्दारी, हत्या आदि की संज्ञा देना अहिंसावादी संतों और अध्यात्मवादी शासकों का ही कौशल है। जब केवल कर्मसिद्धांत अथवा दैवी सौभाग्य एवं सद्वंश के द्वारा ही उद्धार का विकल्पहीन सामाजिक दर्शन फैलाया जाएगा, जब नरकभोगी जीवन को भी ईश्वरअंशी रूप में स्थापित किया जाएगा, तब अनिवार्यतः **बलिदान** को बहिष्कृत किया जाएगा तथा **क्रांति** को बहशीपन और अराजकता बताया ही जाएगा। अतः बलिदान और क्रांति—एक खतरनाक जंगली और अमानवीय दशाएँ बता दी जाती हैं।

बलिदान की सार्थकता त्रासद पुनरुज्जीवन तथा आह्लादक आत्मोद्धार है। यह मानव जाति की करुणा का समन्वित महाभाव है। बलिदान का महाभाव इस पूँजीवादी समाज और एस्टैब्लिशमैंट की **समग्र अस्वीकृति** है। अतः यह **संपूर्ण विद्रोह** और **निरन्तर वेदनाभोग** की स्थिति है। फलतः परित्याग और आत्म-त्याग, विद्रोह और क्रांति, निराशा और आह्लाद के द्वंद्वों में से गुज़रने वाले आधुनिक मनुष्य का असली आधुनिक बोध यही है। इसके प्रतिवाद में आत्महत्या तथा मृत्यु का संत्रास भी हमारे बौद्धिक एवं सांस्कृतिक अनुभवों में रोपा जाता रहा। अतः हम इस बिंदु से जीवन के शाश्वत अन्तर्विरोध के पार्श्ववर्ती **लेखक के अन्य अंतर्विरोधों** को ले सकते हैं ताकि रचनाधर्म और मानवीय कर्म के परस्पर काटते साक्ष्य खुल सकें।

केवल समझने-बूझने के लिए हम दशकों के अवैज्ञानिक बँटवारे को चुन सकते हैं क्योंकि भारतीय गणतंत्र की स्थापना (१९५०) के आसपास के दसवर्षीय किशोरों में से सन् साठ तक **नवलेखक**; और सन् साठ के आसपास के दसवर्षीय किशोरों में से **युवा लेखक** हो गये हैं। इससे पहले सन् चालीस के आसपास के किशोर पचास तक आकर **आधुनिक लेखक** हुए थे। इसके समानांतर **पाँचवें दशक** में दर्द के क्षयी रोमांसवाद को और राष्ट्रीय सत्ता को क्रमशः प्रयोग और स्वतंत्रता का प्रतिपादक माना गया। **छठे दशक** में राज्याश्रय को लेखक की रचनात्मक स्वतंत्रता का शत्रु तथा अप्रतिबद्ध एवं उदारतावादी लेखकों को धुरीहीन घोषित किया गया। सातवें दशक में पूर्ववर्ती समकालीन या नये लेखकों में से अधिकांश सुविधाजीवी तथा वेतनभोगी तथा सेठ राज्य-आश्रित होते गए और शनैः-शनैः सुरक्षा-कवचों को पहनकर वैचारिक युद्ध करने के बजाय शक्तिशाली सरकार के प्रति तटस्थ और साहित्यिक व्यापार के प्रति सह-अस्तित्ववादी होते गये। इस दौरान देश में विदेशी इज़ारेदार पूँजी और भारतीय इज़ारेदार पूँजी का आक्रांतक विकास, एवं उसका गठबंधन बड़े ग्रामीण ज़मींदारों से हुआ। अतः लेखक, रचना और मूल्य—सभी 'जिन्स' बनकर अकेले बिके और कीमतों के उतार-चढ़ावों के साथ बिके। सो, इस दौर के नवतुष्टों और नवरुष्टों ने, नेताओं और सेठों ने, लेखकों और आचार्यों ने खुल्लमखुल्ला लूट-पाट की, क्रूरतापूर्वक खरीद-बिक्री के निकृष्ट व्यापार चलाये (विष्णुचन्द्र शर्मा) तथा असामाजिक मूल्यहीनता तथा फूहड़ता का, अमानवीय अकेलेपन तथा अजनबीपन का प्रोपेगंडा किया। अतः इस सांस्कृतिक और सामाजिक टोली में चुक जाने के बाद वाली मोहभंग की स्थिति में **'व्यर्थताबोध'** फैला (सिद्धेश)। **सातवें दशक** में राष्ट्रोन्मादी युद्ध और दिशाहीन आर्थिक रचना से अनिश्चयता, अधोगति और गत्यवरोध की अंधी निराशा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फैली। इस चरण में जीवन और रचनात्मकता की प्रकृत्-मैत्री के पूर्णतः भंग हो जाने पर ही वैसी त्रिधर्मी निराशा फैली, आधुनिकीकरण में समसामयिक नवीनता विलुप्त हुई और सांस्कृतिक जीवन में डायोनीसियन उन्मादों का स्वेच्छाचारी अनुप्रवेश हुआ। अतः देह की राजनीति, साहित्य की बिक्री, सेक्स की तांत्रिक क्रांति की विसंगतियाँ आदि स्थाया हो गईं। अवसरवाद और सुविधाबाज़ी ही व्यावहारिक लक्ष्य बने। अतएव इस (सातवें) दशक के युवा लेखकों एवं नवल लेखन में सर्वांगीण निषेधों एवं अस्वीकृतियों के रूप में प्रतिक्रिया हुई और इस विद्रोही प्रतिक्रिया में सकारात्मकता का पहला **रौद्र बोध** भी जागा। अतः सातवें दशक के पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध में भी चेतना के स्तर बदल गये। इस ताज़े युवा एवं नवल लेखन में एक ओर 'नवलेखनवादी' आत्मघाती आक्रोश के बजाय आक्रामक आक्रोश और विद्रोही अस्वीकृति है (विमल वर्मा, शलभ श्रीराम सिंह); दूसरी ओर देश के निर्माण तथा सामाजिक सहकार से **निष्कासन-बोध** है (नंदकिशोर तिवारी); तीसरी ओर खरीद-बिक्री वाले निकृष्ट व्यापार में विकल्पहीनता एवं अपराजेय विवशता की छटपटाहट-तिलमिलाहट है (सकलदीप सिंह, गंगाप्रसाद विमल, निर्भय मल्लिक, जगदीश चतुर्वेदी); चौथी ओर शत्रु को पूरी तरह न पहचानने के कारण, आक्रोश के आंतरिकीकरण का अभाव है (सौमित्र मोहन, लीलाधर जगूड़ी, राजकमल चौधरी, अचल राजपूत, रमेश बक्षी, शरद, विश्वंभरनाथ उपाध्याय की स्थापना) और पाँचवीं ओर शोषणयंत्र को तोड़नेवालों का प्रतिबद्ध साथ है (कंचनकुमार, रमेश गौड़, धूमिल, श्री हर्ष, कुमार विकल, रणजीत, कुमारेंद्र पारसनाथ)। पक्षधर और अराजकतावादी लेखकों की इन टोलियों ने सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और गजानन माधव मुक्तिबोध, रांगेय राघव और राजकमल चौधरी, सूर्यप्रताप सिंह तथा सतीश चौबे और केशनीप्रसाद चौरसिया के प्राणोत्सर्ग और आत्मोसर्ग को, वेदनाभोग और विद्रोह को, ईमानदारी और स्वाधीनता को, आत्मनिर्वासन और आत्मविमुक्ति को पुंजीभूत रूप में अपनी अस्मिता भी माना। यह स्वयं में एक महत्तम अंगीकार है! अगर यह अंगीकार भी दिखावा नहीं है, तो यह 'त्रासद पुनरुज्जीवन' की स्वीकृति भी है। इसलिए साफ तौर पर अब चन्द मसायल उभरते हैं: (क) देश में पूँजीवादी शोषण की लूट, कलाकृति तथा लेखक दोनों के जिन्स होकर अकेले हो जाने की प्रक्रिया की विद्रूपता-विसंगति-व्यर्थता आदि से वास्तविक आतंक और संत्रास जन्मे हैं जिनको 'नये सन्दर्भ' कह सकते हैं। इन सन्दर्भों में भारतीय तरुण बौद्धिकों में समानांतर बिखराव और परस्पर-विरोधी साक्ष्यों का 'भटकाव' अर्थात् 'विकेंद्रित विद्रोह' (धुरी-हीन नहीं) की असली-नकली, सच्ची-झूठी, सही-गलत भंगिमाएँ तथा पीड़ाएँ मौजूद हैं; (ख) सामाजिक क्रूरता से उत्पन्न निष्करुण व्यक्तित्व, और जिन्स बन जाने से निकृष्ट व्यापार की सौदेबाज़ी तथा अकेलेपन का नंगा, बनैला अंधा आतंक दृष्टिहीन विद्रोह को अंधे अवसरवाद में बदल रहा है। फलस्वरूप दारुण यातना और मानसिक करुणा के बीच भी निष्करुणा, लूट-पाट तथा खरीद-बिक्री के बाज़ार में मूल्य-हीनता तथा सम्बन्धहीनता का फैलाव हुआ। फलतः हमारी आधुनिक 'त्रासदी' की समस्या क्रान्ति से न जुड़कर 'संक्रान्ति' से जुड़ गई है। सातवें दशक के आखिरी सालों के बाद से तो सामाजिक अन्यायों की क्रूरता तथा आर्थिक जीवन में लूट-खसोट एक अनचाहे आतंक के अनुभव के बजाय 'जीवित संस्कार' ही बन गये हैं। अतः इस बदली हुई मानसिक दुनिया के केन्द्र में चुभा हुआ युवा बौद्धिक अब कामू या काफ्का को नहीं देखता, बल्कि किसी साहित्य अकादमी के तपःपुंगव और और महान सौदागर लेखक अथवा बेरोज़गार विद्रोही, डटीले रमेश गौड़ को देखता है। अतः तत्काल के इस अनिश्चयता-परक वातावरण में **इतिहास** एक प्रेतस्वप्न तथा **मर्यादा** एक पालतू कुत्ते का पट्टा लगती है। अतः सुसंस्कृत, सुकोमलकांत, शालीन एवं शास्त्रीय भाषा से भी विद्रोह करके ये लेखक अक्खड़-अखबारी-आक्रामक-असंस्कारी भाषा की वह एस्थेटिक्स बूझ रहे हैं जो नाराज़गी और गाली की, ऊब और चीख की, बेहूदगी और बकवास की भी अभिव्यक्ति कर सके। और अभी-अभी ये नये-नवेले व्यावसायिक पत्रिकाओं से अलग होकर मुख्यतः छोटी पत्रिकाओं के मंच से सही लेखन और सच्चे लेखकों की तलाश कर रहे हैं। इतनी बड़ी व्यवस्था से टकराने के लिये विकेंद्रित विद्रोह, अंधा अवसरवाद तथा नकली अस्वीकृति से ओतप्रोत अधिकांश पत्रिकाएँ क्या करेंगी? कमलेश्वर इन्हें व्यक्तित्वहीन पत्रिकाएँ कहते हैं और बताते हैं कि इनका लगभग एक स्वर है व्यर्थता का। इन पत्रिकाओं में अंधी अवसरवादिता का सुविधावादी ढोंग है जो **समय की अनिवार्य आवश्यकता** का अंग नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय की अनिवार्य आवश्यकता है संत्रास और यंत्रणा के कारणों की पहचान ![1] इस तरह सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना में बड़ी जल्दी-जल्दी बड़े बारीक और बेहद विविध परिवर्तन हो रहे हैं जिनमें तात्कालिकता की स्फूर्ति के गुण तथा अनिष्ट, दोनों का सामंजस्य है। ये परिवर्तन अब खुलकर और नंगे होकर हो रहे हैं। ये परिवर्तन मनुष्य तथा लेखक के कई गौण तथा अज्ञात अंतर्विरोधों को उद्घाटित कर रहे हैं। अतः उनके लिए 'तनाव', 'बुनावट', 'खिचाव' के बजाय 'आक्रामकता', 'विवशता', 'जीवित संस्कार', 'नंगा साक्षात्कार' जैसे लट्ठधारी पारिभाषिक आ डटे हैं ! हम उनका स्वागत करते हैं !

तथापि मनुष्य का प्रथमूल अंतर्विरोध तो **कर्म से कटाव** और अंतर्मुखी अकेलेपन के आतंक के बीच है। इसी तरह रचना-संसार का प्रमुख अंतर्विरोध **व्यापार** (बाज़ार) और **कला** (सांस्कृतिक मूल्य) के बीच है। ये दो केन्द्रीय अंतर्विरोध हैं जो हमारी संस्कृति, समाज तथा लेखकों के मुखौटे, नकाब, भंगिमाएँ आदि उघाड़ रहे हैं। फलस्वरूप हम एक भयानक यथार्थ और निर्भय सत्य के आमने-सामने आते जा रहे हैं जिससे हमारी 'त्रासदी'[1] संक्रांति को धकेलती हुई क्रांति की ओर बढ़ रही है।

हमारी त्रासदी में बाज़ार और कलाकृति के बीच का अन्तर्विरोध ज्यादा खुला है। अन्तर्विरोध का द्वन्द्वात्मक चरित्र ही यह है कि वह दोनों पक्षों की एकता एवं संघर्ष की गति से खिले-खुले। अतः बिकाऊ माल की मंडी की तरह संस्कृति भी एक बाज़ार बनी जहाँ कृतियाँ और लेखक 'अकेली जिन्स' की तरह सिज़दे कर रहे हैं। इस बाज़ार में एक ओर व्यावसायिक पत्रिकाएँ आईं जिन्होंने उन अनेक आधुनिक एवं प्रतिबद्ध लेखकों को समेट लिया जो पहले अप्रतिबद्धता को धुरीहीनता और साहूकारों के आश्रय को परतंत्रता बताते थे। फिर एस्टेब्लिशमेंट ने अपनी न्यूनतम शर्तों पर आचार्यों और रचनाकारों को खोंसकर सम्मानित किया। फिर सरकार ने भी खरीद-बिक्री के कई तिलिस्मी दरवाज़े खोले। अतः मूलक्रिया ऐसी घटी कि क्लासिकल बौद्धिकों की तरह आधुनिक एवं नये लेखक भी दुमछल्ले संस्थान-स्थापक हो गए। किन्तु अपने पुराने स्वतंत्रोपासक, आधुनिक और प्रतिरोधी बिंब की छाया को कायम रखने के लिए ये एक ओर फार्मूलेबाज़ लेखन के अन्तर्गत देह की राजनीति को अपनाते गए तो दूसरी ओर सेठ-सरकार-आचार्य का विरोध-विद्रोह न करके तटस्थता एवं उदारतावादी अवसरवाद के शिकारी-खिलाड़ी होते गए। अतः वे सुविधाजीवी और वेतनभोगी लेखक और मनीषी बन गए। उन्होंने व्यापार की कई ट्रिकें और तुर्पचालें सिद्धहस्त कीं। अनुवादक, टेक्स्टबुक लेखक, शिक्षाबोर्ड में पुस्तकें स्वीकृत कराने वाले दलाल, दूतावासों से काम दिलाने वाले परोपकारी लेखक आदि बनकर उन्होंने ऐश्वर्यपूर्ण सुविधाओं तथा प्रेतलेखकों को साथ-साथ अवतरित किया। इसके लिए उन्होंने कई सुरक्षा-कवच पहने जो उन्हें सफल व्यापारी और कीमती नेता बना दें; उन्होंने अपने दंभाडंबरों को सतर्कता से ढँका। इस तरह उन्होंने **दोहरे एवं दोगले व्यक्तित्व** का विन्यास कराया।

अनेक होनहार, बेकार प्रतिभाशाली लेखक भी इस जाल में कुदरतन फँसे और उन्हें भी अवसरवादी तथा अभिनयवादी बनना पड़ा। अनेक घाघ सप्तमहारथियों ने इन अल्हड़ अभिमन्युओं को भी **मुखौटे और नकाब** के लेखक-कर्म सिखा दिए। निष्कासित और निर्वासित ताज़े नये लेखकों ने पर्दे की आड़ में सिफारिश-चुगली-चापलूसी-रिश्वत-तिकड़म का पचनोली चक्रव्यूह समझ लिया। अतः इनमें भी बहुत-से नक्काल, बहुत-से मीडियाकर और बहुत-से नकाबपोश आकर शामिल हो गए। अगर वे दोहरे हाथ मारने वाले फार्मूलेबाज कलाकार थे तो ये नवरुष्ट चुटकुलेबाज़ भी हुए। तो, इनके विद्रोह की दिशाहीनता और विकेन्द्रीयता की निचली परिणति यह चुटकुलेबाज़ी हुई। इसकी पूरक होकर 'न'-कार की कई अभिनय-मुद्राएं और भंगिमाएँ भी निरूपित हुईं। विकेंद्रित-दृष्टिविहीन विद्रोह के उद्घोषक सुरेन्द्र चोपड़ा, रमेश बक्षी, निर्भय मल्लिक, और सिदबादी मुद्राराक्षस बने। इस जटिलता के समानान्तर अर्थात् सुविधाजीवी तथा मोटे वेतनभोगी लेखकों के मुकाबले **वेदनाभोगी** लेखकों ने मशालें जलाईं। विष्णुचन्द्र शर्मा, धर्मेन्द्र गुप्त, शैलेश मटियानी, ब्रजकुमार पांडेय, अचल राजपूत, रमेश गौड़, कंचनकुमार, रामेश्वरदत्त मानव, अलखनारायण, शरद आदि की यह परस्परविसंवादी मंडली हमारे नयेपन की शानदार उपलब्धि है। इनके प्रमुख लेखन की तुलना में विकेन्द्रित विद्रोह की

१. दे० 'छोटी पत्रिकाएँ—बड़ी पत्रिकाएँ : कागज़ के इन घरों से निकलकर' "शताब्दी", जनवरी-मई १९६९, पृ० १६९, १७०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रिज्या वाले लेखन का निम्न बुर्जुआवादी चरित्र अर्थात् सांस्कृतिक बचकानापन उजागर हो जाता है। यह कंट्रास्ट यह भी दर्शा देता है कि अभिशप्त नियति के **मुखौटे** अन्त तक आते-आते—व्यर्थ और गलत होते-होते—अवसरवादी **नकाबों** में रूपांतरित हो गये। किन्तु यही मोहभंग, अब आकर, आंदोलनकारी सिद्ध हुआ।

नये बौद्धिक और लेखक दृष्टिहीन तथा विकेन्द्रित विद्रोह की आवश्यकता को स्वीकार करने लगे। पूर्ववर्ती अस्वीकृतियों और आत्मप्रेम से निस्संदेह यह अगला कदम है। इन्होंने विद्रोह की चेतना को एक **मंच** भी दिया। अतः इनमें अकेलेपन के नंगे और बनैले आतंक से छूटने का संकल्प सुगबुगाया। अकेलेपन का विकल्प तो **संगठन** है। और संगठन तभी संभव है जब हमारे आक्रोश-विद्रोह-आक्रामकता का लक्ष्य अर्थात् 'शत्रु' मालूम हो। जब 'रावण' का पता चल जाएगा तभी, (बकौल मुक्तिबोध के—) हमारी युवापीढ़ी 'रावण के घर पानी भरने से इन्कार' करेगी। अतः विद्रोही संगठन का स्वरूप **मंच** को **'मोर्चे'** में रूपांतरित करने से ही उभरेगा। हमने **ऐतिहासिक** बुराइयों या अनिष्टों की चर्चा की थी और उन्हें यंत्रणा एवं वेदना के भोग की आवश्यकता से जोड़ा था ताकि क्रांति (इस यंत्रणाभोग से) उद्धार कर दे। अब हम वर्तमान की **संगठित** बुराइयों या अनिष्टों के तथ्य को स्वीकार करते हैं। अतः संगठित बुराई के लिए **संगठित आंदोलन** के सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं है। अतः हमारे सामने असली चुनौती है सांस्कृतिक आयाम का राजनीतिककरण करने की। हमारे विद्रोही लेखन का स्वर उत्तरोत्तर राजनैतिक होता जा रहा है—अब इस सत्य को अस्वीकार करने का पाखंड नहीं चलेगा। अतः इस 'विकेन्द्रित विद्रोह' का भारतीय सांस्कृतिक जीवन के इतिहास में पहली बार ध्रुवीकरण होने वाला है। अतएव निष्कासन और निर्वासन, व्यर्थता और विवशता, विसंगति और विकल्पहीनता की अधुनातन दशाओं के बीच से तीर की तरह चीरता हुआ विकेन्द्रित विद्रोह के ध्रुवीकरण, तथा सांस्कृतिक आयाम के राजनीतिककरण का समारंभ हो रहा है। 'आटोमेटिक तथा अन्धे होनेवाले इस साहित्यिक विद्रोह' की नियतियात्रा सांस्कृतिक क्रांति है बशर्ते फूहड़ता की महामाया छँटती रहे।

पूर्ववर्ती आधुनिक तथा नये लेखकों (की पीढ़ी) के बारे में कहा जाता है कि सुविधा और सुरक्षा, स्नावरी और सौदागरी ने उनके शरीर तथा व्यक्तित्व दोनों को दोहरा बना दिया था। आज नवल और युवा लेखकों को भी बेकारी और लाचारी का शिकार होकर अवसरवादी तथा अभिनयवादी चरित्र संस्कारित करना पड़ गया है। वे व्यापार करने के लिए सुरक्षा-कवच लगाते थे तो हम उसे अभिनय करने के लिए लगाते हैं। युद्ध के लिए दोनों ने इसका इस्तेमाल नहीं किया। अतः 'मंच' मोर्चा नहीं बना। अतः प्रतिरोध में आने के लिए नेतिकरणों की कतार लगाई गई (अस्वीकृति, अनास्था, अनागरिक, अकथ, अकच, असंतुष्ट आदि); फिर आत्महत्या, आत्मप्रेम, व्यर्थता, मृत्युबोध या सेक्स-क्रांति की कोई भी सुविधाजनक बेईमान पोशाक पहनी गई; फिर भाषा की लड़ाई में अघोरफंटई की गई और फिर विद्रोह को राजनीति से, सामाजिक क्रांति से, जोड़ने में हिजड़ापन दिखाया गया। इस तरह पुनः विकेन्द्रित विद्रोह भी परोक्ष ढंग से पूंजीवादी ढाँचे की सुरक्षा का कलात्मक विनोद बनकर चुक सकने के खतरे का सामना कर रहा है। जीवन को रचनात्मक बनाना, सच्चा बनाना, सही बनाना और सुखी बनाना ही 'सांस्कृतिकीकरण' है। यही कला का धर्म है। यही लेखन-कर्म है। यही राजनीति-धर्म है। अतः **सांस्कृतिकीकरण** और **राजनैतिकीकरण** की सहवर्ती प्रक्रिया ही **'नवयुवाधुनिक'** लेखन का रचना-धर्म है। अतः हमारी सामाजिक-सांस्कृतिक त्रासदी क्रांति से सम्बद्ध होने को आतुर है। अगर शोषणयंत्र के नौकरशाहों और आततायी श्रीमंतों की स्थापना यही है कि विद्रोह करना लेखकों और जनता का काम नहीं, बल्कि कम्युनिस्टों का काम है; अगर सामाजिक परिवर्तन और गरीबों के उद्धार की बातें करना बागियों और डाकुओं का काम है; अगर सांस्कृतिक क्रांति और कृषक-क्रांति को आंदोलित करना केवल नक्सलवादियों का राष्ट्रद्रोह है; अगर समाजवाद का आह्वान करना अपराधी प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी की कम्युनिस्ट-तानाशाही वाली चाल है, तो नवल और युवा लेखक को अपने 'विद्रोह' को भी सभ्य, सुविधाजीवी और सुरक्षापूर्ण पोशाक पहनानी होगी। पूर्ववर्ती महान बुजुर्गों और आत्मनिर्वासित प्राज्ञ आधुनिकों के मुखौटे इसी गुस्ताख मंडली ने नोंच फेंके हैं। अब तो इसके भी अभिशप्त नियति के झूठे **मुखौटों** तथा चुटकुलेबाज अवसरवादी नकाबों को खींचकर उछाल फेंकने के लिए इनके बीच से ही नये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्धिक और लेखक तैयार होंगे।' हुजूर, इसे हम आंतरिक अंतर्विरोध कहते हैं! केवल व्यवहार और अभ्यास की कसौटी ही दृष्टिहीन विद्रोह और ढुलमुल अवसरवाद को समाप्त करके सही विद्रोह और सही दिशा दे सकती है।

सामाजिक चेतना का परिवर्तन और सांस्कृतिक चेतना का नवोन्मेष हमेशा नये अनुभवों से होकर गुज़रने में होता है। नये अनुभवों का अवसर ज्यादातर सामाजिक एवं राजनैतिक आंदोलन प्रदान करते हैं। परिवेश की आम जागरूकता का सृजन पर ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ता है। मिसाल के तौर पर बँगला और हिन्दी के 'आधुनिक' नाटककार मोशाय उत्पलदत्त और होनहार मोहन राकेश को ले सकते हैं। उत्पलदत्त में सांस्कृतिकीकरण और राजनैतिकीकरण का सहवर्तन है, जबकि मोहन राकेश में उनके बीच खाई है। उत्पलदत्त के 'कल्लोल' और राकेश के 'आधे-अधूरे' की तुलना राजनैतिकीकरण के अधूरेपन को खोल देती है। इसी तरह पहाड़ी संथालों पर लिखे गए उत्पलदत्त के 'तीर' नाटक और पहाड़ी अंचल में निवेशित मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' शीर्षक नाटक में सांस्कृतिकीकरण के आयामों में ज़मीन-आसमान की दूरी दृष्टिगोचर हो जाती है। उत्पलदत्त का 'तीर' सांस्कृतिक दर्पण में क्रांतिकारी पुनरुज्जीवन को उभारता है। मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' ग्राम-कवि कालिदास, काश्मीर-प्रशासक कालिदास और अजनबी-अकेले-आधुनिक कलाकार कालिदास को उभारता है। राज्य-सत्ता के सम्मान और प्रभुता के बीच भी कालिदास का आत्मविघटन होता गया और उसके कलाकार की रचनात्मक स्वाधीनता समाप्त हो गई। अतः वह आत्म-मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है। इस नाटक में मोहन राकेश के दशक में उभरती हुई इतिहास की विडंबना एवं 'आधुनिक' कलाकार-मनुष्य के अपरिचय-अजनबीपन-अकेलेपन की वेदना-पीड़ा के आयामों का उद्‌घाटित किया गया है। किन्तु यहाँ भी सुविधाजीवी और अवसरवादी कालिदास के रूप में तत्कालीन लेखकों की समझौतावादी उज्जयिनी झिलमिलाती है। 'बलिदान' और 'संत्रास' की आधुनिक नाटकीय अनुभूति की तीव्र छटपटाहट तो जयशंकर प्रसाद में देखने को मिलती है जब वे अपने सुखान्तिकी-नाटकों—'स्कंदगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी'—में प्राणोत्सर्ग की दुःखवादी करुणा और अत्याचारों-नृशंसताओं के आतंक को क्रमशः बौद्ध-दर्शन और ऐतिहासिक नियति के साँचों में ढालने की कोशिश तो करते हैं किन्तु करुणा की वरुणा-धारा उनके आनंदवादी जीवन-दर्शन को बहाती जाती है। 'आत्मजयी' (कुँवरनारायण) और 'एक कंठ विषपायी' (दुष्यंतकुमार) में 'त्रासद जगरूकता' तेजोद्दीप हो उठी है। 'अंधा युग' में त्रासद फूहड़ता उद्‌घाटित होती है और यह निर्भय सत्य की वास्तविकता को झेलता है। अतः आधुनिक लेखन की एकबारगी सामूहिक ट्रायल करके उसे अराजकतावादी अग्निकांड को सुपुर्द कर देना अंधे विद्रोह की आत्महत्या होगी। हमें तो उनके अंतर्विरोधों को निर्ममता से नंगा करना ही होगा। हमवतन, बस आखिरी खुली बेलौस चुनौती शेष रह जाती है!

अब तक 'नवलेखन', 'नवल लेखक', 'युवा लेखक', 'युवा आन्दोलन', 'युवा पीढ़ी', 'युवा चिंतन', 'छात्र पीढ़ी' आदि की सत्ता तो कुबूल कर ली गई है। किन्तु 'नया मनुष्य' कैसा है? कौन है? कहाँ है?—इस समस्या को क्यों छोड़ा गया? नये इंसान के बिना नवलेखन और युवा चिंतन कैसे होगा? छोटी पत्रिकाएँ तो नये इंसान नहीं बनाएँगी!

१. इस प्रसंग में विष्णुचन्द्र शर्मा के 'समाज कुछ वस्तुओं के बदले कुछ वस्तुओं को खरीदने का बाज़ार है—और खरीद-विक्री निकृष्टतम कार्य है' शीर्षक लेख की ये जरूरी पंक्तियाँ पठनीय हैं: "सुविधा लेखक के अन्तर्विरोधों को नंगा कर देती है। हिन्दी के ये जंगलगे व्यक्तित्व अपने अन्तर्विरोधों में आज नंगे हो चुके हैं।...हिन्दी में ज्यादातर व्यक्ति कवच लगाकर विरोध में खड़े होते हैं और कवच-सुरक्षा की पहली पंक्ति में ही व्यापार का रूप ले लेता है। वह युद्ध का कवच न होकर व्यापार का दाँव बन जाता है। यानी, चित भी मेरी, पट भी मेरी।...पंक्ति एक ही है—अज्ञेय से होती हुई नामवरसिंह तक। यह दोहरे व्यक्तित्व की पंक्ति है।...सौदे की दौड़ में देह की राजनीति करने वालों की पंक्ति है, यानी खुद सौदागरों की पंक्ति है।...मन का टूटा हुआ आदमी हर किसी के पास जाता है। खिसियाकर जाता है, दब्बू बनकर जाता है, रिरियाता हुआ जाता है। और यही हिन्दी के अद्वितीय व्यक्तियों की नियति है। वे एक अद्वितीय पंक्ति हैं रिरियाती हुई।...हमारा विरोधी मानसिक संस्कारों का बनिया है और वही आर्थिक क्षेत्र का सुविधाजीवी साम्राज्यवादी है। किसी भी स्तर पर मानसिक संस्कारों के बनियों से हम दबाव और तनाव झेलकर जी रहे हैं। यह विश्वास मन में है कि उसे एक दिन वियतनाम-युद्ध में ही नहीं, अपने देश में चल रहे आंतरिक युद्ध में भी घुटने टेकने पड़ेंगे।"—'नीलपत्र'—२, संपादक—के० विक्रम, पृ० १५-१८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें प्रकाशित पर्याप्त 'नवलेखन' भी तो मुखौटों-नकाबों-भंगिमाओं वाला है ! नये मनुष्य के बिना नवलतर या युवा लेखक कैसा ? नवलेखन और युवाचिंतन कैसा ? यद्यपि यह एक अलग दार्शनिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक महाप्रश्न है; किन्तु यह दैनिक समस्या भी है।

जाहिर है कि हमारा नया इंसान कल्कि-अवतार नहीं होगा। वह अर्द्धदैवी मानव, अतिमानव या लघु मानव भी नहीं होगा। वह हम-जैसा ही साधारण किन्तु विशिष्ट होगा। उसके आविर्भाव की प्रक्रिया दैनिक जीवन की त्रासदियों के अनुभव से उपजी त्रासद जागरूकता होगी; अकेलेपन के संत्रास और आतंक के भोग उपजा उसके कारण की पहचान होगी; अभ्यास और व्यवहार के बीच फूटा सही-गलत का विवेक होगा; सामाजिक व्यवस्था के अंतर्विरोधों से विस्फोटित क्रान्ति की आवश्यकता और दिशा की संभावनाओं का प्रयोग होगा। परिवर्तन की आवश्यकता का तीव्र अनुभव करने वाले और वर्तमान की यथास्थिति को अस्वीकार करने वाले इंसानों तथा बौद्धिकों में ही—यह बोध तथा कर्म जागेगा कि पूंजीवादी शोषणतंत्र और व्यक्तिवादी आत्मनिर्वासन को चकनाचूर किये बिना कुछ भी नया नहीं उपजेगा। अतः नया इंसान उन्हीं के बीच से, और उन्हीं में, प्रादुर्भूत होगा जो अपनी त्रासदी को भोग रहे हैं, त्रासद भोग को चेतना में रूपांतरित कर रहे हैं और नई चेतना को सामाजिक सहभाग की शक्ति के माध्यम से क्रांतिकारी चेतना में बदल रहे हैं। अतः क्रांतिकारी चेतना आत्मनिर्वासित मनुष्य को जागरूक बनायेगी। वह यांत्रिक पूंजीवादी व्यवस्था की गुलामी से विद्रोह करेगा। विद्रोह ही क्रमशः मंच, मोर्चा, संगठन, आन्दोलन की सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ क्रांति बनेगा। क्रांतिकारी इंसान ही नया इंसान होगा। आधुनिक व्यवस्था एक विश्व-व्यवस्था का अंग है। क्रांतिकारी इंसानों के नमूने के रूप में चेगुएवारा, होचीमिन्ह, सार्त्र, रसेल, अजितानारायणन्, निर्मला कृष्णामूर्ति, कानूसेन्याल हमारे सामने हैं। अतः नये इंसान सचेतन होकर स्वयं इतिहास का निर्माण करेंगे और तभी हमारा समग्र उद्धार होगा—क्रान्ति द्वारा ! एक नये इंसान के नमूने के आते ही पूरी व्यवस्था में उथल-पुथल मच जाती है। आत्मत्यागी गांधी भी अपने समय का नमूना था। आज हमारी व्यवस्था में लोहिया, मार्क्स, चे, नक्सलपंथी के नमूने हैं। इनके अनुप्रवेश से हमारी त्रासदी के हाशियों के 'सन्दर्भ' भी नये हो गये हैं। इनके प्रभाव से बूढ़े और किशोर बौद्धिक या लेखक या इन्सान आत्म-विमुक्त होकर नवल और युवा हुए हैं : पुनरुज्जीवित और पुनर्नवा !!

अभी तक हमने अपने सामाजिक यथार्थ में उस नये मनुष्य की रेखाकृति खींच ली है। वह नया इंसान पहले-पहल तो सुविधाजीवी और लम्बोदर वेतनभोगी नहीं होगा; अर्थात् वह परिश्रमी होगा। वह अवसरवादी नहीं होगा अर्थात् पक्षधर और सुदृढ़ होगा। वह सुरक्षा के ढोंगी कवचों में व्यापार नहीं करेगा अर्थात् वह त्यागी और जोखिम झेलने वाला होगा। वह वेदना तथा यन्त्रणा को ईमानदारी तथा निर्भीकता से व्यक्त करेगा अर्थात् वह विद्रोही एवं आक्रामक होगा। वह पूंजीवादी शोषणतन्त्र को तहस-नहस करने का आह्वान करेगा अर्थात् वह वर्गविहीन समाज में स्वतन्त्रता की आकांक्षा रखता होगा। वह मोहभंग, व्यर्थता, विसंगति, विद्रूपता, विकल्पहीनता की यन्त्रणा के भटकाव का अनुभव कर चुका है अर्थात् वह सृजनात्मकता और मानवीय सार्थकता चाहेगा। वह सत्ता और व्यवस्था से अभिशप्त है अर्थात् वह स्वतन्त्र नहीं है और स्वतन्त्रता का कामी है। इस बिन्दु तक वह आक्रामक विद्रोह को स्वीकार कर चुका है तथा पूंजीवादी व्यवस्था की यांत्रिकता और शोषण-उत्पीड़न में स्वयं को गुलाम पा रहा है। उसकी इस गुलामी में अवमानवीयकरण, पाशविकीकरण, असामाजिकीकरण और निष्कासन-निर्वासन भी है अर्थात् इस बिन्दु पर वह एक अकेला विद्रोही है और ऐकल-गुलाम आदमी ! यहाँ तक यथार्थता की क्रूर-करुण स्थिति है।

इस भारतीय इंसान की गुलामी में पूंजीवादी व्यवस्था, श्रीमंतों-पूंजीपयियों-सामंतों की सत्ता, समाज में खरीद-बिक्री की निकृष्टतम अमानवीय संबंधता तथा संगठित बुराइयों की रूढ़िता का योग है। ये सभी संगठित हैं। अतः इनका मुकाबला भी संगठन से ही हो सकता है। अतः व्यक्तिवादियों के उस मिथक का हम बहिष्कार करते हैं जो प्रत्येक संगठन को व्यक्ति का शत्रु घोषित करता है। यह रोमांटिक अराजकतावाद है जो पूंजीवादी व्यवस्था या किसी भी व्यवस्था को अस्वीकार करता है, जो मनुष्य को असंगठित करके अर्थात् अकेला छोड़कर एक नंगे, बनैले आतंक द्वारा उसका वध करता है। यह अराजकतावाद ही संत्रास और शोषण के कारणों की पहचान से इन्कार करता है और विद्रोह को विकेन्द्रित बनाकर अन्धा विद्रोह तथा प्रतिबद्धता को नकार-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर अंधी अवसरवादिता के नकली मुखौटे और झूठ नकाब ओढ़ाता है। यही रोमांटिक अराजकतावाद नवल और युवा लेखन पर हावी होकर विकेंद्रित विद्रोह का न तो ध्रुवीकरण होने दे रहा है और न ही उसको क्रांतिकारी राजनैतिक आदोलनों से संबद्ध कर रहा है। अतः इस विकेंद्रित विद्रोह के ध्रुवीकरण के दौर में ही हम क्रांति से प्रतिबद्ध होकर संगठित हो सकते हैं। अतः हमें संगठित क्रांति की ओर अग्रसर होना है। जीवन के सांस्कृतिकीकरण और संस्कृति के राजनैतिकीकरण के माध्यम से !

दूसरा आगामी बिंदु कर्म का है। एक मनुष्य का लेखक-कर्म उसका सम्पूर्ण कर्म नहीं है। उसके बहुविध जीविका-कर्म हैं, नाना सामाजिक कर्म हैं; विविध वैयक्तिक कर्म हैं। उनमें ही उसका लेखक-कर्म शामिल है, जो स्वयं में विशिष्ट अधूरा और एकांगी है। अतः अन्य सहकारी कर्म उसके लेखन-कर्म को व्यापक तथा विश्वसनीय बनाते हैं। ये विविध कर्म ही उसे अनेक सांस्कृतिक विकल्प देते हैं, विसंगति के कारण स्पष्ट करते हैं तथा सौंदर्यमुखी रचना के कानेपन और गूंगेपन की पूर्ति करते हैं। ये कर्म ही उसके असमर्थ आक्रोश को सार्थक संस्कार देते हैं। ये बहुविध कर्म ही उसके संदेहवाद को समाप्त करके उसे उन वर्गों से जोड़ते हैं जो उसकी तरह इस व्यवस्था को तोड़ने का वर्ग-संघर्ष कर रहे हैं। अतः वह जब तक इतनी स्थायी यंत्रणा नहीं संचित कर लेता कि उद्धार-विवशता हो जाए तब तक वह व्यर्थताबोधक आक्रोश में अकेले आतंकित होता रहेगा और जनता-संगठनों के साथ आंदोलन में शरीक नहीं हो सकेगा। अतः हमें आन्दोलन को स्वीकार करना है। संपूर्ण उद्धार के नये विकल्पों में से एक को चुनने की अनिवार्यता हमारे समय की आवश्यकता है। हमारे देश में किसान-विद्रोह के आंदोलन हैं, स्वतन्त्र व्यापार के आंदोलन हैं, हिंदू राष्ट्रवाद के आंदोलन हैं, समाजवादी उद्धार के आंदोलन हैं, इत्यादि। हमें इनमें से किसी एक से कटिबद्ध होकर जुड़ना है ताकि हमारी त्रासदी की दिशा क्रांति की ओर उन्मुख हो, ताकि हमें वेदनाभोग की यंत्रणा के साथ-साथ अपने निजी त्याग एवं उत्सर्ग का, दृढ़ता और ईमानदारी का, आक्रामक साहस और सांस्कृतिक मौलिकता का आह्लाद भी तो मिले ! अतः एक लम्बी क्रान्ति के लिए जब नवयुवा लेखक कटिबद्ध एवं प्रतिबद्ध एवं संगठित होकर अपने लेखनकर्म को सम्पूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक कर्म से संयुक्त कर देंगे तभी 'नया इंसान' आविर्भूत होगा और नया लेखन-युवाचिंतन सही और सच्चा, सार्थक और मौलिक, रचनात्मक और परिवर्तनकारी होगा।

इस तरह हमारी आधुनिक त्रासदी दैनिक त्रासदियों तथा ऐतिहासिक त्रासद रूपों का मेल है जिसमें क्रान्ति ने भय को, तथा बलिदान ने करुणा को महाभाव में रूपांतरित कर दिया है और जिसमें क्रान्ति के द्वारा ही सम्पूर्ण उद्धार का असली विकल्प है, और जिसका नेता एक मामूली, ईमानदार, प्रतिबद्ध, निर्भीक 'नया मनुष्य' है। यह मनुष्य भरत के 'चतुर्धीर नेता' या अरस्तू के 'त्रासद कुलीन' से बिल्कुल भिन्न है। यह 'क्रान्तिकारी' मनुष्य है !

अतः हमारी वैशम्पायन गाथा है : आधुनिक त्रासदी को बलिदान (करुणा) और क्रान्ति (भय एवं आह्लाद) से पुनरुज्जीवित होने दो !! ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एब्सर्डिटी : संप्रत्ययात्मक विश्लेषण

देवकीनन्दन द्विवेदी

अबौद्धिक चिंतन अतिबौद्धिकता की स्वाभाविक परिणति है। और सार्वभौमिक, शाश्वत, निरपेक्ष एवं निर्वैयक्तिक मूल्यों की उद्भावना मूल्यहीनता की पूर्व भूमिका मात्र है। दोनों का सम्बन्ध हेगेल के वाद और विवाद की तरह है। मेरा उद्देश्य न तो इनमें से किसी का समर्थन करना है, न इनका संवाद प्रस्तुत करना। ये तीनों विकल्प समान रूप से दोषपूर्ण हैं। इनके पीछे यह मान्यता काम करती है कि मूल्य या तो शाश्वत और निरपेक्ष हैं या हैं ही नहीं, ज्ञान या तो सम्यक् है या है ही नहीं, या तो सब-कुछ निश्चित है या सब-कुछ अनिश्चित है, या तो सब-कुछ प्रामाणिक और तर्कसंगत है या कुछ भी प्रामाणिक नहीं। ऐसे सभी सिद्धान्त 'ज्ञान', 'प्रामाणिकता', 'मूल्य', 'औचित्य' और उनसे सम्बन्धित अन्य शब्दों के वास्तविक प्रयोगों को न समझने के कारण हैं। एब्सर्डिटी के समर्थक और विरोधी दोनों की भूलें एक-सी हैं।

एब्सर्डिटी का सबसे बड़ा प्रमाण मृत्यु को माना गया है। जहाँ सब-कुछ अनिश्चित है, एक अपवाद है, और वह है मृत्यु। मृत्यु सभी व्याख्याओं, तर्कों और मूल्यों की इति है। न उससे बचा जा सकता है, न उसे झुठलाया जा सकता है, न उसका अतिक्रमण ही संभव है। मृत्यु ही वह ध्रुव सत्य है जो सभी सत्यों का नकार है। जगत् और जीवन तथा उनके तथ्य और मूल्य स्वयं अपने निषेध हैं। इस निषेध का प्रथम अनुभव मृत्यु-बोध है। यह तथ्य कि मेरी मृत्यु निश्चित है, सभी अनुभवों को अर्थहीन बना देता है। कोई भी नैतिक मूल्य, कोई भी प्रयास मृत्यु के सम्मुख उचित नहीं माना जा सकता। स्वर्ग, ईश्वर एवं अमरत्व मृत्यु-बोध के त्रास से बचने के काल्पनिक विकल्प मात्र हैं। जीवन सारहीन और निरर्थक है। इस जगत् में अथवा इसके बाहर भी इसे अर्थ देने की कोई सम्भावना नहीं। मृत्यु अनिवार्य एवं अन्तिम सत्य है।

एब्सर्डिटी का एक और प्रमाण वस्तुओं की रहस्यमयता और अज्ञेयता है। मनुष्य सभी वस्तुओं की व्याख्या करना चाहता है। वह सब-कुछ जानना चाहता है। किन्तु यह इच्छा कभी संतुष्ट नहीं होती। विज्ञान भी केवल तथ्यों को हमारे समक्ष रख देता है, उनकी व्याख्या नहीं करता। हम वस्तुओं को पूर्णतया जानना चाहते हैं किन्तु वे सदैव हमारी पकड़ से निकल जाती हैं। हम स्पष्टता चाहते हैं किन्तु वे मूलतः अस्पष्ट हैं। हमारी जानने की इच्छा और जगत् की अबौद्धिकता में अनिवार्य द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व ही एब्सर्ड है। संक्षेप में, न हम किसी वस्तु को पूर्णतया जान सकते हैं, न किसी घटना की व्याख्या कर सकते हैं, न किसी मूल्य का औचित्य सिद्ध कर सकते हैं। सभी वस्तुएँ, सभी अनुभव विरोधग्रस्त हैं। किसी को भी प्रमाणित करना संभव नहीं। इस दिशा में किये गये सारे मानव-प्रयास निरर्थक हैं। कोई भी क्रिया सार्थक नहीं।

एब्सर्डिटी की इस एब्सर्ड धारणा ने हमारे समय को बहुत अधिक प्रभावित किया है। फ्रेंच दर्शन और साहित्य, (जिनमें इस धारणा का जन्म हुआ) ने दूसरे देशों के विचारकों को भी प्रभावित किया। युद्ध, औद्योगीकरण, बेकारी एवं आर्थिक परिवर्तनों ने इस धारणा के विकास में विशेष सहयोग दिया। किन्तु यह धारणा ज्ञान, मूल्य एवं औचित्य के स्वरूप को न समझने के कारण है। मैं यह नहीं कहना चाहता, जैसा इस विचार के विरोध में प्रायः कहा जाता है, कि जगत् में तार्किक एवं नैतिक व्यवस्था है, अथवा सभी घटनाएँ तर्कसंगत, उचित एवं सार्थक हैं। मेरा उद्देश्य केवल 'ज्ञान', 'मूल्य' एवं 'औचित्य' के प्रयोग पर प्रकाश डालना है। कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों ने इन शब्दों से सम्बन्धित संप्रत्ययों का दुरुपयोग किया है। इस संप्रत्ययों का स्वरूप समझने के लिए आवश्यक है कि उनको व्यक्त करने वाले शब्दों और वाक्यों की तार्किक शक्ति का वर्णनात्मक विश्लेषण किया जाए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एब्सर्डिटी के समर्थक भी एक सिद्धान्त लेकर चलते हैं, और उनका सिद्धान्त भाषा एवं तर्क का वैसे ही दुरुपयोग करता है जैसे उनके विरोधियों का।

पहले वस्तुओं के स्वरूप और तत्सम्बन्धी ज्ञान को लें। यहाँ प्रायः कई प्रश्नों को मिला दिया जाता है। यह बात सही है कि जगत् की सृष्टि एवं रचना सम्बन्धी सभी धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक सिद्धान्त सन्तोषजनक रूप से सिद्ध नहीं किये जा सके। ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं जो सभी तथ्यों की, बिना तोड़-मरोड़ के, व्याख्या कर सके। हम सभी तथ्यों को जान गये हों, ऐसा भी नहीं। किन्तु किसी वस्तु अथवा तथ्य को न जानना एक बात है, उसको अज्ञेय मानना इससे एकदम भिन्न है। मान लीजिए 'क' ज्ञेय वस्तु है। मैं 'क' को नहीं जानता, किन्तु दूसरे इसे जानते हैं। तब मेरे भी जानने की संभावना है। अथवा दूसरे भी नहीं जानते। फिर भी उसके जानने का अर्थ,. प्रक्रिया और साधन, कम-से-कम सैद्धान्तिक रूप में, ज्ञात हैं। इतना भी न होने पर जानने की सम्भावना रह सकती है। यह स्थिति, ऊपर दिये हुए किसी भी अर्थ में, एक कमी की द्योतक है किन्तु नैराश्य की नहीं। यदि मैं 'क' को नहीं जानता तो उसके लिए प्रयास करता हूँ। यदि वह मेरा विषय नहीं है तो दूसरे ऐसा कर सकते हैं। यदि उसका सम्बन्ध किसी ज्ञात विषय से नहीं तो उस दिशा में नये प्रयास किये जा सकते हैं। यदि अभी नहीं तो भावी पीढ़ियाँ इस काम को अपना सकती हैं। इस प्रकार 'क' के ज्ञान की सम्भावना बनी रहती है। इस तरह ज्ञान का क्या अर्थ है यह प्रसंग-विशेष पर निर्भर करता है। सभी प्रसंगों में ज्ञान का एक ही अर्थ नहीं है। अतः ज्ञान की परिभाषा किसी विशेष प्रयोजन के लिए ही दी जा सकती है। ऐसी परिभाषा सम्भव ही नहीं जो सभी अर्थों को व्यक्त करती हो। सन्दर्भों से ही यह भी ज्ञात होता है कि किस रूप में कोई वस्तु ज्ञात है, अथवा उसको जानने का क्या अर्थ होगा। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति को जानना, किसी स्थान को जानना, किसी वस्तु को जानना, किसी घटना को जानना, किसी सूत्र को जानना, किसी विषय को जानना इत्यादि। इन सभी में जानने का न तो एक अर्थ है, न एक स्वरूप, न एक प्रमाण। मैं राम को जानता हूँ या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि किस सन्दर्भ में यह प्रश्न पूछा जा रहा है। हर सन्दर्भ में जानने का भिन्न अर्थ है, और उसे प्रमाणित करने की पृथक् विधि। मैं गणित के किसी सूत्र को जानता हूँ या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि मैं उसे सिद्ध कर सकता हूँ और उसके अनुसार अन्य प्रश्नों को हल कर सकता हूँ या नहीं। मैं किसी स्थान को जानता हूँ या नहीं, इसका एक सन्दर्भ में यही अर्थ हो सकता है कि मैंने उस स्थान का नाम सुना है या नहीं। एक दूसरे सन्दर्भ में उस स्थान की स्थिति बताना आवश्यक हो सकता है। तीसरे सन्दर्भ में उस स्थान तक जाने वाला रास्ता ही प्रश्न का उद्देश्य हो सकता है। इसी तरह ज्ञान की निश्चिति भी सन्दर्भ पर निर्भर है। निश्चिति भी सन्दर्भ के साथ भिन्नार्थक हो जाती है। यही बात प्रमाणों के लिए लागू होती है। प्रत्येक ज्ञान के साथ 'कैसे' का प्रश्न उठाया जा सकता है, किन्तु उस 'कैसे' का उत्तर सन्दर्भ के अनुसार भिन्न-भिन्न होगा। अतः 'ज्ञान', 'निश्चिति' और 'प्रमाण' तीनों का अर्थ उनके प्रयोग-सन्दर्भों से जुड़ा हुआ है। एक विशेष सन्दर्भ में ही, किसी वस्तु, किसी व्यक्ति अथवा तथ्य को जानने, न जानने, निश्चित अथवा अनिश्चित होने, और प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक होने की बात हो सकती है। अन्यथा 'ज्ञान', 'निश्चिति' और 'प्रमाण' का कोई अर्थ नहीं रह जाता। सन्दर्भों से अलग न ज्ञान है न अज्ञान, न निश्चिति और न अनिश्चिति, न प्रामाणिकता है न अप्रामाणिकता।

एब्सर्डिटी का समर्थक यह कह सकता है कि वस्तुओं के जानने की सम्भावना ही नहीं है। और यह सम्भावना तार्किक है। यह दो तरह से हो सकता है। एक तो वस्तु अथवा जगत् का स्वरूप ही ऐसा है कि उसका सत्य, निश्चित या प्रामाणिक ज्ञान असंभव है। दूसरे मानवीय बुद्धि की रचना ही ऐसी है कि वह सत्य जानने में असमर्थ है। दोनों विकल्प सिद्धान्तों पर आधारित हैं। वे वस्तु-स्थिति का वर्णन नहीं करते बल्कि उसकी व्याख्या पूर्व-मान्यताओं द्वारा करते हैं। इसी तरह प्रमाण और निश्चिति दो भागों में रखे जा सकते हैं—तार्किक और तथ्यात्मक। वस्तुओं, घटनाओं, व्यक्तियों अथवा तथ्यों को व्यक्त करने वाले वाक्यों में प्रमाण और निश्चिति तार्किक नहीं होते। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रमाण और निश्चिति का तार्किक रूप सभी सन्दर्भों का मानदंड है। वस्तुओं, घटनाओं, व्यक्तियों और तथ्यों को व्यक्त करने वाले वाक्यों की अपनी पृथक् तार्किक शक्ति है। एक कोटि के तार्किक रूप को भिन्न प्रकार की कोटि पर लागू करना कोटि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोष है। इस अर्थ में जो जगत् अथवा सत्ता मात्र को ज्ञात (या ज्ञेय) अथवा अज्ञात (या अज्ञेय) मानते हैं उनका विचार कोटि-दोष से युक्त है।

स्पष्ट है कि 'निश्चिति' का प्रयोग उन सन्दर्भों में भी होता है जहाँ 'तार्किक निश्चिति' का प्रयोग नहीं होता या नहीं हो सकता। यदि 'निश्चिति' का एक मात्र अर्थ 'तार्किक निश्चिति' है, तो मृत्यु भी निश्चित नहीं है। मृत्यु की अनिवार्यता केवल पिछले अनुभव पर आधारित है। किन्तु पिछला अनुभव कितना ही लम्बा और अपवादरहित हो तार्किक निश्चिति का आधार नहीं हो सकता। मृत्यु तथ्यात्मक अनिवार्यता है। पर 'तथ्यात्मक-अनिवार्यता' का प्रयोग केवल मृत्यु के लिए ही नहीं होता। हम प्रायः कहते हैं: "यह निश्चित है', 'ऐसा होना अनिवार्य है', 'मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ', 'ऐसा न होना असम्भव है', आदि। इनमें से सभी, और ऐसे अन्य सभी, वाक्यांश सार्थक हैं। उन्हें प्रमाणित करने की निश्चित किन्तु विशेष विधियाँ हैं। उनके विषय में विवाद होते हैं (या हो सकते हैं) और उनके निर्णय के विशेष आयाम हैं।

एक मिथ्या धारणा का निवारण आवश्यक है। जो कुछ अभी कहा गया उसका यह अर्थ नहीं कि जीवन अथवा तथ्यात्मक जगत् में सब-कुछ निश्चित है। यह पुनः एक सिद्धान्त होगा, उतना ही गलत और भ्रामक जितना यह कि सब-कुछ अनिश्चित है। 'मैं निश्चित रूप से नहीं जानता', 'मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता', 'मैं निश्चित नहीं हूँ', 'यह असम्भव है', 'ऐसा हो ही नहीं सकता', 'निश्चित नहीं है' आदि वाक्यांश सार्थक रूप से प्रयुक्त होते हैं। विशष परिस्थितियों को देखकर ही यह कहा जा सकता है कि उनसे सम्बन्धित तथ्य निश्चित हैं या अनिश्चित, और ये परिस्थितियाँ अलग-अलग व्यक्तियों और समूहों के लिए भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत होती हैं। एक व्यक्ति या समूह के लिए जो निश्चित या अनिवार्य है, वह दूसरे व्यक्ति अथवा समूह के लिए अनिश्चित हो सकता है। 'क' के लिए नौकरी पाना निश्चित है, 'ख' के लिए अनिश्चित। 'अ' की सफलता निश्चित है 'ब' की अनिश्चित। किन्तु 'ब' का विवाह निश्चित है, 'अ' का अनिश्चित। तात्पर्य यह है कि 'निश्चित' और 'अनिश्चित' विशेष सन्दर्भों में सार्थक हैं। परिस्थितियों और सन्दर्भों से अलग उनका कोई अर्थ नहीं। जीवन न निश्चित है और न अनिश्चित। यही नहीं मृत्यु के लिए भी 'निश्चित' का सन्दर्भहीन प्रयोग या तो निरर्थक है, या सैद्धान्तिक संस्तुति है, या फिर संवेगात्मक। सार्थक रूप में 'प की मृत्यु निश्चित है' तभी कहा जा सकता है जब वह बीमार हो, या किसी दुर्घटना में पड़ा हो, या अन्य कोई ऐसी ही बात हो। जब वह भला-चंगा हो तो यही वाक्य निरर्थक होगा। बिना प्रासंगिक उपयुक्तता के मृत्यु भी न निश्चित है, न अनिश्चित। निस्सन्देह ऐसी स्थितियाँ आती हैं जो अनिश्चित हैं। किन्तु यह कहना कि सब-कुछ अनिश्चित है 'अनिश्चित' शब्द को अर्थहीन बना देता है। दूसरे शब्दों में 'निश्चित' और 'अनिश्चित' का प्रयोग वाक्यों अथवा वाक्-कार्यों के लिये होता है, पूरी भाषा के लिए नहीं।

एब्सर्डिटी के पक्ष में सबसे वड़ा तर्क मूल्यों के विश्लेषण पर आधारित है। कहा जाता है सारे प्रयास, सारी क्रियाएं व्यर्थ हैं, सिसिफस के पत्थर ढकेलने की तरह। सभी स्थितियां अर्थहीन हैं। कुछ भी मूल्यवान अथवा सार्थक नहीं। किसी मूल्य का औचित्य सिद्ध ही नहीं किया जा सकता। सभी आदर्श भ्रामक हैं। मेरा उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं है कि सब-कुछ मूल्यवान या सार्थक है। या कि जीवन की कोई स्थिति असंगत, अर्थहीन नहीं। सारे आदर्श सिद्ध किए जा सकते हैं, यह भी हठधर्मिता ही है। यह कहना कि संसार और सांसारिक जीवन अर्थहीन हैं, किन्तु उनके परे मूल्यों अथवा साध्यों का राज्य है, एक भ्रामक सिद्धान्त का समर्थन मात्र है। मेरा उद्देश्य यह दिखाना है कि ये सभी सिद्धान्त का मूल्यांकन एवं औचित्य की मिथ्या धारणाओं पर आधारित हैं।

कोई भी वस्तु, क्रिया या अनुभव अपने-आपमें, अर्थात प्राकृतिक तथ्य के रूप में, मूल्यवान या सार्थक नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि ये सब अपने-आप में मूल्यवान हो सकते थे, किन्तु हैं नहीं। यह असमर्थता तार्किक है। यह किसी वस्तु, अनुभव अथवा क्रिया का दोष नहीं है। वास्तव में इस कथन का कोई अर्थ ही नहीं कि कोई वस्तु अपने-आप में मूल्यवान है या नहीं। 'अपने-आप' का अर्थ यहाँ पर प्राकृतिक तथ्य के रूप में है, साध्य के नहीं। साध्य के अर्थ में वस्तुएँ अपने-आप में सार्थक हो सकती हैं।

एक दूसरे रूप में यह बात एब्सर्डिटी के समर्थक भी मानते हैं। उनके अनुसार भी जगत् अपने-आप में एब्सर्ड नहीं है। जगत् की एब्सर्डिटी उसके देखे जाने में है। वह अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आप में न सार्थक है, न निरर्थक। निरर्थकता अथवा विसंगति (एब्सर्डिटी) की उत्पत्ति तब होती है जब हम जगत् को मानवीय सम्बन्धों में जानना चाहें। 'मानवीय सम्बन्धों' से उनका अर्थ जगत् के ज्ञान और मूल्यों के औचित्य से है। मैं जिस बात पर जोर दे रहा हूँ वह भिन्न है। कोई भी विषय मूल्यांकन के सन्दर्भ में ही सार्थक या निरर्थक हो सकता है। मूल्यांकन से स्वतन्त्र होकर यह न सार्थक है न निरर्थक। मूल्यांकन ही उसे सार्थकता देता है, या निरर्थक सिद्ध करता है। इसे न समझने के कारण ही मूल्यों के सम्बन्ध में भ्रामक सिद्धान्त दिये गये हैं।

जगत् की सभी बातें निश्चित नहीं हैं। उनसे सम्बन्धित हमारा ज्ञान भी अधूरा है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जगत् निरर्थक है। बहुत से तथ्यों को हम निश्चित रूप से जानते हैं और उनके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान पूर्ण है। यह कहना कि जब तक कोई व्यक्ति सभी तथ्यों को नहीं जानता वह एक भी तथ्य नहीं जानता, स्पष्ट रूप से गलत है। और सम्पूर्ण तथ्यों के ज्ञान का अर्थ भी क्या है? इन व्याख्याओं में यह मान लिया गया है कि जगत् या कोई विशेष वस्तु तभी सार्थक या मूल्यवान हो सकती है जब उसका कोई निश्चित और सार्वकालिक पैटर्न हो। या फिर वह वस्तु अनिवार्य और शाश्वत हो। दूसरे शब्दों में यदि जगत् का निश्चित और नियमित रूप होता, उसके सभी तथ्यों का पूर्ण ज्ञान होता और सभी वस्तुएँ नपी-तुली होतीं, तो जगत् सार्थक होता।

इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक यह कि वस्तुओं के अन्य गुणों की तरह सार्थकता अथवा मूल्य भी एक गुण है। और यह गुण वस्तुओं का रचना-संगठन है। दूसरे यह कि सार्थकता वस्तुओं का प्राकृतिक गुण नहीं है, किन्तु वह उनके रचना-संगठन पर आश्रित है। पहला अर्थ स्पष्टतः गलत है। सार्थकता वस्तु अथवा अनुभव का प्राकृतिक गुण नहीं है, अन्यथा इस सम्बन्ध में तार्किक अथवा मूल्यात्मक विवाद की समस्या ही न उठती। मूल्यात्मक शब्दों और प्राकृतिक गुणों के लिये प्रयुक्त शब्दों के प्रयोगों एवं उद्देश्यों में महान अन्तर है। यद्यपि दोनों में व्याकरणात्मक साम्य है किन्तु उनकी कार्य-शक्तियाँ भिन्न हैं। दूसरा अर्थ इन दोषों से मुक्त है। इसके अनुसार मूल्य वस्तुओं के प्राकृतिक गुण नहीं हैं, अपितु प्राकृतिक गुणों पर निर्भर हैं, किसी वस्तु का मूल्य उसका रचना-संगठन नहीं है किन्तु उस पर निर्भर है। यदि यह विचार मान लिया जाय तो इससे केवल यह सिद्ध होता है कि किसी वस्तु का मूल्य उसके विशेष गुणों पर निर्भर है। यह फिर भी सिद्ध करने को रह जाता है कि यह विशेष गुण वस्तु का रचना-संगठन है। रचना-संगठन को मूल्य अथवा सार्थकता का आधार मानना और अन्य गुणों की अवहेलना करना एक विशेष सिद्धान्त का प्रतिपादन मात्र है। "किन गुणों को सार्थक माना जाय?" यह एक खुला प्रश्न है। विभिन्न व्यक्ति और समुदाय इसके अपने विशेष उत्तर देते हैं। मूल्यांकन के सारे सन्दर्भों से हटकर मूल्यों के विषय में कोई सिद्धान्त देना गलत है।[1] और मूल्यांकन व्यक्तियों, समुदायों और उनकी परम्परा, दृष्टिकोण, विश्वास तथा प्रतिबद्धता पर। ऐसा कोई गुण नहीं है जो सभी स्थितियों में, सभी व्यक्तियों के लिए, सार्थकता और मूल्य का आधार हो। यदि वस्तुएँ एक ही साँचे के अनुसार बनी हों तो वे अनिवार्यतः सार्थक होंगी, यह नहीं कहा जा सकता। या यह केवल एक मूल्य-दृष्टि है। एक साँचे और निश्चित पैटर्न पर बनी वस्तु निरर्थक तथा मूल्यहीन हो सकती है। या कम-से-कम उसके विषय में दो व्यक्ति अथवा दो समुदाय अलग-अलग दृष्टिकोण बना सकते हैं। एक उसे सार्थक मानता है, दूसरा निरर्थक। यदि पैटर्न ही मूल्य और सार्थकता का आधार है, तो सिसिफस का पत्थर ऊपर ले जाने का कार्य निस्सन्देह सार्थक है। मूल्य अथवा सार्थकता न तो मूल्यांकन से स्वतन्त्र तथ्य है, न प्राकृतिक गुण। और न इसका सम्बन्ध किसी विशेष गुण से है। मूल्यांकन व्यक्ति, अनुभव, वस्तु, स्थिति और कार्यों का होता है, किन्तु उनकी किस विशेषता अथवा गुण को मूल्य माना जाय यह मूल्यांकन पर निर्भर करता है। वही गुण विभिन्न स्थितियों में सार्थक और निरर्थक दोनों हो सकता है।

यह कहा जा सकता है कि इन बातों से एब्सर्डिटी का समर्थन ही होता है। मूल्य वस्तु पर नहीं, मूल्यांकन पर निर्भर है, और मूल्यांकन व्यक्ति करता है। वह जगत् की व्याख्या प्राकृतिक या तार्किक कोटियों से नहीं, मानवीय कोटियों, आवश्यकताओं, उद्देश्यों से करता है। किन्तु इन कोटियों से व्याख्या करने के सारे प्रयत्न असफल हो जाते हैं। वास्तविकता का व्यवहार शत्रुतापूर्ण है। और तथाकथित मूल्यों का औचित्य किसी तरह सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः

१. किस गुण के कारण किसी वस्तु को सार्थक अथवा मूल्यवान माना जाय यह मूल्यांकन पर निर्भर करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन करने पर सभी स्थितियां और गुण निर्मूल्य हो जाते हैं। यही एब्सर्डिटी है।

यह उत्तर औचित्य का रूप न समझने के कारण है। प्रायः तर्क दो प्रकार के होते हैं: आगमनात्मक और निगमनात्मक। आगमन अनुभव पर आधारित होता है। जब समीक्ष्य विषय के व्यवहार में समरूपता होती है, तो उसके आधार पर किसी सिद्धान्त की निष्पत्ति होती है। मूल्यांकन में यह पद्धति अनुपयोगी है। कोई व्यवहार, कार्य, अनुभव या वस्तु एक विशेष रूप में है अथवा मानी गई है, इससे यह नहीं सिद्ध होता कि उसका उस रूप में मूल्यांकन उचित है। 'है' से 'होना चाहिए' की निष्पत्ति नहीं हो सकती। किन्तु निगमन भी यहाँ विशेष उपयोगी नहीं। निगमन में निष्कर्ष एक अथवा अधिक आधार-वाक्यों से निकलता है। निगमन में दो बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है। एक यह कि निष्कर्ष आधार-वाक्यों से निकलता है या नहीं। दूसरे यह कि निष्कर्ष सत्य है या नहीं। निगमन प्रामाणिक होते हुए भी अर्थ अथवा सिद्धान्त की दृष्टि से गलत हो सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि आधार-वाक्य भी सत्य हो। और मूल्यांकन में विवाद आधार-वाक्यों पर ही है। अतः मूल्यांकन में निगमन तार्किक दृष्टि से प्रामाणिक होते हुए भी मूल्यों की दृष्टि से विवादास्पद हो सकता है। आगमन और निगमन के अतिरिक्त तर्क की और कोई विधा नहीं, इसलिए मूल्यों का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह निष्कर्ष मूल्यात्मक वाक्यों के तार्किक विश्लेषण से भी सिद्ध होता है। मूल्यात्मक वाक्य तथ्यात्मक नहीं हैं। वे न सत्य होते हैं, न असत्य। अतः उन पर व्याघात का नियम भी लागू नहीं होता। इस प्रकार मूल्य या तो संवेगात्मक उद्‌गार हैं, या फिर वैयक्तिक पसन्द।

किन्तु यह विश्लेषण कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों की उपेक्षा करता है। मूल्यात्मक वाक्य तथ्यात्मक वाक्यों से भी सम्बन्धित होते हैं। इन तथ्यात्मक वाक्यों के पक्ष में आगमन और निगमन का प्रयोग होता है और किया जा सकता है। पुनः बहुत से मूल्यात्मक निष्कर्ष निगमन विधि से सिद्ध किये जाते हैं, या किये जा सकते हैं। उनमें केवल यह दिखाना रहता है कि अमुक निष्कर्ष इस नियम के अनुरूप है। जैसे: क, ख है। अतः ख उचित है। ऐसी सभी स्थितियों में केवल यह दिखाना रहता है कि निष्कर्ष स्वीकृत मूल्यों अथवा विधियों के अनुरूप हैं। कठिनाई केवल वहाँ पड़ती है जहाँ आधार-वाक्य के रूप में कोई स्वीकृत मूल्य या विधि नहीं है। इस स्थिति में निर्णय वैयक्तिक या सामूहिक—के द्वारा आधार-वाक्यों का सृजन होता है। किन्तु ये निर्णय मनमाने नहीं होते। मूल्यात्मक प्रमाणों के द्वारा उनका समर्थन आवश्यक है। मूल्यात्मक प्रमाण और तर्क व्यक्ति अथवा समूह की संस्कृति और परम्पराओं के आधार पर दिये जाते हैं। संस्कृति और परम्परा में निहित जीवन-दृष्टि ही मूल्यांकन का आधार है। और यही जीवन-दृष्टि मूल्यों की सर्वोच्च अदालत है। किन्तु निर्णय के द्वारा जीवन-दृष्टि में भी परिवर्तन किया जा सकता है। इस स्थिति में मूल्यांकन का आधार एक भिन्न जीवन-दृष्टि है, जो स्वयं निर्णय और प्रतिबद्धता पर निर्भर है। इसके परे जाकर औचित्य की माँग करना निरर्थक है। औचित्य एक विशेष जीवन-दृष्टि में ही सार्थक है। उसके बाहर उसका कोई अर्थ नहीं। किसी भी मूल्य के 'अन्तिम प्रमाण' या 'पूर्ण औचित्य' का कोई अर्थ नहीं। किसी खेल के नियम उस खेल के संदर्भ में ही प्रमाणित या अप्रमाणित हैं। वैसे ही किसी मूल्य का औचित्य किसी जीवन-विधा या जीवन-दृष्टि के अन्तर्गत ही उठाया जा सकता है। तथ्यमूलक प्रमाण की तरह औचित्य भी सीमित है। हम जहाँ तक चाहें संशय नहीं कर सकते, न औचित्य का संदर्भहीन प्रश्न उठा सकते हैं। प्रमाण और औचित्य दोनों का प्रश्न एक निश्चित सन्दर्भ में ही उठाया जा सकता है, और वह संदर्भ ही उनके स्वरूप का निर्धारण करता है। विशेष और निश्चित सन्दर्भों से बाहर प्रमाण या औचित्य का प्रश्न उठाना भाषा और तर्क का दुरुपयोग करना है।

इसका यह अर्थ नहीं कि 'एब्सर्ड', 'असंगत', 'निरर्थक' या 'निरुद्देश्य' का प्रयोग ही नहीं होना चाहिए। मेरा उद्देश्य केवल यह दिखाना है कि इनका प्रयोग निश्चित सन्दर्भों एवं स्थितियों से जुड़ा हुआ है। उसी में कोई चीज सार्थक या निरर्थक, सुसंगत या असंगत सोद्देश्य या निरुद्देश्य है। और इनमें से किसी शब्द का प्रयोग अकेले नहीं हो सकता। 'निरर्थक' 'असंगत' और 'निरुद्देश्य' का प्रयोग 'सार्थक', 'सुसंगत' और 'सोद्देश्य' की अपेक्षा रखता है। निरर्थक स्थिति तभी हो सकती है जब उसी सन्दर्भ में सार्थकता संभव हो। केवल सार्थकता या केवल निरर्थकता की बात करना निरर्थक है। पुनः एब्सर्ड और उसके समानार्थक शब्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णनात्मक न होकर मूल्यात्मक हैं। उनका प्रयोग किसी स्थिति की आलोचना के लिए होता है। इनसे हमारी पसन्द और संवेगों की भी अभिव्यक्ति होती है। और यह व्यक्ति की रुचि और दृष्टिकोण पर निर्भर है कि क्या निरर्थक है, क्या सार्थक।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि किसी व्यक्ति या समाज के जीवन में कुछ निरर्थक स्थितियाँ इतने प्रभावपूर्ण ढंग से आएँ कि वह सभी स्थितियों को निरर्थक समझने लगे। उसे सारी क्रियाएँ अर्थहीन लगें। इस प्रकार एब्सर्डिटी स्वयं एक जीवन-दृष्टि बन जाती है। पिछले कुछ दशकों में यह बात बहुत बड़े पैमाने पर घटित हुई है। किन्तु विसंगति (एब्स-र्डिटी) तात्त्विक या तार्किक विधा नहीं है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओसिप मेंद्लस्तम की पाँच कविताएँ

कमलेश

उन्नीसवीं सदी के आखिरी बरसों में रूस के प्रमुख कवियों पर फ्रांसीसी प्रतीकवाद का काफी असर था। रूसी प्रतीकवादियों ने अपनी कविता में अतिरिक्त सांकेतिकता, रहस्यात्मक अस्पष्टता और संगीत की लय लाने की कोशिश की। पत्रिका **अपोलोन** (१९१०-१९१७) के इर्द-गिर्द एकत्रित कवि उपर्युक्त प्रवृत्तियों से असंतुष्ट थे। उनका आन्दोलन भविष्यवादियों के पहले आया और अल्पकालिक होते हुए भी ज्यादा प्रतिभाशाली कवियों को आकर्षित कर सका। यह आन्दोलन रूसी कविता के इतिहास में **परिपूर्णतावाद (एक्मेइज़्म)** के नाम से प्रसिद्ध है। इस आन्दोलन के कवियों ने अपने लिए सचमुच बहुत ऊँचे आदर्श रखे थे। निकोलाई गुमिल्योव (१८८६-१९२१), अन्ना आ:मातोवा (१८८८-१९६८), और ऑसिप मैंडलशाम [१८९२-१९४२ (?)] आदि नेतृस्थानिक कवियों ने कविता में सुरुप सुस्पष्टता, पैने रूपांकन और पदार्थों के घनत्व पर ज़ोर दिया। इनके कृतित्व में रूसी कविता सचमुच एक परिपूर्णता पर पहुँची।

एक यहूदी परिवार में १८९२ (या १८९१?) में जनमे मैंडलशाम आयु में अलेक्ज़ेंदर ब्लाक से कोई १०-११ साल छोटे और जार्ज एसेनिन, ब्लादिमीर मायकोव्स्की, अन्ना आ:मातोवा, बोरिस पास्तरनाक और मारिना स्वेतायेवा के लगभग समवयस्क थे। एक ही पीढ़ी में श्रेष्ठतम कोटि के इतने कवियों की एक साथ उपस्थिति ने रूसी कविता को उस शिखर पर पहुँचा दिया जहाँ रूसी उपन्यास पहले पहुँच चुका था। इनमें से हर कवि का अपना व्यक्तित्व था, भाषा का अपना रंग और काव्य-जगत् में ज़माने के साथ मेल बैठाने का अपना ढंग। शासक जमात की क्या कृपा, क्या कुदृष्टि इनमें से किसी को भी अपनी काव्य-धारणाओं से या जीवनदृष्टि से बहुत विचलित नहीं कर सकी। अपनी रुचि के अनुसार कोई आलोचक या काव्य-पाठक मैंडलशाम को आधुनिक रूसी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानता है तो कोई ब्लाक को, आ:मोतोवा को, पास्तरनाक या मायकोव्स्की को वह स्थान देता है। इनमें से हरएक की सर्वश्रेष्ठता के कुछ-न-कुछ वकील मिल जाएँगे।

ऑसिप मैंडलशाम कविताएँ और किंचित् समीक्षाएँ लिखने के अलावा पत्रकारिता से अपनी आजीविका चलाते थे। उनके गद्य-संग्रह में उन दिनों अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संगठन के किसी सम्मेलन में भाग लेने के लिए फ्रांस से मास्को आये तब तरुण औपनिवेशी नेता हो-ची मिन्ह की भेंट-वार्ता भी संगृहीत है। पास्तरनाक के घर में स्तालीन पर एक मज़ाकिया कविता पढ़ने के बाद, किसी उपस्थित लेखक की शिकायत पर मैंडलशाम गिरफ्तार कर लिए गये। पास्तरनाक के स्तालीन से व्यक्तिगत अनुरोध करने पर उन्हें फिलहाल छोड़ा गया। १९३४ में वे साइबेरिया से निष्कासित कर दिये गए। कुछ श्रोतों के अनुसार १९३८ में, पर अन्य श्रोतों के अनुसार १९४२ में उनकी मृत्यु हुई। **कविताएँ, कामेन, त्रिस्तिया, मिसर की छाप**—ये चार कविता-संग्रह उनके जीवन-काल में छपे थे। अपने देश में एक अरसे तक प्रतिबन्धित रहने के बाद, मैंडलशाम की कविताओं का प्रकाशन और उनका अध्ययन अब फिर से शुरू हो रहा है।

इलिया एह्रेनबुर्ग ने अपने संस्मरणों में मैंडलशाम के बारे में लिखा है—"वह ठिगना और नाज़ुकबदन आदमी था। उसे नगर-दुर्ग के निकट अपनी चीत्कार से रात को भेदते हुए मुर्गे का बिम्ब बहुत प्रिय था—कोमल मन्द्र स्वर में अपनी गम्भीर कविताएँ पढ़ते हुए वह खुद कम उम्र मुरगे-सा लगता था।"

परिपूर्णतावादी क्लासिकी यूनानी संस्कृति के प्रति काफी आकृष्ट थे। यूनानी पुरोगाथा के अलावा वैयक्तिक जीवन के बिम्ब भी उनकी कविता में मिलेंगे। पर सभी परिपूर्णतावादियों में, और मैंडलशाम की कविता में भी, समकालीन रूसी ज़िन्दगी से बहुत ही गहरा लगाव अन्त:प्रसूत बहता रहता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। कविता को धरती पर उतारने और प्राथमिक, मूल उत्सों को कविता का विषय बनाने के प्रयत्न में **परिपूर्णतावादियों** ने कविता के मुहावरे को जन-मुहावरे के समतुल्य ला दिया। खुद मैंडलशाम ने पास्तरनाक की कविता पर लिखते हुए कविता की भाषा को धार्मिक गरिमा से मुक्त (सेकुलराइज़ेशन) करने पर ज़ोर दिया था—**कविता की दुनिया में हमेशा युद्ध छिड़ा रहता है। सामाजिक विमूढ़ता के दौर में ही शान्ति या लामबंदी हुई रहती है। प्रमुख धातुएँ सेनापतियों की तरह एक-दूसरे के विरुद्ध हथियार ले खड़ी हो जाती हैं। शब्दों की धातुओं की लड़ाई अंधकार में, एक-दूसरे की खाद्य-सामग्री और धरती से मिलने वाली प्राणवत्ता की छीन-झपट करते हुए चलती रहती है।··· जो भी अपनी कविता में किसी विदेशी बोली की ध्वनियों और चित्रों के मोह में पड़ जाता है वह केवल भाषा का शील भंग करता है।···रूसी कविता की नियति···संस्कृतीकरण या यूनानीकरण में नहीं, काव्य-भाषा के सुसंगत धार्मिक-गरिमा-मुक्तीकरण में है।"** हिन्दी कविता के लिए इन शब्दों की प्रासंगिकता स्पष्ट है।

मैंडलशाम की कविताओं के ये अनुवाद रोज़ स्टाइरान और ओल्गा कारलिस्ले द्वारा किये गए अंग्रेज़ी अनुवादों पर आधारित हैं। ये अनुवाद पहले-पहल पेरिस रिव्यू के अंक २६ में छपे थे। अंग्रेज़ी अनुवाद में मूल छन्दों का ख़याल नहीं रखा गया है। इस तरह हिन्दी अनुवाद मूल लय से और भी दूर चले गये होंगे। इस असमर्थता के कारण ज्यादा अच्छा यही लगा कि रूप और कथ्य को पूर्णतः समरूप मानते हुए भी, कथ्य के प्रति ही पूर्णतः वफादार रहा जाय। रूसी भाषा और कविता की जानकारी के अभाव के बावजूद ये अनुवाद पहले एक आभार-स्वीकृति और शिल्प के अभ्यास के रूप में किये गए थे। इस अनुवादक से अधिक क्षमतावान एक भी हिन्दी कवि का ध्यान मूल कविताओं की ओर गया तो यहाँ इन अनुवादों का प्रकाशन सार्थक हो जाएगा। तब शायद कविता-जैसे अनुवाद भी हों।

हमने अनेक विदेशी कवियों को साथ-साथ पढ़ा था, इस याद में ये अनुवाद फिलहाल अमरीका-प्रवासी मित्र कृपाशंकर कश्यप को समर्पित हैं।

एक—

आओ जाति-भाइयो, मनायें स्वतंत्रता का संध्याकाल
धुँधला पड़ रहा विवेक, और भी दूरस्थ हो रहा महान साल
झुटपुटे के उबलते जल पर पड़ जाते हैं
घने जंगल से बड़े-बड़े जाल
तुम्हारे उदय के दिन रुक चुके हैं, ओ सूर्य,
न्याय करो, जन का

अबाबीलें हमने युद्धवाहिनियों के साथ बाँध दी हैं
दिन अदृश्य है, पूरी देह अविकल
गाती, फड़फड़ाती, जीवंत रहती है...
धुँधलके से आच्छादित जालों के बीच
सूर्य निस्तेज पड़ चुका है और पृथ्वी बह रही है जहाज-सी

जिनके भी दिल है वे जानते हैं, ओ समय,
तुम्हारी नाव डूब रही है

फिर भी हम चलन-चक्की घुमाकर देखें
बेढंगी, घिरघिर्राती, भारी
हल-सी समुद्र को दो फाँकों में जोतती
हमें यह याद आएगा लीथि[1] के जम जाने पर
—ज़िन्दगी हमारे लिए दस स्वर्गों के बराबर थी।

[१९१८, त्रिस्तिया से]

१. लीथि—यूनानी पुरोगाथा का वह समुद्र जिसका जल पीने से आदमी अतीत की बातें सम्पूर्णतः भूल जाते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो—

बहनों—वज़न और नाज़ुकपन—तुम्हारे चिह्न
कितने यकसाँ हैं
मधुमक्खियाँ और बरें चूसती हैं रस उदास
गुलाब का
एक आदमी मरता है, गर्म हुई रेती ठंडी पड़
जाती है
और काली पालकी पर लदा बीते दिन का
सूरज चला जाता है

आह ! दुखी छत्ता और नाज़ुक पाश
चट्टान उठाना ज्यादा हल्का है तुम्हारा नाम
दुहराने से
मेरी सिर्फ एक जिम्मेवारी शेष है इस धरती
पर—एक सुनहरी ज़िम्मेवारी
—समय की दासता किस तरह निभायी जाय

हवा पीता हूँ, काले जल की तरह अशांत
समय हल से जुता चला जाता है, और गुलाब
धरती था
एक मंथर भँवर में फँसे उदास नाज़ुक गुलाब
गुलाब—वज़न और नाज़ुकपन—गुँथे हुए दुहरी
मालाओं में

[१६२०, **त्रिस्तिया से**]

तीन

मेरी आगे बढ़ी अंजुलि से ले लो
थोड़ी शहद और थोड़ी सी धूप
प्रसन्नता के लिए थोड़ी सी
प्रास्पेरीन की मधुमक्खियों ने हमसे अनुनय
किया

खुली नहीं नाव जो घाट से खोएगी कैसे
समूर में छोड़ी छाया सुनी जाएगी कैसे
ज़िन्दगी के घने जंगल में कोई भी कैसे
भय के संकेतों का कौन पता पाएगा

रुआँमय छोटी मधुमक्खियों की तरह चुभते
चुम्बन केवल हमारे पास अवशेष
छत्ते को छोड़ चुकी मधुमक्खियाँ
डँसती जातीं, मरते

रात की पारभासक झाड़ी में वे उड़ती हैं सर सर
उनका जन्म देश : टैगेटा के दुर्गमनीय भासी वन
उनका भोज्य : तिपतिया, पुदीना और समय

मेरी वन्य भेंट लो, प्रसन्नता के लिए
मृत मधुमक्खियों का बना यह हार
जिन मधुमक्खियों का शहद
धूप में रूपान्तरित हुआ

[१६२०, **त्रिस्तिया से**]

चार—

मैं भूल चुका हूँ शब्द जो मैं कहना चाहता था
अपने अंधे, कटे हुए डैने फड़फड़ाते अबाबील
वापस आती है
छाया-महल में, पारदर्शी मित्रों के पास
विस्मृति के देश में गाया जा रहा है एक
निशा-गान

चिड़िये गाते नहीं गीत, न शाश्वत कली
खिलती है
रात के घोड़ों की अयाल दृष्टि से ओझल हो
जाती है

सूखी नदी पर एक रिक्त नाव बहती है
और झींगुरों के बीच शब्द खो जाता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर धीरे-धीरे वह उदित होता है, एक तनोवे
की तरह, एक मन्दिर की तरह
और पागल एंटीगोन होने का नाट्य करता है
या मरते हुए अबाबील की तरह मेरे पाँवों पर
गिर पड़ता है
एक नरकलोक की कोमलता के साथ, हरी
टहनी की तरह

आह ! उन सजीव, देखती, अँगुलियों का पुनः
स्मृति में उतरना
पहली पहचानें, उनका मूर्तिमान सुख
मुझे डर है शाश्वत दासियों के रोते रहने का
कुहासे का, गूँज का, रिक्ति का

हमारी नश्वर शक्ति है अनुराग और ज्ञान
आदमियों की अँगुलियों से एक सम आवाज़
निकलती है
लेकिन मैं भूल चुका हूँ शब्द जो मैं कहना
चाहता था
और शरीरविहीन विचार छायादेश में लौट
आता है

और छाया बोलती रहती है लेकिन उसका
अर्थ गलत है
वह अभी भी अबाबील है, चुलबुली, ऐंटीगोन है
और मेरे ओठों पर काले बर्फ की तरह
जलती है
नरकलोक की गूँज की स्मृति

[१९२९, त्रिस्तिया से]

पाँच—

रात में अँधेरी सड़कों पर, भागते बनखोर-
घोड़ों के बीच
काली धुरी वाली स्लेज पर मैं जा रहा हूँगा
आल्डर की फूलों लदी एक टहनी के लिए
स्लेज की टोपी पर खिंच आ रही बर्फ के लिए
घूमते पहियों की, चारों ओर, अन्तहीन खर-
खराहट के लिए

याद में घुमड़ती है पांगर की लट, और जैसे
गलती से
चल गयी गोली के बारूद का धुआँ
छोड़ जाता है ज़ुबान पर चींटियों-सा तेजाबी,
हल्का तीखापन
मेरे ओठों पर पड़ जाती है कहरुवे-सी सूखी
परत

इन क्षणों में हवा भी लगती है भूरी
दृष्टि का छोर पहन लेता है
मृदुता का और सेव-सी गुलाबी त्वचा के
मेरे सारे अनुभवों का परिधान

स्लेजों में जुते घोड़े भागते, खुरचते रहते हैं बर्फ,
उनके छोड़े दृश्य पट पर
आसमान की तीखी किरणें चमकती हैं
सड़क पर टापें प्यानों के अवरुद्ध परदों की
तरह बजती हैं

रोशनी केवल तारों के कँटीले असत्य से आती है
ज़िन्दगी बहती रहती है स्लेज की टोपी पर
खिंच आ रही बर्फ की तरह, और
कोई नहीं सुनने को—रात में अँधेरी सड़कों पर
भागते बनखोर-घोड़ों के बीच...

[१९२५, कविताएँ से]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तित नैतिक मूल्य और साहित्यकार की स्थिति

यशदेव शल्य

इस विषय का चुनाव लिखने के लिए मैंने मुख्यतः इस कारण किया है क्योंकि 'नैतिक मूल्यों में परिवर्तन' की इधर बहुत चर्चा है और, मेरे विचार में, यह चर्चा करने वाले अधिकांशतः स्पष्ट नहीं हैं कि इसका क्या अर्थ है। बिना समझे पदों और वाक्यों का प्रयोग बहुधा हम करते हैं, और यह प्रयोग करते-करते इन पदों और वाक्यों को कोई अर्थ देने लगते हैं जोकि वास्तव में उनका अर्थ नहीं होता। इसमें भी कोई दोष नहीं है यदि किसी प्रकार यह अर्थ सम्यक् रूप ले लेवे, किन्तु अधिकांशतः ऐसे प्रयोग सम्यक् रूप ले नहीं पाते हैं, जबतक कि कोई विचारक सचेष्टतः इस असम्यकता का निरास नहीं करता। यहाँ यद्यपि मैं इस असम्यकता के निरास का प्रयत्न करूँगा, किन्तु मैं वह विचारक होने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं ले सकता, क्योंकि वह उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है और उसके लिए मेरे में न उतनी योग्यता है और न इस महत् कार्य के लिए यह अवसर ही उपयुक्त है।

नैतिक मूल्यों में क्या परिवर्तन हुआ है, यह देखने के लिए यह देखना आवश्यक है कि 'नैतिक मूल्यों में परिवर्तन' का क्या अर्थ है, इस परिवर्तन के स्वरूप को समझने के लिए यह देखना आवश्यक है कि नैतिक मूल्य क्या होते हैं जिनमें कि यह परिवर्तन घटित होता है। यह सब देखना इसलिये आवश्यक है, क्योंकि इनमें कोई भी प्रश्न स्वतः स्पष्ट नहीं है। किन्तु यहाँ हम नैतिक मूल्यों के स्वरूप पर भी पर्याप्त विस्तार से विचार नहीं कर सकते, क्योंकि इस एक प्रश्न पर बहुत संक्षिप्त विचार के लिए भी एक काफी बड़े लेख की आवश्यकता है।[1]

नैतिक मूल्य-विषय किस प्रकार के होते हैं? किसी के साथ विश्वासघात न करना एक नैतिक मूल्य है। किन्तु मेरे साहित्यिक बन्धु इस पर थोड़ा चिढ़ेंगे, क्योंकि यह बहुत असाहित्यिक—अकविजनोचित—उदाहरण उन्हें लगेगा। वे जिस उदाहरण को पसन्द करेंगे वह होगा—"परायी पत्नी को आँख मारना अनुचित है।" अब, वे कहेंगे कि, "यह अनुचित था, किन्तु अब अनुचित नहीं है। यह देश और काल की बात है कि यह अनुचित है या नहीं। पति-पत्नी-सम्बन्धों की वह धारणा ही अब नहीं रही तब इनकी अनुषंगी आबद्धताओं (कॉमिट्मेंट्स) की वह धारणा भी कैसे हो सकती है? इस समय हम स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की दकियानूसी धारणाओं से मुक्त हो चुके हैं, अब हम किसी प्रदत्त ढाँचे में नहीं ढलते, हम इनसे परे हैं, अ-तन्त्र, अद्वितीय क्षण, अतन्त्रता में ढकेल दिये गए हुए," आदि। इस प्रकार, स्पष्ट है कि पति-पत्नी सम्बन्धों को लेकर नैतिक मूल्यों में परिवर्तन हो गया है (यद्यपि यह परिवर्तन पति-पत्नी सम्बन्धों को लेकर ही नहीं है। किन्तु पति-पत्नी सम्बन्धों को लेकर, और इसी प्रकार अन्य नैतिक मूल्यों को लेकर, परिवर्तन तो देश से देश में, दशाब्द से दशाब्द में, और वास्तव में गाँव से गाँव में, होते मिलते हैं। ऐसी अवस्था में अब कौन-सी बात हो गयी है जिसको लेकर इतना कुहराम मचा हुआ है, जिसको लेकर उपन्यास लिखे जा रहे हैं, कहानियाँ लिखी जा रही हैं, और यहाँ तक कि कविताएँ भी लिखी जा रही हैं? क्या रोज़ पोशाकों के फैशनों में परिवर्तन नहीं होता? और क्या हमेशा से चीनी, भारतीय और बर्मी की पोशाकें अलग-अलग नहीं रही हैं? तब 'पोशाकों में परिवर्तन और साहित्यकार की स्थिति' को लेकर निबन्ध क्यों नहीं लिखवाए जाते और कॉफ़ी हाउसों में बहस-मुबाहिसा कर साहित्यकार अपने-आपको उस सीमा तक धन्य क्यों नहीं मानते जिस सीमा तक नैतिक मूल्यों में

१. इस प्रश्न पर हमने 'ज्ञान और सत्' पुस्तक के अंतिम अध्याय 'मानव-प्रतिमा' में तथा 'संस्कृति : मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या' पुस्तक के 'नैतिक मूल्य' अध्याय में विचार किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तन के प्रश्न पर विवाद करके मानते हैं ?

इसके दो कारण हैं : एक तो यह कि "नैतिक मूल्यों के परिवर्तन" में एक दूसरा पक्ष भी है जो इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है और जो वास्तव में घटित हुआ है, किन्तु जिसकी ओर सामान्यतः ध्यान नहीं जाता। यह परिवर्तन है स्वयं नैतिकता के मूल्य होने में ही अनास्था उत्पन्न होना—जो कि पीछे पति-पत्नी सम्बन्धों विषयक उदाहरण में वास्तव में अन्तर्हित है। किन्तु सामान्य प्रकार का परिवर्तन भी कुछ गम्भीर समस्याएं उत्पन्न करता है। ये गम्भीर समस्याएँ नैतिक निर्णयों की विषय-निष्ठता विषयक हैं। यदि नैतिक निर्णयों सम्बन्धी भेद पोशाकों में भेद के अनुरूप हों, जैसा कि हमारी उपरोक्त तुलना में अभिप्रेत है, तब नैतिक विषयनिष्ठता का कोई अर्थ नहीं रह जाता, क्योंकि कोई यह नहीं मानता कि पोशाक के फैशन का, और इसी प्रकार अन्य किसी फ़ैशन का भी, कोई विषय-निष्ठ आधार होता है। किन्तु जब हम यह कहते हैं "अमुक-अमुक कार्य उचित नहीं है" तब हम यह मानकर चलते हैं कि इस निर्णय का कोई विषय-निष्ठ आधार है। किन्तु बहुत लोग यह नहीं मानते, वे नैतिकता का आधार संस्कारों को मानते हैं; इस प्रकार उनके अनुसार यह परिवर्तन फैशनों में परिवर्तन से मूलतः भिन्न नहीं है। किंतु जैसा कि स्पष्ट है, यह विमर्श एक-दूसरे स्तर का है, यह नैतिक मूल्यों में परिवर्तन के तथ्य का कथन न होकर नैतिक मूल्यों के, और इनमें परिवर्तन के, स्वरूप-विषयक है। यहाँ यह तो स्वीकार कर ही लिया गया है कि यदि हम आज कहते हैं कि "कार्य 'क' उचित है" तो कल इस मान्यता में परिवर्तन भी हो सकता है और हम 'क' को अनुचित मान सकते हैं—उदाहरणतः ईसाई धर्म में बहु-पत्नीत्व को अनुचित माना जाता है जबकि मुसलमानों में इसे अनुचित नहीं माना जाता। पुनः, पहले वृद्ध पुरुष के बालिका तक से विवाह को अनुचित नहीं माना जाता था अब इसे अनुचित माना जाता है, पहले माता-पिता की आज्ञा मानना धर्म समझा जाता था और आज इसे प्रतिक्रियावाद का सूचक माना जाता है—किन्तु यहाँ एक और कथन भी है जो किया जा रहा है और जो अधिक आधारभूत है। यह कथन यह है कि इनमें कोई निर्णय निरपेक्षतः उचित या अनुचित नहीं है, ये केवल सापेक्षतः उचित या अनुचित हैं। अर्थात् वृद्ध का बालिका से विवाह उचित भी है और अनुचित भी, इसका औचित्य-अनौचित्य तत्कालीन सामाजिक धारणाओं से निर्धारित होता है।

यह दूसरे स्तर का कथन अधिक गम्भीर है और इसी कारण यह विवाद गम्भीर और रोचक होता है। केवल कठिनाई यह है कि प्रश्न की कठिनाइयों को पूरी तरह से हृदयंगम नहीं किया जाता। सर्वप्रथम, यदि यह मान भी लिया जाय कि नैतिक निर्णय सापेक्ष होते हैं तब भी यह स्वतःसिद्ध नहीं है कि ये फैशनों के समान होते हैं, इसलिए यह विचारणीय होता है कि यह सापेक्षता किस प्रकार की है; दूसरे, नैतिक निर्णयों की विशिष्ट सापेक्षता अर्थापतित क्या करती है—उदाहरणतः " 'क' लाल है" निर्णय 'क' में लाल रंग की विद्यमानता का विधान करता है, किन्तु 'क' का लाल दिखाई देना सूर्य की किरणों, प्रकाशित वस्तु तथा देखने वाले की आँखों तीनों के विशिष्ट सम्बन्ध का सापेक्ष होता है। शायद इससे भी अधिक सापेक्ष—किसी भाषा में सब रंगों के लिए शब्द नहीं हैं और प्रत्येक दो भाषाओं में अनामित रंग भिन्न-भिन्न हैं। ये भेद आदिम जातियों की और भारोपीय भाषाओं के अध्ययनों से विशेष प्रखरता के साथ सम्मुख आए हैं। यद्यपि इन तथ्यों का पता गत डेढ़ शताब्दी की खोजों से चला किन्तु इसकी अवधारणा कोई नयी चीज नहीं है। जैनों के स्याद्वाद में इस ज्ञानात्मक सापेक्षता की स्पष्ट अवधारणा मिलती है। किन्तु इस सापेक्षतावाद को कोई फैशनों के समान रुचि-भिन्नता नहीं कह सकता। अब, इस सापेक्षतावाद को थोड़ा गहराई से देखा जाय तो " 'क' लाल है" विषयक प्रत्यक्ष तथा निर्णय दोनों सापेक्ष होने पर भी अन्ततः निरपेक्ष ही हैं, क्योंकि इनके आधार सापेक्ष नहीं हैं, अर्थात् तत्तद् स्थिति-विशेष में कोई इससे भिन्न निर्णय नहीं हो सकता। इस प्रकार नैतिक निर्णयों को 'सापेक्ष' कहने मात्र से कुछ पता नहीं चलता कि क्या कहना अभिप्रेत है; यह बताना आवश्यक है कि यह सापेक्षता किस प्रकार की है।

इस पर आपत्ति की जा सकती है कि, यह तो सही है कि सापेक्षताएँ विभिन्न प्रकार की हैं, किन्तु नैतिक सापेक्षता रुचि-मूलक ही है। उपरोक्त उदाहरण को ही लें : "पर-स्त्री अथवा पर-पुरुष से सम्बन्ध अनुचित है" यह विधान रुचि-सापेक्ष है। इसकी अन्य किसी प्रकार की सापेक्षता दिखाई नहीं देती। इसकी दूसरी सापेक्षता सामाजिक आचरण की सुविधा हो सकती है, किन्तु यह पुनः अन्ततः रुचि-सापेक्षता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही है, क्योंकि यदि स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की धारणाएँ बदल जाएँ तब तत्सम्बन्धी सामाजिक सुविधा का स्वरूप भी बदल जाएगा।

किन्तु यह सही नहीं है; किसी कर्म को 'अनुचित' कहने में इससे बहुत अधिक और भिन्न तत्त्व भी सन्निहित हैं। ये भिन्न तत्त्व ही नैतिक निर्णयों के आधार हैं। इन भिन्न तत्त्वों को प्रकट करने के लिए हम कुछ दूसरे उदाहरण लेंगे—साहित्यिकों की खीझ के बावजूद। ये हैं—'असत्य बोलना, चोरी करना आदि अनुचित है, दूसरों के भूखे मरते होने पर हलवा खाना अनुचित है, कृतघ्नता अनुचित है" आदि। अब, इनमें 'उचित-अनुचित' का क्या अर्थ है? यह कहा जा सकता है कि इनके अनौचित्य का आधार सामाजिक उपयोगिता है। किन्तु यह भी सही नहीं है, यद्यपि यह कथन इस सापेक्षता को रुचि-सापेक्षता से पृथक् कर देता है। यद्यपि यह सही है कि इन उदाहरणों में सामाजिक उपयोगिता भी सम्मिलित है, किन्तु सामाजिक उपयोगिता इनके नैतिक अवगुण होने के लिए आधार नहीं है। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें सामाजिक उपयोगिता की हानि होने पर भी उन्हें नैतिक गुण माना जाता रहा है। उदाहरणतः राजपूतों में जौहर-प्रथा, जैनों की अहिंसा, बौद्धों का संन्यासवाद सामाजिक रूप से अनुपयोगी थे, किन्तु इन्हें न केवल वे नैतिक गुण ही मानते थे बल्कि कोई भी अन्य इन्हें अन्य कुछ नहीं कह सकता। इसके अतिरिक्त, यदि सामाजिक उपयोगिता नैतिकता का आधार हो तब, किसी कर्म-विशेष के सम्बन्ध में यह दिखा देना मात्र कि वह व्यापक सामाजिक स्वार्थों के लिए हानिकर नहीं है, उसे अनैतिक नहीं रहने देगा। उदाहरणतः, यदि 'क' 'ख' के प्रति उपकारी है किन्तु 'ख' उसे पीछे गाली देता है तब, यदि 'क' को कभी इस बात का पता नहीं चलता, तो इसे कृतघ्नता और अतएव अनैतिकता, नहीं कहा जा सकेगा। किन्तु स्पष्टतः हम इसे कृतघ्नता ही कहते हैं।

किन्तु मान लें कि उपरोक्त सब उदाहरणों में यह दिखाया जा सकता है कि इसका आधार सामाजिक उपयोगिता ही है, तब किसी के चुनौती देने पर कि, 'सामाजिक स्वार्थ मेरे स्वार्थों के अनुषंगी होकर ही प्रतिष्ठा पा सकते हैं, मेरे स्वार्थ सामाजिक स्वार्थों के अनुषंगी नहीं हो सकते" किसी के पास क्या उत्तर होगा? यदि इसका यह उत्तर दिया जाय, जोकि एकमात्र सही उत्तर प्रतीत होता है, कि सामाजिक स्वार्थ वैयक्तिक स्वार्थों से महत्तर हैं, तब इस उत्तर का आधार सामाजिक उपयोगितामूलक नहीं हो सकता, क्योंकि यह सन्देह स्वयं सामाजिक उपयोगिता के सम्बन्ध में है और इसका निरास उस कसौटी के प्रतिपादन से ही सम्भव है जो सामाजिक उपयोगिता की महत्तरता को स्थापित करती है। यद्यपि कम्यूनिस्टों की सारी अपीलें इस धारणा पर प्रतिष्ठित होती हैं कि सामाजिक स्वार्थ वैयक्तिक स्वार्थों से महत्तर हैं, किन्तु तब भी वे नैतिकता का आधार सामाजिक उपयोगिता को ही मानते हैं, क्योंकि वे इस प्रश्न की गहराई तक जाते ही नहीं कि इस महत्तरता का क्या आधार है? इस महत्तरता का आधार यह बोध है कि आत्म-त्याग वरेण्य है, यह उत्कृष्ट गुण है। इस प्रकार सामाजिक स्वार्थ की महत्तरता इस बात में नहीं है कि इसमें अधिक का लाभ है और अधिक अल्प पर अपने स्वार्थों का आरोपण कर सकते हैं, बल्कि यह है कि 'क' का उत्कर्ष 'क' के अपनी सीमा को उत्तीर्ण करने में उपलब्ध होता है।

किन्तु "अपनी सीमा को उत्तीर्ण करने में उत्कर्ष है" इसका क्या औचित्य है? इसके उत्तर के दो पक्ष हैं: प्रथम यह कि इसके उत्तर की माँग का कोई अर्थ नहीं है, यह अयुक्त प्रश्न है, क्योंकि यह ऐसा ही प्रश्न है जैसा यह प्रश्न कि "प्रत्यक्ष यहाँ मेज़ के होने का प्रमाण है, इसका क्या प्रमाण है?" और दूसरा यह कि यह उत्तीर्णन और उत्कर्ष दोनों एक ही स्थिति की दो संज्ञाएँ हैं और इसे हम अनुभव में देखते हैं। इस उत्कर्षानुभव के औचित्य की माँग नहीं की जा सकती, इसके स्वरूप-निरूपण की माँग ही की जा सकती है।

नैतिकता का आधार सामाजिक उपयोगिता को मानने के बजाय सामाजिक उपयोगिता की प्राथमिकता का आधार नैतिकता को स्वीकार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक रूढ़ियाँ नैतिकता की प्रतिमान नहीं हो सकतीं, ये नैतिक चेतना की अभिव्यक्ति की माध्यम होती हैं। इसीलिए ये नैतिक चेतना की प्रतिबन्धक नहीं हो सकतीं, यद्यपि इनका प्रतिबन्ध स्वीकार करना सुविधाजनक होता है और इसीलिए इसे यथासम्भव स्वीकार करना चाहिए। किन्तु प्रबुद्ध नैतिक चेतना द्वारा इनका अतिक्रमण करना सदैव उचित है—यह अतिक्रमण स्वयं सामाजिक रूढ़ियों को नये आयाम देता है। किन्तु यह अतिक्रमण नैतिक चेतना, अथवा व्यापकतर मूल्य-बोध, द्वारा ही वरेण्य हो सकता है, चंचलता द्वारा नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरणतः जैनेन्द्र के त्यागपत्र की नायिका यौन-सम्बन्ध विषयक सामाजिक रूढ़ियों को स्वीकार नहीं करती किन्तु उसके आचरण को अनैतिक नहीं कहा जा सकता। वास्तव में उत्कृष्ट साहित्य रूढ़ नैतिकता को चुनौती देकर नैतिकता के यथार्थ स्वरूप का उद्घाटन करता है।

किन्तु त्याग-पत्र के हमारे उदाहरण पर आपत्ति की जा सकती है, क्योंकि यह एक प्रतिनिधि उदाहरण नहीं है। इसलिए कुछ अन्य उदाहरण देखना उपयुक्त होगा। हम एक उदाहरण शोलोखोव के उपन्यास 'डॉन फ्लोज़ होम' से लेंगे और दूसरा एक आत्म-कथा 'माई लाइफ़' से। 'डॉन फ्लोज़ होम' में ग्रेगोर तथा अक्सीनिया के प्रेम को तथा 'माई लाइफ़' में आइसा डोरा डंकन द्वारा वर्णित अपने प्रेम-सम्बन्धों को क्या कहा जाय?—नैतिक या अनैतिक? ये दोनों उदाहरण रूढ़-नैतिकता के स्पष्टतः विपरीत हैं और मृणाल के यौन-सम्बन्धों के समान निर्लिप्त करुणा से उत्पन्न भी नहीं हैं। तब इनको क्या कहा जाय?

जैसाकि इन दो उदाहरणों को देखने मात्र से स्पष्ट है, ये दोनों भी एक-दूसरे से बहुत भिन्न स्तर पर हैं—ग्रेगोर और अक्सीनिया का प्रेम शुद्ध मांसल प्रेम है जबकि डंकन के प्रेम-सम्बन्ध अत्यन्त जटिल आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा कलात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्तियों के माध्यम हैं। इस प्रकार डंकन के प्रेम-सम्बन्धों को भी एक दूसरे प्रकार से रूढ़ नैतिकता का अतिक्रमण कहा जा सकता है। किन्तु ग्रेगोर-अक्सीनिया के, हीर-राँझा के, सोहनी-महीवाल के प्रेम को क्या कहा जा सकता है?

यह बहुत बड़ा प्रश्न है, यहाँ इसका संक्षिप्त उत्तर मैं यह देना चाहूँगा कि सब प्रेम नैतिक है, यदि वह प्रेम है तो, समाज केवल उसकी विहितता-अविहितता का निर्धारण करता है, उसके औचित्य-अनौचित्य का नहीं। इस बात को अपढ़ भी खूब अच्छी तरह जानता है। इसको उचित-अनुचित वे अन्य संबंध बनाते हैं जो इससे प्रभावित होते हैं—पति या पत्नी के प्रति वफादारी तथा माता-पिता की भावनाओं का आदर, ये भी मूल्य हैं और परिणामतः दो मूल्य-स्थितियों के दावों का ध्यान रखना आवश्यक है, जोकि अत्यन्त प्रबुद्ध नैतिक चेतना की अपेक्षा करता है। इस प्रकार, ऐसे सम्बन्धों की नैतिकता का प्रमाण रूढ़ि नहीं अन्तःकरण-प्रवृत्ति ही हो सकता है। जहाँ उच्छृंखलता है, या कामातुरता है, वहाँ सम्बन्ध विहित होने पर भी अनैतिकता होगी। अपनी जोरू को पीटना विहित रहा है किन्तु इसे नैतिक कोई नहीं कह सकता, न कामातुर हो अपनी पत्नी में डूबे रहना नैतिक कहा जा सकता है। इसमें सामाजिक स्वीकृति है किन्तु अन्तःकरण प्रवृत्ति—उत्कर्षानुभव—का साक्ष्य नहीं है।

यहाँ 'उत्कर्षानुभव' शब्द का प्रयोग हमने लाघव के प्रयोजन से किया है, हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि इसमें मनुष्य 'मेज देखने' के समान कुछ अनुभव करता है, न 'उत्कर्ष' शब्द में निहित 'ऊपर उठने' की दैशिक कल्पना अभिप्रेत है। हम यहाँ 'आत्मोत्तीर्णता' के स्वरूप-निरूपण का प्रयत्न भी नहीं करेंगे।[1] यहाँ हम केवल इतना कहना चाहेंगे कि जिस प्रकार मनुष्य में विषय-विधान (आब्जेक्टीफिकेशन) की प्रवृत्ति है, उसी प्रकार उसमें औचित्य-विधान की भी प्रवृत्ति है। वह कुछ अवस्थाओं को 'उचित, उत्कृष्ट, शुभ' के रूप में ग्रहण करता है, जिस प्रकार वह कुछ अवस्थाओं को 'यह और ऐसी' के रूप में ग्रहण करता है। औचित्य-विधान का एक ही प्रकार नहीं है, यह सही है, किन्तु न तब विषय-विधान का ही कोई एक प्रकार है।[2]

किन्तु औचित्य-विधान के अनेक प्रकार होने का यह अर्थ नहीं है कि हमारे सब औचित्य-निर्णय बराबर सही होते हैं और उनमें कोई भ्रम की संभावना नहीं हो सकती—जैसे कि "नथिंग इज़ गुड आर बैड, थिंकिंग मेक्स इट सो" जैसी उक्तियों में कल्पित है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार विषय-विधान के प्रकारों में विभिन्नता का यह अर्थ नहीं है कि इनमें भ्रम और अयुक्त अवधारण नहीं होता। कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में विमूढ़ता उसी प्रकार होती है जिस प्रकार सत्यासत्य के निर्णय में। इस प्रकार यह स्वीकार करने पर भी कि नैतिक मूल्यों में परिवर्तन होता है, यह स्वीकार करना आवश्यक नहीं है कि नैतिक निर्णयों में हम विभ्रमित नहीं होते।

नैतिक निर्णयों में ये भ्रम दो प्रकार के होते हैं—एक तो स्थिति-विशेष के नैतिक स्वरूप को नहीं समझ पाने के कारण, जैसे किसी मानसिक दुर्बलता के क्षण में हम किसी अनुचित कर्म को उचित मानने लगते हैं, और दूसरे जब हम

१. द्रष्टव्य—संस्कृति: मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या में 'नैतिक मूल्य' तथा 'धर्म का स्वरूप' अध्याय।
२. द्रष्टव्य—'ज्ञान और सत्'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानसिक दुर्बलताओं को ही मूल्य के पद पर प्रतिष्ठित कर देते हैं, जैसे आज बहुत से लोग यौन-नैतिकता को पिछड़ेपन का पर्याय मानते हैं और यौन-वृत्तिता को उचित और प्रगति का पर्याय मानते हैं। ये मूल्य-परिवर्तन नहीं हैं, मूल्य-विपर्यय हैं, अथवा कहें, मूल्य-बाध हैं।

किन्तु यौन-वृत्तिता, किसी का डाका मारने को उचित कहना, मूल्य-परिवर्तन-मूलक भी हो सकते हैं। जैसे, कम्यूनिस्ट जब यह कहते हैं कि सामाजिक न्याय की स्थिति लाने के लिए कुछ व्यक्तियों की हत्या, लूट-खसोट, अथवा सामान्य अव्यवस्था लाना भी उचित है तब वे नैतिक निर्णयों के लिए एक भिन्न आधार की वकालत कर रहे हैं, और जब ये आधार समाज में सामान्यतः स्वीकृत हो जाते हैं तब नैतिक मूल्यों में परिवर्तन की स्थिति उपलब्ध होती है।

इन आधारों में आज परिवर्तन हुए हैं। ऐसा नहीं है कि ऐसे परिवर्तन आज कोई पहली बार हुए हैं, बुद्ध ने ऐहिक ब्राह्मण-मूल्यों को चुनौती देकर ऐहिक को दुःखम कहा और इससे समाज के मूल्यों के आधारों में परिवर्तन घटित हुआ, तांत्रिकों के कुछ सम्प्रदायों ने यौन-सम्बन्ध को साधना का अनिवार्य अंग कहकर यौन-सम्बन्धों को नया अर्थ दिया, एक प्रकार से कृष्ण-भक्ति में पातिव्रत्य की धारणाओं को चुनौती है—कम-से-कम पातिव्रत्य को गौण स्थान तो है ही—गोपियाँ पतियों की चिन्ता नहीं करतीं, न सीता और मीरा को एक ही नैतिक धारणाओं के दो आदर्श उदाहरण कहा जा सकता है।

हमारे युग में नैतिक धारणाओं में जो परिवर्तन घटित हो रहे हैं उनका सूत्रपात यूरोप के पुनर्जागरण युग के साथ हुआ। यद्यपि 'पुनर्जागरण युग' को परिभाषित करना बहुत कठिन है, किन्तु तब भी इसकी विशेषताएँ तर्क-परायणता, ऐहिकता और मानववाद कही जा सकती हैं। उदाहरणतः विज्ञान को तर्क-परायणता और ऐहिकता का परिणाम कहा जा सकता है, प्रजातन्त्रवाद और साम्यवाद को मानववाद के दो रूप कहा जा सकता है, प्रत्यक्षवाद (पॉज़िटिविज़्म) को तर्क-परायणता और ऐहिकवाद का और अस्तित्ववाद को तर्क-परायणता और मानववाद का। किन्तु इसके बावजूद इस युग के सब विचार-आन्दोलनों का कोई एक सामान्य मान बताना कठिन है, सिवाय इस बात के कि इन सब आन्दोलनों में न्यूनाधिक मात्रा में ये तीनों तत्व मिलते हैं—कीर्केगार्ट और हाइडेगर के बावजूद।

किन्तु जब विचारधाराएँ ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक वस्तुस्थितियों में क्रियान्वित होती हैं तब एक बिलकुल ही भिन्न बात होती है। यदि तर्कमूलक ऐहिकता एक सर्वथा सही सिद्धान्त भी हो (यद्यपि सिद्धान्तों के इस प्रकार सही होने का कोई विशेष अर्थ नहीं है) तो भी यह एक जीवन-दर्शन के रूप में किस प्रकार के समाज और व्यक्ति को सम्भव कर सकता है, यह विचारणीय है। किन्तु यह केवल एक पक्ष है, दूसरा पक्ष यह है कि एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी भयानक वस्तुस्थितियों को जन्म दे सकता है। निष्कर्ष यह कि कोई दृष्टिकोण अथवा सिद्धान्त ऐतिहासिक-सामाजिक वस्तुस्थितियों में अपनी तार्किक शुद्धता के साथ क्रियान्वित नहीं होता। यही पुनर्जागरण के उपरोक्त त्रिसूत्री आदर्श के साथ हुआ। यद्यपि मैं तो सोचता हूं कि नवजागरण युग कोई ऐसा आदर्श नहीं दे सका जो व्यक्ति या समाज के लिए एक पर्याप्त दर्शन कहा जा सके, किन्तु यहाँ मैं इस प्रसंग पर विचार नहीं करूँगा,[1] यहाँ मैं केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि प्रजातन्त्रवाद-साम्यवाद ने एक ओर और यान्त्रिक विकास ने दूसरी ओर सामाजिक-राजनैतिक सम्बन्धों को न केवल बदल दिया है बल्कि इन्हें इतनी बृहत्ता भी दी है कि यह अपने-आप में एक बड़ी समस्या हो गयी है। इस पर यह कठिनाई है कि मनुष्य को पराकाष्ठा मान लेने से मनुष्य की अपनी गरिमा खण्डित हुई है। हम प्रायः अपने जीवन का, अपने होने का, अर्थ जानना चाहते हैं। यह प्रश्न मनुष्य को अपने से 'परे' देखने को बाध्य करता है। 'परे' कुछ नहीं दीखने पर उसे अर्थ के प्रति सन्देह होता है। और जीवन के अर्थ में सन्देह कैसी मनःस्थिति देता है, यह कल्पना करना कठिन नहीं है। यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि जीवन का कोई अर्थ है, कि मनुष्य पराकाष्ठा नहीं है, यहाँ इस सबकी चर्चा करने के लिए अवसर नहीं है, यहाँ मैं केवल इसके परिणामों की ओर संकेत कर रहा हूँ।

× × ×

ऊपर हमने नैतिक मूल्यों में परिवर्तन विषयक सर्वथा

१. इस प्रसंग पर विचार के लिए द्रष्टव्य—संस्कृतिः मानव-कर्तृत्व की व्याख्या में 'प्राकृतिक विज्ञान' अध्याय तथा बिन्दु त्रैमासिक के जनवरी १९७० अंक में मेरा लेख 'भारतीय संस्कृतिः जीवित या मृत ?' लेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्य चर्चा के पश्चात् वर्तमान युग की मूल्य-दिशा की सामान्य चर्चा की। यहाँ हमारी अपनी विशेष परिस्थिति के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहना समीचीन होगा। इसके लिए हम एक उद्धरण से आरम्भ करेंगे :

"समसामयिक मनःस्थिति पर विचार करने के साथ-साथ जो तीन-चार बातें स्पष्ट रूप से सामने आती हैं वे यह हैं कि पिछले बीस वर्षों में यदि किसी चीज़ का विकास तेज़ी से हुआ है तो वह हमारे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक जीवन की विसंगतियाँ हैं। हमारे सामने जो नैतिक मूल्य आज से बीस वर्ष पहले थे वे एकदम झूठे पड़े हुए-से दिखते हैं। जो वैध या अवैध की दृष्टि थी वह चुकी हुई लगती है। नित्य-प्रति वैध को अवैध के रूप में बदलते हुए हम देखते हैं और उनके साथ सह-अस्तित्व स्थापित करके शान्त हो जाते हैं। 'फेयर प्राइस शाप' आज से दो महीने पहले के अवैध मूल्य और काले बाज़ार को वैध की सील-मुहर लगाकर प्रस्तुत करने की एक अनवरत प्रक्रिया है जो 'अनफेयर' को पनपाती रहती है।"

नैतिक मूल्यों में परिवर्तन की पृष्ठभूमि का यह अच्छा चित्रण है। किन्तु यह स्वयं नैतिक मूल्यों में परिवर्तन का निरूपण नहीं है। यह उस मनःस्थिति का द्योतक है जिसमें सामान्यतः हम रह रहे हैं। यह आज एक सर्वस्वीकृत-सी बात हो गयी है कि कल के मूल्य आज नहीं रहे, कल की मूल्य-दृष्टि आज चुक गयी है। वास्तव में मूल्यों की, और सम्पूर्ण मानवीय वस्तुस्थिति की यह विशेषता है कि इसके सम्बन्ध में दृष्टि इसमें परिवर्तन घटित कर देती है। यदि मैं कहता हूँ कि पुरानी मूल्य-दृष्टि बदल गयी है—चुक गयी है—तो वह मेरे लिए पहले से चुक गयी रहती है, यदि अधिक लोग यह कहने लगते हैं तो वह अधिकांशतः चुक जाती है। किन्तु क्यों यह चुकती, या क्यों यह चुके, इसका कोई औचित्य दिखाई नहीं देता। जैसा कि श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने ही आगे कहा है, "यह एक विसंगति की स्थिति है किन्तु इस विसंगति का बोध या इसकी जागरूकता ही इस अवरुद्धता से निष्कृति पाने का मार्ग है।" (वहीं) आलोचना के इसी अंक में मैंने इसी बात को 'लेखक की पराजय' लेख में और भी प्रखरता के साथ कहा है।

किन्तु यहाँ जो मुख्त बात ध्यान देने की है वह यह कि जबकि यह स्पष्ट है कि "पिछले नैतिक मूल्य आज झूठे पड़ गए हैं," यह कोई नहीं बता सकता कि नए नैतिक मूल्य क्या हैं। 'मूल्य-परिवर्तन' का अर्थ तो यह है कि आज पहले से भिन्न मूल्य हैं, किन्तु यदि आज कोई मूल्य ही नहीं हों तो इसे 'मूल्य-परिवर्तन' की स्थिति नहीं कहा जा सकता। हम यह देखते हैं कि "नित्य-प्रति वैध अवैध में बदल रहा है" अर्थात्, प्रधानमन्त्री, मुख्यमन्त्री और इनके छुटभैयों के चपरासी तक विस्तृत श्रृंखला अवैध कर्म-रत है, किन्तु यह कोई मूल्य-मूलक परिवर्तन की स्थिति नहीं है, न यह पुराने नैतिक मूल्यों के आज झूठे पड़ने से ही कोई सम्बन्ध रखती है, यह समाज में व्यापक भ्रष्टाचार की स्थिति है। यह स्थिति मूल्य के स्तर पर आक्रोश की कारण हो सकती है और मनोवैज्ञानिक स्तर पर भ्रष्टाचारी होने की। दुर्भाग्यवश आज हमें दूसरा स्तर ही उपलब्ध है। एक बार मैंने अपनी कक्षा में दर्शन के एम० ए० फाइनल के विद्यार्थियों से पूछा कि वे दर्शन का अध्ययन क्यों कर रही हैं? (कक्षा में एक के सिवाय सब लड़कियाँ ही थीं) उन्होंने उत्तर दिया कि "पढ़ इसलिए रही हैं क्योंकि अभी विवाह नहीं हुए हैं और दर्शन इसलिए पढ़ रही हैं क्योंकि कुछ पता नहीं था कि क्या विषय लेना चाहिए," आदि। चर्चा आगे बढ़ी और धन के महत्त्व, भ्रष्टाचार आदि तक आई। सो, इन युवाओं में जागरूकता थी, किन्तु कैसी जागरूकता यह थी?

यह कोई नयी बात नहीं है कि समाज में धन का आदर है। पंचतन्त्र में बहुत श्लोक हैं जिनमें समाज में धन का यह महत्त्व बताया गया है—यस्यार्थाः तस्य मित्राणि, यस्यार्थाः तस्य बान्धवः, यस्यार्थाः सः पुमान् लोके, यस्यार्थाः स च पण्डितः। किन्तु इसके बावजूद आज से पहले कोई युवक इस तथ्य को मूल्य के रूप में नहीं देखता था, आज का युवक इसे इस रूप में देखता है कि यह अनुसरणीय है, और अन्य कोई मूल्य नहीं है। जैसाकि मैंने ऊपर कहा, यह आक्रोश की स्थिति नहीं है, क्योंकि आक्रोश मूल्यहीनता के विरुद्ध मूल्य-बोध का होता है। दुर्भाग्यवश हमारा साहित्यिक भी आज मूल्य-हीनता से भिन्न स्थिति में नहीं है। जैसाकि श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने भी कहा, "यह पूरा साहित्य एक भीड़ का साहित्य है। इसका भावबोध एक भीड़ के वृत्त में फँसे मानस की अकुलाहट है।" मैंने यह बात लगभग बारह वर्ष पहले 'कल्पना' के एक अंक में नयी कविता के सम्बन्ध में लिखी थी और इधर आलोचना और माध्यम में लिख चुका हूँ। यह युवा साहित्यिक आक्रोश और विद्रोह आदि का दम्भ अवश्य करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, किन्तु जो इसे कॉफ़ी हाउस, सिनेमा-हाउस, दफ्तर और घर में देखता है वह जानता है कि यह आक्रोश एक फैशन और लहज़ा मात्र है जबकि वह स्वयं उसी स्थिति में है—यद्यपि पिछड़ा हुआ। इसीलिए उसका आक्रोश मूल्य-हीनता में निष्पन्न होता है, इसके विरुद्ध आक्रोश में नहीं। इसलिए 'साठोत्तरी पीढ़ी' और 'युवा पीढ़ी' की जो आज मूर्ति-प्रतिष्ठा की जाती है उसके प्रति मेरी कोई सहानुभूति नहीं है।

इस प्रकार देखने पर 'परिवर्तित नैतिक मूल्य और साहित्यकार की स्थिति' के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि मूल्य परिवर्तित नहीं समाप्त हो रहे हैं और साहित्यकार उसमें योगदान कर रहा है। किन्तु उपरोक्त प्रश्न में यह उत्तर अभिप्रेत नहीं है। यहां प्रश्न में यह पूर्वकल्पित है कि पहले से भिन्न मूल्य-व्यवस्था उत्पन्न हो चुकी है या हो रही है। किन्तु यदि यह हो तब साहित्यकार की स्थिति के संबंध में कहने में कोई कठिनाई नहीं है—तब उसे इन मूल्यों को पुष्ट करना चाहिए और यदि युग की मूल्य-दृष्टि में दोष हो तब उसकी मनीषी-दृष्टि को यह देख सकने में सक्षम होना चाहिए तथा उसके साहित्य को यह दोष उसी प्रकार दिखाना चाहिए जिस प्रकार दर्पण चेहरे के दाग़ दिखा देता है। किन्तु मूल्य-हीनता की स्थिति में साहित्यिक का उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है। उसे परिवर्तित स्थिति का 'मनोविश्लेषण' कर मनोविकार का निरास करना होता है और नये सिरे से मूल्य-बोध देना होता है। किन्तु इसके लिए यह स्वीकृति आवश्यक है कि मनुष्य मूल्य के बिना स्वस्थ नहीं रह सकता है। क्या आज का साहित्यिक यह स्वीकार करने को तैयार है? क्या इतना साहस है उसमें? क्योंकि यह स्वीकार करने का अर्थ होगा उसका पहले अपनी ही ताड़ना करना। •

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्रोक्ति सिद्धान्त : आधुनिक परिप्रेक्ष्य

विजेन्द्र नारायण सिंह

हर साहित्यिक आन्दोलन कविता नामक विधा को नये सिरे से परिभाषित कर जाता है। कोई भी परिभाषा अपने युग और समाज से निरपेक्ष नहीं होती। तब भी उस परिभाषा की कई व्याप्तियाँ ऐसी होती हैं जो युग से परे भी जाती हैं और उनका महत्त्व सार्वकालिक और सार्वजनीन होता है। ऐसा भी होता है कि एक साहित्यिक आन्दोलन में एक विशेष काव्य-तत्त्व या काव्य के एक खास पहलू पर ही अधिकतम बल पड़ता है। इससे पता चलता है कि वक्रोक्ति भी इसी प्रकार पुनर्परिभाषा का एक प्रयास थी। पुनर्परिभाषा का प्रयास किसी आचार्य को तब करने की ज़रूरत पड़ती है जब पुराने काव्य-सिद्धान्त आचार्य की कोई त्रुटि उसे साफ भासित होने लगती है और उससे काव्यबोध का कोई-न-कोई पक्ष अव्याख्यायित रह जाता है।

कुन्तक से सदियों पूर्व भर्तृहरि ने उस भाषा-वैज्ञानिक सिद्धान्त की असन्तोषप्रद प्रकृति को उभारकर रख दिया था जिसमें अलग-अलग शब्द और उसके कोशगत अर्थ पर निर्भरता थी। स्फोट-सिद्धान्त का प्रवर्त्तन कर उन्होंने इस बात की महत्ता पर बल दिया कि पूरी उक्ति को महत्त्वपूर्ण भाषा-तात्त्विक प्रतीक माना जाय। भर्तृहरि ने यह भी दिखाया था कि उक्ति का अर्थ सन्दर्भगत तथ्यों और संस्पर्शों पर अवलम्बित होता है और अलग-अलग शब्दार्थों के आधार पर वाक्यार्थ का ग्रहण दोषपूर्ण होता है। आनन्दवर्धन का ध्वनिमत भर्तृहरि पर पूर्ण अवलम्बित है। वाच्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थ संकेतित करने की क्षमता—जिसे लक्षणा, व्यंजना आदि कहते हैं—कुन्तक ने नामभेद से अपने वक्रोक्ति-सिद्धान्त में समाहित किया है। प्रतीयमान उन्हें पूरी तरह स्वीकार्य है। अलंकार मूलतः भाषा के क्षेत्र में ध्वनि, शब्द, पद और वाक्य सभी को स्वीकार करता है; पर वक्रोक्ति केवल पूरी उक्ति को स्वीकार करती है। कुन्तक की स्थापना का तात्पर्य यह है कि शब्दों का अर्थ उनके साहचर्य में निखरता है। साहचर्य से निरपेक्ष होकर वे बेमानी होते हैं। अंग्रेज़ कवि-आलोचक पोप ने कुछ ऐसी ही बात कही थी जब वे कोशों पर झुंझलाते हुए कहते हैं कि वे शब्दों के साहचर्य में रहने पर अर्थ जानने में बाधक ही सिद्ध होते हैं। यही भर्तृहरि ने भी कहा था। इस दृष्टि से वक्रोक्ति-सिद्धान्त एक वैज्ञानिक प्रयास है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में कुन्तक का आविर्भाव उत्तर अलंकार काल में होता है और वे सौन्दर्यशास्त्रीय आचार्य अथवा सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक न होकर काव्य के सूक्ष्म पर्यवेक्षक और साहित्यिक समीक्षा के परिष्कारक ही अधिक सिद्ध होते हैं। इस परवर्त्ती अवस्था में आगमन के कारण उनके समक्ष वैदुष्यपूर्ण परिभाषीकरण और ह्रासकालीन वर्गीकरण के अनेक आकर्षण रहे होंगे। लेकिन वक्रोक्ति-सिद्धान्त इन सबको भेदकर काव्यालोचन के कर्म की ओर सीधे उन्मुख होता है। ज्ञान के सम्पूर्ण निकाय में प्रवेश एवं विचक्षणता और विशुद्धीकरण की शक्ति के अर्जन के अपने आकर्षण हैं, लेकिन साहित्यिक आलोचना को नंदतिक सिद्धान्त से विच्छेद के बिन्दु को अंकित करते हुए सिद्धान्त और विनियोग के लिए एक सामान्य बोधगम्य आधार प्रस्तुत करना ही होगा। 'वक्रोक्तिजीवितम्' सौन्दर्यशास्त्र के सामान्य सिद्धान्त और साहित्यिक आलोचना के बिलगाव का अच्छा निदर्शन है। यदि हम भरत में रस-सिद्धान्त के आदि रूप को देखें, जिसमें संगीत, नृत्य, रंग, संकेत, अभिनय एवं शब्द-मीमांसा सबका व्यापक नंदतिक समाहार मिलता है, तब हमारी बात साफ हो जाती है।

अभिव्यंजना के विश्लेषण-क्रम में कुन्तक भामह में बीज रूप में प्राप्त वक्रोक्ति के विचार को विकसित करते हैं और उन सभी आचार्यों के मतों को व्यवस्था प्रदान करते हैं, जिन्होंने अलंकार को काव्य का अपरिहार्य तत्त्व बतलाया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन उनकी मीमांसा इस औपचारिक 'प्रतिज्ञा' से अधिक गहराई में उतरती है । काव्य उनके लिए अलंकृत शब्दार्थ है और यह अलंकृति सामान्यतया रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त अलंकार ही है। चूँकि यह अलंकार आवश्यक और सम्भव है इसलिए वे उन मतों का खण्डन करते हैं, जो अलंकार को अपरिहार्य तत्त्व मानते हैं। लेकिन उनकी मीमांसा की व्याप्ति इतनी ही नहीं है। वे अलंकार संज्ञा का प्रयोग सौन्दर्य के व्यापक विभावन के अर्थ में भी करते हैं और यह आलंकारिक अभिव्यंजना का ही बुनियादी सिद्धान्त नहीं, बल्कि काव्यात्मक अभिव्यंजना मात्र का आधार है । इसे ही उन्होंने वक्रोक्ति कहा है और रीति, गुण, रस एवं ध्वनि आदि सभी मतों का पुनरीक्षण और पुनर्मूल्यांकन वे इसी कोण से करते हैं। इस प्रकार वक्रोक्ति-सिद्धान्त संस्कृत काव्यशास्त्र की सभी परम्पराओं के नूतन संस्कार का सबसे प्रकांड प्रयास सिद्ध होता है । वक्रोक्ति-सिद्धान्त ने विद्रोह की अपेक्षा काव्यालोचन के सिद्धान्त में परिष्कार उपस्थित किया । इसने काव्य-विवेचन की पद्धति को अधिक पूर्ण और सुष्ठु बनाया ।

ध्वनि-सिद्धान्त का निरूपण पूरी तरह काव्य के सन्दर्भ में हुआ है, लेकिन ध्वनि में आभ्यन्तरिक अनुकम्पन के अनुक्रम और वक्रोक्ति में अवतरण से अव्यवहित प्रासंगिकता के पृथक्करण का परीक्षण साहित्यिक आलोचना के प्रचलित व्यवहार के आधार पर होना चाहिए। ध्वनि कवि और सहृदय-सापेक्ष है, वे इसे सुनते हैं, लेकिन आलोचनात्मक परख का विकास श्रुत अथवा अश्रुत ध्वनियों के आश्रित नहीं बनाया जा सकता। लेकिन वक्रोक्ति का विकास अवतरण से ऊपर उठकर होता है, जहाँ कहीं वह है उसे हम विलग कर सकते हैं और तब समग्र रचना की विलक्षणता का आहरण पूरी स्वच्छन्दता से किया जा सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि काव्यात्मक अर्थ के क्षेत्र में ध्वनि एक विरल और मूल्यवान् तत्त्व है और आलोचना के वे औज़ार जो इसे पकड़ने में असमर्थ प्रमाणित होते हैं इतने स्थूल और अपरिष्कृत हैं कि उनके द्वारा सूक्ष्म विशिष्टताओं की परख सम्भव नहीं है। लेकिन इस बात से सहमत होना भी कठिन है कि काव्यात्मक अर्थ का क्षेत्र केवल ध्वनि तक ही सीमित है। काव्यात्मक अर्थ और जीवन में व्यवहृत होने वाले शब्दों के अर्थों की सम्बन्ध के इस सिद्धान्त के आधार पर कल्पना करना कठिन है।

कृष्णचैतन्य ने यह बतलाया है कि सापेक्षवाद की तरह ध्वनि का भी एक सामान्य सिद्धान्त है और एक विशेष सिद्धान्त है। सामान्य सिद्धान्त का उत्स भरत में ही मिलता है। लेकिन विशेष सिद्धान्त परिष्कार है, बड़ा ही चमत्कारी परिष्कार है, किन्तु इसके उपयोग की सीमाएँ जो आलोचक अनदेखी कर जाता है वह कितनी अच्छी कविताओं को घटिया कविता मानकर खारिज कर देता है। आनन्दवर्धन उस काव्य को अधम काव्य मानते हैं, जिसमें किंचित् भी व्यंजना नहीं हो। उनके अनुसार यह चित्रकाव्य है, चाहे वह शब्दचित्र हो अथवा अर्थचित्र हो। विश्वनाथ इसके काव्यत्व का ही निषेध करते हैं। यहाँ मॅलार्मे का स्मरण हो आना स्वाभाविक ही है, क्योंकि उसने इसी आधार पर पैरनैसियन कविता की तीव्र आलोचना की है। उसका आक्षेप यह है कि इसमें चक्षु-गोचरत्व से परे और कोई चीज नहीं है।

आनन्दवर्धन के आलोचकों ने इसीके खिलाफ विद्रोह किया। इस विद्रोह के और भी तात्त्विक कारण हैं। उन्होंने यह भी स्थापना प्रस्तुत की कि चित्रकाव्य रसानुभूति के उद्रेक में सक्षम नहीं है। किन्तु क्या चित्रकाव्य में ऐसी कोई अन्तर्भूत असमर्थता है ? वक्रोक्ति-मत ने ध्वनि-सिद्धान्त की इस त्रुटि का परिहार किया। कुन्तक ने बतलाया है कि कवि का लक्ष्य सदा न तो कुछ व्यंजित करना होता और न रसोद्रेक ही। उसकी सिसृक्षा को किसी एक गाँठ से बाँधा नहीं जा सकता है। कहीं-कहीं कवि मात्र विच्छित्ति का ही सृजन करना चाहता है। काव्यात्मक अभिव्यंजना का विश्लेषण करते हुए उसने इसी आधार पर वक्रोक्ति की प्रतिष्ठा की। व्यंजना से रहित इस प्रकार की अभिव्यंजना का तिरस्कार ध्वनिवादियों ने किया था और उसे अधम काव्य कहा था।

कुन्तक से प्रेरणा ग्रहण कर रुय्यक ने इस काव्य-सिद्धान्त का बड़ा ही स्वच्छ विश्लेषण प्रस्तुत किया। इस प्रकार के प्रत्यय (concept) की कुंजी विच्छित्ति या चारुत्व है। रुय्यक ने लिखा है कि "वैचित्र्य नाम से कहा जाने वाला चारुत्व कभी भी शब्दोच्चारण या उसके अर्थप्रतीतिकर शब्द-व्यापार में नहीं देखा जाता। वह देखा जाता है उसमें जो उच्चारण और ज्ञान का विषय होता है। इसमें उच्चारण का विषय होता है शब्द और ज्ञान का विषय अर्थ। चारुत्व उन्हीं में दिखाई देता है।"[1] कुन्तक और रुय्यक की विच्छित्ति और चारुत्व

१. हिन्दी व्यक्तिविवेक (रुय्यक की टीका) : अनु० श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी, पृ० २३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुत: वामन का 'सौंदर्य' ही है। कुन्तक ने चारुत्व को कवि-प्रतिभानिर्वतित्व बतलाया। तब प्रश्न उठता है कि ऐसा सामान्य चारुत्व क्या ध्वनि से रहित रहकर भी रसानुभूति नहीं जगा सकता है? यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय काव्यशास्त्र में चारुत्व हृदय के सम्बद्ध माना गया है।

कुन्तक की विशेषता यह है कि वे काव्य की आत्मा के झमेले में नहीं पड़ते हैं। वे आत्मा या परम तत्त्व के रूप में किसी इतर वस्तु की खोज नहीं करते हैं। वे काव्य को छोड़कर रस अथवा ध्वनि की ओर आकृष्ट नहीं होते हैं। उनके आकर्षण का केन्द्र स्वयं रचना है। कलाओं के आस्वाद का परम रहस्य होने के कारण रस में आलोचकों को काव्य से विलग कर देने की बड़ी मोहक शक्ति है। रस की अलौकिकता अन्तत: शब्दों से ही नि:सृत होती है। रस तो कई हैं, अनुभूति की इन विभिन्न स्थितियों से काव्य-रचना नहीं होती है। काव्यालोचन का वह सिद्धान्त, जो अनुभूति के दर्शन पर आधृत है, आलोचक के लिए नई कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देता है। अतएव आलोचक की व्यावहारिक सुविधा का खयाल कर कुन्तक ने काव्य की आत्मा की खोज नहीं की और वे अनुभूतिवादी दर्शन से बचकर निकल गये। इसी कारण वक्रोक्ति को उन्होंने काव्य का 'जीवित' बतलाया।

रस का प्रतिमान काव्यास्वाद का प्रतिमान है। यह मूल्यांकन में बहुत सहायक नहीं हो सकता है। आस्वाद और मूल्यांकन एक ही चीज़ नहीं है। आस्वाद में हम कवि की विषय-वस्तु से तादात्म्य स्थापित करते हैं। रसास्वाद की एक विशेषता यह है कि उसमें प्रतिकूल वेदनीय के लिए कोई स्थान नहीं है। रसास्वाद का तादात्म्य पूर्णत: अनुकूल वेदनीय से ही होता है। मूल्यांकन में दो तत्त्व रहते हैं—परीक्षण और मूल्य-निर्धारण। ज्योंही हम परीक्षण में प्रवृत्त होते हैं त्यों ही अनुकूल और प्रतिकूल दोनों तत्त्वों के प्रति हम उन्मुख हो जाते हैं। रसास्वाद में तादात्म्य की मुद्रा रहती है, परीक्षण में तादात्म्य की। आस्वाद में हमारी संश्लेष की वृत्ति सजग रहती है और मूल्यांकन में विश्लेष की। अतएव मूल्यांकन की ओर उन्मुख होने वाले व्यक्ति को आस्वादेतर तत्त्वों को अधिक महत्त्व देना होगा। हालाँकि वह मूल्यांकन, जो आस्वाद से रहित होता है, चुलाये हुए जल (Distilled water) की तरह बेस्वाद होता है। रसवाद आस्वाद की एक प्रक्रियामात्र है। उसे मूल्यांकन का पूर्ण प्रतिमान नहीं बनाया जा सकता।

आलोचक के हाथ में जो औज़ार होता है वह है विश्लेषण का। रसानुभूति आस्वाद्य होती है, किन्तु उसका विश्लेषण शक्य नहीं है। रस-सिद्धान्त की सीमाओं को इसी सन्दर्भ में रेखांकित किया जा सकता है। अनुभूतियाँ कवि की होती हैं, किन्तु वह इन्हें भाषा के द्वारा सुरक्षित रखता है। भाषा अनुभूतियों को सुरक्षित रखने का आधान-पात्र (Repository) है। अनुभूतियाँ भाषा में हू-बहू नहीं उतरती हैं। किन्तु अनुभूतियों तक पहुँचने के लिए हमारे पास भाषा के सिवा और माध्यम ही क्या है? भाषा सन्दर्भ नहीं वरन् माध्यम है। किन्तु सन्दर्भ तक माध्यम के सिवा और किस चीज़ के सहारे पहुँचा जा सकता है? सन्दर्भ की प्रकृति और स्वरूप की आकृति (Physiogonomy) है भाषा। अनुभूति आलोचक के लिए भी गूँगे का गुड़ है। उस गुड़ का आस्वाद आलोचक भाषा के विश्लेषण द्वारा ही पा सकता है। इस कारण कविता का अन्तिम विश्लेषण भाषा का ही विश्लेषण सिद्ध होता है। इस कोण से देखने पर वक्रोक्ति-सिद्धान्त रस-सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक संगत समीक्षा-सिद्धान्त प्रमाणित होता है।

काव्यभाषा के प्रतिमान से अधिक तटस्थ आलोचना का दूसरा प्रतिमान कदाचित् सम्भव नहीं है। फिर कवि की अनुभूति तक पहुँचने के लिए भाषा के सिवा दूसरा क्या आधार हो सकता है? भाषा ही वह बैरोमीटर है, जिससे कवि की अनुभूति का दबाव मापा जा सकता है। कविता के संघटन में भाषा-प्रयोग की स्थिति केन्द्रीय है। अनुभूति के नाभिक (Nucleus) तक पहुँचने का निकटतम बिन्दु यही है। कॉलरिज ने जब कविता को शब्दों का उत्कृष्टतम क्रम बतलाया था, तब वे काव्य में भाषा-प्रयोग की इसी केन्द्रीय स्थिति की ओर इशारा कर रहे थे। कविता सबसे अच्छी भाषा है। इसी को कुन्तक ने वक्रोक्ति कहा है।

आचार्यों के सन्दर्भ में खास-खास शब्दों का चलन हो जाया करता है। कुन्तक के प्रसंग में वैचित्र्य और विच्छित्ति कुछ ऐसे ही शब्द हैं। 'वैचित्र्य' और 'विच्छित्ति' पर विमर्श के क्रम में हम कुछ विशिष्ट गुणों की टोह में रहते हैं; लेकिन असल विशिष्टता तो समग्र कविता में उभरती है, जिसके कारण अन्य किसी भी कविता से भिन्न उस कविता का पृथक् अस्तित्व होता है। बुरी कविताओं की पहचान यह है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें निजता नहीं होती। वे बेडौल और सामान्य जीवन की भागीदार होती हैं। उन्हें सही अर्थ में अस्तित्ववान् कहा ही नहीं जा सकता। उनमें से कोई भी कविता दूसरी का स्थानापन्न हो सकती है और शेष कविताओं के रहने न रहने से भी कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। कविताओं को निजता चाहिये ही और जहाँ यह 'स्व' की विशिष्टता नहीं होती है वहाँ वक्रत्व का अभाव समझना चाहिए। 'वैचित्र्य' से कुन्तक का यही तात्पर्य है।

उनकी काव्य-परिभाषा इसी तथ्य की ओर इशारा करती है। उनका कहना है कि व्यवस्थित शब्द और अर्थ वक्र-कवि-व्यापार से युक्त होने पर ही काव्यबन्ध होते हैं (१, ॥ ७ ॥)। यहाँ कुन्तक किसी विशिष्ट काव्यभाषा की अनुशंसा नहीं कर रहे हैं, वरन् आमफ़हम भाषा को ही वक्रत्व के स्तर पर ऊर्ध्वपातित होने की प्रक्रिया की ओर संकेत कर रहे हैं। काव्य मात्र अन्तःप्रजात काव्यसुलभ रीति के व्यवहार्य की अपेक्षा विभिन्न विशिष्ट भाषाओं को सम्बद्ध कर देनेवाली एक मूलभाषा (Key language) है। आमफ़हम भाषा की दुनिया में यह सैर, घिसे-पिटे शब्द-भंडार से अकस्मात् जीवंत शब्द उठाने की सतर्क दृष्टि; इनकी कुछ अप्रत्याशित प्रयोज्यता को दिखलाने के लिए इन्हें मुक्त कर देने की शक्ति, प्रत्यक्षतः गोचर क्षेत्र से रूप (form) का अनुसंधान आदि की क्षमता ही काव्य के जीवंत अवदान हैं। 'वक्रोक्ति जीवितम्' में पंडिताऊ भाषा की मीमांसा न होकर आमफ़हम भाषा को ही नवीन स्तर पर पहुँचाने को काव्यात्मक क्षमता का ही संधान मिलता है।

इसी दृष्टि से वक्रोक्ति रीति से भिन्न भूमि पर अवस्थित होती है। रीति की कल्पना में काव्यात्मक शब्दसमूह (Poetic Diction) की कोई न कोई धारणा अवश्य सन्निहित है। वक्रोक्ति काव्यांग की कोई विशेषता न होकर काव्यमात्र की विशेषता है। इसके द्वारा कवि आमफ़हम भाषा में गरिमा का संचार करता है और यही कवि-कर्म है। इस अर्थ में वक्रोक्ति और कवि-कर्म एक ही सिद्ध होते हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त आमफ़हम भाषा के प्रति निष्ठावान् है और इस पर वागाडम्बर का आरोप लगाना राक्षसी है। कुन्तक का तात्पर्य इतना ही है कि आमफ़हम भाषा में ग्राम्यत्व का तत्त्व रहता है। वक्रोक्ति ग्राम्यत्व का परिहार करती है और उसे उच्च काव्यात्मक परिष्कार प्रदान करती है। वक्रोक्ति यही उच्च काव्यात्मक परिष्कार है।

आमफ़हम भाषा का ही परिष्कार वक्रोक्ति-सिद्धान्त की आधारशिला है। वक्रोक्ति भाषा की विकसित फुनगी है एवं आमफ़हम भाषा की प्रकृति और उसकी प्राणवत्ता ही इस विकसनशील फुनगी को ऊपर उठाने को प्रेरित करती है। वक्रोक्ति परिष्कार है लेकिन इस परिष्कार की शक्ति बोल-चाल की भाषा में ही प्रसुप्त है। 'साहित्य मीमांसा' के रचयिता ने जब साहित्य का दूसरा नाम 'परिष्कार' प्रस्तावित किया था तब वह बात को गहराई में पकड़ रहा था। उसके इस सिद्धान्त के प्रति परवर्ती आचार्यों की अपेक्षा अच्छी बात नहीं हुई। आमफ़हम भाषा की स्वस्थ शिराओं में ही भाषिक ऊर्जा अभिव्यक्त होती है और वक्रोक्ति इसी ऊर्जा की ऊर्ध्वमुखी यात्रा है। कवि-कर्म इस ऊर्ध्वमुखी यात्रा की गति है तथा कविता स्वयं उस यात्रा का चरण-चिह्न। अभिनवगुप्त जब बन्ध, गुम्फ, भणिति, वक्रोक्ति और कविव्यापार को पर्याय बतलाते हैं, तब वे इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं।

वक्रोक्ति का जोर काव्य की जाति (प्रकार) और दृष्टांत पर उतना नहीं है जितना कि कविता के विलक्षण वक्रत्व पर। वक्रोक्तिवाद जब कवि-कर्म के सिद्धान्त को अधिक महत्त्व देता है, तब वह शिल्प के एकल महत्त्व पर जोर नहीं देता है वरन् समग्र रचनात्मक उपलब्धि की नव्यता को ही रेखांकित करता है। कारण यह कि शिल्प की समृद्धि विचारणा के खिए ही तो आहृत की जाती है। सिंह और सपूत की तरह शायर भी स्वीकृत मार्ग का परित्याग करता है। प्रत्येक सच्चे कवि को अपने युग की प्रवाही और सामान्य शैली में वक्रत्व का संचार करना चाहिए। प्रत्येक सच्चा कवि अपने ढंग से वक्रत्व का आहरण करता है। कुन्तक ने इसे ही 'वैचित्र्य' की संज्ञा दी है। वक्रत्व निकटवर्ती अतीत के साहित्य के सन्दर्भ में कवि की दृष्टि से नव्यता का समावेश ही है। छायावाद में पूर्ववर्ती साहित्य के संदर्भ में जो नवीनता है वही उसका वास्तविक वक्रत्व है।

वैचित्र्य को टुच्चा चमत्कार बतलाना उसकी गलत व्याख्या है। इसी प्रकार वैचित्र्य से तात्पर्य केवल शिल्पगत प्रवीणता नहीं है। संस्कृत की वैदुष्यपूर्ण कविता के उत्तर-काल में ऐसी प्रवीणता का कोई अभाव नहीं था। वैचित्र्य कोई स्वायत्त (Autonomous) वस्तु नहीं है। यह वक्रोक्ति से नियन्त्रित अभिबोध है। यदि यह वैचित्र्य इतना साहसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो कि वक्रोक्ति आमफ़हम भाषा से उत्पन्न नव्यता से अत्यन्त दूर चली जाय, तब रचना केन्द्रापसारी हो जाती है और वक्रोक्ति का स्थान वागाडम्बर ले लेता है। किसी केन्द्रीय तत्त्व से निरपेक्ष नव्यता निष्फल विस्फोट करके रह जाती है। इस दृष्टि से प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का समीक्षात्मक प्रसंग अत्यन्त महत्त्व का है। कुन्तक रचना की समग्र ऊर्जा का कभी विस्मरण नहीं करते हैं।

अधिकांश प्राचीन काव्य-सम्प्रदाय तत्त्व-मीमांसा और दार्शनिक चिंतनाओं से निःमृत हुए हैं। साहित्यिक आलोचना के सौभाग्य से वक्रोक्ति-सिद्धान्त तत्त्व-मीमांसा के जंजाल से पूरी तरह मुक्त है। यह साहित्यिक आलोचना का विशुद्ध सिद्धान्त है। काव्य-प्रसंग में यह दो प्रकार के काव्यों का विरोध करता है—एक का पूरी वाग्मिता के साथ और दूसरे का निहितार्थ के द्वारा। प्रथम है, शरीर और अलंकार का विभाजन और कुन्तक का प्रहार यहाँ अलंकारवादियों पर है। उनका कहना है कि यदि शरीर ही अलंकार है तब आप अलंकृत किसे करेंगे? कुन्तक वस्तुतः काव्य में तत्त्व और रूप की एकरूपता की बात कर रहे हैं। वक्रोक्ति कोई प्रयुक्त शिल्प नहीं है, बल्कि यह शब्द और अर्थ की संपृक्ति से निःसृत होती है। यह मौजूदा शब्द और अर्थ का अन्य प्रचलित और शक्तिवान् अर्थों से संपृक्ति है जिससे कि अनुभूति और भाषा की विद्यमान संरचना का वजन मात्र ही शिल्प के छिछोरेपन, चपलता अथवा असारता के विरुद्ध सबसे अच्छा आश्वासन बन जाता है।

दूसरा है, काव्य-शरीर और आत्मा का पार्थक्य। कुन्तक काव्य की आत्मा का ज़िक्र ही नहीं करते हैं। रस को आवश्यकता से अधिक काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया गया है। कुछ लोगों ने यह गौरव ध्वनि को दिया है। आत्मा के प्रसंग में वक्रोक्ति-सिद्धान्त का मौन दो प्रकार की साम्प्रदायिकता का स्मरण दिलाता है। एक तो आर्नल्ड की वह आलोचनात्मक साम्प्रदायिकता है जहाँ वे आत्मा में विरचित कविता (Poetry composed in soul) और वैदग्ध्य से विरचित कविता (poetry composed in wit) की बात करते हैं। फिर दूसरी आध्यात्मिक साम्प्रदायिकता है, जिसमें कुछ लोग आत्मा में विश्वास करते हैं और कुछ लोग नहीं। ऐसी साम्प्रदायिकता प्राचीन काव्य के सन्दर्भ में भारत के प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों से बहुत पृथक् नहीं है और सम्प्रदायों के उद्भव के उद्देश्य पर इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। तब भी एक आलोचक के लिए काव्य से छिटककर काव्य की आत्मा की ओर उन्मुख होना खतरनाक सम्भावनाओं से पूर्ण है।

आत्मा की खोज अतिसूक्ष्म खोज है और काव्यालोचन के प्रसंग में उसकी संगति ढूंढ़ना बहुत आसान नहीं है। कुन्तक इसीलिए जीवित का 'अनुसन्धान' करते हैं। आलोचक का कार्य काव्य के प्राणतत्त्व की परीक्षा करना है न कि आत्मा की खोज करना। काव्यालोचन के प्रसंग में उनके 'जीवित' की इस सार्थकता को क्षेमेन्द्र ने पकड़ा है। कुंतक से प्रेरणा ग्रहण कर 'जीवित' का उसने विवेचन-विश्लेषण किया है। उनका कहना है कि औचित्य 'काव्य की सुन्दर अनुभूति में चमत्कार उत्पन्न करने वाला रस का प्राण रूप' है। 'जीवित' का स्वरूप उन्होंने स्थिर एवं अविनश्वर (स्थिरमविनश्वर जीवितकाव्यस्य) बतलाया है।

क्षेमेन्द्र ने खुलासा करते हुए बतलाया है कि जिस प्रकार रसायनों से पुष्ट व्यक्ति का जीवन स्थिर होता है, उसी प्रकार काव्य के स्थायी अर्थात् नित्य जीवन की भी धारणा संगत है। प्रसंगात् यह जिज्ञासा संगत है कि जीवित का क्षेत्र क्या है? यहाँ क्षेमेन्द्र ने प्रधान रूप के उपलब्ध होने योग्य स्थिति-स्थान को संकेतित करने के क्रम में पद, वाक्य, प्रबन्ध, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश आदि २८ स्थानों का उल्लेख किया है। लेकिन उनका कहना है कि इन पद आदि स्थानों में रहने वाला 'जीवित' काव्य के समस्त शरीर में व्याप्त होकर स्फुट रूप से प्रकट होता है जैसे समस्त शरीर में व्याप्त प्राण मर्म-स्थानों में स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। अवश्य ही 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' से प्रेरणा ग्रहण कर जीवित का यह भाष्य उसकी व्याख्या में संगत माना जायगा। यद्यपि प्राण समस्त शरीर में व्याप्त रहता है, परन्तु उसकी स्पष्ट प्रतीति अंगुष्ठ मूलादि में होती है, इसी प्रकार वक्रोक्ति तो समस्त काव्य-शरीर में व्याप्त रहती है, परन्तु उसकी स्पष्ट प्रतीति पदादि काव्यांग में होती है। इस प्रकार 'जीवित' का यह संधान काव्यालोचन के प्रसंग में अत्यन्त संगत दिखाई पड़ता है।

अभिव्यंजना की प्रकृति क्या है? इस क्षेत्र में भी वक्रोक्ति-सिद्धान्त ने महत्त्वपूर्ण विचारणा की अवतारणा की है। इस सिद्धान्त ने पहली बार 'साहित्य' को पद, वाक्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा तात्पर्य के व्याकरणिक साहचर्य से पूरी तरह मुक्त कर कवि-प्रतिभा अथवा कवि-व्यापार से व्युत्पन्न काव्यात्मक सम्बन्ध के रूप में निरूपित किया। इसी अर्थ में साहित्य शास्त्र अथवा साधारण बोलचाल की भाषा में नहीं होता है, बल्कि केवल काव्य में ही मिलता है। यह वाच्य अथवा वाचक का सामान्य संयोग नहीं है, बल्कि काव्य में यह विशिष्ट सम्बन्ध है और इस वैशिष्ट्य का निर्धारण काव्यशास्त्र की मुख्य समस्या है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त इसलिए शब्द और अर्थ के परस्परस्पर्धित्व समभाव में काव्य की सिद्धि मानता है।

शब्द और अर्थ में किसी एक पर ज़ोर देना बेमानी है। इसी प्रकार एक को आभ्यन्तर और दूसरे को बाह्य बतलाना भी कोई मतलब नहीं रखता है। यहाँ तो 'विशेष' प्रकार के साहित्य से तात्पर्य है (किम् तु विशिष्टं एव साहित्यं अभिप्रेतम्) जिसके कारण आमफ़हम भाषा काव्य के रूप में मुकुलित हो जाती है। कुन्तक का कहना है कि वक्रकविव्यापार से युक्त होने पर यह वैशिष्ट्य काव्यबन्ध में उत्पन्न होकर तद्विदों के आह्लाद का कारण बनता है। इस प्रकार आमफ़हम भाषा में किसी अनन्य साधारण विच्छित्ति का संचार होता है। कुन्तक ने इसे ही वक्रत्व, भंगीभणिति अथवा वैचित्र्य कहा है। यह वक्रत्व कवि-प्रतिभा अथवा कवि-कर्म से निःसृत है। कुन्तक अभिव्यंजना का विश्लेषण और वर्गीकरण इसी कोण से करते हैं और इस प्रकार कवि की कल्पना-शक्ति की महिमा को बार-बार रेखांकित करते हैं। इसी हेतु वे अभिव्यंजना को एक ओर अखंड मानते हैं और उत्तम, मध्यम और अधम आदि—वर्गीकरणों का प्रत्याख्यान करते हैं। शब्द और अर्थ का साहित्य चाहे रूप की विशेषता हो अथवा तत्त्व की, चाहे वाच्य-वाचक काव्य-शरीर की, अथवा रसध्वनिरूपी आत्मा की, यह तो वक्रमार्ग है जो कवि-कर्म प्रजात है और यही 'विशेष' है।

कुन्तक की शिक्षा-दीक्षा अलंकार-सम्प्रदाय की थी किन्तु साहित्य का विश्लेषण उन्होंने व्यापक परिप्रेक्ष्य में किया। इसलिए वस्तु और भाषा के सम्बन्ध का उनका विश्लेषण उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित हो सका है। उनका मुख्य प्रश्न कि काव्य को शास्त्र और आमफ़हम भाषा से कौन-सी चीज़ पृथक् करती है, एक व्यापक निहितार्थ को सँजोये है। उसे वक्रोक्ति अलंकार के साथ नत्थी कर देना सरासर अतिचार है।

यह लोंगिनुस है जिसने कहा था कि सबसे पहले हमें यह प्रश्न उठाना चाहिए कि उदात्त अथवा ऊर्जित की कला जैसी कोई वस्तु है भी या नहीं। प्रश्न यह है कि आज की आलोचना भाषा-शैली के विश्लेषण और उसी के द्वारा उसके अपेक्षया व्यापक पक्षों का संस्पर्श कर क्या संतोषप्रद वस्तुगतता (Objectivity) प्राप्त कर सकती है? वस्तुतः यह हमारे युग का मुख्य प्रश्न है। यदि साहित्य की सम्यक् आलोचना उसकी भाषा-शैली के द्वारा हो सकती है, तब हमें अच्छे और घटिया दोनों किस्म के कवियों की परीक्षा करनी होगी और उस भाषा के प्रतिमान की खोज करनी होगी जो सुदीर्घ अनुभव की प्रसूति होती है।

इस प्रसंग में इस सिद्धान्त पर एक विशेष आक्षेप यह किया गया है कि यह विशुद्ध व्याकरणिक विश्लेषण है। यह आक्षेप भी सुविचारित नहीं है। कुन्तक ने तो यह बतलाया है कि किस प्रकार वक्रोक्ति के संस्पर्श से व्याकरणिक कोटियाँ काव्यात्मक कोटियों में रूपान्तरित हो जाती हैं। व्याकरणिक कोटियों के काव्यात्मक कोटियों में रूपान्तरण को हम थोड़ा समझने की कोशिश करें। यहाँ शेली हमारी सहायता कर सकता है। उसने इस प्रसंग में लिखा है कि "कवि चिरंतन, असीम एवं अद्वैत का सहभागी होता है, उसकी काव्य-धारणाओं में देश, काल एवं संख्या को कोई महत्त्व नहीं होता। पुरुष-भेद एवं देश-भेद तथा कालगत अवस्थाओं को व्यंजित करने वाले व्याकरण-रूप, ये सभी उच्चतम काव्य के सन्दर्भ में, काव्यत्व का क्षय किये बिना परिवर्तनीय हैं।"[1]

व्याकरणिक विश्लेषण की एक सीमा यह बतलाई जाती है कि यह काव्य में वातावरण की उपेक्षा करता है और इसीलिए तुच्छ है। जो लोग यह आरोप लगाते हैं उनका तर्क यह है कि कविता वातावरण का वहन किसी अज्ञात किन्तु आधारभूत रूप से करती है और यह अर्थ का उपजात (By-product) है। उनके मत से यह व्याकरणिक विश्लेषण वातावरण की उपेक्षा के सिवा और क्या कर सकता है? ध्वनि और अर्थ एक-दूसरे का पूर्ण साक्षात्कार कर पूर्णता की प्राप्ति करते हैं। अर्थ सम्यक् ध्वनि की खोज करता है और ध्वनि भी तदनुकूल अर्थ को पाकर ही विराम पाती है। जब तक ध्वनि और अर्थ का यह व्याह सम्पन्न नहीं होता, तब तक काव्य की सिद्धि नहीं होती है। इस प्रकार ध्वनि और

१. पश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० १७२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ परस्पर वस्तुगत प्रतिरूप सिद्ध होते हैं। अतः ध्वनि और अर्थ ही कविता के वातावरण का निर्माण करते हैं। वातावरण का अर्थ उपजात अवश्य है। लेकिन यह वातावरण काव्य का ध्वनि-वृत्त ही तो है। इस प्रकार शब्द-मीमांसा और व्याकरणिक कोटियों की व्याप्तियाँ गहराई तक गई हैं।

एम्पसन ने बड़ी अच्छी सूक्ति कही है। शब्द-मीमांसा का उपयोग करने वाला आलोचक उस वैज्ञानिक की तरह होता है, जो संसार के सन्दर्भ में नियतिवाद (Determinism) को प्रयुक्त करने की लालसा रखता है।[1] इसकी गुंजाइश तो है कि यह मीमांसा सब जगह संगत नहीं हो, जहाँ संगत भी हो वहाँ सब चीज़ों की व्याख्या नहीं कर सके; लेकिन एक आलोचक को अपनी कर्मशाला में इसे संगत मानकर चलने के सिवा और क्या उपाय है। कवि ने जिस सौन्दर्यानुभूति का साक्षात्कार किया उसी का प्रमाण तो कविता है। यह प्रमाण जितना अविकल होगा, कविता उतनी सशक्त और कालजयी होगी। यह प्रमाण जितना विकृत होगा, कविता उतनी तुच्छ होगी। कविता स्वयं मूल सौन्दर्यानुभूति नहीं है, वह सौन्दर्यानुभूति का प्रमाण है। लेकिन आलोचक के पास इस प्रमाण के द्वारा उस मूल सौन्दर्यानुभूति के पुनर्सृजन के सिवा और कोई रास्ता नहीं है। यह आलोचक का मुख्य कार्य है। तब आलोचक के सामने जो बचता है वह शब्द है। शब्दमीमांसा आलोचक की विवशता ही नहीं, वरन् उसकी एकमात्र विश्वसनीय पद्धति भी सिद्ध होती है।

कविता अत्यन्त संश्लिष्ट रचना है। समाज, धर्म, मनोविज्ञान, इतिहास, कवि की शिक्षा-दीक्षा और रचना करते समय उसकी तात्कालिक मनःस्थिति ये सब उसे प्रभावित करते हैं। किन्तु कवि के मन में गल-पचकर जिस सौन्दर्यानुभूति का जन्म होता है वह बाद में शब्द-शेष रहती है। इसलिए समीक्षक इन्हीं शब्दों की उँगली पकड़कर कवि के भावलोक तक पहुँचता है। यही सौन्दर्यानुभूति का पुनर्सृजन है, लेकिन पुनर्सृष्टि हू-ब-हू सृष्टि के समान नहीं होती है। कुछ छूट जाता है, कुछ जुड़ जाता है। यहाँ आलोचक के अपने संस्कार भी काम करने लग जाते हैं। इस तरह प्रत्येक प्रत्यावर्तन प्रस्थान का नया बिन्दु बन जाता है। यह पुनर्सृजन समान और सदृश तो है, लेकिन तद्रूप नहीं है। आलोचना में जिस सौन्दर्यानुभूति का निर्माण होता है, वह किंचित् भिन्न होती है। यही आलोचना रचना बन जाती है। अच्छी आलोचना जीवन के ताप से निःसृत होती है और स्वयं जीवन का प्रतिरूप बन जाती है। एक ही कवि-मन रचना और आलोचना दोनों में व्याप्त है। अन्तर केवल मात्रा का होता है।

लेकिन आलोचना मूल प्रकाश नहीं वरन् प्रत्यावर्तित प्रकाश है। जैसे चन्द्रमा की किरण सूर्य की रोशनी का प्रत्यावर्तन ही तो है, लेकिन प्रत्यावर्तन भी रचना ही है। चन्द्रमा सूर्य की रोशनी को अधिक शीतल, आह्लादक और ग्राह्य बनाकर प्रत्यावर्तित करता है। रोशनी वही है, किन्तु उसकी प्रकृति बदल जाती है। तो, समालोचक स्वयं अंधा होता है, लेकिन शब्द ही उसे ज्योति देते हैं। यह ज्योति स्वयं कविता है : जो समालोचक कविता से बाहर किसी ज्योति का आयात करता है, उससे समालोचक की अपनी मूर्खता चाहे जितनी घटती हो, कविता के सम्बन्ध में हमें कोई नई किरण नहीं मिलती है। कविता से बढ़कर दूसरा ज्योति-पुंज कुछ नहीं है। कविता की सबसे अच्छी आलोचना कविता में ही निहित है। पुराने वैयाकरणों ने शब्द को ब्रह्म कहा था और यह ब्रह्म अपनी लीला का रहस्य स्वयं खोलता है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त ने व्याकरणिक कोटियों की तह में जाकर वातावरण की उपेक्षा नहीं की थी, इसका प्रमाण तो कवि-कर्म का सिद्धान्त है। रचना शब्दों का लस्टम-पस्टम जमघट नहीं है, बल्कि उसमें कवि के मन का ताप रहता है। यह तो व्यक्ति है जिससे छूटकर चिनगारियाँ रचना में समा जाती हैं और रचना को आकर्षक बनाये रहती हैं। शब्दों की घूर्णियाँ इन्हीं चिनगारियों के संस्पर्श से लहक उठती हैं। जब ये चिनगारियाँ बाद में नहीं रहती हैं, रचयिता का बीन सदा के लिए निस्पंद पड़ जाता है, तब भी शब्दों की वह्नि शमित नहीं होती है। इसी अर्थ में कोई भी रचयिता अपनी रचना से बड़ा नहीं होता है और जब रचना रचयिता से बड़ी है, तब हम शब्द की ओर लौट आते हैं। तब शब्द के सिवा हमारे पास बचता ही क्या है ? इस प्रकार भाषा और शैली का विश्लेषण ही आलोचना का सबसे विश्वस्त प्रतिमान सिद्ध होता है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त मूल्यांकन का एक संतुलित सिद्धान्त है। कुन्तक जब काव्यमार्ग को सुकुमार क्रमोदित बतलाते हैं,

१. Seven Types of Ambiguity : Paperback edition, p. 17

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब उनका तात्पर्य यह है कि 'वक्रोक्तिजीवितम्' शिल्प अथवा जीवनदर्शन किसी एक पर बल देने के दोष से पूरी तरह मुक्त है। भाव और भाषा की परस्परस्पर्धा के सिद्धान्त को इसी कोण से देखने पर उसकी महिमा ठीक से हृदयंगम की जा सकती है। कुन्तक ने पुरानी वक्रोक्ति के क्षेत्र का बहुत विस्तार किया और उसमें उन सारी चीज़ों का समाहार प्रस्तुत किया जो कविता के संगठन में समाहित रहते हैं। इसी अर्थ में वक्रोक्ति ही कविता है।

आज के गद्य की भाषा प्रयोजन की भाषा है। वह बहुत-कुछ गणितीय प्रतीक की तरह व्यवहृत होने लगी है। और उसकी रागात्मक शक्ति क्षीण हो गई है। भाषागत पद पदार्थ के बोधक होते हैं। और ये भाषातीत अर्थ नहीं दे पाते। गद्य-कल्प से परे भाषातीत अर्थ देने की असीम संभावनाएँ हैं। इसलिए वक्रोक्ति की आवश्यकता आज भी उतनी ही है। जब तक कविता जीवित है, तब तक वक्रोक्ति की हमें जरूरत रहेगी। किन्तु इस अनिवार्यता का अर्थ यह नहीं है कि यह काव्य की आत्मा है। हमें बहुत-सी ऐसी चीज़ों की ज़रूरत पड़ती है, जो आत्मा के गुण नहीं हैं। आत्मा ही सब-कुछ नहीं है और आत्मा ही महत्त्वपूर्ण है। यह शरीर के अतिरिक्त और कैसे सिद्ध होगा? वक्रोक्ति की यही सामयिक सार्थकता है? काव्य-भाषा के अनन्य साधारण स्वरूप को उजागर करने वाली चीज़ ही वक्रोक्ति है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमूर्त ज्यामिति से बाहर

मलयज

विजय सोनी के अभी हाल में नयी दिल्ली की कोणार्क कला-वीथि में प्रदर्शित चित्रों को देखकर जो पहला अनुभव होता है वह यह कि आकृतिमूलक चित्रकार न होते हुए भी सोनी अमूर्तन के चित्रकार नहीं हैं। यह अनुभव सोनी की चित्र-रचना की मूल बनावट और स्वभाव को समझने में एक महत्त्वपूर्ण शुरुआत भी साबित हो सकती है। सोनी की चित्र-रचना के संदर्भ में अमूर्तन की चर्चा इसलिए और भी प्रासंगिक हो उठती है कि प्रायः अमूर्तन को आधुनिकता का पर्याय मानने का रुझान हमारे यहाँ काफी व्यापक हो चला है। यह सही है कि आधुनिक कला-रचना में अमूर्तन एक मूलभूत प्रतिज्ञा है, पर किसी केन्द्रवर्ती सर्जनात्मक तनाव के अभाव को आधुनिकता के चालू मुहावरों और 'क्लीशे' की ऊपरी तड़क-भड़क में छिपा देने में भी अमूर्तन बड़े काम का सिद्ध होता है। अमूर्तन दरअसल अनुभवों की विस्तार-प्रक्रिया की एक दृष्टि-युक्त दिशा है; पर जहाँ दृष्टि नहीं वहाँ यह अनुभवों की सभाओं को ही उजागर करता है। अमूर्तन का कला में प्रयोग एक शैली-विशेष को अपनाने का आग्रह मात्र नहीं है, वरन् यह रचनात्मक अनुभव की प्रकृति का भी निर्देश करता है। अतः जहाँ अमूर्तन को मात्र शैली के रूप में ग्रहण किया जाता है वहाँ इस बात की अधिक आशंका रहती है कि कहीं वह शीघ्र ही चालू मुहावरों के दलदल में फँसकर सम्पूर्ण कला-रचना को 'लिटरेरी' अथवा 'डिज़ाइन' के रूप में न बदल दे।

एक अमूर्तन उस प्रकार का भी होता है जिसमें कैन्वस पर रंग और रूपाकार एक अतीन्द्रिय सत्ता बन जाते हैं—अति सूक्ष्म, बौद्धिक संवेदनों द्वारा ही ग्राह्य—जैसे कि साहित्य में अर्थ से परे का नाद-सौन्दर्य—जो हमारे मन-पटल पर किसी 'कांक्रीट' अर्थ की चेतना अंकित नहीं करता, बस एक अरूप विचार अथवा बिम्ब का आभास देता है। ऐसा अमूर्तन एक स्तर पर प्रेक्षक/भावक को उसकी औसत भाव-विचार-संवेग-जटिल मानसिकता से निर्वासित कर उसे एक विरल और परिशुद्ध बौद्धिक संवेदन-लोक में ले जाता है जहाँ रंग सिर्फ रंग हैं और आकार सिर्फ आकार, और रचना इतनी निर्वैयक्तिक कि वह प्रेक्षक/भावक को इस बात की पूरी छूट दे देती है कि वह उसमें कोई सार्थक संयोजन तलाश कर ले। इस तलाश की कोशिश में हमेशा सफलता नहीं भी मिल सकती है और तब प्रेक्षक/भावक के लिए इस बात की छूट होती है कि वह ऐसी कला-रचना को महज़ बुद्धि-विलास की चीज़ मान ले।

दिल्ली में आये-दिन होती रहने वाली चित्र-प्रदर्शनियों को देखकर अमूर्तन के इन दोनों खतरों का स्वरूप कुछ अधिक स्पष्ट हो जाता है।

विजय सोनी अभी अमूर्तन की उस सीढ़ी पर हैं जहाँ वह उन्हें एक नये अनुभव-संसार में प्रवेश करने और उस अनुभव-संसार को रचना-संसार में रूपान्तरित करने को प्रेरित करती है, बस। क्योंकि सोनी के पास कहने को कुछ 'ठोस' है—हालाँकि उनके चित्र 'उस कुछ' के कहने की बनिस्बत 'उस कुछ' की खोज के दस्तावेज़ ज्यादा मालूम पड़ते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सोनी अपने आत्मकथ्य की खोज रचना की बुनियादी शर्तों पर करना चाहते हैं। उनके चित्रों के पीछे कार्यरत एक बेहद उग्र बेचैनी का आभास मिलता है; उनके गहरे रंग अपने भीतर कोई सुलगती हुई शान्त आग छिपाये लगते हैं, उनकी रेखाकृतियाँ बार-बार जैसे एक ही विलम्बित लय के तीव्र खंडों को लपेटकर रखती हुई प्रतीत होती हैं। लेकिन इस आग और उग्र बेचैनी के बावजूद कहीं कोई एक सीमा-रेखा है जो सोनी को उनकी अनुभूति में निहित अराजकता के संसार से बचाये रखती है। उनके चित्रों की सफाई, रंग-स्पर्श से झलकने वाली कोमलता, आत्मीयता और अन्त-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रंगता, आकृतियों का सहज लयात्मक संतुलन उनकी कला के गंभीर आत्म-संयम का ही संकेत देते हैं।

सोनी अपने आत्मकथ्य की खोज के लिए 'बाहर' नहीं 'भीतर' की ओर देखते हैं। उनके चित्रों में स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से दीख पड़ने वाले चिड़िया, मछली, चन्द्रमा और कुछ हद तक मानव-देहाकृतियों का सरोकार किसी बाह्य दृश्य-सत्ता से उतना नहीं जितना उनके अन्तर्मन में जन्म ले रहे रूपाकारों से होता है। सोनी के कुछ चित्रों में विशेष रूप से स्त्री-अंगों को लेकर पाये जाने वाले 'डिस्टार्शन' के पीछे यही तर्क काम करता है—वे वस्तुओं को वस्तुओं की तरह नहीं पकड़ते, बल्कि अपने अन्तर्मन की किन्हीं सजीव भाव-सत्ताओं की छायाओं की तरह पकड़ते हैं। इस प्रयास में सोनी किसी मानवीय सच्चाई को यथार्थ की शक्ल नहीं देते, वरन् उस मानवीय सच्चाई को अन्वेषित करने में अपनी उत्कट लालसा का गति-चित्र पेश करते हैं। इसी से उनके चित्रों में एक प्रकार का गत्वर प्रवाह मिलता है। उनके रंग स्थिर कैनवस पर चिपके हुए नहीं लगते, बल्कि आँखों से गिरने वाले प्रकाश का अनुसरण कर इधर-उधर बेचैन डोलते नज़र आते हैं; उनकी रेखाओं का कैनवस के 'स्पेस' पर विभाजन एक संतुलन की सृष्टि भर नहीं करता, बल्कि एक संतुलित फ्रेम में किसी गतिशील अनुभवकेन्द्र की ओर खिसकता-बढ़ता लगता है। जहाँ उनके रंग गहरे और जमे हुए हैं वहाँ वे किसी शान्त विस्फोट की पूर्व-सूचना-से लगते हैं।

इस संदर्भ में सोनी के एक चित्र, जिसे मैं सुविधा के लिए 'लाल कैनवस' कहूँगा, का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। इस चित्र में रचना के कई स्तर हैं। एक स्तर पर गहरा लाल रंग है जो कहीं-कहीं इतना गहरा है कि कालिमा की हदों को छूने लगता है, मानो गाढ़ा रक्त भूरा-नीला पड़कर जम गया हो। यह लाल रंग समग्र रूप से इस चित्र का एक माहौल बनाता है—एक ऐसी पृष्ठभूमि का माहौल जिस पर कुछ नाटकीय 'घटित' होने वाला हो। दूसरा स्तर इस संभावना-गर्भित लाल पृष्ठभूमि को सहसा एक अत्यन्त गतिशील प्रवाह में विस्फोटित कर देता है : प्रकाश के कुछ धब्बे, मछली जैसे दिखने वाले कुछ रंग-रेखाकार, घने और तरल रंग-स्पेस : रंगों के सौर-मंडल में घूमते हुए आकार-पिंड : ये सब अपनी 'उपस्थिति' से एक ओर तो 'वस्तुओं' का भ्रम जगाकर 'स्पेस' पर लाल रंग के एकाधिकार को खत्म करते हैं, और दूसरी ओर लाल पृष्ठभूमि में निहित उस नाटकीय संभावना को सचमुच ही 'घटित' करते हैं। सोनी के इस चित्र की तुलना उनके एक दूसरे चित्र से की जा सकती है जिसे मैं यहाँ 'सफ़ेद कैन्वस' कहूँगा। इस चित्र के आधे निचले भाग में गहरे नीले रंगों से परस्पर गुँथी हुई, पर स्पष्टतः रंगरेखांकित, आकृतियाँ हैं, और प्रायः आधा-सा ऊपर का भाग सफेद रंग से पुता है। इसमें भी रचना के कई स्तर हैं। नीचे की गहरी नीली, कहीं-कहीं काली पड़ी हुई नीली, आकृतियाँ नियंत्रित गहन उद्वेग को व्यक्त करती हैं; और इस प्रभाव को उभारता है ऊपरी भाग का सफेद पटल नीचे वाले भाग के उद्वेग की गहनता को एक निर्मम तटस्थता प्रदान कर। इस चित्र में रचना के ये दोनों स्तर एक-दूसरे के पूरक हैं, पर एक-दूसरे से इंवाल्वड नहीं, जैसे कि वे लाल कैन्वस में हैं। लाल कैन्वस में चित्र-रचना के प्रत्येक अवयव और घटक जैसे एक-दूसरे को काट और बना रहे हैं, और इस प्रकार एक गतिशील प्रवाह की सृष्टि कर रहे हैं। सफ़ेद कैन्वस में वैसी गति नहीं है, बल्कि एक गहराई है। उसकी नीली आकृतियाँ भावनाओं के गहरे सागर की चट्टानें लगती हैं, सख्त और निस्पंद। ऊपरी भाग की सफेदी एक कंट्रास्ट प्रस्तुत कर मानों इस गहराई और उस चट्टानी प्रभाव को पुष्ट करती है।

सोनी प्रेक्षक की कल्पना को उत्तेजित कर उसे अमूर्त प्रत्ययों अथवा खामखयालियों से बने किसी परिशुद्ध बौद्धिक लोक में निर्वासित नहीं करते, बल्कि चेतना के उस संधिस्थल की ओर ले जाते हैं जहाँ ऐन्द्रिकता का ताप और वेग एकबारगी स्थूल प्रभावों की ओर मुड़ने के बजाय एक पारदर्शी मासूम सौन्दर्य में छनने लगता है। सोनी की आकृतियों के घुमाव और मोड़—जो प्रायः मानव-देहों के परस्पर गुंफित आकारों की शक्ल अख्तियार कर लेते हैं—स्पष्टतः उनकी उत्कट ऐंद्रिय चेतना का आभास तेदे हैं; उनके रंग गाढ़ी लालसा की चमक से चमकते और उसकी तरलता से फीके पड़ने लगते हैं। किन्तु यह ऐंद्रिय चेतना प्रबल होते हुए भी बहुत मुखर नहीं है। शायद सोनी के अन्तश्चेतन में अब भी एक भावुक सम्भ्रम बना हुआ है जिसे वे यथार्थ के सीधे साक्षात्कार के नाम पर तोड़ देना पसन्द नहीं करते। शायद यही कारण है कि सोनी के चित्रों की आकृतियाँ उद्दाम इच्छा से तनी मानव-देहाकृतियों के साथ-साथ कभी पक्षी के डैने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो कभी मछली और चाँद के सरल और मासूम आकारों जैसी भी लगने लगती हैं। आशय का यह दुहरापन सोनी की रचना-प्रेरणा के मूल में है। वे जीवन की दुर्दमनीय वासना को भोग की रंगीन लिप्सा से नहीं वरन् सौंदर्य-सृष्टि की अनिवार्य विह्वलता से भोगते हैं। इसीसे उनकी ऐन्द्रिकता गद्यात्मक न होकर पद्यात्मक है। उसमें एक गीत्यात्मक लय है जो उनके रंग और रेखा दोनों के ही इस्तेमाल में ज़ाहिर होती है।

जिस आन्तरिक तन्मयता और आग्रहशीलता से सोनी अपनी ऐन्द्रिकता को रूपायित करते हैं उससे यही लगता है कि उनकी ऐंद्रिकता अपने-आप में साध्य न होकर साधन है—एक अनवरत तलाश का माध्यम। उनका 'लाल कैन्वस' ऐन्द्रिकता की परिधि का अतिक्रमण कर सौंदर्य-रचना के एक ऐसे क्षेत्र में प्रवेश कर लेता है जहाँ कुछ और छू लेने, पा लेने की तड़प व्यक्त होती है। किन्तु सोनी की ऐन्द्रिकता का आधार बौद्धिक नहीं है, वह भावनात्मक ही है, पर इस भावनात्मकता में गर्मी और वेग होते हुए भी अनुभूति के रचना-विधान को तोड़-फोड़ देने वाला अंध आवेग नहीं है। बल्कि इसके विपरीत सोनी की ऐन्द्रिकता में एक ऐसी गूढ़ रहस्यमयता है जो कभी-कभी उनके चित्रों में एक अव्याख्यायित सौंदर्य का प्रभाव छोड़ जाती है। सोनी अपनी अनुभूतियों की इस रहस्यमयता को महसूस करते हैं, उसे विश्लेषित नहीं करते। इसी से उनके कुछ चित्रों में दीख पड़ने वाले चिड़िया, मछली तथा मानव-अंगों के आकार प्रतीक नहीं हैं—वे सोनी के अन्तर्जगत् को रूप देने वाले, या शायद यह कहना अधिक सही होगा कि उनके अन्तर्जगत् की ओर इंगित करने वाले आकार हैं, किसी सजग बौद्धिक आरोपण के परिणाम नहीं। लगता है सोनी की मुख्य समस्या मानव-इंस्टिक्ट को पारदर्शी कला-रूपों में साक्षात्कृत करने—और इस तरह अपने को उपलब्ध करने—की है, उसे एक सजग बौद्धिक रचनात्मकता से संपृक्त कर किसी व्यापक अमूर्त अर्थ-संसार से जोड़ने की नहीं।

किन्तु सोनी की सौन्दर्य-चेतना एक 'इस्थीट' की सौंदर्य-चेतना नहीं है, न ही उनके चित्रों की 'वर्कशाप' किसी हाथी-दाँत की मीनार के भीतर है। उनके तनाव आज की समसामयिक चेतना से ही उपजे हैं, पर उनकी चिन्ता का रूप भौतिक की बनिस्बत नैतिक अधिक है—और यह चिन्ता है 'आज की चीख-पुकार में / एक बहुत कोमल तान / खो गयी है / उसे पाना...'[1] सोनी के संघर्ष का मूल और उनकी विशिष्टता भी यही है कि वे पहले तो जीवन के भौतिक और स्थूल के बजाय सूक्ष्म और नैतिक पक्ष को चुनते हैं, फिर इस सूक्ष्म और नैतिक को अमूर्त के बजाय मूर्त रूपाकारों में पाना चाहते हैं। सोनी की रचनात्मक ऊर्जा उनके कला-व्यक्तित्व के इस संघर्ष से ही उत्पन्न होती है। उनके चित्रों में पाई जाने वाली गतिशीलता का यही राज़ है जो अक्सर उनके चित्रों को एक पारदर्शिता प्रदान करती है : कैन्वस पर रंग की सतहें गहरी हो उठती हैं और गहराई सतह पर चमकने लगती है। इस गतिशीलता के रहते ही सोनी मूर्त की पकड़ में भी नहीं हैं और अमूर्त की भी नहीं। उनका कथ्य न ठोस और शरीरी है, न सूक्ष्म और वायवीय तरंगाकुल। उनमें स्थिरता और प्रवाह एक साथ है। इस मूल द्वन्द्व की चेतना जहाँ उनके चित्रों में तेज़ी से उभरती है वहाँ वे अत्यन्त सजीव लगते हैं; जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ द्वन्द्व से थकित चेतना का अवसाद एक भावुकता में बदल जाता है और सोनी अनायास 'लिरिकल' हो उठते हैं। सोनी का यह द्वन्द्व अभी उतार पर नहीं है, और शायद इसी कारण उनके साथ इस बात का खतरा फ़िलहाल नहीं है कि वे अपने-आपको दुहराने लगेंगे।

'दिनमान' में विजय सोनी की इस चित्र-प्रदर्शनी की समीक्षा करते हुए कहा गया था कि सोनी की इसी साल आयोजित उनकी पहले की दो चित्र-प्रदर्शनियों से परिचित प्रेक्षक को इस तीसरी प्रदर्शनी में कुछ नया अथवा विशिष्ट नहीं मिलेगा। मेरे विचार से यह धारणा जल्दबाज़ी का परिणाम है। विजय ने अपनी चित्र-रचना की शुरुआत पोलैण्ड में की थी और भारत में उनकी पहली प्रदर्शनी (जनवरी, १९६९) में उनके पोलैंड-काल के ही चित्र थे। वस्तुतः अपनी चित्र-रचना के इस दौर में सोनी के प्रयोग मुख्य रूप से रंग-प्रयोग हैं। उनमें नये-नये रंग-प्रभावों को आज़माने, उनकी प्रभावशीलता खोजने और उनके माध्यम से एक अनोखे दृश्य-संसार की रचना करने का प्रयास है। इसी से ये चित्र रंगों का उत्सव-सा मनाते लगते हैं। उनकी दूसरी प्रदर्शनी (मार्च, १९६९) के अधिकांश चित्रों की रचना हिन्दुस्तान में ही हुई, और इन चित्रों में आकार के प्रयोग हैं जो सोनी की

१. सोनी की चित्रप्रदर्शनी पर शमशेरबहादुर सिंह की एक अप्रकाशित कविता से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूतियों में नये रचनात्मक मोड़ की सूचना देते हैं। इनमें प्रयुक्त रंगों में पहले जैसी विविधता या चमक नहीं पाई जाती, बल्कि उनमें एक प्रकार का सादापन है। इन चित्रों में सोनी की चेतना माध्यम से अधिक आशय की अर्थवत्ता की तलाश करती है—अवश्य ही यह तलाश स्थूल आकारों के ज़रिये न होकर दिक् और रंग के संयोग से उत्पन्न अरूप आकारों के ज़रिये होती है—

रंगों का दुरूह जहान
दिशाओं को जाल में घेरकर (क्यों नहीं)
—अपनी अमूर्त ज्यामिति में—
साँसों को ठोस और मूर्तमान भी
कर ले जाएगा।

—सोनी की दूसरी प्रदर्शनी के उद्घाटन-स्वरूप रची गयी (और 'दिनमान' में प्रकाशित) अपनी कविता की इन पंक्तियों में शमशेर बहादुर सिंह ने साँसों को ठोस और मूर्तमान कर ले जाने की जिस सम्भावना की ओर संकेत किया है उसका वास्तविक रूप सोनी की इस तीसरी प्रदर्शनी (दिसम्बर १९६९) में ही देखने को मिला। पहले की दोनों प्रदर्शनियाँ प्रेक्षक के लिए तृप्तिदायक होकर भी कुछ अधूरा प्रभाव छोड़ती थीं। इस तीसरी प्रदर्शनी में लगता है जैसे सोनी की रंग-चेतना और आकार-चेतना संघटित होकर निखरी है, जैसे दो स्तरों पर चलने वाली प्रक्रियाएँ आपस में संपृक्त होकर एक नये प्रभाव-क्षेत्र की ओर उन्मुख हुई हैं। सोनी का 'लाल कैन्वस' इन दोनों प्रक्रियाओं के संघटन से जन्मी एक सशक्त कृति है जो सोनी के अब तक के कला-व्यक्तित्व की उपलब्धि है। इस प्रदर्शनी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सोनी रंग और आकार सम्बन्धी अपनी एकायामी प्रयोगशीलता के दौर को पार कर एक बहुआयामी और पुष्ट सौंदर्य-रचना के क्षेत्र में प्रविष्ट हो चुके हैं और इस दिशा में उन्होंने कुछ उपलब्ध करना भी शुरू कर दिया है। उनके इन चित्रों में अधिक आत्मविश्वास और साहस है, उनकी रंग एवं आकार-चेतना गहन आशयों से उत्प्रेरित है और इन आशयों की अर्थवत्ता के प्रति कलाकार की निष्ठा है। आत्मविश्वास और निष्ठा की यह पहचान ही सोनी के इन चित्रों को उनके पूर्व-प्रदर्शित चित्रों से अलग कर देती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विजय सोनी की चित्र प्रदर्शनी पर

शमशेर बहादुर सिंह

जिस्म जहाँ घुलता है
रंगों की कोमलता में खो जाने
Passion दुख और दर्द का
और सुख का
सुख की झाँकियों का
जहाँ रोशनी और अँधेरे की
शतरंज बिछाता है :
जहाँ दूरियों में हम हैं
और नज़दीकियों में तुम
और दोनों जहाँ मिलते हैं वह एक
कैनवस है
जिसे हम छू नहीं सकते
क्योंकि उसे हम जी रहे हैं

यह एक माध्यम है
जिसे रंग मिल-मिल के पकड़ने के लिए
खोये जा रहे हैं
यहाँ जो कुछ ठोस है
वह धड़क रहा है
और जहाँ धड़कन है वहाँ
खामोशी है
दम साधे हुए।
आज की चीख-पुकार में
एक बहुत कोमल तान
खो गयी है
उसे पाना है

विजय सोनी
तुम डेन्मार्क जाओ
स्वेडन पोलैंड में
कोई नया रूप
जन्म ले रहा है
अनपहचाने शायद
उसकी परछाईं मैं यहाँ
पकड़ रहा हूँ
शिल्प-चक्र में।

शायद मुक्तिबोध[1] आज
यहीं खड़ा है।
वह ऊँचा व्यक्ति
जो हम सबसे पीछे है, और
हम सबको ऊपर से
देख रहा है।

हम पीछे मुड़कर न देखें।
सामने ही देखें।

शायद उसकी नज़र
आईना बने।
हम सबकी नज़र
उसका आईना बने।

और हम उसको देख
जो हमारा
आने वाला व्यक्ति है। □

१. इस प्रदर्शनी के कई चित्र मुक्तिबोध की कहानी 'क्लाड ईथरली' का अन्तर्दर्शन हैं। —श०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

अप्रासंगिकता के कगार पर

विष्णु खरे

सुविधा के लिए यह कहना नजरअन्दाज़ कर दिया जाय कि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना 'तार-सप्तक' के कवियों के बाद की उस सीढ़ी में गिने जाते हैं जिसमें श्रीकान्त वर्मा, रघुवीर सहाय, कुँवरनारायण, धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, लक्ष्मीकांत वर्मा, केदारनाथ सिंह आदि शामिल हैं। नामों की इस तालिका से ही स्पष्ट हो जाएगा कि यह पीढ़ी-विभाजन सिर्फ समयगत है—यह नहीं कहा जा सकता कि ये तमाम लोग एक ही तरह की कविताएँ लिख रहे थे या लिख रहे हैं। इन नामों में से भारती और कुँवरनारायण ने शायद अपनी सीमाएँ पहचानकर कविताएँ लिखना (या कम-से-कम उन्हें प्रकाशित करवाना) करीब-करीब छोड़ रखा है—साही की भी कोई रचना एक अरसे से दीख नहीं पड़ी। लक्ष्मीकांत वर्मा का इस पीढ़ी में न्यूनाधिक वही स्थान है जो गिरिजाकुमार माथुर का है। केदारनाथ सिंह इस पीढ़ी के शमशेर हैं—सभी इस बात पर सहमत हैं कि "वे अच्छे कवि हैं लेकिन···" इस प्रकार इनमें से ले-देकर वही तीन पात बच रहते हैं जो लगातार लिख रहे हैं—श्रीकान्त वर्मा, रघुवीरसहाय और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना।

किन्तु पिछले सात वर्षों में तीन संग्रह प्रकाशित करवाने के बाद भी क्या वजह है कि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की आज वह तस्वीर नहीं उभरती जैसी—मैं तुलना नहीं कर रहा हूँ—श्रीकान्त वर्मा या धूमिल की है? मेरा यह अर्थ नहीं है कि मैं उनसे उनके किसी समसामयिक अथवा उनसे कनिष्ठ कवि की तरह की रचनाएँ चाहता हूँ। प्रत्येक पाठक यह चाहता है कि किसी भी कवि की रचनाएँ पढ़ने के बाद वह न केवल यह कह सके कि वे अच्छी कविताएँ हैं बल्कि यह भी कि वे दूसरे कवियों की रचनाओं से अलग अच्छी कविताएँ हैं। काव्य स्फीति के इस युग में सिर्फ 'अच्छी' कविताएँ लिखना ही काफी नहीं रह गया है—जिसके पास कुछ अपना कहने को नहीं रह गया है उसे अब कविता लिखने की ज़हमत नहीं उठाना चाहिए—'कॉमनप्लेस' तो सभी बढ़िया लिख रहे हैं।

सर्वेश्वर कवि-रूप में चर्चित न हुए हों ऐसी बात नहीं। जिस ज़माने में उनके प्रारम्भिक संग्रह प्रकाशित हुए थे ('काठ की घंटियाँ' की कविताएँ और 'बाँस का पुल'), उस समय उनकी कविता की सादगी ने ध्यान अवश्य आकृष्ट किया होगा और जीवन के छोटे-बड़े रागात्मक सम्बन्धों को अभिव्यक्ति देने की उनकी चेष्टा का स्वागत भी हुआ होगा। छायावाद और प्रगतिवाद की मारी हिन्दी कविता को प्रयोगवाद की अतियों से दूर रखने के प्रयास में नयी कविता वायवीय रूमानियत, विजयवादी मनोरथ तथा सनक से कतराती थी और रोज़मर्रा के जीवन और हल्के-फुल्के दर्शन में कुछ काव्यात्मकता खोजती थी। रूमानियत से पूरी मुक्ति तो कविता में सम्भव नहीं है किन्तु नयी कविता आज जितनी रूमानी दिखती है शायद दस बरस पहले उतनी न रही होगी। उस समय की कविता के लिए सर्वेश्वर में एक खास तरह की कुशलता तो थी ही, वात्स्यायन सरीखी प्रतिभा की देख-रेख में वह विकसित भी हुई। उन्होंने अपने प्रिय कवियों में सर्वेश्वर को स्वीकार किया और सर्वेश्वर को 'हिन्दी कविता के आगामी दस वर्षों के महत्वपूर्ण दो स्वरों' में (दूसरे रघुवीर सहाय थे) रखा। इस कथन में कोई व्यंग्यार्थ न देखा जाय—प्रत्येक बड़े कवि को अपने प्रिय कवि के विषय में कोई भी भविष्यवाणी करने तथा उसे प्रोत्साहन देने का अधिकार है। ज़रा सोचिए यदि एज़्रा पाउण्ड एलियट को प्रोत्साहित न करता तो विश्व-कविता की क्या दशा होती।

प्रारम्भिक ख्याति तथा वात्स्यायन सरीखे हितैषी के

१. गर्म हवाएँ : सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, मूल्य पाँच रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बावजूद भी यदि सर्वेश्वर की कविता हिन्दी काव्य की प्रमुख तथा प्रभविष्णु धारा में एक बलिष्ठ लहर नहीं बन पायी तो इसका कारण निस्संदेह उनकी कविता में ही प्राप्त होगा। स्वयं कवि भी कहीं-न-कहीं इस बात को पहचानता है कि उसमें कुछ कमी है और यह हीन भाव उससे सात वर्ष पहले ही कहलवा चुका है "मैं अनगढ़ कवि/धूल में उदास बैठा/सबकी शिल्प-चातुरी देखता हूँ" (**दस्तकारी की दूकान**) "किससे कहूँ—मेरा मस्तिष्क,/मेरा हृदय,/मेरा व्यक्तित्व,/अब दूसरे गढ़ते हैं—/अर्पित कर दिया है मैंने स्वयं को/अब दूसरों की गति को/यदि नहीं बहता मैं,/तट पर पड़ा हूँ मौन,/दोष इसमें किसका है ?" (**दर्द यह किससे कहूँ**) "मैं चलता हूँ/लेकिन रास्ते पर मेरे चरण-चिह्न नहीं छूटते,/मैं कोई लीक कोई परम्परा नहीं छोड़ता,/एक सूखा हुआ पत्ता हूँ···कभी-कभी लगता है/मेरा अस्तित्व ही मेरे लिए चुनौती है,/मैं प्रश्न-चिह्नों की बैसाखी लगाकर चल/रहा हूँ" (**कभी-कभी ऐसा लगता है**) "उपलब्धि के नाम पर/मेरे पास एक झोला है/जो खण्डित मूर्तियों से भरा है/···गहन व्यथा के क्षणों में/मैं अक्सर इन मूर्तियों से टकराता हूँ,/और स्वयं टूटता हूँ/विलग हो जाता हूँ; /किसी जीर्ण शिवाले की तरह ढहता हूँ,/और अपने अस्तित्व की एक-एक ईंट गिरती देखता हूँ; /लोग आते हैं/अपने-अपने प्रयोजन से मुझे उठाते हैं/और मेरे इतिहास को कुचलते चले जाते हैं।" इन पंक्तियों के पीछे किसी असफलता के एहसास से अपनी जो रूमानी आत्मदया छिपी हुई है वह असंदिग्ध है। 'एक सूनी नाव' की दो रचनाओं में यह भी द्रष्टव्य है। "एक अदृश्य इमारत/मेरे ऊपर गिर पड़ी है/जो 'नहीं है' उसके बोझ से/मैं दब गया हूँ/एक अदृश्य नदी /मुझ पर फैल गयी है/जो 'नहीं होगा' उसकी धार में/मैं बह रहा हूँ/एक अदृश्य सड़क/मेरे नीचे से निकल गयी है/जो 'नहीं था' उसकी चपेट से/मैं कुचल गया हूँ" (**दुर्घटना**) एक अतीत शोधता हूँ मैं/वर्तमान को प्राणदान के लिए / लेकिन एक अनिश्चय ही बढ़ा हुआ पाता हूँ/····"अपने को दोहराते-दोहराते/अब मैं थक गया हूँ,/ताश के पत्तों की तरह/कब तक फेंटता रहूँ विश्वास,/और मक्खियों की तरह/उड़ाता रहूँ स्मृतियाँ,/या भिखारियों की तरह/गिनता रहूँ चन्द सिक्के,/गोया अधिक गिनने से/उनकी संख्या बढ़ जाएगी !"

सर्वेश्वर के प्रत्येक काव्य-संग्रह में एक कविता तो स्वयं पर होती ही है और वह उन्हें समझने में सहायक सिद्ध होती है। ऊपर दिए गए उद्धरणों के प्रकाश में उनके चर्चित संग्रह की अन्तिम कविता **'बसन्त के नाम एक खुला पत्र'** की यह पंक्तियाँ भी पठनीय हैं। "हर छापे में जुआड़ियों के खिसक जाने पर/गिरफ्तार होता/और बाद में दोस्तों से/चतुर न होने पर गालियाँ खाता"..."काम के नाम पर/उसने केवल तुम्हारे रंगे हुए/कपड़े सुखाये हैं"···"वह जिनके पीछे तबाह होता है/वही उसकी असफलता को/नगाड़े की तरह बजाते हैं; /आज एक भी दोस्त उसका नहीं है/वह कोयलों की आवाज़ की नकल करता/वीरानों में घूमता रहता है/हर एक की गालियाँ और पत्थर सहता है।" रूमानियत के सबसे गहरे प्रमाण हैं व्यक्ति का अपने भोलेपन में न केवल विश्वास बल्कि उसे ही अपनी तमाम असफलताओं का कारण होने में अदम्य आस्था, अपनी 'भलाई' के प्रति आत्मरति, दुनिया की मक्कारी के आगे शहीद होने की मुद्रा और आत्मपीड़न। यह सब सर्वेश्वर की इस कविता में विद्यमान हैं और हालाँकि इस कविता में सर्वेश्वर का इरादा अपने इस रूप की हत्या कर देने का है किन्तु यह फिर एक रूमानी मुद्रा है।

यह रूमानियत एक दूसरे रूप में, जो सन्तोचित शौर्य-प्रदर्शन का है, इस संग्रह की प्रार्थना-कविताओं में उभरा है "नहीं नहीं प्रभु तुमसे/शक्ति नहीं मागूँगा", "यात्रा के साथी हों हर पल असफलताएँ/मुझ पर गिरती जाएँ मेरी ही सीमाएँ/सुखद दृश्य तेरे हों/भरे नयन मेरे हों", "अपनी दुर्बलता का/मुझको अभिमान रहे", तथा "वज्र गिराओ जब-जब तुम/मैं खड़ा रहूँ यदि सीना ताने,/नर्क-अग्नि में मुझे डाल दो/फिर भी जिऊँ स्वर्ग-सुख माने,/मेरे शौर्य और साहस को/करुणामय हों तो सराहिए।" बहुत संभव है कि इन पंक्तियों की प्रेरणा किसी दुःख में हो और वह दुःख वास्तव में बड़ा भी हो, किन्तु पारम्परीण शक्ति-प्रदर्शन की अपरिपक्व इच्छा ने दुःख की तिलमिलाहट को व्यक्त होने के पहले ही नष्ट कर दिया है और इसीलिए ये चारों कविताएँ न केवल उदासीन छोड़ती हैं बल्कि छद्म होने की प्रतीति भी देती हैं।

प्रत्येक रूमानी कवि की त्रासदी यह होती है कि वह सोचता है कि देने के लिए उसका कच्चा माल ही पर्याप्त है, क्योंकि वह 'भावनाओं की शक्ति' आदि सरीखी चीज़ों में विश्वास रखता है। यह 'नाइव' आस्था उससे जिस तरह की कविताएँ लिखवाती है उसका उदाहरण है इस संग्रह की **'पत्नी**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की मृत्यु पर'। मृत्यु की भयावहता और उसके बाद का रीतापन असंदिग्ध है और एक संवेदनशील व्यक्ति पर नज़दीक से देखी गयी प्रत्येक मृत्यु एक शब्दातीत असर छोड़ती है। इस कविता के पीछे कवि की जो पीड़ा है उसकी असलियत तथा गहराई में मुझे ज़रा भी अविश्वास नहीं है। किन्तु कविता के साथ मुश्किल यह है कि केवल अनुभव की ईमानदारी ही इसमें सब-कुछ नहीं होती। कच्चे संवेग पर, वह कितनी ही प्रामाणिक तथा निकट क्यों न हो, कवि को एक निर्मम संयम देना होता है जिससे वह हिस्टीरिया या हड़बड़ी न होकर कलाकृति का रूप ले सके। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की इस कविता की पहली दो पंक्तियाँ इस उद्देश्य का सही निर्वाह नहीं करतीं—"बायें हाथ में ले / अपना कटा हुआ दाहिना हाथ" क्योंकि इनमें स्थिति के दुःख का नाटकीकरण ज्यादा है—कला के स्तर पर स्वीकार्य अभिव्यक्ति कम। रूमानी कवि की एक प्रिय युक्ति एक ही चीज़ को दुहराने की भी होती है इसलिए जब सर्वेश्वर तीसरे चरण में कहते हैं "एक हार की तरह/ मैं रेगिस्तान में खड़ा हूँ···गर्म हवायें सनसनाती हुई / मुझमें से गुज़र जाती हैं" तब तक तो ठीक रहता है, किन्तु जब अगले चरण में ही वह "चारों ओर हरहराती है बाढ़ / कमर तक पानी में / पीठ पर संदूक लादे खड़ा···मैं आदमी से नाव बनता जा रहा हूँ" कहते हैं तो इन दोनों के बीच कविता के विकास का तर्क बिठाना मुश्किल हो जाता है। कुछ और आगे जाकर "बायें हाथ में ले / अपना कटा हुआ दाहिना हाथ / फेंकता हूँ पत्थर इस सड़े-गले समाज पर" का न तो कोई स्थितिगत 'न्याय' है और न काव्यगत। अव्वल तो 'सड़ा-गला समाज' यह मुहावरा ही हिन्दी फ़िल्मों और आवारा, कुशवाहा सरीखे उपन्यासकारों ने एक सड़ा-गला 'क्लिशे' बना दिया है और एक जागरूक कवि से ऐसे शब्द-समूहों से बचने की उम्मीद की जाती थी, फिर कवि जिस दुःख में डूबा हुआ है उसमें 'समाज' का कहाँ तक हाथ रहा है इसका कोई अन्तःसाक्ष्य कविता में नहीं है। कविता की अन्तिम पाँच पंक्तियाँ 'एब्सर्ड' हैं—"बायें हाथ में ले / अपना कटा हुआ दाहिना हाथ/उठाता हूँ मैं इस शिलालेख में / जिस पर शाम बिना पैर धोये / आकर बैठ गई है।" स्मरण रहे कि इसकी पूर्वगामी पंक्ति में कवि स्वयं को 'शिलालेख' कह चुका है और बिना पैर धोये आई शाम भी उसी का प्रतीक है। गद्यार्थ होगा "बायें हाथ में ले अपना कटा हुआ दाहिना हाथ उठाता हूँ मैं अपने को जिस पर मैं स्वयं बैठा हुआ हूँ।" यह तो, ख़ैर, अभी जानना बाकी है कि एक हाथ में अपना कटा हुआ दूसरा हाथ पकड़े हुए कोई चीज़ (शिलालेख सरीखी वज़नी वस्तु की बात तो दूर रही) कैसे उठायी जा सकती है।

हिन्दी का कवि चूँकि पाठक को सब-कुछ समझाने में विश्वास रखता है इसलिए अक्सर वह अपनी कविताओं में दो हिस्से रखता है—एक खुद के लिए और दूसरा भाष्य के लिए। **'सूखा'** की पहली उन्नीस पंक्तियाँ कमोवेश संतोषप्रद हैं, किन्तु उसके आगे 'सूखे' को कहीं 'सूखा' ही न समझ लिया जाय, इस पाठकवत्सल भय से सर्वेश्वर सारी स्थिति स्पष्ट करते हैं और कविता नष्ट। दरअसल सर्वेश्वर सादा कविताओं के सादा अर्थों के कवि हैं और उनके पास एक निश्चित दूरी तक जाने वाली दृष्टि है। वे स्थितियों और चीज़ों के द्वि-आयामीय अंकन के कवि हैं और जहाँ उनके संवेग पेचीदा हैं, जैसे कि 'एक आत्मीय की प्रतीक्षा' में, वे उन्हें कविता में समेटने में असफल होते हैं और एक फ़ैन्टेसी का रूप देकर, जिस पर मुक्तिबोध का प्रभाव स्पष्ट है (हालाँकि विषय में वह मुक्तिबोध से उतनी ही दूर है जितने स्वयं सर्वेश्वर), उसे गतिविधियों के ब्योरे से भर देते हैं जो "अचानक दरवाज़ा बन्द हो गया/और मैं उस हाथ को लिए/कमरे में गिर पड़ा / मेरे जोड़ फिर उखड़ गए" की हास्यास्पद अतिनाटकीय गद्यात्मकता को प्राप्त होते हैं।

रूमानी कवि होना पाप नहीं है, खराब रूमानी कवि या खराब कवि होना भी पाप नहीं है, सिर्फ विवशता है। किन्तु फिर भी रूमानी कवियों पर वर्तमान राजनीतिक-सामाजिक दबावों ने असर तो डाला ही है और यह असर शायद सर्वेश्वर बहुत ज्यादा महसूस करते हैं क्योंकि संग्रह के आरम्भ में ही उनकी घोषणा है—"अब मैं कवि नहीं रहा/एक काला झंडा हूँ।" इसलिए यह अप्रत्याशित नहीं था कि उनके इस संग्रह में ऐसी कविताएँ हों जिन्हें आज की स्थितियों से कुछ लेना-देना हो। संग्रह की तीन ऐसी कविताएँ 'मरे दोस्तो!', 'मेरे दोस्त!' तथा 'मेरे देशवासियो!' को सम्बोधित हैं। 'धीरे-धीरे' का प्रारम्भ व्यक्तिगत 'नोट' पर होता है किन्तु अचानक 'देश' का ज़िक्र आता है। अभी पाठक संभल ही रहा था कि पुनः व्यक्तिगत पंक्तियाँ उसे गड़बड़ा देती हैं "धीरे धीरे/ अब मैं ईश्वर भी नहीं पाना चाहता,/धीरे-धीरे/अब मैं स्वर्ग भी नहीं जाना चाहता,/धीरे-धीरे/अब मुझे कुछ भी नहीं है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार/चाहे वह घृणा हो चाहे प्यार।" दो समानान्तर धाराएँ दीखती हैं किन्तु उनका मेल कहीं भी नहीं होता। कविता की अन्तिम नौ पंक्तियाँ बाकी पंक्तियों में भाषा तथा शिल्प में इतनी भिन्न हैं कि बाद में चिपकाई गई लगती हैं। 'यह खिड़की' में भी यह द्वित्व उपस्थित है—"हवा को यदि आना हो तो आए/दरवाज़ा भड़भड़ाए, तोड़ जाए, / अन्यथा सींकचों पर सिर टिका/रोकर चली जाए/किसी असमर्थ की प्रतीक्षा से/बन्द कमरे की घुटन बेहतर है/जिसने खुद अपनी ज़बान काट ली हो/उससे नहीं बोलूँगा" के साथ "यह बन्द कमरा/सलामी मंच है/जहाँ मैं खड़ा हूँ—/पचास करोड़ आदमी खाली पेट बजाते/ठठरियाँ खड़खड़ाते/हर क्षण मेरे सामने से गुज़र जाते हैं" सरीखी पंक्तियाँ हैं। "नक्शे पर देश के/और आँखों में प्यार के/सीमान्त धुँधले पड़ते जा रहे हैं" तथा "असमर्थ देश/असमर्थ प्यार/दोनों को ही मेरा नमस्कार" से कवि के इरादे कुछ स्पष्ट होते हैं किन्तु महज़ इरादे कविता नहीं होते।

दो नेताओं पर लिखी गई कविताएँ इस बात की अच्छी मिसाल हैं कि नेताओं पर खराब कविताएँ कैसे लिखी जा सकती हैं। 'लोहिया के न रहने पर' शीर्षक स्वयं में स्पष्ट है। किसी भी कवि का किसी भी 'नेता' पर कविता लिखना कविता का और खुद का अवमूल्यन करना है। लिकन सरीखों की बात यदि छोड़ दें तो बड़े-से-बड़े राजनीतिज्ञ और नेता अपने कमज़ोर क्षणों में बहुत मामूली सिद्ध हुए हैं। फिर लोहिया भारत के प्रथम पंक्ति के नेताओं में तो निस्संदेह नहीं गिने जा सकते—भले ही हिन्दी साहित्यकारों को बर्दाश्त करने का दुर्लभ सद्गुण उनमें रहा हो। एक दायरे में उनकी उपलब्धियाँ बड़ी हैं किन्तु राजनीतिक मतभेद को व्यक्तिगत विवादों पर उतारने तथा वर्तमान संसदीय अनुशासनहीनता के बीज उन्हीं के बोए हुए हैं। इस बात में जाना बेकार है कि यदि वे जीवित होते तो क्या होते, किन्तु पिछले वर्ष 'हिन्दुस्तान टाइम्स' ने उनकी बरसी पर उन्हें 'द फ़िगर दैट द कॉफ़ी-हाउस गोअर्स मिस' कहकर स्मरण किया था। यहाँ स्पष्ट करना उचित होगा कि वैसे तो इस तरह की राजनीतिक चर्चा का समीक्षा में कोई स्थान नहीं होना चाहिए, किन्तु चूँकि जिस कविता की बात हो रही है वह एक नेता को लेकर लिखी गई है तो शायद यह उपचर्चा पूर्णरूपेण अप्रासंगिक नहीं है। व्यक्तियों पर लिखी जानेवाली प्रशंसात्मक या कहें 'भावुक' कविताओं के पीछे नियम यह है कि हो सकता है किसी महान् व्यक्ति पर कोई घटिया कविता लिखी जाए, किन्तु किसी द्वितीय दर्जे के महान् व्यक्ति पर प्रथम श्रेणी की कविता लिख पाना असंभव है। नेहरू पर कविता हो भी सकती है—मोरारजी या कामराज पर कविता की कल्पना दारुण है। इसलिए जब सर्वेश्वर "मैं साधारण···/(इसी शब्द से तो था/तुम्हें इतना प्यार)/कहता हूँ: ओ मेरे देशवासियो/एक चिनगारी और" तो यह स्पष्ट है कि ये पंक्तियाँ उनके हृदय में अंकित लोहिया के एक रूमानी तथा अतिरंजित चित्र से प्रेरित हैं और क्रान्ति के इस क्विग्ज़ोटनुमा आवाहन का सही पूर्वाभास हैं "एक चिनगारी और—/जो खाक कर दे/दुर्नीत को, ढोंगी व्यवस्था को, कायर गति को/मूढ़ मति को,/जो मिटा दे दैन्य, शोक, व्याधि,/ओ मेरे देशवासियो/यही है उसकी समाधि" और "सुख-संपत्ति घर आवे, कष्ट मिटे तन का" से कुछ ही दूर हैं।

ऊपर कहा गया है कि महान् व्यक्ति पर घटिया कविता लिख पाना संभव है और वह 'पंचधातु' में स्पष्ट है, जो गांधी जी पर आधारित है। गांधीजी तथा वर्तमान 'नेताओं' के बीच इतनी बड़ी खाई है कि उस पर सिर्फ़ व्यंग्य लिखना ही संभव रह गया है क्योंकि वही आसान है। व्यंग्य एक सशक्त साहित्यिक विधा है किन्तु सर्वेश्वर के व्यंग्य का स्तर गांधीजी की लँगोटी के बिल्ले बनवाने और चप्पलों से गरीबों की चाँद गंजी करवाने का है। मुझे पूरा विश्वास है कि गांधी शताब्दी वर्ष होने के नाते पिछले वर्ष दिनकर सोनवलकर ने गांधीजी का सहारा लेकर अवश्य एकाध व्यंग्य लिखा होगा और वह कविता निस्संदेह सर्वेश्वर की इस कविता से बेहतर होगी। 'बुद्धिजीवी' तथा 'दूसरों के कपड़े पहनकर' 'पंचधातु' के समान ही व्यंग्य हैं और अपनी 'नाइविटी' में समान रूप से बचकानी हैं। इनमें जो व्यंग्य हरकतें हैं वे उसी निम्न-स्तर की हैं जिसकी प्रतिच्छवि बम्बइया फ़िल्मों के विदूषकों में तथा 'हवा महल' की 'बेग़म, सुनती हो' छाप हास्य-नाटिकाओं में उपलब्ध है—"ग़ौर से देखा मैंने, चश्मा नाक पर उन्होंने चिपका रखा था टेप से, / कानों के पीछे छः-छः इंच बढ़ी कमानियों पर / टँगा हुआ था चेस्टर, / जिसे दोनों हाथों में फाँस / बाँध रखा था उन्होंने कमर पर / नीचे टाँगें शायद नंगी थीं—बेपर्दा / जूतों पर बँधा हुआ था पान और ज़र्दा।"

चूँकि आज के कविता-संग्रहों की एक रूढ़ि "यातनाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सलीब और सलीबों का घेराव", "उजासों का पाखी और बैंगनी उदासी की बाँसुरी" तथा "तोड़ते हुए आयाम तथा अकेलेपन के व्यायाम" सरीखे शीर्षकवाले उपखंड हैं, इसलिए सर्वेश्वर के इस संग्रह के तीन खंड आश्चर्यान्वित नहीं करते, आश्चर्यान्वित करती है तीसरे खंड की पहली कविता जिसकी प्रथम पंक्ति ही पाठक की धड़कनें तेज़ कर देती है—"फिर वसंत ने मुझे डसा···" पहले दो चरणों में पाँच पंक्तियों का एक निजी छंद इस्तेमाल किया गया है किन्तु तीसरा चरण, जिसे पहले दो की परम्परा निबाहनी चाहिए थी, अचानक नौ पंक्तियों का हो उठता है और पढ़ने में गड़बड़ है। यह तो खैर शिल्पगत बात हुई। कविता में वसंत के डसने, अजगर, उसकी लपेट, साँसों के घुटने तथा ज़हर से खासा सिलसिला स्थापित हो गया है। अचानक अठारहवीं पंक्ति में कवि वसंत की आशीष माँगने लगता है और उतने ही अचानक एक नरकोकिल कवि के सिर पर बैठ अट्टहास कर उठता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ अट्टहास या तो सिर्फ़ 'किया' जाता है या कोई 'अट्टहास कर उठता' है, 'अट्टहास कर हँसना' मेरे लिए नई बात है। चूंकि तुक मिलाना जीवन-मरण का प्रश्न है, इसलिए 'अट्टहास कर हँसा' ज़रूरी है। इसे यदि उपेक्षित कर भी दिया जाय तो यह जान पाना कठिन है कि यह तीन पंक्तियाँ कविता में किस तरह आवश्यक हैं, और फिर सिर पर बैठकर पक्षी ने जिस तरह अट्टहास किया है उससे चमगादड़ सरीखे किसी पक्षी का चित्र ज़्यादा उभरता है। 'अचानक' शब्द यहाँ यूँ ही नहीं है—इन पंक्तियों की हास्यास्पद विचित्रता को छिपाने के लिए उपयुक्त एक चतुर आवरण है।

सर्वेश्वर एक उपमा लेकर कविता प्रारंभ करते हैं किन्तु कुछ दूर निबाहकर अपनी उपमा का 'न्याय' भूल जाते हैं और इससे कविता में उलझाव पैदा होता है। स्त्री या स्त्री की आँखों को नदी कहकर उसके चेहरे पर अपने चुम्बन को जल-पाखी कहना दूर की कौड़ी न भी हो लेकिन इन दोनों के बीच "गालों पर दहकती / वह आग / कोपलों की अब कहाँ है ? पुराने पत्ते ओढ़कर धुआं सो गया है" लाकर वे एक उपमा को एक नितांत अलग रूपक से गड्ड-मड्ड करते हैं। 'प्रयोग-वाद + नयी कविता के एक निरीह रूपक को खींच-खींचकर मरणासन्न कर देने की हरकत 'शाम : एक किसान' में है जिसमें शाम का मानवीकरण किया गया है। अव्वल तो शीर्षक ही ग़लत है, जो इन प्रारंम्भिक पंक्तियों से स्पष्ट होगा—'आकाश का साफा बाँधकर / सूरज की चिलम खींचता / बैठा है पहाड़", जिसका साफ़ अर्थ है कि पहाड़ को किसान समझा गया है, शाम को नहीं। अब इस कविता का कुछ समीप से मुयायना किया जाय। पहाड़ को किसान माना जा सकता है, किन्तु समूचे आकाश को उसका साफा मानना मुश्किल है—बादल का टुकड़ा होता तो भी ग़नीमत थी। बहरहाल, यह किसान सूरज की चिलम खींच रहा है। पहाड़ के 'मुँह' से 'सूरज' तक चिलम के आकार की कौन-सी चीज़ है ? उसके 'हाथ' क्या हैं ? फिर, कश खींचने वाले जानते हैं कि ऐसा करते वक्त सिगरेट (या चिलम) का जलता हुआ हिस्सा लाल हो जाता है, साँस छोड़ते ही वह फिर धीमा पड़ जाता है। क्या शाम को सूरज इसी तरह बारी-बारी से जलता-बुझता हुआ डूबता है ? घुटनों के पास की नदी के लिए 'पड़ी हुई' इस्तेमाल करना अवास्तव है। फिर 'सुनते हो' की आवाज़ सुनते ही 'किसान' फौरन चिलम उलटा देता है, यानी सूरज एक छपाके या धमाके के साथ टूट गिरता है। अब यदि आप पूछें कि 'सुनते हो' में जो आदेश छिपा हुआ है उसका पालन 'किसान' ने 'उठकर' कैसे किया तो वह आपकी हठधर्मी नहीं तो और क्या है ? मानवीकरण का सबसे बड़ा खतरा यह है कि असमर्थ कवि उसके काम में आने वाले उभयनिष्ठ लक्षण तो तुरन्त इस्तेमाल करता है किन्तु जो 'टेढ़े' प्रश्न हैं उन्हें कालीन के नीचे कचरे की तरह छिपाने की कोशिश करता है। इस कविता की अंतिम दो पंक्तियाँ हमारे संभावित कुतूहल को बहलाने के लिए चिपकाई गई हैं। वहाँ उनकी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि पहले जब स्पष्ट हो चुका है कि सूरज चिलम है तो चिलम के औंधी होने का अर्थ उसका डूबना ही होगा। ये पंक्तियां कविता को एक छद्म 'अंत' देने का प्रयास मात्र हैं, क्योंकि रूपक को अपने तर्कसंगत परिणाम पर पहुँचाना अचानक कवि के बूते के बाहर हो गया।

हर युग में कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति होती है और अधिकांश कवियों की शक्ति उसे अभिव्यक्त करने में जुटी होती है। मैं यहाँ यह नहीं कह रहा हूँ कि उस प्रमुख स्वर के अलावा कोई और काव्य-प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। यह अस्तित्व हर जगह संभव है। संभव है कि यदि युग समाज तथा राजनीति से उपजने वाली कविता का हो तो कोई कवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्छा कवि—ऐसा भी हो सकता है जो उस धारा से हटकर, बल्कि बिलकुल विपरीत, लिख रहा हो। शायद वह उस युग में न खोज निकाला जाए, किन्तु यदि उसमें वास्तव में कुछ है तो उसकी बारी अवश्य आएगी। किन्तु जहाँ यह सच है कि अलग-अलग प्रेरणाओं और दबावों में लिख रहे प्रमुख कवि एक स्तर पर समान होते हैं वहाँ यह भी सच है कि द्वितीय तथा अन्य वर्गों के कवियों को एक खास स्तर पर पहुँचने के बाद अपनी सीमाएँ पहचान लेनी चाहिए और उनके अनुसार अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को भी पुनरीक्षित करना चाहिए। एक संदिग्ध प्रथम श्रेणी की तलाश भी बनाम एक ईमानदार द्वितीय या तृतीय दर्जे का कवि होना ज़्यादा सार्थक है। सर्वेश्वर उन कवियों में से हैं जिन्हें प्रथम पंक्ति के बाद की पंक्तियों में से एक से ही संतोष करना होगा। उनके पास न तो श्रीकान्त वर्मा का विश्वद्रोही चिड़चिड़ापन है और न रघुवीरसहाय सरीखा संतुष्ट शिल्पलाघव, केदारनाथसिंह की 'प्रगीतात्मकता' भी उनमें नहीं है। नये लोगों में धूमिल, कमलेश, ऋतुदान, अशोक वाजपेयी आदि उन्हें मीलों पीछे छोड़ गए हैं। सर्वेश्वर की कविता की त्रासदी यह है कि उनके पास संवेग तो हैं किन्तु सर्जनात्मक दृष्टि की वह प्रखरता नहीं है जो उन्हें एक महत्त्वपूर्ण कवि बना सके। नतीजा यह कि प्रभावोत्पादकता के चक्कर में वे सामान्य शब्दों और मुहावरों का आश्रय लेते हैं। सामान्य शब्दों और मुहावरों से कविता नहीं हो सकती यह नहीं कहा जा रहा है, किन्तु उन्हें आप किस तरतीब में देखते हैं यह न केवल आपकी कविता की पहचान कराता है बल्कि आपके तरीके को भी प्रभावित करता है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि यह कोई नहीं चाहेगा कि सर्वेश्वर, इसकी या उसकी राह चलें। मैं यही कह रहा हूँ कि उन्हें आवश्यकता एक सार्थक सर्वेश्वरदयाल सक्सेना बनने की है—अभी उनकी कविता से उनका कोई अर्थवान व्यक्तित्व नहीं उभरता। दस-पन्द्रह वर्षों से लगातार कविता लिखते रहने के बाद भी यदि यह स्थिति बनी रहती है तो समय आ गया है कि सर्वेश्वर अवास्तव तथा गढ़ी गई ख्याति के मोहजाल से छूटें और देखें कि किस तरह वे आश्चर्यजनक किन्तु दुःखद गति से, आज की कविता ही नहीं, कविता मात्र के लिए अप्रासंसिक होते जा रहे हैं और विस्मृति के उस क्रूर कगार पर खड़े हुए हैं जहाँ उन्हें केवल एक ही संतोष हो सकता है कि वे अकेले नहीं हैं। ●

अधुनातन का प्राध्यापकीकरण

विष्णु खरे

'अधुनातन' शब्द का अर्थ करना बहुत कठिन है, किन्तु यह 'समकालीन' से कहीं ज़्यादा सीमित अर्थवाला शब्द है। 'समकालीन' के विषय में तो कहा ही जा चुका है कि एक खास संदर्भ में होमर, शेक्सपियर और ह्विटमैन सरीखी प्रतिभाएँ 'समकालीन' हुआ करती हैं। किन्तु किसी भी काल के तीन या अधिक लेखकों को 'अधुनातन' तो नहीं कहा जा सकता। 'अधुनातन' से, मेरे कानों में जैसी ध्वनि पड़ती है, ज़्यादा-से-ज़्यादा पाँच-छः वर्षों में हुई चीज़ों की प्रतीति होती है। 'अधुना' का अर्थ 'आज' होता है और 'आज' का अर्थ मेरी समझ में बहुत सीमित है। इसलिए 'हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित तीन प्रसार-व्याख्यानों के इस संकलन के पहले व्याख्यान 'समकालीन जीवन-प्रक्रिया और अज्ञेय का कृतित्व' ने मुझे परेशान किया, क्योंकि यदि 'अधुनातन' की बात की जाने वाली है तो उससे बेचारे अज्ञेय का क्या लेना-देना हो सकता है—वे तो शायद अब समकालीन भी नहीं रहे। जो व्यक्ति हिन्दी साहित्य की 'अधुनातन' प्रवृत्तियों से किंचित् भी परिचित है उस पर यह स्पष्ट है कि आज के सन्दर्भ में वात्स्यायन एक धूमिल पूर्वज से ज़्यादा कुछ भी नहीं हैं। यह बात कि १९६९ में उनका कोई कविता-संग्रह 'प्रकाशित' हुआ जिसे एक समाचार साप्ताहिक ने तो वर्ष का सर्वश्रेष्ठ संग्रह तक घोषित किया—शायद पांडुलिपि या डमी पढ़कर—कोई अर्थ नहीं रखती, क्योंकि उनका निरन्तर लिखते रहना बच्चन, दिनकर, माथुर आदि के लिखते रहने की तरह एक बासी मज़ाक हो चुका है।

ज़ाहिर है कि तीन छोटे-छोटे व्याख्यानों में (जो मुद्रित पच्चीस पृष्ठ घेरते हैं) ज़्यादा विस्तार से बात कह पाना मुश्किल है—एक प्राध्यापक के लिए तो सज़ा के बराबर है। उस पर जब व्याख्याता ने अधुनातन की पिटारी में अज्ञेय से लेकर राजकमल चौधरी तक का कुनबा जोड़ना चाहा है तो कहना न होगा कि व्याख्यान कई सरलीकरणों, घिसे-पिटे सूत्रवाक्यों तथा अर्ध तथा तीन-चौथाई सत्यों से भरे पड़े होंगे। अव्वल तो साहित्य को क्या काम करना है यह उसे बाकायदा

१. हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ, रामस्वरूप चतुर्वेदी, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, २ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनयन-संस्कार शैली में बता दिया गया है "···सबसे बड़ी बात यह कि मनुष्य को मनुष्य के खतरे से बचाना है। इस सबका उपाय एक ही है—मनुष्य, प्रकृति और यन्त्र के बीच उचित अनुपात विकसित करना। मनुष्य का मनुष्य, प्रकृति और यन्त्र से सही अनुपात में सम्बन्ध हो, यही काम्य है। मनुष्य न तो यन्त्र से क्षरित हो और न मनुष्य से। नये समाज और संसार की यह केन्द्रीय समस्या है। इसे सुलझाने में साहित्य का गुणात्मक योग होना चाहिए।" बेचारा साहित्य—बेचारा हिन्दी साहित्य—यदि कहीं होगा भी तो गुरुजी द्वारा दिए गए इस गृह-कार्य को न कर पाने के सुनिश्चित भय से कांप रहा होगा।

अज्ञेय के 'अद्वितीय अनुभव' सिद्धान्त पर कुछ चर्चा के बाद यह सूचना दी गई है "अपने समूचे उत्तरकालीन कृतित्व में लेखक का यत्न यही रहा है कि भारतीय परिस्थितियों में अस्तित्ववाद से कोई बड़ी और अच्छी संगत दृष्टि विकसित की जाय।" यदि वास्तव में अज्ञेय का यह यत्न रहा है तो यही कहा जा सकता है कि "हिन्दू परिस्थितियों के अनुकूल समाजवाद", "मुस्लिम परिस्थितियों के अनुकूल विधि-संहिता", "कैथलिक परिस्थितियों के अनुकूल परिवार-नियोजन" आदि के युग में "भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल तथा अस्तित्ववाद से कुछ बढ़कर" वाला नारा भी संभव है। इस सन्दर्भ में चतुर्वेदीजी ने किसी भारतीय जीवन-प्रियता की चर्चा की है। 'प्राप्ते सन्निहिते मरणे', 'मायावाद' तथा भाग्य-वाद की आत्महंता परम्पराओं से हम अभी तक उबरे नहीं हैं—'इससे तो अच्छा था मैं मर जाता' जहां दिन में कई बार कहा जाता हो वहां भारतीय जीवन-प्रियता की बात क्रिमेटोरियम के बाहर संगीत-सम्मेलन के पोस्टर की तरह लगती है।

इसी व्याख्यान में 'निराला' और अज्ञेय को 'गहरे संवेदनात्मक स्तर' पर जोड़ने की शरारतभरी हरकत भी है। आगे भी मुक्तिबोध को भाषा-संस्कार के क्षेत्र में निराला से 'पिछड़ा हुआ' बताकर पुनः अज्ञेय को निराला के नज़दीक बताया गया है। रियायत के लिए कहा गया है कि 'नयी कविता की कई मूल प्रवृत्तियाँ निराला से ही शुरू होती हैं' किन्तु इसका ज़्यादा खुलासा नहीं किया गया है। कारण स्पष्ट ही है। और यदि कोई कुछ कहे तो 'अधुनातन' शब्द का सहारा यहीं तो लिया जाएगा।

वात्स्यायन के काव्य-सिद्धान्त 'मौन' को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न एक ऐसे उद्धरण से दिया गया है जिसका उससे दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं है। अव्वल तो वह सिद्धान्त ही हिन्दी में सापेक्षतावाद सरीखा स्थान रखता है, उस पर चतुर्वेदीजी सरीखे 'वेल-मीनिंग' भक्त का उत्साहातिरेक। भाषा का निखार तथा मौन का तनाव दोनों इन पंक्तियों में हैं ऐसा बताते हैं :

तू काव्य :
सदा-वेष्टित यथार्थ
चिर-तनित
भारहीन, गुरु
अव्यय।
तू छलता है
पर हर छल में
तू और विशद अभ्रांत
अनूठा होता जाता है।

जनवरी १९६९ में, जब रामस्वरूप चतुर्वेदी ने यह भाषण दिए, इस तरह की पंक्तियों को काव्य-भाषा सम्बन्धी किसी भी प्रशंसात्मक वक्तव्य को सत्यापित करने का कलेजा सिवा हिन्दी के एक पहुँचे हुए प्राध्यापक को छोड़ किसका हो सकता था !

अज्ञेय से नयी कविता के सम्बन्धों पर थोड़ी सफ़ेदी पोतते हुए ('चाहे सहयोग से प्रेरित हो चाहे तनाव से') इस भाषण के अन्त में चतुर्वेदीजी पुनः एक क्लिशे की ओर द्रुतगति से आकृष्ट होते हैं—'पर नयी कविता के बाद के अधिकतर लेखकों के सामान्य, औसत जीवन के औसत अनुभवों को सार्थक ढंग से पकड़ने का जोखम नहीं उठाया। कविता, उपन्यास और अधिकतर कहानियों में उनकी दृष्टि महा-नगरों में चलने वाले पश्चिमी ढंग के तीखे, पर कृत्रिम और आधारहीन जीवन पर अधिक रही है। उनके अधिकतर वर्णन 'कैफ़े' और 'कैबरे' की छोटी-सी दुनिया में सीमित हैं। वे भूल जाते हैं कि आधुनिकता मूलतः और अनिवार्यतः भाव-बोध और दृष्टि का स्तर है, स्थूल विषय या कथानक का नहीं।" मैं किसी का पैरोकार नहीं, किन्तु जब स्वयं चतुर्वेदीजी यह स्वीकार करते हैं कि स्थूल विषय या कथानक आधुनिकता नहीं है तब वे 'कैफ़े' और 'कैबरे' सरीखे स्थूल विषयों की बात क्यों कर रहे हैं ? सचाई यह है कि वास्तव में आधुनिक दृष्टि रखने वाला यदि 'कैफ़े' और 'कैबरे' सरीखी संकीर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा 'पश्चिमी ढंग की' चीज़ों पर भी लिखेगा तो वह कलात्मक तथा अर्थवान होगा—क्योंकि सवाल मूलतः व्यक्ति की क्षमता का है। जहाँ तक 'पश्चिमी ढंग के कृत्रिम और आधारहीन' जीवन का सवाल है, हो सकता है उसे अभी सही-सही न पकड़ पाया गया हो, उसमें हिन्दी की एक उपलब्धि के लिए पर्याप्त कच्चा माल मौजूद है। पतनशील, नकली और खोखले समाजों पर लिखे गए क्लैसिक उपन्यासों की सूची मैं यहाँ नहीं देना चाहता। पता नहीं 'भारतीयता' के क्या अर्थ चतुर्वेदीजी के पास हैं। किन्तु मुझे ऐसा शक है कि दर्शन के क्षेत्र में अज्ञेय की तरह साहित्य के क्षेत्र में वे 'भारतीय स्थितियों के अनुकूल किसी बढ़िया चीज़' की तलाश में हैं। उसके बाद 'भारतीय' 'मानदण्डों' पर छलाँग लगाना कोई खास बड़ी कसरत नहीं है।

दूसरे भाषण में रघुवीरसहाय में अज्ञेय और मुक्तिबोध की क्षमताओं का संयोजन बताया गया है जो बेचारे इन तीनों कवियों का हिन्दी में पहला इकट्ठा अपमान है। फिर चूँकि प्राध्यापकीय दृष्टि स्थानीय प्रतिभाओं का हमेशा से खयाल रखती चली आई है; लक्ष्मीकान्त वर्मा, विपिन अग्रवाल, बालकृष्ण राव तथा श्रीराम वर्मा सरीखे कवियों की पंक्तियों का खुलकर उपयोग किया गया है। बालकृष्ण राव की कविता हमेशा अप्रासंगिक तथा निम्नस्तरीय रही है और लक्ष्मीकान्त वर्मा की कविता अपने तमाम शाब्दिक ताम-झाम में गिरिजाकुमार माथुर की ज्यादा घटिया कविताओं के अत्यन्त करीब है। श्रीराम वर्मा और विपिन अग्रवाल की कविता को भी अभी किसी किस्म का सन्दर्भ बनाना मुश्किल है। इन कवियों के जितने उद्धरण लिए गए हैं, उससे कहीं अधिक सटीक तथा सक्षम पंक्तियाँ अन्य अनेक कवियों में आसानी से प्राप्य हैं। इन समस्त उद्धृत पंक्तियों में प्राध्यापकोचित सुविधा-दृष्टि मौजूद है और एक भी ऐसी नहीं है जो अधुनातन हिन्दी कविता के किसी भी महत्त्वपूर्ण पक्ष को उजागर कर सके।

ग़नीमत यही है कि कविता के लिए चतुर्वेदीजी ने सर्वाधिक स्थान सुरक्षित रखा, वरना उपन्यास, कहानियाँ, समालोचना आदि उन्होंने सूचीपत्र शैली में निबटाए हैं। उपन्यासों पर बातचीत का प्रारम्भ ही एक क्लिशे से होता है "हिन्दी का आधुनिक कथा-साहित्य नये-पुराने, स्वदेशी-विदेशी के तनाव में लिखा जा रहा है। एक ओर वह प्रेमचन्द से बँधा है, और दूसरी ओर जेम्स ज्वाएस के प्रति उन्मुख है।

"जहाँ तक मुझे ज्ञात है हंस प्रकाशन और सरस्वती प्रेस को छोड़कर प्रेमचन्द से अब कुछ भी बँधा हुआ नहीं है। रही बात ज्वाएस की, तो हिन्दी में ऐसे कितने उपन्यास हैं जो उससे प्रभावित हैं? हद-से-हद कोशिश की गई है वर्जीनिया वुल्फ़ की 'स्ट्रीम ऑव कान्शसनेस' की निहायत अधकचरी नकल की। हिन्दी के व्यस्त साहित्यकारों से 'यूलिसीज़' के प्रारम्भिक बीस पेज पढ़वा लेना मुश्किल है। कहाँ है हिन्दी में 'पेल फ़ायर' सरीखा दृश्य और शिल्प का चमत्कार? हिन्दी अभी तक अपने 'अलेक्ज़ेन्ड्रिया क्वार्टेट', 'कैन्सर वार्ड' तथा 'हरज़ोग' की प्रतीक्षा कर रही है।

अंतिम व्याख्यान युवा-लेखन पर है तथा शीर्षक 'और युवा लेखन!' से ही स्पष्ट है कि चतुर्वेदीजी के मस्तिष्क में युवा लेखन की इस तरह की तस्वीर है, इस खंड में 'अकविता' तथा 'अकविता' आन्दोलन का बारंबार उल्लेख है जबकि दोनों ही दम तोड़ चुके हैं। चतुर्वेदीजी जैसे प्राध्यापकों के लिए 'अकविता' आन्दोलन एक वरदान सिद्ध हुआ है और 'अकविता' को उन जैसे प्राध्यापक जिन्होंने उसमें क्लासरूम-जोक्स, गोष्ठी-चुटकुलों तथा पांडित्यपूर्ण लेखों का एक नया क्षितिज देख लिया। हिन्दी कविता के 'स्कैण्डल' की तरह इसे 'समझना' और 'निन्दित करना' बड़ा आसान था, इसलिए इसके चर्चित होने में कोई कठिनाई नहीं हुई। मैं 'अकविता' सरीखी वस्तुओं का उतना ही विरोधी हूँ जितने चतुर्वेदीजी होंगे, किन्तु जिन सरलीकरणों का सहारा उन्होंने इस भाषण में लिया है वे बहुत कमज़ोर किस्म के हैं।

'आलोचना' के किसी सम्पादकीय को लेकर इसी भाषण के अन्तर्गत चतुर्वेदीजी ने डॉ० नामवरसिंह को चुनौती—शायद कई चुनौतियाँ—दी है जिसके इतिहास और सन्दर्भों में जाना व्यर्थ है। मैं चतुर्वेदीजी की बात को ही सही मान लेता किन्तु इस प्रकरण में जिस तरह से उन्होंने 'नई कहानी' द्वारा 'अकविता' के उपजने की बात तथा 'सचेतन कहानी' की अकविता से समानधर्मिता स्थापित की है, उसने मुझे भारतेन्दु द्वारा प्रचारित उन विद्वान वैज्ञानिक के करिश्मे का स्मरण दिलाया जिन्होंने पृथ्वी पर चन्द्र तथा सूर्य एक साथ (लगभग) उतार दिये थे। मुझे भय यही है कि उपरोक्त दोनों विषयों पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दो या अधिक निरीह शोध-छात्र कहीं अपना सब-कुछ नष्ट तो नहीं कर रहे!

इस अन्तिम भाषण से एक अन्तिम निष्कर्ष, जो अत्यन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खतरनाक है, यह निकलता है कि 'युवा लेखन' शब्द को भी चतुर्वेदीजी सरीखे प्राध्यापक विशेष गुणधर्मों से सम्पन्न एक रूढ़ शब्द बना लेना चाहते हैं ताकि 'सनद रहे और वक्त-ज़रूरत काम आए'। वे इस शब्द को युवा लेखन में जो सर्वाधिक अप्रासंगिक, अपरूप तथा नकली है उसका पर्याय बना लेना चाहते हैं। वे भूल जाते हैं (या सायास भूलते हैं) कि युवा लेखकों में—कविता की ही बात की जाए—धूमिल, कमलेश, अशोक वाजपेयी, लीलाधर जगूड़ी, प्रयाग शुक्ल, विनोद शुक्ल, नीलाभ, मलयज (मैं श्रीकान्त वर्मा तथा रघुवीर सहाय को भी सम्मिलित करूँगा) आदि जिम्मेदार कवि सृजन-रत हैं जो चतुर्वेदीजी के किसीभी वर्गीकरण में न आते हुए एक ईमानदार, अर्थवान रचनाभूमि तैयार कर रहे हैं। अच्छा तो यही होता कि 'अधुनातन' का सही अर्थ समझकर चतुर्वेदीजी इन्हीं युवा लेखकों पर लिखते। लेकिन क्या लिखते ?

मध्यकालीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध

आनन्दप्रकाश दीक्षित

समसामयिक सन्दर्भ में अतीत की परीक्षा तत्पर-आलोचक-बुद्धि का धर्म है। साहित्य, कला या दर्शन के वैभव को ऐसे परीक्षणों की अपेक्षा रहती है ताकि न केवल उसे अपनी उपयोगिता प्रमाणित करने का ही अवसर मिले, अपितु यह भी कि वह नए चिन्तन की धार सहकर स्वयं भी नव्यता के आलोक का लाभ उठा सके। चिन्तन, दर्शन, कला या साहित्य को जो केवल निरपेक्ष मानकर चलते हैं, उनकी गहरे पैठ नहीं हो पाती, व्यक्ति-मानस और उसको ढालने, रूप सँवारने वाले तात्कालिक परिवेश तक नहीं जाती, अतः उनका ज्ञान अधूरा रहता है। इतिहास के पन्नों पर अंकित जीवन के सन्दर्भ में ही साहित्य, कला या दर्शन जीता है, अतः इतिहास के सन्दर्भ में ही उसकी परीक्षा भी होनी चाहिए। डा० रमेश-कुन्तल मेघ का प्रयत्न रस-दर्शन को इसी इतिहास की पीठिका पर रखकर देखना-परखना है। हिन्दी में हुए रसविचार के सन्दर्भ में उनका यह प्रयत्न वस्तुतः पहला है।

कुन्तल मेघ का चिन्तन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित होकर भी रसचिन्तन के इतिहास, उसके सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और धार्मिक विकास से प्रभावित रूप को ध्यान में रखकर चला है अतएव व्यापक है। मेघ का प्रयत्न यह नहीं है कि वे भरत से लेकर आजतक की विवेचना के सन्दर्भ में रस-निष्पत्ति, रसास्वाद आदि के स्वरूप का पुनराख्यान करें, बल्कि उनका लक्ष्य यह है कि इन सारे प्रसंगों में प्रयुक्त चिन्ताधारा को तात्कालिक परिवेशगत चिन्ताधारा से जोड़ सकें और शब्द-माध्यम से भाषिक विकास की संगति बैठा सकें। उनका प्रयत्न 'आदर्शवादी रस-दर्शन को केन्द्र बनाकर उसे समकालीन सौन्दर्यबोध के यथार्थवादी वृत्त में बाँधने' का है।

मीमांसा, न्याय, सांख्य, तन्त्र और वेदान्त की भूमिकाओं से होता हुआ रस-दर्शन जिस प्रकार तत्कालीन जीवनानुभवों को ग्रहण करता चला है, उसी प्रकार उसने षड्दर्शनों से रूपकों, पारिभाषिकों एवं न्यायों को भी ग्रहण किया है। परिणामतः नौ शताब्दी की दीर्घावधि में लौकिक ज्ञान-प्रमाण से लेकर अलौकिक आनन्दानुभव तक की यात्रा पूरी हुई है जिसके अन्तर्गत आनेवाले विविध सौंदर्यदर्शन, तर्कपद्धति, कला-रचना की प्रक्रिया तथा सांस्कृतिक चिन्तन की चुनौतियों की डॉ० मेघ ने वैज्ञानिक तथा भौतिकवादी छानबीन की है। सहज ही इतिहास-भोग और आधुनिकताबोध के दबाव में आकर भौतिकवादी समाजशास्त्र के जिस दृष्टिकोण से रस-तत्त्व का अध्ययन किया गया है उससे एक 'बिलकुल नया और बेहद विवादपूर्ण विश्व उद्घाटित होता है।'

इतिहास के पन्ने इस बात का साफ़ प्रमाण उपस्थित करते हैं कि पात्र और नट के द्वैत से जूझते हुए, रचना-प्रक्रिया पर दृष्टि जमाए हुए आचार्यों की आरम्भिक निष्ठा 'ज्ञान' के प्रति ही थी, किन्तु भट्टनायक और उसके बाद वह 'अनुभव' की समस्या बनकर उपस्थित हुई है। भट्टनायक जिस संधि-स्थल पर खड़े हैं वहीं से परिवर्तन की भूमिका उपस्थित होती है और 'अनुभव' सम्बन्धी प्रश्नों के उभरने के साथ "नाट्य की देश-काल द्वन्द्वपरक 'चलचित्र' की इकाई के बजाय काव्य की नाट्यध्वनिपरक 'शब्द बिम्ब' की सूक्ष्म इकाई का अभिषेक हो उठता है। सौन्दर्यबोध दर्शन जब तक यथार्थवादी विचारधारा से अनुबद्ध रहता है तब तक वह 'प्रत्यक्ष' तथा

लेखक—डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, प्रकाशक—राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, मूल्य—सोलह रुपये, पृष्ठ—डिमाई ३६५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणाम' के अनुशासन में बँधा है और 'स्वभाववादी' है। लेकिन जब वह अध्यात्मवादी धारा से अनुस्यूत होता है तब इस प्रत्यक्ष के बजाय 'दिव्यदृष्टि', जागृति के बजाय 'सुषुप्ति' एवं समाधि और तर्क के बजाय उन्मेष, कारण-कार्य के बजाय संकल्प का चमत्कार-मिरेकल आदि विशेषण सामने आने लगते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इन प्रतीकात्मक अभिव्यंजनों को 'पलायनवाद के आदर्शीकृत रास्ते' मानकर चलता है, अतः डॉ० मेघ मध्यकालीन आनुष्ठानिक समाधि में सामरस्य प्राप्त करने की अपेक्षा इनकी छानबीन में प्रवृत्त होते हैं। परिणामतः वे कहते हैं: "इसीलिये रस नित्य होकर भी तत्समकाल में अनुभूत होता है, क्रमपूर्ण होकर भी असंलक्ष्य-क्रम से ध्वनित होता है, चित्तवृत्यात्मक होकर भी चिदात्मक आनन्दरूप होता है। असल मामला तो यह है कि सौंदर्यबोध-तत्त्व जैसे लौकिक भूमिवाले और इन्द्रियप्रत्यक्ष पर आश्रित विषय की यथार्थता को वे विचारक बहुत अधिक चाहकर भी नहीं मिटा सके। अतः यह अन्तर्विरोध बना रहा।" डॉ० मेघ के इस कथन की भूमिका तो काफ़ी पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ही रस की आनन्दरूपता और अलौकिकता के आगे प्रश्न-चिह्न लगाकर तैयार कर दी थी और ब्रह्मास्वाद की स्थिति से वे उसे मानस-भूमिका तक घसीट ले आए थे, किन्तु उनका विचार किसी वाद के अनुसरण के कारण नहीं बना था, डॉ० मेघ ने उसे वह भूमिका प्रदान की है। इस अलौकिकता के कारणों की खोज डॉ० मेघ फ़िलासफ़ीकल साइकोलाजी की सापेक्ष्य यथार्थता रहस्यपरक धर्म के ध्रुवान्तों के सन्दर्भ में करते हैं।

अपनी तर्कपद्धति से डॉ० मेघ इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "इस तरह भरत का ग्रामीण लोक प्रेक्षक पौराणिक साहित्य से सम्बद्ध होता चला गया, तथा भट्टनायक, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, पण्डितराज का शहरी सामाजिक या रसिक, या सहृदय, या प्रमातृ काव्यशास्त्र तथा कामशास्त्र की विलासलीला का दावेदार बना।—ऐसे सृजनात्मकबोध के अन्तर्गत निरंकुश सामन्तों-सम्राटों की तरह अभागा आश्रित कवि भी 'निरंकुश' होने की पदवी से फुसला दिया गया। बस, उसका लोकजीवन से आत्मपरायापन बढ़ता गया और वह राजसभाओं में कीर्ति तथा स्वर्णमुद्राओं का भूखा हो गया। राजसभाओं में कवि के बजाय सामन्त महत्त्वपूर्ण था। अतः सृजनप्रक्रिया के बजाय रस-निष्पत्ति की छानबीन हुई।" देखने में बात ऊपरी तौर पर बड़ी भली लगती है, किन्तु मेरी दृष्टि में तात्त्विक नहीं जान पड़ती। इसी तरह सन्दर्भ की चिन्ता करनी है तो भरत-कथित 'सुमनस्' कालिदास-कथित 'विदुषां' और 'कविः करोति काव्यानि रसं जानन्ति पण्डिताः' उक्ति के 'पण्डित' तथा भोज के 'सचेतस्' की संगति भी बैठानी चाहिए। स्वयं भरत ने भी 'सुमनस् प्रेक्षक' के कई लक्षण गिनाये हैं, वे क्या निरर्थक हैं और 'ग्रामीण लोक प्रेक्षक' का उनसे क्या सम्बन्ध है? इसके अतिरिक्त कवि की निरंकुशता में मेघ जिस सामन्त-सम्राट समाज की भूमिका को महत्त्व देते हैं और उसके कारण लेखक का लोकजीवन से बढ़ता हुआ आत्म-परायापन सिद्ध करते हैं, उसके सम्बन्ध में भी यह स्पष्ट होना चाहिए कि क्या विदेशों में भी जहाँ-कहीं सर्जन के सम्बन्ध में कलात्मक तथा आध्यात्मिक मूल्यों को महत्त्व मिला है, वहाँ भी इस बात का कोई लगाव सामन्त-सम्राटों की निरंकुशता और कवि की कलाप्रियता से है कि नहीं। ऐसा कोई सिद्धान्त हो सकता है तो उसकी सार्वत्रिक प्रामाणिकता भी सिद्ध होनी चाहिए। वस्तुतः निरंकुश तो उसे 'नियतिकृत-नियम-रहित' सिद्ध होनी चाहिए। वस्तुतः निरंकुश तो उसे 'नियतिकृत-नियम-रहित' सिद्ध करने के लिए कहा गया, किन्तु श्रेय और उपदेश की सिद्धि बराबर उसके काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया गया।

डॉ० मेघ का कथन है कि नवीं शती में अकस्मात् ही कुमारिल, शंकर और सरहपाद के क्रमशः ज्ञान, ब्रह्म और सहजसुख के अनुष्ठान से जो त्रयणुक क्रान्ति हुई उसका परिणाम १२वीं-१३वीं शती में 'योगी' और 'सिद्ध' तथा 'नाथ' और 'वीर' के आपसी पर्यवसान में दिखाई पड़ा। सामन्त और सुमंत्री का समीकरण टूटकर सामन्त और सिद्ध का नया अतिप्राकृतिक, अन्धविश्वासी, रहस्यात्मक समीकरण बना और "ईसवी सातवीं शती से १३वीं शती के बीच के मध्यकाल में लोक-व्यवहार भावना का धर्मभावना में, धर्मभावना का कामभावना में, कामभावना का रहस्यभावना में रूपायन होता गया। इन सबका केन्द्रीयकरण ईश्वररूप सम्राट् में हुआ जो पूर्ण तथा प्रभु माना गया। इसीलिए 'रीति' और 'रस' के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध लोककला और लोकजीवन के क्षीण होते जाने और उनके स्थान पर प्रभु सामन्त वर्ग तथा सामन्तीय कला के प्रतिष्ठित होते जाने की भी कहानी का अनावरण करते हैं।" अतः, "इसके बाद मध्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युगीन विश्वदृष्टि की कोई भी आधुनिक सम्भावना नहीं बचती।" अतएव आज सबसे ज्वलन्त प्रश्न तो यह है कि क्या आज के पूँजीवादी अर्थतन्त्र में जकड़ा हुआ आत्मपरायीकृत कलाकार, बेकार, बुद्धिजीवी तथा गरीब सहृदय वैसा ही निर्द्वन्द्व मानसिक जगत् पा सकता है ? क्या आज भी अलंकार, गुण, रीति, रस, रसब्रह्म की उन्हीं अनुभूतियों से अनुप्राणित है जिनसे रमणीयता पर मन्त्रमुग्ध कुन्तल, या माघ, या पण्डितराज जगन्नाथ थे ? डा० मेघ की अन्तरात्मा कहती है 'नहीं'। और इस तरह वह आज के सौन्दर्यबोध को मध्यकालीन सौन्दर्यबोध से पृथक् करते हैं।

इतिहास-दर्शन के प्रयत्न में वे मानते हैं कि आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती भट्ट लोल्लट और श्री शंकुक को तथा परवर्ती अभिनवगुप्त और मम्मट आदि को सामन्तीय संस्कृति, युद्धलिप्त राज्य, तथा आतंकग्रस्त पर्वतग्रामों के बीच अपनी जीवन-लीलाएँ पूरी करनी पड़ी होंगी। सम्भवतः इसीलिये उनके रूपकों में कुम्हार का 'घट' और जुलाहे का 'पट' इतना नहीं आता जितना कि पर्वत और धूम, रजत और शुक्ता का भ्रम—।" और रस की आध्यात्मिक व्याख्या का कारण भी उनकी दृष्टि में यही है कि "युद्धलिप्त क्षेत्रीय राज्य में स्वामी और सेवक के बीच, ठाकुर और दास के बीच ब्रह्म और माया जैसे ही सम्बन्ध थे।" किन्तु ठाकुर और दास के जिस सम्बन्ध को लेकर वे ब्रह्म और माया की स्वीकृति का कारण सिद्ध करते हैं उनके सन्दर्भ में नाटकों में निराशा और करुणा के चित्रण को महत्त्व क्यों नहीं दिया गया, इसका रहस्य वे नहीं सुलझाते। इसी तरह एक ओर लोल्लट तथा शंकुक के विचारों में 'नट' की प्रमुखता का कारण यह मानते हैं कि 'सम्भवतः तत्कालीन सम्राट् भी नट की तरह भूमिकाएँ बदलते और आते-जाते थे' और 'कश्मीर में संस्कृत प्रणयी राजाओं के आश्रय में सामन्ती संस्कृति की छाया में' दार्शनिक कलाचार्यों को आग और अकाल से मुक्त बताते तथा लोकांचलों में नाट्य का खूब प्रचार बताते हैं और दूसरी ओर राजनीति की अपेक्षा धर्म का प्रभाव अत्यन्त व्यापी भी बताते चलते हैं। ऐसी स्थिति में राजाओं के आधार पर नटों का विवेचन करना कहाँ तक उचित है ?

डॉ० मेघ ने अपनी इस छानबीन के लिए पुस्तक को मुखबन्ध आदि प्रारम्भिक दो अध्यायों के अतिरिक्त दो खण्डों में विभाजित किया है और उनके अन्तर्गत क्रमशः अध्याय-भेद से 'सौन्दर्यबोधात्मकवृत्ति या रस-निष्पत्ति' और 'सौन्दर्यानुभव' या 'रसानुभूति' की विस्तृत चर्चा की है। प्रथम खण्ड के अन्तर्गत भरत और रस-सूत्र के व्याख्याताओं के विचारों का विवेचन पृथक्-पृथक् अध्यायों में किया गया है। समग्र पुस्तक में मीमांसा, न्याय, सांख्य, वेदान्त, शैव-दर्शन, स्वतःप्रामाण्य और परिणामवाद, अन्यथाख्याति और असत्कार्यवाद ही विवेचित नहीं है अपितु विटगेंस्टाइन और बर्ट्रेण्ड रसेल की गणितीय और तर्कशास्त्रीय पद्धति, हीगेल के द्वारा प्रतिपादित जगत् और निर्विकल्प सत्ता के द्वन्द्व-सिद्धान्त को भी तर्कना के लिए उपस्थित किया गया है। भारतीय दर्शनों का विवेचन भी केवल अभी तक किए गए विवेचन की पुनरावृत्ति के रूप में गृहीत नहीं है, गहराई में पैठकर सूत्रों को जोड़ने का उत्तरदायित्वपूर्ण प्रयत्न है। निश्चय ही इतने विस्तार और इन विषयों की पैठ के साथ रस-सिद्धान्त का विवेचन अभी तक न होने से पाठक को बौद्धिक व्यायाम का अनुभव होने लगता है और मेघ की जटिल भाषा और शब्दों का विलक्षण पारिभाषिकीकरण उसके आड़े आता है, किन्तु बिना इस व्यायाम के जिन गुत्थियों को मेघ सुलझाना चाहते हैं, उन्हें सुलझा पाना सहज-सम्भव नहीं था, अतएव इस पुस्तक के अध्ययन के लिए 'सामाजिक' को 'सहृदय' बनना पड़े तो उसे पीड़ित अनुभव नहीं करना चाहिए। हाँ, अंग्रेज़ी शब्दों का हिन्दी पारिभाषिकीकरण यत्र-तत्र विचलित कर सकता है।

डॉ० मेघ भरत के रस-सूत्र को पुरोहित-शैली से और अभिनेता के व्यापार को कर्मकाण्ड से जोड़ते हैं और रस-सूत्र में भाषिकीय सम्भावनाएँ खोजते हैं। उनकी दृष्टि में भरत का युग दर्शनों, संहिताओं, कोषों और काव्यों के संकलन का था, अतः विभावादि का संकलन सिद्धान्त उन्हें कर्मकाण्डीय पद्धति पर करना पड़ा। इसी कर्मकाण्ड की प्रधानता के कारण नाट्य में वर्णनात्मक मिथक और क्रियात्मक पद्धति का मेल हुआ है। और इसीलिये रस को प्रधानतया मिथक काव्यों और नाट्य-मण्डपों के लिए ही सुरक्षित रखा गया। डॉ० मेघ का यह भी कथन है कि विश्वकोषों के ज्ञान, लौकिक जीवन-दर्शन तथा सांस्कृतिक विस्तारवाद का काल होने के कारण "उनके युग में इहलोक-परलोक का प्रतिबिम्बात्मक सम्बन्ध भी माना जाता था, जहाँ मनुष्यों को नियति-नटी नचाती है। सम्भवतः इसी वजह से उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने विवेचन में नाटककार को भुला दिया, अभिनेता को प्रधानता दी तथा प्रेक्षक को विनीत बनाया। विश्व-रंगस्थल की तरह रंगमंच भी रहस्य और नाट्ययज्ञ का केन्द्र बन गया। "भरत 'यज्ञ' और 'नाट्य' के अन्तर को जानते हैं। उन्हें यह तत्कालीनबोध हो गया था कि रसानुभव लौकिकता से विलक्षण है, यज्ञ से पृथक् है किन्तु लोकबहिर्भूत नहीं है। वे यह भी महसूस करने लगे थे कि रसानुभव लौकिक अनुभव तथा प्रत्यक्ष प्रमाण से भी विलक्षण है। किन्तु वे विलक्षणता की सीमाएँ नहीं पहचान सके हैं। केवल एक सीमा उन्हें मालूम है: रसानुभूति नाट्याश्रित है।"

भट्ट लोल्लट की व्याख्या में मेघ कहते हैं कि रसबोध के तीन स्तरों—१. लौकिक रस का अमूर्त मूल पात्रादि द्वारा अनुभव, २. नाट्यरस का नट द्वारा अनुभव, तथा ३. अनुसन्धानात्मक नटगत रस की सामाजिक द्वारा प्रतीति—के कारण ही "भट्ट लोल्लट ने भी अनुभव के तीन क्रम दिए हैं: लौकिक रस का यथातथा 'अनुभव', नाट्यरस की आशंसात्मक तथा असंपृक्त अनुभूति और नाट्य-रस के अभिव्यंजना-व्यापार का ज्ञान। इस तरह अन्ततोगत्वा भट्ट लोल्लट रसानुभव को प्रत्यक्ष प्रतीति या ज्ञान में परिणत करते हैं और इसे मात्र प्रत्यक्षीकरण के दायरे में बाँध देते हैं। वे प्रत्यक्ष ज्ञान को ही जबर्दस्त प्रमाण मानते हैं क्योंकि वह नट में अनुसन्धानात्मक रूप में, तथा सामाजिक में स्वतः प्रामाण्य रूप में साक्षात् उत्पन्न होता है। वे पूर्णतः नर्मिल एवं जागृत अवस्था के कायल हैं। अतः नाट्यप्रत्यक्ष को वे माया-भ्रान्ति तथा स्वप्नभ्रम जैसी दशाओं से आजाद रखते हैं। अतः वे विपरीतख्याति द्वारा रसानुभव की त्रुटियों का निराकरण कर डालते हैं।" किन्तु मेघ के शब्दों में उनकी कमजोरी यह है कि "कार्यकारण श्रृंखला का कई धरातलों पर इस्तेमाल करने के कारण उनकी तार्किक संरचना में क्रम—सीक्वेंस—पर बेहद बल दिया गया है। अतः उन्होंने सभी स्तरों पर अलग-अलग त्रित्व तो निथार लिया है, किन्तु उनका समन्वय करने में, उन्हें अनुस्यूत करने में असफल रहे हैं। इसीलिए उनकी रसानुभव की व्याख्या लौकिक यथार्थता से भिन्न सौन्दर्यबोधात्मक विलक्षणता का लेखा-जोखा भी नहीं ले पाती। अनेक त्रिकोणों की वजह से उन्होंने ज्ञान की समस्या में कई नई-नई भूमियों की अभिनव तलाश की है। अतः अप्रत्याशित की यह प्राप्ति स्वभावतः 'चमत्कार' उत्पन्न करेगी। अतः भट्टलोल्लट ने त्रिपुटी—माता, मेय और मिति—के ही साथ प्रत्यक्षीकरण को स्वीकार किया है और यही उनके रसानुभव का 'चमत्कार' है जो अनेक त्रिकोणों से बुना हुआ है। अन्ततः सामाजिक में उद्बुद्ध ज्ञान का स्वयं-प्रकाश रूप ही उनका श्रेय रहा है।"

शंकुक की 'महत्तम उपलब्धि का राज़' मेघ इस बात में मानते हैं कि वह 'प्रमा' से आगे अपने 'संशय' को ले गये और यांत्रिक यथार्थता तथा कारणकार्यवाद की जंजीरें ढीली करके उन्होंने कृत्रिम अनुकरण के अनुमान के द्वारा रंगमंच की 'भ्रान्ति' से बचने की कोशिश की। डा० मेघ ने नाट्यकला के माध्यम की इकाई को 'चल शब्दचित्र' की संज्ञा दी है जिसमें चित्र के अंतर्गत स्थानपरक—स्पैशियल—सभी दृश्य माध्यमों वाली कलाएँ, 'शब्द' के अन्तर्गत कालपरक—टैम्पोरल—सभी श्रव्य माध्यमों वाली कलाएँ एवं 'चल' के अन्तर्गत अंग-मुद्रा तथा घटना से सम्बन्धित कार्य—एक्शन—संयोजित हो जाते हैं। यही द्वन्द्वात्मक त्रित्व है और "इसीलिए नाट्य-माध्यम की इकाई में ज्ञान तथा भाव की, देश तथा काल की, श्रव्य तथा दृश्य की, चल तथा अचल की, सहक्रम तथा अनुक्रम की, चित्रकला तथा शब्दकलाओं की, प्रत्यक्ष तथा अनुमान की, अनुकरण तथा असक्रिय क्रियावृत्ति की द्वन्द्वात्मक ध्रुवांतता—डाइलेक्टिक पोलैरिटी—कायम है। इसी वजह से नाट्यरस व्यापार भी ज्ञान तथा भाव, द्वन्द्व तथा अनन्यता की विलक्षणता है। भट्टलोल्लट इस विलक्षणता को स्पष्ट नहीं कर पाये थे, किन्तु श्री शंकुक ने यह कार्य सम्पादित किया।" इतना ही नहीं शंकुक के द्वारा अनुक्रियमाण या अनुकरणात्मक स्थायीभाव को ही 'रस' कहने के पीछे भी एक रहस्य है और "इससे एक क्रान्तिकारी नतीजा निकलता है कि पहले रस का 'ज्ञान' और इसके बाद रस से 'भाव' होते हैं। यह अमूर्तीकरण—एब्सट्रेक्शन—तथा तत्त्वज्ञान—ओन्टोलाजी—का परिणाम है जिसके फलस्वरूप एक ओर तो रस से ही भाव की सत्ता प्रमाणित हुई है तथा दूसरी ओर रसभाव तथा रसज्ञान में अभेदकता की झलक दी गई गई है। चित्रतुरगन्याय के रूपक में श्री शंकुक ने नाट्यज्ञान के इसी द्वन्द्वात्मक चरित्र की सूक्ष्मता पकड़ने की चेष्टा की है। "किन्तु फिर भी शंकुक अनुभव-क्षेत्र में इसका विस्तार नहीं कर सके और संभवतः सामंतयुग की विवशता ने ही उन्हें उसे मानवतावादी धरातल पर ग्रहण करने से भी वंचित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखा। "क्योंकि तब तो सामंतयुग का चरित्र ही बदल जाता।"

डॉ० मेघ भट्टनायक के प्रसंग में सत्-रज-तम की कल्पना को मध्ययुगीन मनोविज्ञानाभास कहकर उनके भ्रमापन—वैरीफिकेशन—की असंभाव्यता का निर्देश करते हैं और सांस्कृतिक तथा नैतिक मान्यताओं तथा संयम, नियम, दमन से इनका नाता जोड़ते हुए इन्हें अस्वीकार करते हैं। उनके शब्दों में "ये शरीर तथा स्नायुचक्र के कल्पित रचना-गठनों के मनोस्वरूप-निर्माण—साइको मारफेलॉजी—के प्रतिभास हैं।" साथ ही वे भावकत्व के प्रसंग में विचार करते हुए तर्क की कुछ ऐसी उलझन पैदा करते हैं कि भावकत्व और भोजकत्व के सन्दर्भ में रस के ही भावित रस तथा भुक्त रस नामक दो भेद मान लेते हैं, जबकि भट्टनायक के विवेचन में वे भावकत्व की स्थिति में बराबर स्थायीभाव का ही नाम लेते आए हैं। उनका विचार है कि "श्री शंकुक के अनुसार स्थायीभाव विभावादि लिंग के द्वारा अनुमित होते हैं, किन्तु भट्टनायक ने इन्हें विभावादि द्वारा भावित माना है। अतः रस भावित होता है।" अनुभूत अर्थ—फ़ैल्ट मीनिंग—को चिंतन, निरीक्षण, कार्य, वाणी एवं संवेगों अर्थात् मानवीय ज्ञातता के सभी रूपों में थोड़ा-बहुत हाज़िर मानते हुए वे भावकत्व को एक 'विलक्षण अभिज्ञान' कहते हैं और मानते हैं कि "भावकत्व व्यापार के चरण तक वे—भट्टनायक—भरतप्रणीत इस धारणा से बँधे रहे हैं कि रस ज्ञान है तथा चित्तवृत्तियाँ और विभावादि 'भाव' हैं। इस बुनियादी अन्तर को उन्होंने यहाँ अन्तररूपान्तरित करने की कोशिश तो की है, किन्तु इसका सन्तुलन नहीं किया है। इसी वजह से वे भावरूप स्थायीभाव को साधारणीकरण के अन्तर्गत नहीं लाए।"

अभिनवगुप्त से उन्हें शिकायत है कि अद्वैतवाद के कारण निर्विकल्पों, अमूर्त्तनों तथा अद्वैतों के प्रत्ययों में मायामुग्ध भारतीय सुपरिगठन में महत्तम क्रान्ति तो हुई किन्तु "फलस्वरूप सौन्दर्यबोधानुभव श्रम, पदार्थ, जागृतचेतना, प्रत्यक्ष तथा ज्ञान की बहती गंगा से कटकर देश, काल तथा कर्म से निर्मुक्त होने वाली आध्यात्मिक अभिव्यंजनाओं के अनुरूप रूपायित होने लगा।···जो जगत् तथा इतिहास की अवहेलना करता है वह स्वयं अपनी निंदा करता है और सामाजिक सत्यों की मशालों को नहीं जला पाता। अद्वैतवाद ने देश एवं काल की सत्ता क्षीण करके भारत में जिस काले सामंतवाद की जड़ें मज़बूत कीं उसमें जगत्, जीवन तथा जन के प्रति प्रेम नहीं रहा, आर्थिक सक्रियता तथा सामाजिक परिवर्तन की संभावनाएँ कुचल गईं तथा उसमें मौलिकता तथा बौद्धिकता को माया और नास्तिकता घोषित किया गया।" और वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि "अतीत-वर्तमान-भविष्य, जीवात्मा-जगत्-परमात्मा, सृष्टि-स्थिति-संहार, परमशिव-पुरुष-प्रकृति आदि सभी त्रित्व चक्राकृत और तालयुक्त हैं। इसलिए इहलोक बनाम परलोक, शरीर बनाम आत्मा, ब्रह्म बनाम माया, प्रत्यक्ष बनाम विवर्त्त, जागृति बनाम समाधि, सुख बनाम आनन्द आदि के पार्थक्य की एक ऐसी सामंतवादी अंधविश्वासों वाली गहरी स्थायी खाई खुदी जो एक हज़ार वर्षों के बाद भी औद्योगीकरण में कटिबद्ध भारत के आधुनिकीकरण को मग्न करने के लिए दुर्धर्ष कर रही है। इस विश्व दृष्टिकोण का रहस्योद्घाटन करके ही हम आधुनिक ज्ञान, विज्ञान तथा सौन्दर्यबोध के औज़ारों का इस्तेमाल कर सकते हैं।"

लगता है यहाँ आकर डॉ० मेघ का वक्तव्य पूरा हो गया है, किन्तु वे भोज, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज और मधुर रस के चिन्तकों की ओर बढ़ जाते हैं। रसेश्वर दर्शन, सिद्ध और योगी तथा शून्य के गणितीय और आध्यात्मिक रूप के निदर्शन में बहुत दूर तक डूबते चले जाते हैं। शून्य की चर्चा करते हुए उनका कथन है: "रसरूप ज्ञान का वेदान्ती आस्वाद भी गणितीय पहेलियों का रूपकात्मक रहस्यलोक है। यह निर्विकल्पों का लोक है। विश्वनाथ ने इस लोक को—भोज की तरह—चित्तवृत्तियों की खिदमतगारी से हटाकर चित्त के निर्विकल्प धाम में प्रतिष्ठित करने की पुरजोश कोशिश की है। अतः विश्वनाथ कृत रंग-रूप के प्रतीकीकरण में हम कुछ दार्शनिक समस्याओं के सामाजिक दर्पण भी स्वच्छ कर सकते हैं।"

भानुदत्त द्वारा स्वीकृत स्वाप्निक, मानोरथिक तथा औपनयिक एवं माया रस के वर्णन में मेघ 'अस्पष्टता और विभ्रान्ति का बवण्डर' मानते हुए भी एक विचित्र कल्पना करते हैं कि "भानुदत्त को स्वप्न में काव्यसृजन का—कालरिज की भाँति—अनुभव हुआ होगा, और वह सृजन में प्रतिभा के अलावा साहचर्यों की वशीभूततता को भी पहचान चुके होंगे।" और अकस्मात् ही अब तक भुलाये हुए भानुदत्त की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० मेघ की ओर से एक आशंसा—काम्प्लीमेंट—मिल जाती है : "भानुदत्त मायारस एवं लौकिक रस का जो व्याख्यान करते हैं उसकी वजह तो यही मालूम पड़ती है कि वे इस नतीजे पर आ चुके हैं कि व्यावहारिक दृष्टि से न तो किसी को रसानुभव की अनुभूति ब्रह्मानन्द-सहोदर रूप होती है, और न ही किसी को संविद्विश्रान्ति होती है। वस्तुतः ये मात्र आदर्श प्रारूप—माडल—हैं। भानुदत्त ने इसी मोहभंग को प्रकट करने के लिए शायद रस के यथार्थवादी आयामों की अजनबी संभावनाओं को टटोला है, लेकिन अनुभवगम्य प्रखर सचाई को भी जरूर तपाया है।" भानुदत्त की छोटी-सी बात को बहुत महार्घ बना देने पर भी डॉ० मेघ रामचन्द्र-गुणचन्द्र की व्याख्याओं को 'घोर भौतिकता से पीड़ित' एक ऐसी निर्मिति मानते हैं "जिसमें यथार्थता के कलात्मक रूपान्तर का बोध अधूरा है।" गोस्वामियों और गौड़ीय वैष्णवों की धारणाओं को पूर्ण-आत्मपरायेपन की स्थिति और यौन के निर्विकल्प प्रतीक की उपलब्धि बताकर वह अन्ततः पण्डितराज पर आ जाते हैं। यहाँ आकर वे फिर शून्य, रहस्यानुभूति और मनोविज्ञान की चर्चा पण्डितराज की 'रमणीयता' को समझाने के लिए करने लगते हैं और उन्हें 'रीतिवाद के द्रष्टा तथा सौंदर्यबोध शास्त्र के औपचारिक प्रतिष्ठापक' कहकर उसके कारण का निर्देश इन शब्दों में करते हैं : "विश्वनाथ ने गुण, अलंकार, अदोषता आदि को रस के उपकरण नहीं बल्कि उत्कर्षाधायक माना था, पण्डितराज ने रस समेत उन्हें रमणीयता के उपकरण मान लिया।" उनकी धारणा है कि पण्डितराज के 'चमत्कार' की अत्याधुनिक व्याख्या संभव है—जिसका उन्होंने निर्देश किया भी है—और इस चमत्कार या काव्य के लोकोत्तर-आह्लाद में "वतुस्तः यथार्थता के रूपान्तरण की ज्ञानगोचरता तथा मानसिक प्रक्रिया की सह-चेतन कार्यवाही का आयत्तीकरण हुआ है।" पण्डितराज की 'रमणीयता' की धारणा में कलात्मक सौंदर्य की व्याख्या को स्वीकार करते हुए मेघ ने उसे 'रमणी' के मध्यकालीन सेक्स-परक रूपक का आध्यात्मिकीकरण बताया है और कहा है : "रमणीयता की धारणाओं में कई सांस्कृतिक संदर्भात्मक इकाइयाँ मिलती हैं। इसमें आलंकारिकों का चारुत्व, अद्वैती शैवों का आनन्दवाद, वेदान्तियों की वेद्यान्तरस्पर्श शून्यता एवं सूफ़ियों का प्रतीकवाद उपनीत है। अतएव रमणीयता का क्षेत्र व्यंजना से बहुत व्यापक है, क्योंकि इसके अन्तर्गत व्यंग्यार्थ ही नहीं, चमत्कारत्व भी शामिल है। वस्तुतः वह नंदतिक सौंदर्यबोध है जिसमें सौंदर्य की आशंसा तथा चर्वणा दोनों ही शामिल हैं। यह 'ज्ञान' एवं 'भावना' के छोरों को मिलाती है। अतः यह बौद्धिक एवं संवेगात्मक, दोनों प्रकार का अनुभव है।" आदि। पण्डितराज की इस उपलब्धि की प्रशंसा में ही डॉ० मेघ उन्हें 'भारतीय सौंदर्यबोधशास्त्र के बामगार्टन' कहते हैं।

डॉ० मेघ का यह सारा प्रयत्न एक बहु-अधीत व्यक्ति का यथार्थ एवं सत्य की खोज में भटकने का प्रयत्न है; अनेक साहित्यिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, सामाजिक, राजनैतिक भूमियों में संचरण का प्रमाण है और इस बात का सूचक भी है कि डॉ० मेघ के पास वह भेदक दृष्टि है जिससे वे सूक्ष्मतम स्तरों को उखाड़कर किसी बात की तह तक पहुँच सकते हैं। किन्तु जैसे इन तहों तक पहुँचना लेखक के लिए आसान नहीं है वैसे ही यह अंग्रेज़ी शब्दों से ठसाठस भरी हुई और वैज्ञानिक तथा गणितीय गुत्थियों, संकेतों और प्रतीकों में लिखी होने के कारण पाठक के लिए भी सहज-ग्राह्य नहीं रह जाती। रस की जटिलताओं को सरलता से हृदयंगम करने के अभ्यासी भी बौद्धिक-श्रम के बिना इसके मूल-तत्त्व को न पा सकेंगे। जो 'गंभीर' आलोचक इसे आधी एक रात में ही पढ़ जाने का दावा करते हैं, उनके प्रति इतना ही कहा जा सकता है कि 'मुखबन्ध' पढ़कर ही उनकी सारग्राहिणी प्रतिभा जागृत हो गई होगी। डॉ० मेघ की, या शायद इस पुस्तक के विवेचन की, यही मजबूरी है कि महत्त्वपूर्ण और मौलिक कथनों पर दुर्बोधता, विस्तृति और पुनरावृत्ति का ऐसा खोल चढ़ता चला गया है कि उन्हें कई बार डुबकी मारकर ही खोजा जा सकता है। इन त्रुटियों के बावजूद यह पुस्तक उनके ज्ञान के प्रति ही विश्वास नहीं दृढ़ करती, बल्कि उनकी विश्लेषण-क्षमता और नई व्याख्याओं में उनकी दक्षता के विश्वास को भी जन्म देती है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आधुनिकता के संदर्भ में एक सार्थक 'सोच''

विजय मोहन सिंह

'मैं वे और आप'[1] हमारी-आपकी कहानी नहीं है, वह पूरी तरह मि० निगम की कहानी है—'अजय की डायरी' वाले मि० निगम की कहानी। चूंकि निगम साहब का उद्देश्य न तो कहानी सुनाना है, न उपन्यास लिखना, बल्कि वे इसे अपने 'सूक्ष्म और ईमानदार पर्यवेक्षण' का 'दस्तावेज़' मानते हैं, इसलिए ज़रूरी है कि इस 'दस्तावेज़' का उसी रूप में विश्लेषण किया जाए।

मि० निगम का यह 'दस्तावेज़'—जो एक हद तक उनकी डायरी भी है (उन्हें इसे 'डायरी' कहने में आपत्ति नहीं है) व्याख्याओं, वक्तव्यों और सूत्रात्मक सिद्धान्तों से भरा हुआ है—क्योंकि वे खुद ज्यादा कुछ करते नहीं, केवल तटस्थ भाव से देखते और अंकित करते हैं—यह और बात है कि उनका देखना तथा अंकित करना—सब उनके अपने सन्दर्भ में ही है—अपनी अहमियत की रक्षा के लिए या अपने को 'जस्टीफाई' करने के लिए।

मि० निगम का अपनी इस 'भूमिका' के बारे में ख़याल है कि 'इस मामले में मैं अपने युग की योग्य सन्तान हूँ यानी आज के मनुष्य का प्रतिनिधि—उसकी चेतना को समूचेपन में ढोनेवाला।' यह बहुत बड़ा दावा है—यानी आज का मनुष्य अपने समूचेपन में मि० निगम है। लेकिन मि० निगम क्या हैं? इसे जानने के लिए मि० निगम को ज़रा नज़दीक से देखना पड़ेगा।

मि० निगम आज के मनुष्य का उसकी चेतना के समूचेपन के साथ प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं और इस रूप में उनके सामने (आज के मनुष्य की) केवल दो ही समस्याएँ हैं: सौन्दर्य और औरत। बल्कि एक ही समस्या है: औरत का सौन्दर्य! अपने पूरे 'दस्तावेज़' में वे भाँति-भाँति की औरतों से टकराते हैं और उनके सौन्दर्य का 'सूक्ष्म पर्यवेक्षण' करते हैं। उनके लिए औरतें दुनिया की 'मरुभूमि में खूबसूरत नखलिस्तान हैं' और एक तरह से तरह-तरह की औरतों के बाहर मि० निगम की दुनिया ही नहीं है। वे चाहे ट्रेन में हों या सिनेमाघर में, 'संगोष्ठी' में हों या सड़क पर—कोई-न-कोई खूबसूरत औरत उनके सामने 'सूक्ष्म-पर्यवेक्षण' के लिए आ ही जाती है। या अगर यह भी न हो तो कोई अभिभावक आकर उन्हें सादर अपनी कन्या के 'सूक्ष्म-पर्यवेक्षण' के लिए अपने घर लिवा जाता है।

सिद्धान्तत: मि० निगम का कहना है कि 'मेरी दृष्टि में फिसलना और चढ़ना दोनों एक ही हैं यानी नीतित: समान हैं।' और यह भी कि 'चीज़ों के स्वभाव से झगड़ना मूर्खता है।' लेकिन वे बाकायदे चीज़ों की अच्छाई-बुराई को परखते हुए चलते हैं। वे मूलत: उस दुनिया के आदमी हैं जो परिवर्तन को देखकर कुढ़ता रहता है और उसकी अधिकांश शिकायतें इसी कुढ़न से पैदा होती हैं, मसलन उनका यह सोचना कि 'अपने देश के छात्रों की हालत यह है कि न वे अंग्रेज़ी ढंग से सीखना चाहते हैं न हिन्दी।' फिर 'फिसलना' और 'चढ़ना' दोनों एक कैसे हैं?

दरअसल निगम साहब के वक्तव्यों और उनके 'होने' में बहुत फर्क है और यह फर्क ज़ाहिरा तौर पर उपन्यास के अपने 'ढंग' को 'अन्कन्विंसिंग' बनाता रहता है।

इसकी यह वजह है कि जिस 'संवेदना' का प्रतिनिधि लेखक मि० निगम को बनाना चाहता है उसमें उसे खुद विश्वास नहीं है और यह अविश्वास इस हद तक है कि लेखक निगम को उस 'संवेदना' के साथ पूरी तरह खड़ा नहीं कर पाता। इस अविश्वास के कारण ही इस 'संवेदना' की जानकारी जहाँ अधूरी पड़ने लगती है वहाँ लेखक उसकी पूर्ति अपने द्वारा करता है।

फिर 'अजय की डायरी' का अगला अंश होने के कारण और लेखक का उससे (अजय से) गहरा जुड़ाव होने के कारण अजय हमेशा निगम के परिपार्श्व में रहता है—अपनी अनुपस्थिति में भी। निगम न केवल घटनाओं और चीज़ों को अजय की उपस्थिति में देखता है बल्कि उसके भीतर हमेशा अजय का एक हिस्सा मौजूद रहता है—क्योंकि लेखक का काम केवल निगम से नहीं चल सकता, उसके लिए अजय ज़रूरी है। सच्चाई यह है कि लेखक कभी इस धारणा से मुक्त नहीं होता कि सही अजय ही है और निगम उसकी रोशनी में अपनी छान-बीन करके वापस लौट आयेगा।

सच्चाई यह भी है कि निगम जिस दुनिया का होने का दम भरता है उस दुनिया का है नहीं—वह हमेशा दुहरेपन

१. मैं वे और आप: लेखक: देवराज; प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६, मूल्य ५.००।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का शिकार बना रहता है। इसीलिए उसे कोई चीज बौद्धिक रूप से खराब या अच्छी लगती है और फिर वही चीज़ सहज रूप से अच्छी या खराब लगती है। यह सिलसिला अन्त तक चलता है—दीपिका और निर्मला के बीच चुनाव के मसले तक। निगम की आधुनिकता और बौद्धिकता उसके व्यक्तित्व का सहज अंग नहीं है, वह काफी हद तक आरोपित है। यही लेखक का उद्देश्य भी है। वह निगम के द्वारा जिन लोगों की जमात का प्रतिनिधित्व करना चाहता है वे ऐसे ही दुहरे-पन में जीते हैं और कुल मिलाकर उनकी बौद्धिकता 'बुद्धि-विलास' से अधिक कुछ नहीं होती। अपनी खोल के भीतर वे प्यारे-प्यारे रूमानी बिम्बों, औरतों की हँसी, फूलों और मौसम पर मरनेवाले ही सिद्ध होते हैं! निर्मला और विमला की हँसी निगम को अच्छी लगती है और उसे देखकर 'दूर तक समतल पर फैली हुई सफेद बर्फ' का एहसास होता है पर बौद्धिक रूप से वे इसे नापसन्द करते हैं।

निगम साहब जिन मान्यताओं के खिलाफ हैं उनसे भी वे पूरी तरह मुक्त नहीं हैं और उन्हें लेकर वे बराबर एक 'अपराध बोध' में रहते हैं। इस रूप में उनका दृष्टिकोण एक नीतिवादी का है—अच्छाई-बुराई की रगड़ से गुज़रते हुए नीतिवादी का! मसलन निगम साहब का कहना है कि 'ज्यादातर फिलासफियाँ अस्वाभाविक और ज़रूरत से ज्यादा अमूर्त होती हैं।' उनकी यह बात उन्हीं के बारे में ज्यादा सच है। उनके जीने का तरीका चीज़ों को 'फिलॉसोफाई' करने का ही है—वे इस क्रम में जीते कम हैं 'फिलॉसोफाइज़' ज्यादा करते हैं। उनकी सारी दिनचर्या व्याख्याओं और वक्तव्यों से भरी हुई है जबकि उन व्याख्याओं तथा वक्तव्यों को जोड़ने वाली स्थितियों का खासा अभाव है। वे बहुत मामूली (पूरी तरह मामूली) स्थितियों पर लम्बी-चौड़ी व्याख्याएँ लादते चलते हैं और अकसर परस्पर विरोधी वक्तव्य देते रहते हैं। मसलन उनका प्रिय विषय औरत और प्रेम है—वे बौद्धिक हैं और औरतों तथा ज़िन्दगी के मामले में किसी तरह की भावुकता उन्हें पसन्द नहीं है—इसी सन्दर्भ में उनका अपने गहरे मित्र अजय से तीव्र विरोध भी है, लेकिन औरत उन्हें वही अच्छी लगती है जो शिष्ट हो, शालीन हो, मृदुभाषिणी हो तथा स्वच्छ दूधिया और फैली हुई बर्फ की तरह सफेद हँसी हँसती हो। वे केवल कहते भर हैं कि उन्हें 'बौद्धिक प्रखरता' वाली औरतें पसन्द हैं। यही हाल 'प्रेम' का भी है। उन्हें अपने 'प्रथम प्रेम'—सरोज प्रसंग का खयाल आता है तो वे कहते हैं कि 'मैं सरोज के बाह्य आकर्षण, रूप-रंग को प्यार करता था और जब वह आकर्षण खत्म हो गया···तो प्यार भी खत्म हो गया।' और वे अजय को समझाते हैं कि 'मेरे मित्र, तुम्हारी प्रेम की परिभाषा में एक बड़ी खामी है, वह सिर्फ शरीर के प्रति अनुभव किये जाने वाले आकर्षण को नहीं समझा सकती।'

लेकिन यह सब 'वक्तव्य' देने के बाद वे अपनी ही प्रेम की फिलॉसफी भूल जाते हैं 'लेकिन मैं नहीं समझता कि इस तरह की वासना को किसी मानने योग्य अर्थ में प्रेम का नाम दिया जा सकता है।'

इसी तरह निगमजी का तरीका यह है कि वे सूत्र देते हैं, फिर उस सूत्र की पुष्टि के लिए अपनी ज़िन्दगी की कोई घटना बयान करते हैं और इस तरह उनका 'दस्तावेज़' आगे बढ़ता है। लेकिन अकसर होता यह है कि या तो उस सूत्र से उस घटना का बहुत सतही सम्बन्ध होता है या वह पूरी घटना ही सूत्र का विरोधाभास प्रतीत होती है: एक जगह वे 'प्रेम' में उत्पन्न 'बोरियत' के सम्बन्ध में एक सूत्र देते हैं 'अपनी निरन्तर विद्यमानता और करीब स्थिति से वह मानो आपके ध्यान देने और रस लेने की ताकतों को थका देता है और यह थकान एक अजीब-सी ऊब और बोरियत में परिवर्तित हो जाती है।···मुझे ऐसा अनुभव कम-से-कम दो बार हो चुका है और एक बार यहीं आगरे में···।' और इस सूत्र की पुष्टि के लिए निगमजी जो घटना बयान करते हैं उससे पता चलता है कि प्रेम में यह 'विरक्ति' 'निरन्तर सान्निध्य' के कारण नहीं बल्कि शुद्ध आर्थिक कारणों से उत्पन्न हुई थी, 'सर्वजीत से छुट्टी पाकर मैंने राहत की साँस ली। मैं सचमुच बहुत बोर हो गया था और इस बोरियत का एक खास कारण यह था कि मेरी जेब से पूरे आठ रुपये और रिक्शे का व्यय मिलाकर लगभग दस रुपये खर्च हो चुके थे।'

मि॰ निगम की इन विसंगतियों के बीच उपन्यास का उद्देश्य तथाकथित आधुनिकता—बल्कि तथाकथित 'आधुनिक' की बखिया उधेड़ना है। लेकिन यह फैसला पूरी तरह एकपक्षीय हो जायगा अगर निगम या निगम-जैसे लोगों के बारे में पूरी जानकारी न दी जाय। लेखक की ओर से पोल खोलने वाली यह कोशिश तब पूरी तरह साफ हो जाती है जब वह निगम की ओर से कहता है 'तेरी यह चाल, तौबा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तोबा! रेडियो-सीलोन की यह धुन मुझे बेहद पसन्द है। जी हाँ, रेडियो पर मैं अकसर सीलोन स्टेशन ही लगाता हूँ। यह गीत मुझे खास तौर पर पसन्द पड़ता है— वह जैसे मेरी संवेदना को उसकी स्थूल असलियत में आकार देता है।'

लेकिन निगम-जैसे लोग केवल सिनेमा की संवेदना में नहीं जीते—तमाम तल्खी और तेज़ी के बावजूद उनका खोखलापन जिस धरातल पर होता है उन्हें केवल 'संचित स्थितियों' के सहारे नहीं पकड़ा जा सकता। उनके लिए स्थितियों की कल्पना उन्हीं की दुनिया के भीतर से करनी होगी। नार्मल मेलर का 'अमेरिकन ड्रीम' या इलिया कज़ान का 'एरेंजमेंट' इस खोखलेपन को उसी आतंकपूर्ण नाटकीयता के साथ उपस्थित करता है। दरअसल 'खोखलापन' दिखाने की यह क्रिया उस 'इतमिनान' के साथ हो ही नहीं सकती जो 'इतमिनान' इस उपन्यास में शुरू से अन्त तक बना रहता है। इसके लिए शायद एक पागल सभ्यता के मस्तिष्क को पारदर्शी बनाने की ज़रूरत पड़ती है।

यहाँ एक बात और स्पष्ट हो जानी चाहिए कि इस 'इतमिनान' के बजाय उपन्यास में एक 'आतंकपूर्ण शीतलता' होती—कुछ उस तरह की जैसी कैमू के 'दी फाल' में है—तब भी उपन्यास इस खोखलेपन को 'आत्मालाप' की सीमा में ही ज्यादा सफलता से खोलकर रख सका होता।

निगम साहब के इस 'हैपी गोलकी' दृष्टिकोण के पीछे भी जटिल स्थितियाँ नहीं हैं बल्कि दो सपाट कारण हैं: सरोज का असफल प्रेम तथा मित्र सुरेन्द्र की असामयिक मृत्यु ('इन घटनाओं ने मुझे अपने अतीत से, यानी उस दुनिया से जिसमें मैं अब तक कुछ सरल-सीधी आस्थाओं के साथ जी रहा था, एकाएक विच्छिन्न कर दिया।') शायद कोई चरित्र इतने 'आसान आघातों' से नहीं बनता। यह एक सरलीकरण है। लेखक ने निगम को चरित्र-निर्माण के इतने सीधे कारणों से नहीं जोड़ा होता तो वह ज्यादा जानदार बन सका होता और उसका विरोध भी ज्यादा ताकत के साथ किया जा सकता था।

पूरा उपन्यास एक 'लगातार सोच' की प्रक्रिया में लिखा गया है—एक गम्भीर 'सोच' की प्रक्रिया में! इस सोच के आधार पर ही उन्हें स्थितियों से जोड़ा गया है। हिन्दी में कम उपन्यास इतनी 'गम्भीर सोच' के साथ लिखे जाते हैं। साथ ही यह 'सोच' इतनी प्रासंगिक भी है कि एक समूची—पनपती हुई संस्कृति के सम्मुख कुछ अत्यन्त सार्थक प्रश्न खड़े कर सकी है।

उपन्यास में चीज़ों पर गौर करने का तरीका काफी विकसित है—खासतौर पर चेहरों और लोगों के स्वभावों का विश्लेषण लेखक बड़े विकसित गद्य में करता है जिसमें उनके ठीक-ठीक पकड़े जाने का पूरा बोध होता रहता है।

भावुकता के बावजूद

नित्यानन्द तिवारी

इधर कुछ दिनों में कई बड़े-बड़े उपन्यास लिखे और प्रकाशित कराये गये। ऐसा लगता है कि एक बड़े फलक पर जीवन की तमाम जटिलताओं को उसके सभी सन्दर्भों के विवरण के साथ रखकर देखने-समझने की आवश्यकता महसूस की गई। परिस्थितियों के उलझाव, मानसिक बनावट के अनेक स्तर और उसके कारण संघर्ष और आदमी के प्रयत्नों के अद्वितीय रूपों में से कुछ को चुनकर ज़िन्दगी की अपेक्षाकृत एक साफ तस्वीर पेश करते हुए औपन्यासिक कलारूप में अपने को व्यक्त करने के स्थान पर इन सबके साथ उलझते-जूझते हुए तात्कालिक और बड़े करीब से जीवन को झेलने का एहसास इन कृतियों में उभरता हुआ लगता है। यह एहसास औपन्यासिक बनावट और कलानुशासन को तोड़ देता है। उपन्यास का विकासक्रम मात्र गतिक्रम में परिवर्तित हो जाता है और प्रभावान्विति का अन्तिम बिन्दु पर संकेन्द्रण सारे परिस्थिति-संदर्भों और उसकी प्रक्रियाओं में विखर जाता है। इसीलिए केवल अंतिम बिन्दु से लिया गया प्रभाव और उसके आधार पर दिया गया निर्णय सतह का फेन बटोरने से अधिक महत्व नहीं रखता—ऐसा मुझे लगता है। कृति को उसकी समग्रता में जाँचने का सवाल काफी दिनों से उठाया जाता रहा है, लेकिन उसके साथ-ही-साथ 'अंत गड़बड़ा गया' या 'अंत में उपन्यासकार सम्भाल नहीं पाया' इस तरह का वाक्य भी बराबर लिखा और सुनाया जाता रहा।

'जल टूटता हुआ'[१] पढ़ने के बाद मुझे भी ऐसा ही लगा

१. 'जल टूटता हुआ', रामदरश मिश्र, हिन्दी प्रचारक संस्थान वाराणसी, मूल्य १५ रु०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि उपन्यासकार ने यह क्या किया। अंत तो कोई प्रभाव नहीं छोड़ता। और फिर इस उपन्यास पर मैंने सोचना छोड़ दिया। यह सोचना—जो प्रभावान्विति के अंतिम बिन्दु पर संकेन्द्रण वाले संस्कार से अनुशासित था—छोड़ने के बाद उपन्यास फिर भीतर-ही-भीतर मुझे जकड़ने लगा। इसका अंत 'राज-पाट लौटाने' वाला जैसा है, सतीश का संघर्ष कभी न पराजित होने वाले नायक के पराक्रम जैसा है और बावजूद इन अप्रायोगिक कलात्मक अनुशासनों के भी यह कृति क्यों और कहाँ से स्पर्श कर ले रही है। कभी-कभी इस तरह भी मैंने देखने की कोशिश की कि लेखक ने कहीं इन पुराने अनुशासनों का नया कलात्मक उपयोग तो नहीं किया है लेकिन इस कृति में जिस गंभीरता का निर्वाह किया गया है वह इस तरह से सोचने का रास्ता भी नहीं देता। ग़ैर-ज़िम्मेदाराना मखौलपूर्ण अन्दाज़ और व्यंग्य की काट, जिसके सहारे पुराने का सक्षम कलात्मक उपयोग किया जा सकता है, इस लेखक का रास्ता नहीं है।

इस उपन्यास में सबसे अधिक प्रभविष्णु है दीनदयाल तिवारी का चेहरा जो अपनी सौम्य सहिष्णुता के साथ आदमी का खून पी लेने की गजब की ताकत रखता है और वह सबसे पहले याद आता है जिसके सहारे इस कृति की पाठ-प्रक्रिया फिर से शुरू की जा सकती है, क्योंकि एक बार पूरी पढ़ ली जाने के बाद कृति अपनी समग्रता में पढ़ने का दूसरा क्रम और दूसरा स्तर खोलती है। "दीनदयाल पान की दुकान पर खड़े-खड़े पान चुभला रहे हैं और उनका नौकर उनके लिए गोश्त खरीद रहा है···कसाई के हाथों में बकरा छटपटा रहा है, उसकी आँखें निकल आई हैं, फिर ठंडा हो जाता है। बहे हुए रक्त पर दो कुत्ते लड़ते-लड़ते एक-दूसरे पर चढ़ बैठते हैं। दीनदयाल पान की दुकान से पान खाता हुआ बड़े रस से यह सब देखता है फिर हँस पड़ता है।" (पृ० २९९) दीनदयाल की इस हँसी और रस में उस अमानवीय और क्रूर बर्बरता की भूमिका खुलती है जो सिर्फ संभावना के नाम पर आदमी के पास बची रह सकी है। आदमी को उसकी तमाम परतों के साथ पहचान लेने में उसकी बड़ी पैनी निगाह है और वह सबसे अधिक मार्मिक जगह और सर्वाधिक उपयुक्त अवसर पर घात करने में माहिर है। वह इतना लचीला और क्रूर है कि उसे सिर्फ आधुनिक कहा जा सकता है। एक उदाहरण 'अरे जगदीश काका, मैं तो आपका उपकार कर रहा हूँ यह कर्ज बढ़ता ही जाएगा और आप कभी दे सकेंगे इसमें मुझे शक है। मेरी भी झंझट दूर हो जाएगी और आपकी भी, इसलिए मैंने सीधा उपाय सोचा है। कुर्कअमीन साहब काम होने दीजिए, जगदीश काका तो वर्षों से यही कह रहे हैं।' अमलेशजी, जो विद्वान् वक्ता, कवि और निहायत शरीफ आदमी हैं, भाषण देने लगते हैं—'रुको दीनदयाल, तुमने मुझे समझा क्या है! तुम्हारे जैसे कमासुत लोगों को चाहूँ तो रोज़ पैदा करूँ।···तुम्हारे जैसे होशियार लोग केवल दूसरों का थूक चाटने के लिए होशियार बनते हैं। हिम्मत हो तो आ जाओ किसी भी मैदान में—साहित्य पर बहस कर लो, हिसाब लगा लो, खेत नाप लो, गाँव और देश की राजनीति पर बातें कर लो, है हिम्मत? और भी न जाने क्या-क्या!' दीनदयाल उसी मीठे स्वर में अमृत झारते हुए बोले, 'जगदीश काका, आप नाहक मेरे ऊपर नाराज होते हैं। आखिर रुपया दिया है तो वसूली भी करनी ही होगी। मैंने आपकी बराबरी भला कब की, आप पंडित, कवि और मस्त व्यक्ति, मैं एक अदना-सा आदमी—खेती-बारी सँभालने में ही जिन्दगी बिताने वाला देहाती। खैर आपकी बात का क्या बुरा मानना?' दीनदयाल की पान चुभलाती हुई मुद्रा अमलेशजी को खा जाती है बड़े सौम्य और सहिष्णु भाव से। उसने किसको नहीं खाया! सारे गाँव को वह अपनी बेअसर खाल लिए पान की तरह चुभलाता रहता है। अमलेशजी की तरह लोग गाली देंगे, उत्तेजित होकर भाषण देंगे और वह रस लेकर सबको चुभलाता रहेगा। दीनदयाल एक ऐसा कोण बन जाता है जहाँ से सफलता-असफलता की परिभाषाएँ बदल जाती हैं, नैतिकता-अनैतिकता भोथरी हो जाती है, सम्बन्ध और आदमियत इस्तेमाल की चीज़ बन जाती हैं और जीवन परिस्थितियों का सिर्फ गड्डमड्ड। इस उपन्यास में बड़े पैमाने पर परिस्थितियों का गड्डमड्ड और उनमें घिसटते हुए जीवन का दुःख खुभा हुआ है। इन्हीं परिस्थितियों के जंगल में यह उपन्यास ले जाकर छोड़ता है (निश्चय ही अंत को ध्यान में न रखें तब) जहाँ एक के बाद दूसरी परिस्थितियाँ और परिस्थितियों के भीतर की परिस्थितियाँ और अधिक उलझती और जकड़ती चली जाती हैं। ग़रीबी, बीमारी, अशिक्षा, बेरोज़गारी, स्वार्थ की कमीनी हरकतें, राजनीति, पंचायत, चकबन्दी, छिनालपन और बहुत-सी बातों को जिन परिस्थितियों में से लेखक ने उभारने का प्रयत्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है वह बड़े करीब से ज़िन्दगी का एहसास कराता है। और सबसे बड़ी बात यह एहसास ही है जहाँ से कृति का प्रभाव निर्मित होता है।

यह एहसास और प्रभाव-निर्मिति परिस्थितियों की अनेक वर्तुलाकार पर्तों के भीतर से उभरी हैं। सभी झेलते हैं, जाल रचते हैं, दाँव लगाते हैं। लगभग सभी जानते हैं कि कौन किस तरह की चाल खेल रहा है। कुछ भी ऐसा घटित नहीं होता जहाँ रहस्य और आश्चर्य किया जा सके, लेकिन बचाव की सारी सावधानी अपनाते हुए भी फँसते सभी हैं। रामकुमार, दीनदयाल, दौलतराय, महीपालसिंह, मास्टर सुग्गन, दलसिंगार कोई भी छूटा नहीं है। जानते हुए, सावधानी की तमाम कोशिशों के बावजूद फँस जाने वाली परिस्थितियों का स्वीकार ज़िन्दगी की वह मजबूरी है जिसे न झेलते बनता है न भागते और इस बिन्दु पर आकर लेखक को इन तमाम बातों का रचाव, इतना जटिल, इतना परिचित, इतना सीधा और इतना अद्वितीय बन जाता है जितना स्वयं जीवन। यहीं बिन्दु है जहाँ रामदरश मिश्र सफल होते हैं, हो सकते हैं। सबकी मजबूरी का फायदा सब उठाते हैं। सतीश, रामकुमार पंचायत का चुनाव लड़ने की योजना बनाते हैं, अपनी गोटी बैठाते हैं। मास्टर सुग्गन उनकी सहायता करने के लिए वचनबद्ध हैं लेकिन 'नहीं लड़िएगा तो मत लड़िएगा, बाबू महीपसिंह ने कहलाया था, कह दिया, मुझे क्या?' 'दीनदयाल बात को यहीं अटकाकर चलता बना, वह जानता था कि यह अटकी हुई बात मास्टर सुग्गन के दिल में कँटिया की तरह अटक जाएगी जो न बाहर होगी न भीतर, वह इसी में तड़पेगा।' मास्टर सुग्गन जानते हैं सतीश अच्छे आदमी हैं, उनका साथ देना चाहिए, लेकिन दीनदयाल कँटिया अटका जाता है। महीपसिंह बोर्ड के मेम्बर हैं, मास्टर अगर उनका कहना नहीं मानता तो तराई में तबादला हो जाएगा। घर पर पत्नी है, जवान लड़की है, गरीबी है, अगर तराई में तबादला हो गया तो वह डूब जाएगा। वह निर्णय ले लेता है और दीनदयाल, महीपसिंह ज़बर्दस्ती उसके भीतर से उग आते हैं। वह सतीश के खिलाफ पंचायत के चुनाव में सरपंच के लिए खड़ा हो जाता है। वह सतीश का विरोध करना नहीं चाहता, चुनाव लड़ना नहीं चाहता, दीनदयाल और महीपसिंह का साथ देना नहीं चाहता। लेकिन तराई, जवान लड़की, गरीबी और तबादला। दीनदयाल और महीपसिंह कँटिया की तरह गड़े हैं और वह सब-कुछ करता है। सवाल ही नहीं है मन-मुताबिक चुनने और करने का। सारी विसंगति को अपने-आप ओढ़ना है, झेलना है। यह उपन्यास आदमी की ऐसी मजबूर परिस्थितियों से भरा हुआ है जिसे मैंने ऊपर परिस्थितियों का जंगल कहा है। बंसी, महावीर दुबे, कुंजू, गीता पार्वती, बदमी सभी उस जंगल का त्रास झेलते हैं। जो सिर्फ तात्कालिक देना-पाना कर सकता है चलता रहता है। भावनाशून्य हो सकता है जीता रहता है और जिसकी यह काल-धारणा गड़बड़ा जाती है वह इस निरवधि तनाव में गीता की तरह बंजर और अनस्तित्व में बदल जाता है। इस उपन्यास में इस तरह के बंजर और झर जाते हुए लोगों की एक कतार खड़ी है लेखक जिसका बड़ा ही क्रूर और भयावह एहसास उपजा सका है। दीनदयाल चुनाव में हारकर भी जगह-जगह से उभरता और जीतता हुआ सतीश के पराक्रम, गीता, बदमी, कुंजू, बंसी, सलोना को उनकी वेदनाओं सहित पान की तरह रस से चुभलाता रहता है। इस उपन्यास में ज़िन्दगी की वास्तविकता इसी कोण पर फूटती है और अपनी गुंजलक में पाठक को लपेट लेती है।

इस ज़िदगी के समानान्तर एक और ज़िन्दगी का एहसास लेखक के पास है जिसे वह उभरती और निर्मित होती हुई ज़िन्दगी मानता है। "गाँव टूट रहा है, मूल्य टूट रहे हैं, सत्य टूट रहा है, कोई किसी का नहीं, सब अकेले हैं। एक-दूसरे के तमाशाई, वही क्यों सबका ठीका लिए फिरे···गाँव टूट रहा है···मगर नहीं एक नया गाँव बन भी रहा है किसानों, मजूरों का। जगपतिया का खेत नहीं कटवा सके महीपसिंह। वह अकेला नहीं था उसके साथ अनेक हाथ उठ गए थे मरने-मारने को तैयार।" सतीश इस नये बनते गाँव और नई बनती ज़िन्दगी का ठीका ले लेता है। चोर, डाकू, बदमाश उसके सामने आते ही विनम्र हो जाते हैं, घिघियाने लगते हैं। महीपसिंह जैसे प्रभावशाली और दीनदयाल जैसे चालाक लोग सामने से कोई घात नहीं कर पाते। वह हरएक को अपने प्रताप से फटकार देता है, सत्य, न्याय और मनुष्यता की रक्षा के लिए कटिबद्ध है और तमाम चालों की संगठित शक्ति के सामने भी वह चुनाव में जीत जाता है। अभावों से चूर और नैतिक संवेदना से लबालब भरा यह प्रतापी नायक इस उपन्यास का सर्वाधिक भोथरा और निरर्थक प्राणी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुःख इस बात का है कि लेखक अपनी तमाम संवेदनात्मक क्षमता के साथ इसमें विश्वास करता है। सतीश की गरीबी भी भाई के आई० ए० एस० बन जाने से मिट जाती है और वह हर ओर से विजयी और सुखी नायक बन जाता है। यह भावुकता और गंभीरता इस लेखक की बड़ी भारी कमजोरी है जो उसकी तमाम लेखकीय क्षमताओं की धार को भोथरा और निस्तेज करके छोड़ती है। जगपतिया जो किसानों और मजदूरों की बनती हुई दुनिया का प्रतिनिधि है वह ऐतिहासिक संदर्भ में क्रांति की उभरती हुई ताकत का प्रतिफल न होकर वैयक्तिक और भावुक धरातल पर एक अकड़ू मुद्रा की तरह लगता है जिसकी आज कोई अहमियत नहीं है। शारदा और मास्टर का प्रेम-प्रसंग जो अनेक बाधाओं के रहते अंत में सफल भी हो जाता है जाने क्यों बहुत सारे पन्नों में फैला हुआ है। उस लिजलिजी भावुकता से तो पार्वती का छिनालपन कहीं बेहतर है। भावुकता और सघनता के बीच तटस्थता का बाँध रह-रहकर टूट जाता है और लेखक की प्रतिभा का जल टूट-टूटकर अलग-अलग परिस्थितियों में बहने लगता है।

उपन्यास अपने रंगों, दृश्यों और छवियों में आंचलिक है। मउगा, दलसिंगार, बनवारी, फेकूं, डलवा आंचलिक सरसता और अनोखापन पेश करते हैं। संदर्भ-वृत्तीय शब्दों और वाक्यों का प्रयोग काफी दूर तक सर्जनात्मक धरातल पर हो सका है। सुखद बात यह है कि लेखक आंचलिकता की सीमाओं से परिचित है और उसने उसका उपयोग किया है। जहाँ वह सफल हुआ है उसकी आंचलिकता बाधा नहीं बनी है बल्कि जीवन की तमाम जटिलताओं को संदर्भ-विशिष्ट विश्वसनीयता के साथ उजागर करती है।

अंचल-विशेष में उभरने वाली जीवन की रेखाओं के पर्यवेक्षण में बड़ी गहराई और विस्तार है जो सारे उपन्यास को दीनदयाल के चेहरे से पढ़ने की माँग पेश करते हैं जबकि लेखक सतीश के पराक्रम से इस कृति को पढ़वाना चाहता है। उपन्यास की परिस्थितियों और लेखकीय दृष्टिकोण के अलगाव का संकट मिश्रजी के लेखन की ट्रेजिडी है। जब तक लेखक सतीश और शारदा से अपने को नहीं तोड़ता तब तक उसकी कलात्मक क्षमताओं के पूरे उपयोग की हमें प्रतीक्षा करनी होगी। उस प्रतीक्षा का आश्वासन लेखक की शक्ति और जीवन की पहचान में जरूर मिल जाता है जिसकी उपेक्षा कर पाना संभव नहीं है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनिमय

विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा

कर्णसिंह चौहान

'विश्वविद्यालय में साहित्य-शिक्षा' पर आयोजित संवाद में भाग लेने वाले सभी प्राध्यापक हैं—ऐसे अध्यापक जो न केवल विश्वविद्यालयीय अध्यापन-प्रक्रिया से पूर्णतया सचेत रूप में परिचित हैं बल्कि उस प्रक्रिया को सही संदर्भों में रखकर देख सकने में भी समर्थ हैं और इसीलिए उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे विश्वविद्यालयीय 'अन्तःपुर' के रहस्यों को ही उद्घाटित नहीं करेंगे अपितु साथ-साथ उसे समस्त संदर्भों से जोड़कर पाठक को सकर्मक दिशा प्रदान करने में योग देंगे। 'आलोचना' में ही प्रकाशित पीटर वाइस का एक कथन गूंजता है—"क्या मैं तीसरे शिविर की वह सुविधाजनक स्थिति छोड़ सकता हूँ जो हमेशा मेरे लिए पिछवाड़े का दरवाज़ा खुला रख आती है···" क्या अभी भी हम बुद्धिजीवियों की ढुलमुल भूमिका में उतरते रहेंगे ? क्या सच्ची बातें कहने का समय अभी भी नहीं आया है ? कितना पहले मुक्तिबोध ने कहा था—

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे।
तोड़ने होंगे मठ और गढ़ सब।

हाँ ! अब खामियाँ-भर गिनाना पर्याप्त नहीं है, इस या उस बात के दोषपूर्ण होने की ओर उँगली-भर उठाना काफी नहीं है, बात को निरामिष बनाकर कहने से नहीं चलेगा—तीसरे शिविर की सुविधाजनक स्थिति से बाहर आकर विश्वास के साथ कहना होगा कि "सच बात यह है।" सही बात को निःस्संकोच भाव से कहने के लिए आवश्यक हो गया है कि प्रस्तुत संवाद में कुछ जोड़ा जाय।

संवाद पर आएँ तो तीन बातें हैं जो विषय से और परस्पर एक-दूसरे से जुड़ी हैं। अन्य बातें अवान्तर हैं, गौण हैं या उन्हीं से, उन्हीं को लेकर हैं। वे हैं—(१) विश्वविद्यालयीय ढाँचा, (२) पाठ्य-क्रम, (३) अध्यापन।

'विश्वविद्यालय में साहित्य-शिक्षा' पर विचार करते हुए इन तीनों बातों से हमारा सामना होता है, जो एक-दूसरे के साथ इस घनिष्ठ रूप से जुड़ी हैं जिसे सामने लाने के लिए उस भयंकर विराट प्रक्रिया को समझना होगा जो इन तीनों को एक साथ जोड़ती है। यह आवश्यक इसलिए कि विश्वविद्यालय की 'साहित्य-शिक्षा' एक ओर उस अध्यापक तबके से जुड़ी है जो विभागीय निर्वाचन-प्रक्रिया एवं प्रशासन प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं, विभाग जो कि विश्वविद्यालयीय ढांचे का अभिन्न अंग है, और विश्वविद्यालय सामाजिक व्यवस्था तथा उसकी नियामक शक्तियों के प्रतिफलन व हथियार हैं; तो दूसरी ओर उस पाठ्यक्रम से जिनमें यही सब व्यक्ति निर्णय समितियों में विद्यमान हैं; और तीसरी ओर उस अध्यापन-पद्धति से जो उस 'विशेष प्रकार' के पाठ्यक्रम को कुछ 'विशेष ढंग' से पढ़ाकर नियंताओं के सुनियोजित उद्देश्यों की पूर्ति करती है। और इसीलिए इस विषय से सम्बद्ध बातों को न तो अलग-अलग गिनाना भर काफी है, न उसका विच्छिन्न विश्लेषण बल्कि इस सुनियोजित चक्र को सामने खोलकर रखना जरूरी है जिससे कि बातें ग्राह्य बन सकें और दिशा दे सकें।

सबसे पहले जो चीज़ सामने आती है वह है—विश्वविद्यालयीय ढाँचा। विश्वविद्यालय से सम्बन्धित किसी भी चीज़ पर विचार करते हुए या उनमें परिवर्तन की माँग प्रस्तुत करते हुए सबसे प्रथम और अनिवार्य टकराहट इसी के साथ होगी और निश्चित रूप से इसका गठन एवं नियंत्रण किसी भी ऐसे परिवर्तन को बरदाश्त नहीं कर सकता जो इसके मूलभूत स्वार्थों को चोट पहुँचाता हो। हम जानते हैं कि समाज (और उसमें भी उत्पादन-सम्बन्ध) आधार हैं।

१. लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में एम० लिट० अंतिम वर्ष का छात्र है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार के अनुरूप संस्थाएँ उभरती हैं तथा राजनैतिक, दार्शनिक, कलात्मक आदि विचार उभरते हैं जो 'अधिरचना' (सुपर-स्ट्रक्चर) हैं। और इस प्रकार संस्था होने के नाते विश्वविद्यालय 'अधिरचना' के अन्तर्गत आते हैं। हर समाज में एक शक्ति होती है (सामाजिक वर्ग या उसकी प्रतिनिधि) जो समाज को नियंत्रित करती है। यह नियंत्रण दो तरह से होता है—संस्थाओं और उनमें प्रदत्त विचारधारा द्वारा और राज्य तथा सरकार द्वारा। वस्तुतः राज्य एक माध्यम है जिसमें सामाजिक शक्ति संचित होती है और जो उसका संचालन विविध प्रकार से करता है, ज़ाहिर है कि विश्वविद्यालय भी एक साधन हैं। हमने जन-कल्याण के लिए संसदीय प्रणाली या प्रजातंत्र को चुना था और उससे अपेक्षा की थी कि एक ओर जहाँ वह अपने प्रशासन द्वारा अपना उत्तरदायित्व पूर्ण करेगा वहीं अपने विविध संस्थानों द्वारा भी उसी कल्याण-कार्य को बढ़ावा देगा। लेकिन हुआ क्या? हमारे राज्य का इस्तेमाल पूँजीशाहू वर्ग ने आत्महित के लिए कर डाला और इसीलिए एक ओर जहाँ विशाल जनता शोषण के चक्र में पिसती चली गई, शोषित जनता गहन अंधकार की खोहों में भटक गई है और उसकी भावी आशा एक अन्तहीन प्रतीक्षा-सी दीखने लगी है; वहीं दूसरी ओर उस राज्य द्वारा नियंत्रित संस्थानों ने भी पूँजीशाहू वर्ग द्वारा नियंत्रित राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति में कम योगदान नहीं दिया। राज्य-व्यवस्था के चरित्र के सारे गुण उसमें भी विद्यमान हैं—हमारे विश्वविद्यालय इसके जीते-जागते प्रमाण हैं। विश्वविद्यालयों में गैर-बराबरी वाली मान्यताओं से भरे दिमाग, शक्ति और पद से मोहाच्छन्न लोग, अजनतान्त्रिक क्रियाप्रणाली, बेमानी पाठ्यक्रम और दकियानूसी अध्यापन, पूंजीवादी बुर्जुआ अधिरचना के अनिवार्य परिणाम हैं। एक तरफ गठन और नियंत्रण पर जहाँ राज्य का सीधा कब्ज़ा है तो दूसरी ओर उसके नीचे इजारेदारी अच्छी तरह फूल-फल रही है। दिल्ली विश्वविद्यालय का उदाहरण दूँ तो कालेजों को निबंधित (कंट्रोल) करने वाली प्रबन्ध-समितियों में अनपढ़ पूंजीपतियों की स्थिति से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि किस तरह ये इजारेदारी के अड्डे बने हुए हैं। कालेजों को ५ प्रतिशत चंदा देने वाले पूंजीपतियों का संपूर्ण कालेज पर कब्ज़ा होता है, दाखिले से लेकर नियुक्ति तक और प्रबन्ध से लेकर शैक्षणिक मामलों तक इनकी राय एकमात्र निर्णायक होती है।

कहने का अर्थ यही है कि जब हम पाठ्य-क्रम या अध्यापन या अन्य छोटे-मोटे दोषों की ओर ध्यान दिलाकर छुट्टी पा जाना चाहते हैं, या जब हम उनमें परिवर्तन के सुझाव पेश करते हैं तो शायद इसके इस पूर्ण संदर्भ को भूल जाते हैं जो हमें न केवल संपूर्ण विश्वविद्यालयीय गठन व राज्य के साथ उसके सम्बन्धों पर विचार करने के लिए बाध्य करता है बल्कि उसके साथ ही संपूर्ण सामाजिक स्थिति का विश्लेषण करने के लिए भी हमें बाध्य कर देता है। और यहाँ हम पाते हैं कि आधार में अर्थात् सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था में (संक्षेप में कहें तो उत्पादन सम्बन्धों में) परिवर्तन लाये बिना (जिन पर विश्वविद्यालय अधिरचना खड़ी है) इसमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन की बात बेमानी होगी अर्थात् जब तक सही अर्थों में राज्य का जनकरण नहीं हो जाता, जब तक जनता के लोकतन्त्र की स्थापना नहीं हो जाती, तब तक न तो विश्वविद्यालय के गठन में ही जनतंत्रीकरण किया जा सकता है और न अन्य किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन की आशा की जा सकती है। लेकिन इससे इस बात का खंडन नहीं हो जाता कि इसमें वांछित सुधारों की लड़ाई लड़नी होगी, लड़ते रहनी होगी। क्योंकि हर प्रकार के सुधार एक ओर जहाँ उस व्यवस्था को कमज़ोर बनाते हैं तो दूसरी ओर परिवर्तन की ज़रूरत को महसूस कराते हैं और दिलों में एक संगठित विद्रोह की धारणा को मज़बूत बनाते हैं, साथ-ही-साथ उस अनुभव से गुज़रते हैं जिनमें आदमी यह महसूस करता है कि मेरी यह परिवर्तन की लड़ाई सम्पूर्ण व्यवस्था से जुड़ी है और यहाँ वह अकेला नहीं है उस जैसे अन्य भी हैं जो हर जगह परिवर्तन के लिए लड़ रहे हैं। इसलिए मैं कहना चाहता हूँ कि यह आधार और ढाँचे वाला परिवर्तन एक-दूसरे को प्रभावित करता है, एक-दूसरे को योग देता है और क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। निष्कर्ष यही कि चाहे 'साहित्य-शिक्षा' पर ही विचार करें विश्वविद्यालयीय-प्रक्रिया व उससे सम्बद्ध अन्य सभी बातें सामने आती हैं और यह ऐसा आधार है जिसके बिना उससे संबंधित चीज़ों पर बात नहीं की जा सकती। और यहीं हमें समाज का पूरा विश्लेषण प्रस्तुत करने की ज़रूरत होती है।

दूसरी बात पाठ्यक्रम में परिवर्तन को लेकर है जो सीधे तौर पर 'साहित्य-शिक्षा' से जुड़ी है। इससे पहले कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठ्यक्रम में परिवर्तन पर बात की जाय, मैं महसूस करता हूँ कि देश के विश्वविद्यालयों के हिन्दी पाठ्यक्रम को मिलाकर देखा जाय। ऐसा करने पर ऐसी आश्चर्यजनक बातें सामने आएँगी जो बिना अपनी ओर से कुछ भी कहे उसके पीछे के सारे मन्तव्यों को स्पष्ट कर देंगी कि कौन-कौनसे कवि निश्चित रूप से वहाँ हैं और वे क्यों हैं ? इसी तरह यदि सारे विश्वविद्यालयों की हिन्दी परीक्षा में पूछे गये प्रश्न-पत्रों पर ध्यान दिया जाय तो अच्छी तरह समझा जा सकता है कि पाठ्यक्रम को पढ़ाने में नज़रिया क्या रहता होगा और विद्यार्थियों से क्या अपेक्षा की जाती है या उन्हें क्या बनाया जाता है तथा साथ ही यह भी कि क्यों बनाया जाता है ? यह अलग से खोज का विषय है जो इस पूरी प्रक्रिया को समझने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग देगा।

पाठ्यक्रम को लेकर संवादियों ने भी अनेक मौलिक और संगत सुझाव पेश किये हैं और इस बात पर क्षोभ प्रकट किया है कि पाठ्यक्रम में नवीन साहित्य को न रखा जाकर प्राचीन साहित्य को ही रखा जाता है। क्षोभ स्वाभाविक है। और इस बात से पूर्ण सहमति होते हुए भी कि "पुराना साहित्य वहाँ होकर भी नहीं है" नये साहित्य को पाठ्यक्रम में रखने की माँग एक सही कदम है। लेकिन यह इति नहीं है। देखना यह भी होगा कि विभाग-नियंता नये से क्या अर्थ लेते हैं और नये में से किसे स्वीकार करते हैं ? और फिर यह बात कहनी होगी कि नये साहित्य में से भी वह जिसमें प्रगतिशील मूल्यों की प्रतिष्ठा हो जो समाज के प्रति और मानव के सुखद, उज्ज्वल और सुन्दर भविष्य से प्रतिबद्ध हो। लेकिन इसके आगे भी कुछ रह जाता है। मान लीजिए मुक्तिबोध या उस जैसा कोई भी आधुनिक कवि पाठ्य-क्रम में रख दिया जाता है तो उससे कितना बड़ा अन्तर पड़ जाएगा ? हम जानते हैं कि किस प्रकार मैथिलीशरण गुप्तीय साहित्य-रस में निमग्न व्यक्ति एक विशेष निर्वाचन-पद्धति (जिसमें अनेक सेंसर काम करते हैं) से अध्यापक बनता है, तो कैसे उनसे यह अपेक्षा की जा सकती है कि उनके द्वारा मुक्तिबोध के काव्य के बजाय मुक्तिबोध का बिम्ब-विधान एकदम उसी रूप में नहीं पढ़ाया जाएगा जिस रूप में पन्त का प्रकृति-चित्रण पढ़ाया जाता है ? क्या वे भी गुप्त-बन्धुओं की श्रेणी में नहीं रख दिये जाएँगे ? इसलिए केवल नवीनता का आग्रह ही अपने-आप में पर्याप्त नहीं है उसके साथ अनिवार्य रूप से अन्य दो माँगें भी जुड़ी हैं कि नये में से भी कौन-सा और साथ ही कैसे पढ़ाया जाए ? अत: केवल नये पर ज़ोर देने के साथ ही इस बात पर ग़ौर करना भी ज़रूरी है कि गड़बड़ जितनी पाठ्यक्रम के चयन में है उससे अधिक उस अध्यापन (चयन+विधि) में है, उस प्रक्रिया में है जो जाने-अनजाने अध्यापन को एक खास किस्म का होने को मजबूर करती है। संक्षेप में यही कि पाठ्यक्रम के चयन में कम-से-कम उद्देश्य का स्पष्ट होना ज़रूरी है; कि साहित्य का ऐसा पाठ्यक्रम जो एक ओर संवेदनात्मक ज्ञान को पुष्ट करने में मदद दे और दूसरी ओर उससे विद्यार्थी में इतिहास-बोध का विकास हो, उसका ज्ञानात्मक आधार पुष्ट हो— और स्पष्ट ही यह कार्य अकेले पाठ्य-क्रम का नहीं है, अध्यापन का भी है।

तीसरा और अन्तिम विचारणीय पक्ष है—अध्यापन। अध्यापक के लिए मात्र व्याख्यापरक और ठेठ सौंदर्यपरक दृष्टिकोण ही पर्याप्त नहीं है (हालाँकि वह एक खास विचार-धारा से सम्बन्धित है या अनजाने में उस विचार को योग देता है)। अध्यापक का दायित्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण और बड़ा है। अपने सम्पूर्ण सन्दर्भों में पढ़ाया जाकर ही साहित्य कुछ उपयोगी हो सकता है—दृष्टि-विस्तार, इतिहास-दर्शन, विकास-प्रक्रिया की समझ। लेकिन यह होगा कैसे ? इसके सम्बन्ध में समीक्षक के लिए जो मुक्तिबोध ने कहा है वही मैं अध्यापकों के लिए कहना चाहता हूँ—"असल में वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति के अभाव में, साहित्य के क्षेत्र की समीक्षा थोथी होती है। इसीलिए समीक्षक का आदिकर्तव्य वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति का विकास करना है। जीवन की परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, गतिविधियों और उसमें पले हुए व्यक्तियों का संवेदनात्मक ज्ञान जब तक समीक्षक को नहीं है (और वह हो नहीं सकता जब तक कि अपने वर्ग, श्रेणी या समाज की व्यापक ज़िन्दगी में समीक्षक की हिस्सेदारी न हो) तब तक समीक्षक की साहित्यिक समीक्षा कुतिया के उस बच्चे के समान है, जिसकी आँखें नहीं खुली हैं।"

ठीक यही बात मैं विश्वविद्यालयीय अध्यापकों के बारे में कहना चाहता हूँ। साहित्य से उनका परिचय परीक्षा में पूछे जाने वाले प्रश्नों के माध्यम से होता है (उनके द्वारा लिखित अधिकांश पुस्तकें व शोध-प्रबन्ध इसके सबूत हैं) तथा समाज से उनका परिचय विश्वविद्यालयीय-गोष्ठियों, विचार-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महफिलों में होता है। स्पष्ट है कि विश्वविद्यालयीय अध्यापकों की सब-कुछ से कटी दृष्टि कैसे साहित्य को सही संदर्भों में रखकर देख और दिखा सकती है ? कैसे वह साहित्य की मूल संवेदना को पकड़ सकती है ? जब वास्तविक जीवन में पाये जाने वाले तत्त्व ही साहित्य की कसौटी हैं तो अध्यापक के हवाई सिद्धान्त या उसकी कल्पनाएँ साहित्य को समझा सकती हैं ?

प्रश्न उठता है कि इन तीनों बातों का 'साहित्य-शिक्षा' के संदर्भ में क्या औचित्य है ? जब हम पाठ्यक्रम में परिवर्तन की बात करते हैं तो किसलिए करते हैं ? जब हम अध्यापन में परिवर्तन की बात करते हैं तो क्यों करते हैं ? इसलिए कि हम साहित्य-शिक्षा में बनी हुई उस स्थिति को तोड़ना चाहते हैं जो एक ओर तो स्वयं साहित्य के लिए सबसे बड़ा खतरा बन गई है और दूसरी ओर जो वर्ष-प्रतिवर्ष ऐसे दकियानूस दिमाग तैयार करके समाज में भेज रही है जो न केवल अनुपयोगी सिद्ध होते हैं बल्कि सामाजिक प्रगति के मार्ग में बाधा बनकर खड़े होने के लिए अभिशप्त हैं। अर्थात् इसके द्वारा एक ओर जहाँ हम साहित्य की सही समझ विकसित करना चाहते हैं वहीं इतिहास-बोध और समाज-दर्शन की भी। इसके साथ ही जब हम साहित्य की मूल संवेदनाओं को पकड़ने की बात करते हैं तो उसका क्या मतलब होता है ? उससे हमारा मतलब होता है मानव की मूल संवेदनाओं को पकड़ना, साहित्य के और जीवन के बीच के रिश्तों को पहचानना, साहित्य में पुनर्रचित उस जीवन की समझ जो वास्तव है; और इन चीज़ों पर जब हम आएँगे तो निश्चित रूप से मानव-संवेदना से जुड़े होंगे और मानव-भविष्य के अधिक उज्ज्वल होने से प्रतिबद्ध होंगे, साथ ही हर प्रकार की गैर-बराबरी, शोषण, अमानवीयता, अन्याय और विवेकहीन व अबौद्धिक बातों के खिलाफ व्यक्ति के रूप में और संगठन के रूप में होंगे। तो फिर क्या विश्वविद्यालयीय ढाँचे में जनतांत्रिक परिवर्तन की बात उसके अन्तर्गत नहीं आती ? समाज में फैले हर प्रकार के अन्याय को तरजीह देने वाली व्यवस्था के विरुद्ध लड़ाई की बात उसके अन्तर्गत नहीं आती ? पाठ्यक्रम का अधिक तर्कसंगत बनाया जाना और उससे सही इतिहास-बोध की अपेक्षा करना उसके अन्तर्गत नहीं आता ? हो सकता है 'साहित्यिकों' को यह बात कुछ साहित्य-क्षेत्र से बाहर की जान पड़े या उसका अतिक्रमण करती दिखाई दे, पर बात सच है और इसलिए उसे सीधे शब्दों में कह सकने में कोई संकोच नहीं है। साहित्य को जब तक साहित्य की वर्तमान कूपमंडूकता से बाहर निकालकर अन्य ज्ञानों के साथ नहीं मिलाया जाएगा तब तक न तो साहित्य ही सुरक्षित रहने की सम्भावना है और न ही समाज का ही कुछ भला होगा। और यहीं आकर ये तीनों चीज़ें एक साथ मिल जाती हैं कि किस तरह एक परिवर्तन की माँग दूसरे परिवर्तन की माँग से सम्बद्ध है और उसके लिए सही पाठ्यक्रम यदि सही दिमाग तैयार करेगा तो ठीक अध्यापन भी इस दिशा में अपने दायित्व को निभायेगा।

अन्त में उन प्रश्नों को उठाना आवश्यक जान पड़ता है जो इस प्रक्रिया को समझने में सहायक हैं। और ये प्रश्न अपने प्रश्न के रूप में भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं—

१. कैसे हिन्दी-भाषी प्रदेशों की राजनीति, हिन्दी के समर्थक प्रतिक्रियावादी दलों की राजनीति, विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्षों के कमरों से जुड़ी है, कैसे विभागाध्यक्ष पाठ्यक्रम निर्धारण समितियों से और कैसे रही-सही कसर अध्यापन के उन तरीकों से पूरी की जाती है जो अपने सैद्धान्तिक व प्रभाव रूप में प्रतिक्रियावाद के पोषक हैं।

२. दूसरा सवाल विभागों के अलगाव का है। क्या विभागों को अलग-अलग जागीर का रूप देना संगत है ? क्या साहित्य का विद्यार्थी इतिहास, विज्ञान, दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र आदि से अलग होकर रह सकता है ? या अन्य विभाग के विद्यार्थी को क्या अन्य ज्ञानों की आवश्यकता नहीं रहती।

३. यह प्रश्न भी विचारणीय है कि आज हिन्दी का विद्यार्थी हीन-भावना से ग्रस्त क्यों होता जा रहा है। इसके लिए उस प्रक्रिया का विवेचन करना होगा जो जान-बूझकर दकियानूस अध्यापक निर्वाचित करती है, हिन्दी साहित्य के पाठ्य-क्रम को अधिक-से-अधिक अनुपयोगी बनाती है और फल यह होता है कि न तो हिन्दी का स्नातकोत्तर विद्यार्थी साहित्य की समझ ही विकसित कर पाता है और न अन्य सामाजिक दृष्टियों से ही उपयुक्त होता है। फलतः उसमें स्थायी हीनता की भावना घर कर जाती है जो उस कूपमंडूक दृष्टि के कारण पनपती है जो वह विभाग से लेकर निकलता है। और इस प्रकार विभाग द्वारा हिन्दी का जितना बड़ा अहित आज हो रहा है उतना शायद ही किसी द्वारा हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो। दूसरी बात यह भी कि आज• हिन्दी विभाग की दीक्षा से निकला हुआ विद्यार्थी न केवल अपने समाज की विषमताओं को समझने में असमर्थ हो गया (क्योंकि उसने तो बिहारी की नायिका के बारे में पढ़ा था) बल्कि उसमें से विद्रोह के तत्त्व भी नहीं बच पाते। बड़ा भयंकर है यह सोचना कि प्रतिवर्ष हिन्दी विभागों से इस प्रकार के वैष्णवी और गऊ-छाप विद्यार्थियों की जमात बहुतायत में निकलकर समाज में आती है।

४. आज के सचेत व प्रबुद्ध छात्र यह पूछना चाहते हैं कि सदियों पुरानी मान्यताओं में जी रहे प्राध्यापक को नवयुवकों को पढ़ाने का अधिकार किस तर्क-पद्धति से दिया जाता है? अवैज्ञानिक दृष्टिकोण को क्या यह छूट दी जा सकती है कि वह वर्तमान का मार्गदर्शन करे? और यहीं वह बात आती है जो इस ओर ले जाती है कि अब अध्यापन की योग्यताओं के मानदंड बदलने होंगे—उन निर्वाचन समितियों (जो और भी दकियानूस हैं) के विरुद्ध आवाज़ उठानी होगी और सरेआम चल रही धोखेबाज़ी का (जिसको साहित्यिक गरिमा के संकोचवश सामने नहीं लाया जाता) अन्त करने के लिए प्रयत्नशील होना होगा। उसकी जगह हम स्वस्थ दृष्टिकोण के लोगों की निर्वाचन समितियों में माँग करेंगे, अध्यापक की योग्यताओं में काव्यशास्त्र की पारंगतता को कसौटी नहीं रहने देंगे बल्कि साहित्य को सम्पूर्ण इतिहास में रखकर समझने, पूर्ण परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने की माँग करेंगे और माँग करेंगे एक सही ज्ञानात्मक आधार की जो हमें जागरूक व क्रियाशील बनाये न कि पंडित और दकियानूस। जो एक सही इतिहास-दर्शन, समाज-दर्शन दे, वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान करे और आज की वास्तविकताओं से हमें जोड़े।

मैं जानता हूँ कि यह बात एकदम नहीं हो सकती, पूरे सामाजिक संदर्भों से काटकर यह सुधार नहीं किया जा सकता, और कि ये अन्तिम बातें हवाई कल्पना जान पड़ सकती हैं (ठीक भी है क्योंकि अभी स्थिति बिलकुल विपरीत है) लेकिन यह बात वही कहेंगे जिनको इतिहास की सही प्रक्रिया का एकदम बोध नहीं है, जो इस समाज से और समाज में आगे बढ़ रही न्याय पाने की इच्छित शक्तियों से कटे हुए हैं और फलतः अपने में भी जिनका विश्वास नहीं है। बहुत बार दकियानूसों ने बाज़ी मारी है, अमानवीय शक्तियों ने पिछले दरवाज़े से जगह कब्ज़ाई है, बहुत दिन हो गये विश्वविद्यालयों में पुष्टिमार्गीय भक्तिभावना [पोषणं तद् (=अध्यक्ष का) अनुग्रहः] पोषण करते हुए—अब स्थिति बदल गई है और आज ऐतिहासिक रूप से वे बाज़ी हार चुके हैं, लोगों के विशाल समूह अपनी-अपनी जगह चेतन हो रहे हैं, फिर भी संग्राम तगड़ा रहेगा—यही है मेरी बात का आधार।

५. पिछले दिनों विभिन्न विश्वविद्यालयों में एम० लिट्० पाठ्यक्रम को लेकर बातें हुई हैं। समाप्त करने से पहले एम० लिट्० पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। अपने लेख में श्री रमेश कुन्तल मेघ ने उसका 'समर्थन' किया है। लेकिन मैं दिल्ली विश्वविद्यालय के कुछ शोधार्थियों (जिन पर यह 'प्रयोग' किया गया था) के अनुभवों के आधार पर यह बताना चाहता हूँ कि उसका जो स्वरूप है उसमें कुछ भी ऐसा नहीं जिसका कोई भी औचित्य छात्र-हित की दृष्टि से सिद्ध किया जा सके। एम० लिट्० का पाठ्यक्रम इस प्रकार है—**प्रथम वर्ष :** १०० अंक का शोध-प्रशिक्षण, २०० अंक का एक विशिष्ट पर्चा (पद्य, गद्य एवं काव्यशास्त्र में से कोई एक) तथा १०० अंक का आमने-सामने (मौखिक)। **द्वितीय वर्ष :** १०० अंक के बराबर भारतीय भाषाओं का इतिहास, २०० अंक के बराबर एक लघु शोध-प्रबंध और १०० अंक का आमना-सामना। विशिष्टता वाले पर्चे का कोर्स वही है जो एम० ए० में पढ़ाया जा चुका होता है। अब अध्यापन-विधि पर भी विचार कर लिया जाए—विशिष्ट योग्यता वाले विषय पर उससे बहुत ही कम भाषण दिये जाते हैं जिससे अधिक वे ही प्राध्यापक एम० ए० में दे चुके होते हैं। इसी तरह भारतीय भाषाओं पर दो भाषण देने से यदि इतिहास जाना जाता है तो अच्छा है कि यह छात्रों पर छोड़ दिया जाए। 'लघु-शोध-प्रबन्ध' अपने-आप में शक्ति और धन का अपव्यय है क्योंकि उसका न तो मौलिकता से कोई सम्बन्ध होता है न भावी शोधकार्य से। इस पूरे चक्र को यदि ध्यान से देखा जाए तो इसमें विद्यार्थियों के बेशकीमती दो वर्षों को व्यर्थ गँवाने के अतिरिक्त कोई मन्तव्य नहीं है। यह इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि दिल्ली विश्वविद्यालय के एम० लिट्० के छात्रों ने पिछले वर्ष इसके विरुद्ध आवाज़ उठाई थी लेकिन नहीं पता चला कि विभागाध्यक्ष के दिमाग में वह कौन-सी प्रच्छन्न हितैषणा थी जिसके कारण वे इसे विद्यार्थियों पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079542

थोपना चाहते थे। हमने बार-बार कहा था कि न तो साहित्य की समझ की दृष्टि से इसका कोई उपयोग है, न ही इस डिग्री को कहीं मान्यता प्राप्त है। लेकिन 'अन्तःपुर' में बिठा-कर जो उत्तर दिया गया उसका भावार्थ यह था कि एम० लिट्० के समर्थन का अर्थ है 'प्राध्यापक-पद-प्राप्ति' की दिशा में एक कदम और विरोध का मतलब है उसका उलटा। निश्चित रूप से आज के वातावरण में नौकरी का भय बहुत कारगर होता है। किन्तु हम निरन्तर इस कोर्स का विरोध करेंगे क्योंकि हम जानते हैं कि इसके पीछे विभाग को कुछ अतिरिक्त अधिकार-प्राप्ति व पद-प्राप्ति का मोह है, इसमें विद्यार्थियों का हित न तो है, न सोचा गया है। दूसरी बात जो बड़ी ही भयंकर है वह यह कि एम० लिट्० के सीमित दाखिले से जिन लोगों को अन्दर लिया जाता है और जिन्हें विशेष रूप से प्राध्यापक बनाने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है उसमें समझा जा सकता है कि क्या पढ़ाया जाता होगा। विभाग के पास दो वर्ष का समय यह जाँचने के लिए काफी होता है कि कौन छात्र ऐसा है जिससे विभाग की वर्तमान नीतियों को कोई खतरा नहीं है और उसे प्राध्यापक के योग्य समझ लिया जाता है, इसका अपवाद जो छात्र होता है उसे प्राध्यापक-पद से वंचित करने के लिए एम० लिट्० में द्वितीय श्रेणी थमा देना होता है। पूरे दो वर्ष तक एक ओर तो इन छात्रों को अपने छात्र-समुदाय से काट दिया जाता है, दूसरी ओर इन्हें पूरी तरह इस बात पर आश्रित कर दिया जाता है कि अब प्राध्यापक-पद के अतिरिक्त उनके पास कोई विकल्प नहीं है 'सबै लौ राम सौं लागी'। जहाँ तक छात्र-हित की बात है उसके लिए यह बताना पर्याप्त होगा कि न तो इसे प्रारम्भ करने के लिए उनकी राय ली गई थी बल्कि अपने निहित स्वार्थ ध्यान में रखे गए थे और अब क्योंकि विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग ने इस कोर्स के लिए ग्रांट देना नामंजूर कर दिया है तो न ही इसे समाप्त करने के लिए अब विद्यार्थियों की राय जानी जाएगी। इन और इस तरह की सभी अन्य बातों (जिन्हें सामने रखना कठिन है) के आधार पर हम इसका विरोध करते हैं और आशा करते हैं कि रमेश कुंतल मेघ इस बात पर पुनर्विचार करें।

•

ऊँची शिक्षा के ताजमहल

नरेन्द्र प्रताप सिंह

आलोचना (अक्तूबर-दिसम्बर, '६६) में छपे सम्पादकीय को मैंने बेहद दिलचस्पी से पढ़ा। इस बात से मैं पूरी तरह सहमत हूँ कि शिक्षा का प्रश्न केवल एकेडेमिक नहीं। शिक्षा का प्रश्न सामाजिक व्यवस्था से जुड़ा हुआ है। सही कहा गया है कि भारत जैसे पिछड़े हुए देश में साक्षरता से ज्यादा ध्यान ऊँची शिक्षा पर दिया गया। साक्षरता का विकास यूँ तो अखिल भारतीय स्तर पर भी निराशाजनक रहा, किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि साक्षरता का विकास हिन्दी-भाषी राज्यों में केरल, मैसूर व महाराष्ट्र के मुकाबले बहुत ही निराशाजनक है। यह आकस्मिक नहीं कि हिन्दी-भाषी राज्य, यू० पी०, बिहार, मध्य प्रदेश एवं राजस्थान न केवल साक्षरता के प्रसार में पिछड़े हैं, बल्कि प्रतिक्रियावादी शक्तियों के गढ़ भी बन गये हैं।

नतीजा यह हुआ कि शिक्षा का आकार उस उलटे पिरा-मिड जैसा हो गया, जिसका आधार संकुचित रहा, किन्तु शिखर फैलता ही गया। एक ओर निरक्षरता बढ़ती रही और दूसरी ओर नये-नये कालेज व विश्वविद्यालय खोले गये। यह आकस्मिक नहीं कि साक्षरता की दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े हुए राज्यों में कालेज व विश्वविद्यालयों के खोलने की होड़ लग गई। अभी पता चला है कि मध्य प्रदेश में दसवाँ विश्व-विद्यालय भोपाल में खोला जायेगा। नवाँ विश्वविद्यालय रीवाँ में खोला गया था जिसके विकास के लिए समुचित साधन की व्यवस्था की चिन्ता न तो राज्य सरकार को थी न 'यूनिवर्सिटी ग्रान्ट कमीशन' को। यह भी सुनने में आया है कि मध्य प्रदेश की नवीं व दसवीं यूनिवर्सिटी शुरू करने से पहले यूनिवर्सिटी ग्रान्ट कमीशन की अनुमति लेने की आवश्यकता किसी ने महसूस न की।

लगभग बीस साल के 'योजनाबद्ध विकास' का फल आज हम देख रहे हैं। एक ओर हमारे देश में लगभग ३५ करोड़ निरक्षर हैं। दूसरी ओर हमारे कालेजों एवं विश्व-विद्यालयों से एक बड़ी तादाद में नवयुवक एवं नवयुवतियाँ निकल रही हैं, जो बनना तो अफसर चाहते हैं, किन्तु बाबू बनने के लिए भी उनको हर तरह के पापड़ बेलने पड़ते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा का पिरामिड ऐसा उलट गया है कि निरक्षरता भी पनप रही है और बेरोज़गारी भी। पिरामिड के आधार पर ३५ करोड़ निरक्षर खड़े हैं और उसके शिखर पर लाखों डिग्री-धारी बेरोज़गार जमा हैं। लगता है यह उल्टा पिरामिड अब अधिक दिन टिक नहीं सकेगा। दबाव दुहरा है। एक छोर पर निरक्षरता का दबाव है तो दूसरे छोर पर बेरोज़गारी का। इस 'योजनाबद्ध विकास' से और किसी को लाभ हो या न हो, उन लोगों को तो लाभ है ही जो सस्ता मज़दूर चाहते हैं या सस्ता बाबू।

किन्तु अन्तर्विरोध केवल ऊँची शिक्षा के प्रसार एवं साक्षरता के प्रसार के बीच ही नहीं, ऊँची शिक्षा का प्रसार भी अन्तर्विरोध से मुक्त नहीं। कानपुर यूनिवर्सिटी में वैज्ञानिक शिक्षा के सन्दर्भ में भाषण करते हुए सर सी० वी० रमन ने ऊँची शिक्षा के ताजमहल निर्माण करने की प्रवृत्ति की आलोचना की। ऊँची शिक्षा के ताजमहल से उनका इंगित शान-शौकत वाले राष्ट्रीय संस्थानों की ओर था जिनकी इमारत शानदार होती है और कर्मचारी ऊँची तनखाह पाते हैं, किन्तु काम-धाम के नाम पर शिक्षा के ताजमहल कोरे होते हैं। नतीजा यह होता है कि आम स्कूल और कालेजों में साधन के अभाव में न तो अच्छे शोधकर्ता टिक पाते हैं न आम छात्रों को सही माने में ऊँची शिक्षा ही मिल पाती है। ऊँची शिक्षा को साक्षरता से अधिक प्राथमिकता तो मिली, किन्तु उसका आम स्तर बेहद घट गया।

मैं आपका ध्यान इस तथ्य की ओर खींचना चाहता हूँ कि ऊँची शिक्षा के क्षेत्र में भी ब्राह्मण व शूद्र का भेद बना रहा। कुछ चुने हुए विद्यालय एवं संस्थान ऊँची शिक्षा के ताजमहल अवश्य बन गये, किन्तु लगभग २,००० कालेज ऐसे हैं, जिनमें आम घरों के लड़के पढ़ते हैं और उनकी दशा दयनीय है। सरकारी आँकड़ों से पता चलता है कि लगभग ८५ प्रतिशत विद्यार्थी साधारण कालेजों में पढ़ते हैं, जिनमें न तो शिक्षकों को समय से वेतन मिलता है न पुस्तकालयों में पुस्तकें खरीदने का पैसा होता है। ऊँची शिक्षा के क्षेत्र में भी मोटेतौर से शिक्षा के ताजमहलों को ब्राह्मण माना जा सकता है और साधारण कालेजों को शूद्र माना जा सकता है। बरायेनाम ऊँची शिक्षा हमारे और आपके बच्चों को मिलेगी और ऊँची शिक्षा के ताजमहलों पर एकाधिपत्य होगा, कुछ चुने हुए घरों के बच्चों का।

नतीजा यही होगा कि ऊँची शिक्षा के ताजमहल अफ़सर पैदा करेंगे और साधारण कालेज दफ्तर के बाबू। यूँ कहने के लिए कहा जा सकता है कि ऊँची शिक्षा की बेहद तरक्की हुई है, किन्तु ऊँची शिक्षा के क्षेत्र में भी ब्राह्मण व शूद्र का भेद साफ़ दिखाई देता है। एक-एक ताजमहल के पीछे पचीसों घुड़सालें भी नज़र आयेंगी। दोरंगी राजनीति एवं दोरंगी नैतिकता के साथ-साथ हमारे देश में दोरंगी शिक्षा का भी सहज प्रसार हुआ है। कीमती अफ़सर पैदा करने के ताजमहल अलग हैं और सस्ते बाबू पैदा करने वाले कालेज अलग। शिक्षा का यह दोरंगा रूप कब तक चलेगा कहा नहीं जा सकता। रसेल ने ठीक ही कहा था कि ठोस-से-ठोस समाजवादी नेता भी इस बात को सहन नहीं कर पाता कि उसके बच्चे आम बच्चों के साथ आम स्कूल व कालेजों में पढ़ें और दफ्तर के बाबू बनें।

ऊँची शिक्षा के ताजमहलों को देखकर शिक्षा के दोरंगे रूप को भुला देना घातक होगा। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना-पुस्तक-परिवार

के सदस्य बनिये
और अपनी पसन्द की पुस्तकें घर बैठे पढ़िये

उद्देश्य

१. आज तक हिन्दी-प्रकाशन-जगत् अपने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग व्यक्तिगत खरीदार (इंडिविजुअल कस्टमर) की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाया, क्योंकि विक्रेताओं का ध्यान प्रायः पुस्तकालयों, सरकारी विभागों व स्कूल-कालेजों की थोक बिक्री की ओर रहा है, जबकि अन्ततः पुस्तक का पाठक 'व्यक्ति' ही होता है। यदि पुस्तकों की सूचना सीधे पाठकों के हाथों में पहुँचे तो उन्हें अपनी रुचि की पुस्तकों को चुनने में सुविधा रहेगी। अतः 'आलोचना पुस्तक-परिवार' योजना का पहला उद्देश्य होगा, पाठकों तक नये प्रकाशनों की सूचना नियमित रूप से पहुँचाना।

२. हिन्दी पुस्तकों के प्रति भारतीय जनता में जागरूकता लाना और हिन्दी-साहित्य को लोकप्रिय बनाना।

३. हिन्दी पुस्तकों के बारे में लोक-मत को जानना और लेखकों व पाठकों के बीच तादात्म्य स्थापित करना जिससे साहित्य जन-जीवन के निकट आ सके।

४. हिन्दी के साधारण पाठक को उसी मूल्य पर पुस्तकें सुलभ करना जिस पर पुस्तकालयों को प्राप्त होती हैं ताकि लोग अधिक-से-अधिक संख्या में निजी पुस्तकालय बनाने में रुचि ले सकें।

सदस्यता के नियम

१. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्य बनने पर आपको 'राजकमल प्रकाशन' के प्रकाशनों पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा, २० रुपये या इससे अधिक मूल्य के आर्डर पर फ्री पोस्टेज की सुविधा दी जाएगी। 'राजकमल प्रकाशन' की पुस्तकों के साथ यदि आप अन्य प्रकाशन मँगाना चाहेंगे तो उन पर भी साढ़े बारह प्रतिशत कमीशन की सुविधा दी जाएगी। किन्तु बाहरी प्रकाशनों का कुल मूल्य या कुल मूल्य की आधी रकम आर्डर के साथ अग्रिम भेजनी होगी।

२. सदस्यता फार्म भरकर भेजते समय मात्र ३.०० रुपये की राशि सिक्योरिटी डिपॉज़िट के रूप में भेजनी होगी जो हमारे पास स्थायी रूप में जमा रहेगी। आर्डर की पुस्तकों की वी० पी० न छुड़ाने की स्थिति में यह रकम जब्त हो जायेगी। यदि कोई सदस्य अपनी सदस्यता समाप्त करके अपना सिक्योरिटी डिपॉज़िट कभी वापस मँगवाना चाहेंगे तो उन्हें यह राशि लौटा दी जायेगी। ३.०० रुपये की यह राशि पुस्तकों के पहले आर्डर की अग्रिम राशि के साथ जोड़कर भी भेजी जा सकती है।

३. आर्डर की पुस्तकें नैट मूल्य की वी० पी० पी० द्वारा अथवा पुस्तकों का मूल्य अग्रिम प्राप्त होने पर रजिस्ट्री से भेजी जाएँगी। बड़ा आर्डर होने पर पुस्तकें रेल पार्सल द्वारा भेजकर बिल्टी आदेशानुसार रजिस्ट्री या वी० पी० पी० से भेज दी जायेगी।

४. आर्डर की वी० पी० पी० छुड़ाना सदस्य का नैतिक कर्तव्य होगा।

५. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्यों को हिन्दी प्रकाशनों की जानकारी देने के लिए हिन्दी-प्रकाशन-जगत् का सबसे पुराना मासिक पत्र 'प्रकाशन समाचार' निःशुल्क भिजवाया जायेगा।

६. योजना का सदस्य बनकर आप जब चाहें, पुस्तकें मँगा सकेंगे। प्रतिमास या नियमित रूप से पुस्तकें मँगाने का कोई बन्धन नहीं होगा। न ही किसी कालावधि में किसी खास रकम की पुस्तकें मँगाने का प्रतिबन्ध होगा।

७. इस योजना के अन्तर्गत अश्लील या निम्न स्तर की पुस्तकों के आर्डर स्वीकार नहीं किये जायेंगे।

८. दिल्ली में रहने वाले सदस्यों को 'राजकमल प्रकाशन' में आकर स्वयं पुस्तकें खरीदने पर भी १५ प्रतिशत कमीशन की सुविधा मिलती रहेगी।

९. इस योजना के अन्तर्गत पाठ्य-पुस्तकें नहीं भेजी जाएँगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आलोचना' के स्वामित्व तथा अन्य ब्योरे के विषय में विज्ञप्ति

फार्म ४ *(नियम ८ देखिये)*

१. प्रकाशन का स्थान	दिल्ली
२. प्रकाशन की अवधि	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम	श्रीमती शीला सन्धू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
४. प्रकाशक का नाम	श्रीमती शीला सन्धू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
५. सम्पादक का नाम	डा० नामवर सिंह
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
६. उन व्यक्तियों के नाम और पते, जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयर होल्डरों के नाम और पते, जो पूँजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हों।	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६

मैं, शीला सन्धू, इसके द्वारा घोषित करती हूँ कि ऊपर जो ब्योरे दिये गए हैं, वे मेरी अधिक-से-अधिक जानकारी और मेरे विश्वास में सही हैं।

ह० शीला सन्धू
प्रकाशक

१ मार्च, १९७०

विश्वविद्यालय पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK
यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

लेनिन की जन्मशती

के उपलक्ष्य में

आलोचना के आगामी अंक में

- लेनिन संबंधी लेख;
- जार्ज लूकाच, अर्न्स्ट फिशर, क्रिस्टोफर काडवेल प्रभृति मार्क्सवादी आलोचकों की समीक्षाएँ;
- नये सोवियत कवियों की कविताएँ;
- हिंदी के नये कवियों की कविताएँ;

तथा

- पुस्तक समीक्षा आदि नियमित सामग्री।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि पंत : छाया-विद्याव्रत

078542

सुमित्रानंदन पंत : जीवन और साहित्य

सुश्री शांति जोशी

ने युग कवि श्री पंत जी की यह बृहत् जीवनी दो खण्डों में सम्पूर्ण की है। हिन्दी साहित्य के साथ जीने के लिए पंत जी की यह महत् जीवन-गाथा अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। आर्ट पेपर पर कवि के अनेक दुर्लभ अप्रकाशित चित्रों सहित प्रथम खंड कवि की ७२वीं वर्षगांठ पर मई '७० में प्रकाशित किया जा रहा है।

राजकमल प्रकाशन

८, फ़ैज़ बाजार, दिल्ली-६ साइंस कालेज के सामने, पटना-६

राजकमल

श्रीमती शीला सन्धू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८, फ़ैज़ बाजार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
19.9-2009

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri